श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(द्वितीय खण्ड)

रामचन्द्र स्मृति (शास्त्रीय व्याख्या)

व्याख्याता

श्रीविश्वनाथ शास्त्री दातार

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(द्वितीय खण्ड)

(भावार्थ) अन्नपूर्णासहित रामचन्द्रस्मृतिः (शास्त्रीय व्याख्या)

व्याख्याता

पण्डित श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार

(शास्त्ररत्नाकर, विद्याभूषण, न्यायप्रभाकर, न्यायकेशरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

लेखक

श्री सीताराम मिश्र

हिन्दी विशारद

श्रद्धेय गुरुद्वय, पण्डितराज राजेश्वरशास्त्री द्रविड एवं पण्डित हरिरामशास्त्री शुक्ल, न्यायसार्वभौम द्वारा आशीर्वादप्राप्त शान्तिका अग्रदूत (भारतीय राजनीतिका दिग्दर्शन)के प्रकाशनक्रममें पाँचवा पुष्प।

प्रकाशक

विश्वनाथशास्त्री दातार पुस्तकसमिति

के० २२/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी

प्रकाशक :
विश्वनाथशास्त्री दातार पुस्तकसमिति
के० २२/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी

●

मूल्य : ३०.०० तीस रुपया

●

प्राप्ति स्थान :
गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा, सांगवेद विद्यालय, रामघाट, काशी
श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार परिवार (उक्तसमिति सदस्य)
के० २२/८१ ब्रह्माघाट, काशी
श्रीसीताराम मिश्र रामघाट के० २४/२८ वाराणसी (उक्तसमिति सदस्य)
श्रीकेसरीनन्दन रस्तोगी राजादरवाजा, वाराणसी (उक्तसमितिसदस्य)
श्रीरामकिशोर मुंदड़ा चौखम्भा सी ४/२३ वाराणसी (उक्तसमितिसदस्य)

●

मुद्रक :
आनन्द कानन प्रेस
सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज, वाराणसी-१

प्रथम संस्करण : ११०० प्रति
आषाढ़ शुक्ल १५ }
सं० २०४१ }

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

संक्षिप्त वक्तव्य

पू० पिताश्री एवं माताजी तथा श्रीगुरुचरणद्वन्द्वकी असीम अनुकम्पासे अयोध्याकाण्डकी (शास्त्रीयव्याख्या) रामचन्द्रस्मृतिका द्वितीय-खण्ड पूर्ण होकर विद्वानोंके मनोरञ्जनार्थं प्रकाशित हो उनकी सेवामें प्रस्तुत है।

टीकाप्रणयनका कारण पूर्वखण्डमें निरूपित है। द्वितीय-खण्डमें भारतीय विद्याओंका बलाबलविचार किया गया है। उससे श्री गोस्वामीजीकी आन्वीक्षिकी-कुशलताका परिचय प्राप्त हो रहा है, जैसे मानसमें प्रभुके भक्तिकी पुष्टिसे राजनीतिप्रधान अन्य विद्याएँ अपनेको समर्पित करती दृष्टिगोचर हो रहीं हैं। प्रभुभक्ति भी अपनी छत्रछायामें सम्पूर्ण विद्याओंको आश्रय देकर उनका रक्षण कर रही है। भक्त भरतजी श्रीरामजीकी उपासना करते पूतात्मा हो चुके हैं उनका मनस्तोष ही विद्याओंके अंगप्रधानभाव, उनका समादर व विद्याओंका परस्पर समाश्लेष समझानेमें पथप्रदर्शक हो रहा है। समस्याओंका उत्थान और उनका समाधान प्राप्त करना हो तो नीतिवेत्ताओंको चाहिए कि वे भरतजीके सफल प्रयोगका अध्ययन करें और विद्यास्थापनापूर्वक भक्तिकी छत्रछायामें रहें। शेष विचार आमुखमें विस्तृत है।

श्री गोसाईंजीके ग्रन्थका समन्वय करनेमें गुरुदृष्टि शास्त्रवाक्य प्रत्यक्षानुमानका उपयोग किया गया है। उनमें स्वकी अविद्याके कारण आभास होना सम्भव है तथापि प्रभुनामकीर्तन-चिन्तन-मनन करना ध्येय होनेसे उनमें मिश्रित असम्बद्ध भी प्रभुसे सम्बद्ध होनेसे गुण ही माना जाता है। 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः प्रसिद्ध है।'

लेखक श्री मिश्राजीके सतत परिश्रमसे यह खण्ड प्रकाशित हुआ है उनका मैं सदाके लिए ऋणी हूँ आपका परिचय पूर्व खण्डमें द्रष्टव्य है।

मानपत्रदात्री कै० सौ० मनोरम ागुणेका परिचय पूर्वखण्डमें प्रकाशित है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयसे 'शास्त्र चूडामणि' अध्यापन योजनान्तर्गत जो वृत्ति प्राप्त है वही इस खण्डको पूर्ण कर रही है।

जिनके आशीर्वचनसे रामचरितमानसका अर्थ प्रतिभात है उनके चरणारविन्दमें नतिके अतिरिक्त क्या देय होगा ? अतः उनको प्रणाम कर विश्राम लेता हूँ।

रामचरणशुश्रूषुः
विश्वनाथ दातारः

स्नेहसे प्रभुका स्मृतिविषय होना (चौ० ५ दो० १४१) भरतजीके सेवकत्वका प्रमाण है। त्रिवेणीकी वाणी 'तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू'से प्रमाणित भरतजीका साधुत्व 'सुमति भूमिथल हृदय अगाधू'का परिचायक है।

'मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे' 'सोधि सुगम मग कीन्हे'से स्पष्ट है कि प्रभुने वेदमार्गको अपनाया है। स्मरण रखना है कि प्रभुके आदेश ही वेदशास्त्रके वचन हैं। प्रभुके आदेशपालनमें भरतजी अपना और सबका हित मानते हैं जैसा प्रभुके सामने भरतजीने व्यक्त किया है। (सबकर हित रुख राउरि राखे। आयसु किएँ मुदित फुर भाषे') प्रभुद्वारा प्रशस्त मार्गका अवलम्बन करते हुए 'राम सुजस'की स्थापनामें प्रभुके 'साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि'से युक्त वचनको मानकर भरतजी चरणपादुकाका आदेश लेकर जो धर्माचरण, नीत्यनुष्ठान, प्रजापालन आदि करेंगे, उससे 'वेद-पुराण उदधि घन साधू'का चरित्र मननीय है।

प्रागभाव : कार्योत्पत्तिकी पूर्वअवस्थामें फलोत्पत्तिके अभावपर्यन्त रहनेवाला अभाव प्रागभाव है। उदाहरणार्थ पुत्रवियोगकी विकलतामें होनेवाली राजा दशरथजीकी मृत्युमें तत्सम्बन्धित अन्धशापके विधानसे पुत्रोत्पत्तिके प्रागभावका अस्तित्व प्रमाणित कहा जायगा। कालावधिमें राज्यप्रतिपत्तिकी उत्कट इच्छासे पुत्रेष्टि द्वारा पुत्रोत्पत्ति रूप फलकी प्राप्तिमें उक्त प्रागभावका ध्वंस नियत है। इसी प्रकार कैकेयीजीको दिये पूर्ववरदानकी वचनबद्धतासे कैकेयीजीके मनोरथपूर्तिप्रागभावका अस्तित्व माना जायगा। शास्त्रके इस गूढ़ रहस्यको सर्वज्ञ श्रीरामजीने समझकर 'जननीसम्मत पितु आयसु' वचनको प्रमाणके रूपमें समादृत करके उक्त प्रागभावध्वंसार्थ वनवासको स्वीकार किया तथा उसके विरोधमें सुमन्त्रसे कहे लक्ष्मणजीकी 'कटुबानी'को 'बड़ अनुचित' ठहराया (चौ० ४ दो० ९६) इसी रहस्यको चौ० ७-८ दो० १५२में 'बरजि राम पुनि मोहि निहारा'के संकेतसे बुद्धिमान् सुमन्त्रने मरणासन्न राजाको सन्देश सुनाकर श्रीरामजीके सामने प्रकटकी गयी राजाकी जिज्ञासाका समुचित समाधान करते हुए कैकेयीजीके मनोरथपूर्ति एवं रामवनवासके विषयमें पूर्ण आश्वस्त कर दिया। प्रभुके संकल्प 'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'के परिणामस्वरूप 'हरहु भगत मन कै कुटिलाई'का एक प्रकार यह भी है कि रामभक्तोंके लिए रामराज्यका मनोरथ सदाके लिए बाधित नहीं हुआ, अपितु सत्यसन्ध राजाका राज्यप्रतिपत्तिनिमित्तक निर्णय (सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई। करिहहिं भाइ सकल सेवकाई) फलीभूत होकर रहा।

'आवहि बहुरि रामु रजधानी'में भरतजीका वास्तविक उद्देश्य श्रीरामको लौटाना नहीं है, बल्कि रामराज्यको स्थिर करनेका आश्वासन प्राप्त करना है जैसा चित्रकूटमें भरतजीके वक्तव्यसे प्रकाशित होगा। भरतयात्राके प्रयोजनमें भक्तोंकी उक्त मनोरथपूर्तिके लिए भरतजीने गुरुजी, माता कौसल्याजी आदिके वचनोंके उल्लं-घनका कलंक सहकर भक्तिकी स्थापनामें जो कार्य किया उसकी सराहना भरद्वाज ऋषिने की है।

दो० २०७में भरद्वाजजीके कहे 'अब अति कीन्हेहु भरत भल'की व्याख्यामें अतिभलका तात्पर्य मननीय है। गुरुजीके कहे वचन 'करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर वचन हित जानी'में कहे हितका अतिक्रमण भरतजीके लिए अपने संकल्पित हित (हित हमार सियपति सेवकाई)को बनानेमें अतिभल सिद्ध हुआ, जैसे राजा दशरथजीके कहे अतिहित (चौ० ३ दो० ७८)को सीताजीने पातिव्रत्यके प्रथम कल्पमें पतिसान्निध्यका अतिक्रमण समझकर स्वीकार नहीं किया।

ग्रन्थकारने भरतजीके उपधाशुद्धिके प्रकाशनका जो क्रम दिखाया है वह कौसल्याजी एवं सभाके बीचमें गुरु वसिष्ठजीके साथ हुए सम्वादमें तथा गुहमिलन व भरद्वाजमिलनके प्रसंगमें मननीय है। राज्यग्रहणके परिणाममें सम्भावित संघटनके विनाशको 'रसा रसातल जाइहि'से संकेतित किया है, उस संघटनको त्याग और विवेकसे भक्तिकी छत्रछायामें स्थिर रखनेके लिए भरतजीने जो कार्य किया वह राजनीतिक दृष्टिकोणसे प्रजानुरागका साधक हुआ।

गुहमिलनमें विशेषतया वर्णाश्रमान्तर्गत ऊँच-नीच जातिगत भेदका समाधान भरतजीके नैतिक व्यवहारसे प्रकट है। स्वधर्मगत शुचितासे सम्पन्न नीच जातिका समुचित समादर करना नैतिक कर्तव्य है, जैसा गुहके प्रति भरतजीके व्यवहारमें उच्चताका अभिमान नहीं है। व गुहको अपनी नीचता प्रकट करनेमें ग्लानि भी नहीं है। इस प्रकार धर्मकी मर्यादा रखते पारस्परिक विश्वासको बाटकर ऊँच-नीचके संघटनमें नीतिकी सफलता स्पष्ट की गयी है। फलतः गुहका सहयोग रामदर्शनकी सफलतामें कार्यकारी हुआ।

श्री सीताराम मिश्र
हिन्दी विशारद

अभिप्राय

मानसरामायणावरील आपली शास्त्रीयव्याख्या ही थोड़ी बहुत वाचावयास मिळाली आनन्द वाटला मानसरामायणाचा खरा अभ्यास ज्याला करावयाचा आहे त्याला आपली टीका म्हणजे विना-सायास मिळालेले चांदणेच आहे वर्षानुवर्षे अभ्यास करून जे जाणावे लागेल ते आपल्या टीकेने अल्पकाळातच समजेल व असे अभ्यासू आपले ऋणी राहतील।

आपला
घुण्डिराजशास्त्री दाते
सोलपुर (महाराष्ट्र)

※ श्रीगुरुः शरणम् ※

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित नानापुराणनिगमागमसम्मत श्रीरामचरितमानस हिन्दी भाषामें होनेसे संस्कृतके विद्वानों द्वारा उसे उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा जाता रहा। कैलासवासी पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ रामचरितमानसमें वेदान्त, न्याय, मीमांसा तर्क आदि सिद्धान्तोंका सुन्दर निरूपण देखकर इस ग्रन्थके अध्ययनकी ओर आकृष्ट हुए। नीतिशास्त्रके ज्ञाता गुरुवर द्रविड़जी महाराज रामचरितमानसको नीतिप्रधान ग्रन्थ मानकर अपनी वृद्धावस्थामें उसे कण्ठाग्र करनेका प्रयास करते रहे। उनके संसर्गमें रहनेवाले विद्वानों एवं शिष्योंको मानसमें निरूपित नीतिसिद्धान्तोंपर जो प्रकाश गुरुजी द्वारा मिला, उससे उत्साहित होकर उनके प्रधान शिष्य पं० श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार, रामचरितमानसकी शास्त्रीय व्याख्यामें प्रवृत्त हुए जिसका परिचय विद्वानोंको प्रस्तुत अयोध्याकाण्डकी टीकाके प्रकाशित दो भागोंमें मिलेगा। 'धर्मानुष्ठान'में नीतिका अपेक्षित समन्वय स्पष्ट करते हुए टीकाकारने वर्णाश्रमसमाज एवं भगवदुपासकोंके लिए जो शास्त्रसम्मत दृष्टि प्रस्तुत की है, उसके लिए कृतज्ञताप्रकाशनके साथ-साथ पूज्यवर गुरुजीके संकल्पित कार्यके योगदानमें वह धन्यताके पात्र हैं।

साधारण साक्षर जनोंके लिए उक्त टीकाकी भाषा एवं तर्कमीमांसा सिद्धान्तोंका विवेचन बुद्धिगम्य होनेमें कठिनाई प्रतीत हो सकती है फिर भी विद्वानों एवं व्यासोंको सन्तोष होगा। उक्त व्याख्याके अध्ययनसे भक्तिप्रधान राजनीतिसे पोषित 'भक्ति'का वास्तविक स्वरूप वर्तमान समाजके नैतिक चरित्रके उत्थानमें सहायक होगा। आशा है कि धर्म व नीतिके समन्वयमें प्रवृत्त श्रीराम एवं श्री भरतजीके आदर्श चरित्रसे भारतीय राजनीतिका असाधारण गौरव राजनेताओंको पथप्रदर्शक होगा।

अन्तमें जगद्गुरु श्रीविश्वनाथजीसे प्रार्थना है कि सम्पूर्ण रामचरितमानसकी शास्त्रीय व्याख्याको प्रकाशित करनेमें काशीवासी महान्पौराणिक एवं भारतीय राजशास्त्र वेत्ता श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार महोदयको समर्थ करें।

—श्री वैकुण्ठनाथ उपाध्याय

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीगुरुः शरणम्

श्रीरामचरितमानसम्

अयोध्याकाण्डम्

द्वितीयखण्ड

अन्नपूर्णा (भावार्थ) सहितम्

रामचन्द्रस्मृति (शास्त्रीयव्याख्या) समेतश्च

संगति : भरद्वाज मुनि सहज स्नेहकी उपपत्ति बता रहे हैं।

दो०-करम वचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किये कोटि उपचार॥१०७॥

भावार्थ : भरद्वाजजी कहते हैं कि छलको कर्मणा, वचसा, मनसा, त्यागकर[1] जब तक व्यक्ति तुम्हारा जन नहीं बनता तब तक चाहे वह करोड़ों प्रयत्न करे कभी भी सुख नहीं पा सकता।

छलरहित प्रभुसेवा

शा० व्या० : कर्मणा, वाचा, मनसा प्रभुके कार्यमें अंगतया अपनेको विनियुक्त करना ही प्रभुसेवा है। उसमें प्रतिबन्धक छलभाव है। चिन्तनीय है कि स्वामीके कहे विधायक शब्दोंमें अर्थान्तर या अन्वयान्तर करना ही छल है।[2] मुनिके मतसे छलमें तत्पर व्यक्ति श्रीरामका सेवक नहीं है। दो० १०८में कविने गुहको 'जन' कहकर उक्त निश्छलताको प्रकट किया है। छलप्रयोग करनेवाला जीव सदा सन्तप्त रहता हुआ, शुचितासे दूर रहता है। ऐसा व्यक्ति तृष्णाकी दासतासे कभी मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि छली की इच्छाएँ अमर्यादित रहती हैं। स्वाभिमानिता न होनेसे विषयपूर्तिके अभावमें वह शास्त्रविरुद्ध कार्य करता रहता है। अतएव वह कोटि उपचारोंसे पूजित होनेपर भी सुखी नहीं होता। सुखार्थं किये छली व्यक्तिके

---

१. छाड़ि छलुकी प्रक्रिया भरत-कौसल्यासम्वादमें व्यक्त है।

२. काव्यमालामें छलके उदाहरण वैदिकसिद्धान्तसंरक्षिणी में द्रष्टव्य हैं।

—शब्दभिच्छलः श्रीमद्भागवत ७.१५.१३

प्रयत्नोंको गिना जाय तो उनको वह अपने जीवनमें करोड़ों उपचारके रूपमें करता है परन्तु कभी सुखी नहीं होता। इतना ही नहीं विषाद या अमर्षमें मन, वचन, कर्मसे छली कार्य करता है अतः वह विश्वासार्ह नहीं है।

छलहीनव्यक्तिको सुखोपलब्धि

जो छलहीन व्यक्ति विश्वासपात्र होता है वह प्रभुका कहा जाता है, वैसा व्यक्ति सुखोपलब्धिसे पूर्ण रहता है जिसको कविने 'जब लगि जनु न तुम्हार तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं' से व्यक्त किया है।

संगति : अपनी प्रशंसाको स्वयंने सुनना उस व्यक्तिकी चपलता कही जाती है। अतः श्रीराम प्रशंसा सुननेमें सकुचा रहे हैं।

चौ०–सुनि मुनिवचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनन्द अघाने॥१॥

भावार्थ : भरद्वाजमुनिके वचनको सुनकर श्रीराम सकुचा गये फिर भी वे मुनिके भक्तिभावके आनन्दसे पूर्ण सन्तुष्ट हुए।

स्व-प्रशंसाश्रवणमें चपलता

शा० व्या० : साहित्यसिद्धान्तके अनुसार अपनी प्रशंसा स्वयंने सुनना एवं उसमें सुखानुभूति करना चपलताका द्योतक माना गया है जो नीतिविरुद्ध है। यही प्रसंग श्रीरामके सामने उपस्थित है। इसलिए उनको संकोच हो रहा है। अर्थात् गुरुमुनिके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनना श्रीराम उचित नहीं समझते। इसलिए वे लज्जित हो रहे हैं।

मुनिकी भक्तिके प्रति आनन्द

भरद्वाजमुनिके वचन यथार्थरूपमें श्रीरामकी भक्तिके पोषक हैं, मुनि तृष्णासे शून्य हैं, श्रीरामके प्रति उनका छलशून्य स्नेह है। ऐसे निर्मल मनवाले मुनिके वचनोंको सुनकर प्रभुके अन्तःकरणमें आनन्द नहीं समा रहा है।

संगति : प्रत्युत्तरमें प्रभु मुनिकी प्रशंसा कर रहे हैं।

चौ०–तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥२॥

भावार्थ : तब रघुनाथ रामजीने अनेक भाँतिसे सुशोभित मुनिका सुयश विस्तृत करके सबको सुनाया।

वरयाचनके प्रत्युत्तरमें यशोगानकी उपपत्ति

चौ० ५ से ७, दो० १०७की व्याख्यामें कहा गया है कि भरद्वाजमुनिकी प्रभुपदप्रीति और तत्सेवात्मक निश्छल धर्मानुष्ठान ही अदृष्टके माध्यमसे मुनिको प्रभुपदप्रीतिकी वृद्धिमें सहायक है, अतः उनको वर देनेकी अपेक्षा नहीं है। ऐसा सोचकर प्रभु मुनिका यशोगान कर रहे हैं।

अधिक-से-अधिक यशोगान करते हुए प्रभु जितना मुनिका आदर व्यक्त करते जा रहे हैं उतनी मात्रामें प्रभु भी सुखी हो रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि उक्त चौपाईमें 'मुनि सुजस सुहावा कोटि भाँति'का अन्वय 'सबहि सुनावा'से किया जाय तो भाव यह होगा कि विद्वानोंने अनेकों प्रकारसे मुनिका यशस् यत्र-तत्र सुनाया है। विद्वानोंके द्वारा किये गये यशोगानका प्रयोजन अग्रिम चौपाई तीनमें स्पष्ट होगा।

सबहि सुहावाका ध्वनितार्थ

चौ० ८ दो० १०७ में वरदानकी याचनाके उल्लेखसे यही समझना होगा कि वह प्रभुके 'भाव भगति आनन्द'की साधिका है जैसा गङ्गाजीने सीताकी प्रशंसा करते हुए कहा है चौ० ५ से ८ दो० १०३ में। भरद्वाजमुनिकी जप तपस् आदिकी सार्थकता यही है कि वे सभी सुयशोरूपमें परिणत होकर देशदेशान्तरस्थ सन्तोंके कानों तक विद्वानोंके द्वारा पहुँचे। इस प्रकार करोड़ों व्यक्तियोंके मुखसे मुनिका यशोगान 'कोटि भाँति सुहाबा' है। उसी यशस्को प्रभुने अभी 'सबहि' अर्थात् सीताजी, लक्ष्मण और गुहको विशेषरूपमें सुनाया है। अथवा 'सबहि'का यह भी भाव है कि प्रभुकी वाणी सर्वत्र व्याप्त हो गयी और सबने सुना।

संगति : यत्र तत्र विद्वानोंके द्वारा सुनाये सन्तोंके यशोगानका प्रयोजन प्रभु सुना रहे हैं।

चौ०—सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू ॥३॥

भावार्थ : वही बड़ा है, वही सम्पूर्ण गुणोंका आगार है, जिसको हे मुनिवर! आप आदर दें।

श्रीराममें दोषाभावका साधक यशोगान

शा० व्या० : ज्ञातव्य है कि न्यायप्रणालीके अनुसार इस चौपाईमें कविने विद्वत्प्रशंसितत्व हेतुसे 'रामो निर्दुष्टः' ऐसा अनुमान ऐतिहासिकगवेषकोंके हृदयमें कराया है जिसकी उपपत्ति इस प्रकार है।

प्रश्न : अयोध्यावासिनी कैकेयी और मन्थरा जैसी संवासिनियोंने श्रीरामको राज्यसे हटाकर वनमें भेजा। उसका प्रतीकार राजा व जनता न कर सकी। इससे श्रीरामके चरित्रमें क्या दोषकी शंका नहीं हो सकती है?

उत्तर : ऐतिहासिकोंके दृष्टिकोणसे इस शंकाका निवारण करनेके लिए श्रीरामके वनवासके पूर्व कविने श्रीरामकी निर्दोषता गुह केवट और भरद्वाजमुनिरूप प्रमाणभूत तीन व्यक्तियोंके द्वारा वर्णित करायी है जो चित्रकूट और किष्किन्धा निवासियोंके आकर्षणका मूल आधारभूतप्रसंग है एवं मित्रार्जनकी साधिका है।

राजनीतिमें तीन तटस्थ व्यक्ति (मुनि, गुह, केवट) के द्वारा एकवाक्यता प्रकाशित होनेपर विचाराधीन व्यक्ति विश्वासार्ह माना जाता है। श्रीरामकी निर्दुष्टताको समझनेमें उक्त तीनों व्यक्तियोंका अलग-अलग महत्त्व है। जैसे गुह चोरोंका सरदार व वनमें राजसधर्मा है तथा प्राणियोंके दुष्टत्वादुष्टत्वका ज्ञाता है। चौ० ६ दो० ८८ की उक्तिके अनुसार गुहका समर्थन श्रीरामकी निर्दुष्टताका प्रकाशक है।

केवटने भी श्रीरामके चरणरजस्में मानुषीकरणचूर्णका बहाना दिखाकर प्रभुका चरणामृत प्राप्त कर श्रीरामकी तेजोयुक्तपवित्रता-निर्दुष्टता प्रकट की है। तपस्वी योगी त्यागी विरक्त स्वार्थभावनासे शून्य, भरद्वाज जैसे सन्त जिसकी प्रशंसा करते हों उसकी निर्दुष्टता निर्बाध निर्णीत है।

मुनीशत्वसे सन्दिग्धोपाधिका निरास

प्रश्न : 'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी'की उक्तियोंसे भरद्वाजमुनिने श्रीरामको सुख आदिकी अवधि मानकर उनमें ईश्वरत्व दर्शाया है। इसपर शंका उठती है कि राज्याभिषेकको सुनकर अयोध्यामें ही अन्तःपुर (कैकेयीका महल) एवं बाह्य जनताके बीच दो विरोधी दल हो गये। उस स्थितिमें श्रीरामका निर्दुष्टत्व कैसे निर्णीत होगा ? किंबहुना श्रीरामकी निर्दुष्टतामें संदिग्धोपाधिमत्त्व माना जाय तो ईश्वरत्व असिद्ध हो जाएगा। उस दशामें भरद्वाज-मुनिका वचन अप्रमाण होता है। उसके पीछे अविद्वान् होनेसे गुह या केवटके उक्त चरित्र भी संदिग्धोपाधिके निरासमें सक्षम नहीं माने जा सकते।

उत्तर : वेद पुराण आदिमें भरद्वाजमुनिको तपोविद्योभयसम्पन्न माना है। बालकाण्डमें याज्ञवल्क्यमुनिने भरद्वाजको परम विवेकी कहा है। अतः भरद्वाज-मुनिका वचन प्रमाण है तथा सन्दिग्धोपाधिके निरासमें समर्थ है। इस प्रकार 'प्रभु'! 'मुनीस'! आदि सम्बोधन भरद्वाजवचनके प्रामाण्यका प्रतिष्ठापक है।

संगति : दो० ४१ में श्रीरामने कैकेयीके सामने वनवासमें मुनिमिलनका आनन्द कहा था जिसकी सुखानुभूतिको प्रभु यहाँ दिखा रहे हैं।

चौ०—मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचनअगोचर सुखु अनुभवहीं ॥४॥

भावार्थ : भरद्वाजमुनि और रघुवर श्रीराम दोनों एक दूसरेको बारम्बार नमस्कार करते हैं। उनके सुखानुभवका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह इन्द्रियोंकी शक्तिसे परे है।

विद्वत्प्रशंसासे शीलका परिचय

शा० व्या० : 'यत्र-यत्र विद्वत्संगतिमत्त्वं तत्र-तत्र शीलगुणवत्त्वं' इस व्याप्तिका दिग्दर्शन प्रयागवासी उदासी आदिको हो रहा है। अर्थात् वे सभी श्रीराम एवं मुनिके शीलसे परिचित हो रहे हैं। उनकी परस्परमें की गयी प्रशंसामें शील, विद्या, तपस् आदिका यथार्थपरिचय प्रकट हो रहा है। यह सुख अन्येषामगोचर है।[1] इसलिए उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

संगति : राजा दशरथके पुत्र आश्रममें आये हैं। यह सुनकर प्रयागवासी चतुर्वर्णसमाज प्रभुके दर्शनार्थ आ रहे हैं।

---

१. सुन्दरकाण्डके दो० ४ की व्याख्यामें सत्संग कहा है।

चौ०–यह सुधि पाइ प्रयागनिवासी। बटु तापसु, मुनि सिद्ध उदासी ॥५॥
भरद्वाज आश्रम सब आए। देखन दशरथसुअन सुहाए ॥६॥

भावार्थ : प्रयागमें रहनेवाले ब्रह्मचारी, तपस्वी मुनि, सिद्ध और उदासी मुख्य हैं, उनको पता लगा कि महाराज दशरथके कुमार आये हैं तो वे प्रभुका दर्शन करनेके लिए भरद्वाजाश्रममें आ पहुँचे।

शा० व्या० : श्रीरामके दर्शनार्थ आनेवालोंमें बटु ब्रह्मचारी, तापस वानप्रस्थाश्रमी, मुनि योगी, उदासी स्वकीयकर्मके अनुष्ठाता, सिद्ध निरपेक्ष योगाभ्यासरत महर्षि आदि आश्रमवासी आदि प्रयागवासी हैं। इनमेंसे कतिपयोंकी व्याख्या विजयध्वजी भागवत टीकामें द्रष्टव्य है।[1] 'सुहाए'का भाव है कि प्रयागनिवासियोंने दशरथपुत्र श्रीरामका सुहावना यशस् सुना था उससे आकृष्ट होकर वे कुमारोंको देखनेके लिए आये हैं।

ब्रह्मारण्य एवं सोमारण्य-वासियोंके उद्‌गारका फल

ज्ञातव्य है कि भरद्वाजाश्रम ब्रह्मारण्य है। अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार ब्रह्मारण्य अकृष्यभूमिमें अधिक-से-अधिक एक कोसकी सीमामें होना चाहिए। यह ब्राह्मणोंका स्थान है जो निरन्तर वेदध्वनिसे शोभनीय एवं शान्तवातावरणसे संबद्ध होता है।

सोमारण्य ब्रह्मारण्यसदृश है। सोमारण्यमें यज्ञसंस्थाके अनुकूल अभ्यास आदि कार्य होते हैं। ब्रह्मारण्यमें ब्रह्मचर्चानुकूलमीमांसाप्रवचन होता रहता है। उभयत्र धर्म, शुचिता, गुरुभक्ति, तपस्विता, विवेक आदि समान हैं।

दो० २४ के अन्तर्गत चौपाइयोंमें राज्याभिषेकोत्सवकी घोषणाके अनन्तर जिस प्रकार श्रीरामके घर पर बालसखाओंके पहुँचने पर उनके द्वारा की हुई श्रीरामके गुणोंकी विशेषपरीक्षाका वर्णन है उसी प्रकार भरद्वाजाश्रममें बटु आदिके आनेका प्रसंग कहा गया है। इन्होंने भी श्रीरामके शील स्नेह आदि गुणोंके बारेमें जैसा सुना था, भरद्वाज मुनिने जैसी प्रशंसाकी थी ठीक वही राजपुत्रोंमें पाया, उनमें विषादका लेश भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। फल यह हुआ कि श्रीरामके राज्योत्सवके समय हर्षकी परीक्षा करनेपर जिस प्रकार बालसखाओंने कहा था उसी प्रकार श्रीरामके विषाद की परीक्षाके अवसरपर प्रयागवासियोंके निकले उद्‌गार 'फिरे सराहत सुन्दरताई, से आगे व्यक्त होंगे।

संगति : परस्परके मिलनेके बाद सन्तोंके लोकसंग्राहक आचारके अन्तर्गत प्रधानआचार प्रणामात्मकसामप्रयोग करनेकी परम्परा है जिसको प्रभु यहाँ दिखा रहे हैं।

---

१. कर्मनिष्ठा गृहस्थाः, तपोनिष्ठा वानप्रस्थाः, स्वाध्यायनिष्ठा ब्रह्मचारिणः, प्रवचननिष्ठाः कुटीचकाः बहूदकाश्च, योगनिष्ठा हंसाः ज्ञाननिष्ठाः, [ज्ञानं चानुयगम्भूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक्। ऋषिरूपधरः कर्म, योगं योगेशरूपधृक्।]

चौ०–राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भए लहि लोयन लाहू ॥७॥
देहिं असीस परम सुख पाई। फिरे सराहत सुन्दरताई ॥८॥

भावार्थ : श्रीरामने अभ्यागतोंको प्रणाम किया। वे भी श्रीरामका दर्शन करके हर्षित हो गये। अत्यन्त सुखमें भरकर वे आशीर्वाद देने लगे। तथा श्रीरामके सौन्दर्य-निर्विकारिताकी प्रशंसा करते लौटे।

सन्तमिलनमें आचार व उपयोग

शा० व्या० : 'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू'से श्रीरामका सामप्रयोगात्मक विनय कल्याणबुद्धियोंके प्रति प्रकट है। ब्रह्मारण्यवासीप्रभृति सभी आश्रमवासियोंको प्रभुने प्रणाम किया। श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर बटु आदिने अपने नेत्रोंकी सफलताका अनुभव किया। 'लोचन लाहू'से श्रीरामका प्रभुत्व प्रकट है। सुन्दरताईके अन्तर्गत शरीरसम्पत्ति, क्षात्रतेजस् तथा मुनिप्रशंसितविनयशील आदि गुण विवक्षित हैं, जिनको देखकर अत्यन्त प्रसन्नतामें आश्रमवासियोंने श्रीरामको आशीर्वचन सुनाया।

'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू'में प्रत्येकको ऐसा लगा कि श्रीराम उसको प्रणाम करते हैं। श्रीरामका ऐसा प्रभुत्वपूर्ण चरित्र अन्यत्र गाया गया है।[1]

नीतिशास्त्रका कथन है कि वृद्धोपसेवी व्यक्ति सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें सम्मत होते हैं। उसका फल है अकार्यसे निवृत्ति। यह भाव 'राम प्रनाम' तथा 'देहिं असीस'से स्पष्ट किया गया है।

लोकसराहनाका तात्पर्य

'फिरे सराहत'से यह भाव व्यक्त है कि कैकेयीके चरित्रसे श्रीरामके प्रति उत्थापितदुष्टत्वकी आशंकाका समूल उन्मूलन होना यथार्थ है।

संगति : मुनिके आदेशसे प्रभुने आश्रममें ही रात्रिमें विश्राम लिया।

दो०–राम कीन्ह विश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाई।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाई ॥१०८॥

भावार्थ : श्रीरामने भरद्वाजमुनिके आश्रममें रात्रिनिवास किया। प्रातः प्रयागमें स्नान करके सीता, लक्ष्मण और सेवकगुहके साथ श्रीराम भरद्वाजमुनिको प्रणाम करके चले।

प्रयागमें विश्रामका प्रयोजन

पहले कहा जा चुका है कि श्रीरामको भरद्वाजआश्रममें विश्राम करानेमें ग्रन्थकारका प्रयोजन श्रीरामकी निर्दुष्टता या निर्दोषताकी पुष्टि तटस्थ उदासीन

---

१. अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥
चौ० ३ दो० २२ कि० का०
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥
चौ० ७ दो० ६ उ० का०

महात्माओंसे कराना है। अतएव दो० ४९ में कही उक्तिके अनुसार शंकाशून्य निर्मल-हृदय मुनियोंके बीचमें रहना प्रभुको इष्ट है।

तपस्वी उदासियोंके लिए विधान है कि चलते चलते घरके बाहर जहाँ रात हो जाय वहीं रात्रिनिवास कर्तव्य है। अतः प्रभुने प्रयागमें रात्रिनिवास किया।

प्रभुके इस विश्रामका प्रयोजन भरतकी शंकाको दूर कराकर भरद्वाजमुनिके द्वारा रामदर्शनका उन्हें आश्वासन प्राप्त कराना है, जैसा—चौ० ३ दो० २१० की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रयागक्षेत्रमें ब्रह्मारण्य व सोमारण्यकी व्यवस्था है। ऐसी व्यवस्था राजाओं द्वारा की जाती है। उनमें गुरुकुल भी हैं। इन विद्यालयोंमें शुचिता और आचार पर बहुत ध्यान दिया जाता है। उनमें अनेकों विद्यार्थी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायके होते हुए भी अनुशासनहीन नहीं हैं। सभी आत्मवान्, विद्यासेवी, देशवासियोंके लिए मार्गद्रष्टा होते हैं, जैसा अग्रिम वर्णन (चौ० ३-४ दो० १०९) से स्पष्ट होगा। मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजसे मार्गदर्शन लेकर प्रभुको शास्त्रमर्यादाकी रक्षा करनी है। विप्रही मार्गदर्शनका अधिकारी है। इस मर्यादाके पालनार्थं गुहकी प्रार्थनाको (चौ० ४ दो० १०४) प्रभुने स्वीकार नहीं किया।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विद्वान् ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होते तो विद्वान् शूद्रकी भी तत्तविद्वषयोंमें सम्मति ग्राह्य है। जैसा प्रभुका शबरीसे सीताकी सुधिके सम्बन्धमें पूछना इत्यादि (चौ० १० दो० ३६ अरण्य०)। शास्त्रकी मर्यादाको देखते हुए नीतिमान् विद्वानोंसे गन्तव्यमार्गकी जिज्ञासाका प्रकाशन भी कर्तव्य है क्योंकि उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग लोकोपारक है।

संगति : अनेक मार्गोंको देखकर गन्तव्यका निर्णय नहीं होता है। अतः प्रभु ने गन्तव्यमार्ग पूछना प्रारम्भ किया।

चौ०–राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं ॥१॥

भावार्थ : श्रीरामने प्रेमपूर्वक मुनिभरद्वाजसे पूछा कि हे नाथ! बताइये, मैं किस मार्गसे जाऊँ?

विप्र-गुरुसे मार्गनिर्देशकी अपेक्षा

शा० व्या० : 'सप्रेम'से भरद्वाजमुनि द्वारा मार्गनिर्देशमें हितका विश्वास व्यक्त है अर्थात् प्रभुको विश्वास है कि वनवास करते हुए भविष्यत्में अपना हित जिस प्रकारसे होगा वैसा ही निर्देश मुनिसे प्राप्त होगा। ध्यातव्य है कि मुनिसे यह पूछना विश्वासाभास नहीं है, क्योंकि भरद्वाजजी मननशील मुनि हैं। वे सत्तर्कयुक्त परामर्श करनेमें समर्थ हैं। शिष्योंका हित देखते हुए सत्यवक्ता वेदविध्यनुगामी सद्धेतुका विचार करनेवाले हैं।[1] दूसरी बात यह भी है कि प्रगतिशील संसारमें प्राणियोंके लिए

---

१. नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिः स्याच्छ्रुतधारिणी वर्ण्यते—चित्तसन्तोषात् विदग्धव्यवहारतः शिष्यहिताधानार्थंदर्शनै.। (भावप्रकाशन अ० १)

भाविजीवनोन्नति अन्धकारसे आच्छन्न है, क्योंकि गतिकी प्रक्रियाएँ बहुत हैं। अनेकों सम्प्रदाय अनेकों मत, अनेकों पन्थ, अनेकों वाद हैं, उनमें-से किसी एक मार्गका निर्णय करना असर्वज्ञ शिष्योंको सम्भव नहीं है, सन्देह रहते विद्वान् आप्त मुनि ही मार्गनिर्धारण कर सकते हैं। इस रीतिसे श्रीराम सुयोग्य विद्वानसे गन्तव्य मार्गका निर्णय कराकर शास्त्रमर्यादाकी स्थापना कर रहे हैं।

सत्पुरुषको भी मुनिसम्मतिकी अपेक्षा

नीतिसिद्धान्त यह है कि यद्यपि विनयसम्पन्न व्यक्तिकी प्रतिभा शास्त्रसेवासे परिपूत होती हुई यथार्थ अर्थका दर्शन और सन्देहके निरासमें सक्षम होती है तथापि तपस्यादि आर्षगुणसे सम्पन्न पूर्वतन महर्षिके उपस्थित होते हुए अपनी प्रतिभासे निर्णय करना विद्वान् साधुओंकी उपस्थितिको उपेक्षित करना है। ऐसा करनेमें शास्त्रमर्यादाका अतिक्रमण और स्वाभाविक स्वाभिमान प्रदर्शित होता है। सम्भव है, उक्त अभिमान और उपेक्षामें अपनी प्रतिभा कुण्ठित हो। अतः स्वयं शास्त्रपूत तथा प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी प्रभु भरद्वाजमुनिसे गन्तव्य मार्ग पूछ रहे हैं।

यह भी ज्ञातव्य है कि पवित्रात्मा गुरु और शिष्योंमें मतभेदकी सम्भावना कथमपि नहीं हो सकती क्योंकि गुरु शिष्यके बीच प्रमाणोंका आश्रय होनेसे उनमें वैमत्य नहीं होता चाहे कोई भी साम्प्रदायिक स्थिति हो, अपने-अपने पारम्परिक सम्प्रदायमें तत्तत्सम्प्रदायकी मान्यता निर्विवाद है। सबकी संघटनाको बनाये रखनेमें नीति-मार्गकी अपेक्षा है जिसका विचार अग्रिम चौपाइयोंकी व्याख्यामें किया जायगा।

वनवासविधि

प्रसंगत : राजा, कैकेयी, भरद्वाजमुनि, वाल्मीकि आदिके निर्दिष्ट विधियोंकी सार्थकता ज्ञातव्य है। चौ० ३ दो० २९ में 'श्री रामो वने वसेत्' ऐसा विधान मीमांसा-सम्मत उत्पत्ति-विध्यात्मक कहा जायगा जिसका श्रेयस् गंगाजलसे समुद्भूत वेदवाणीसे उपबृंहित पिता-माताके वचनसे ज्ञात है। उसी विधिको हेतु मानकर श्रीरामके हृदयमें 'वनवासोऽस्माकं इष्टसाधनम्' ऐसी अनुमिति हुई है। उसीको मीमांसाप्रणालीसे ऐसा कहा जायगा कि 'वनवासकर्मकराजराज्ञुभयसमवेतशाब्दभावनया स्वप्रयोज्यत्वानु-मितिप्रयोज्यत्वबन्धेन विशिष्टा आर्थी भावना' ऐसा राजवचनसे श्रीरामको बोध हुआ है।

सीताजीकी आकांक्षाके उत्तरमें गंगाजीकी अपौरुषेय वाणीसे स्पष्ट होता है कि वनवासका फल सकुशल लौटना तथा त्रैलोक्यमें कीर्तिकी प्राप्ति है। अर्थात् उस वचनसे श्रीरामके हृदय की 'इष्टं वनवासस्य किं' आकांक्षा शान्त होती है। इस प्रकार गंगाजीके वचन अधिकारविधि होनेसे श्रीरामके लिए वनवासमें उत्साहवर्धक हैं।

वनवासमें नैतिकता

श्रीरामके वनवासव्रतका फल भविष्यत्में वही है जो गंगाजीने सुनाया था, फिर भी अभी श्रीरामका वनवास केवल अदृष्टार्थक न समझा जाय बल्कि नैतिकतासे समन्वित

दृष्टफलार्थक है। जैसा ('सुजसु रहहि जग छाइ' दो० १०३)—गंगाजीकी अपौरुषेय वाणीने राजोपदिष्ट वनवासविधिको पुरुषार्थके रूपमें समझाया है। अब यह कहना होगा कि विधिनिमित्तक आकांक्षा न होनेसे यमुनासे श्रीरामका सम्भाषण न होना उचित है। एवं च गंगाजीका वचन निरर्थक या निष्प्रयोजन नहीं है। निष्कर्ष यह कि 'वनवासेन किं भावयेत्' इस आकांक्षाका उपशमन गंगाजीने किया है।

विधिपालनमें मुनियोंका योगदान

उत्पत्तिविधि और अधिकारविधिको समझनेके अनन्तर स्वभावतः 'कथं वनवासं भावयेत्' ऐसी 'इतिकर्तव्यताकांक्षा' उदित होती है। इस नियमको ध्यानमें रखते हुए कहना होगा कि प्रभुके हृदयमें गंगापार होनेके अनन्तर उक्त इतिकर्तव्या-कांक्षा—'वनवासं कथं भावयेत्'का उदय भया होगा। वह आकांक्षा प्रकृतमें दो भागमें विभक्त है। एक 'केन मार्गेण गन्तव्यं', दो 'कस्मिन् वने वसेयम्'। इन आकां-क्षाओंके उपशमनमें राजाने सुमन्त्रके माध्यमसे मार्ग-दर्शनको आकांक्षाको पहले ही समाहित करानेकी व्यवस्था की थी पर गंगातोरपर पहुँचकर सुमन्त्र स्नेहकी परतन्त्रतामें बोलने लगे, अतः मस्तिष्क स्वस्थ न होनेसे वे मार्गदर्शनमें अभी प्रमाण न रहे। गुहका मार्ग-दर्शन भी त्रिकालाबाधित न रहा जैसा कि गुह-लक्ष्मण संवादसे स्पष्ट है। न तो वह मुनिकी उपस्थितिमें मार्ग-दर्शन करानेमें शास्त्रतः अधिकारी भी है। इसलिए प्रभुकी मार्गाकांक्षात्मक इतिकर्तव्याकांक्षा ज्यों-की-त्यों बनी रही। तब श्रीरामने 'गंगायमुनयोर्मध्ये ये वसन्ति' इस वैदिकवचनकी मान्यतापर मुनियोंका स्मरण कर तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। फलतः भरद्वाजमुनिसे भेंट हुई जो मार्गनिर्देश करेंगे। इस प्रकार मार्गाकांक्षा समाप्त होगी। 'कस्मिन् वने वसेयम्' इस आकांक्षाका उपशमन मुनि वाल्मीकि करेंगे। इस प्रकार मुनि द्वयके आश्रममें प्रभुका पहुँचना सप्रयोजन है।

अभी ज्ञातव्य यह है कि यमुनाजी होते हुए प्रभुका जाना व्यर्थ नहीं है, क्योंकि वनवासविधिके पालनमें 'तापसवेषविसेषी'की सिद्धि तापसमिलनसे यहीं होनेवाली है। समाजसहित भरतको भी प्रभुदर्शनानुरूप धर्मसे श्रीरामप्रीतिका उत्कर्ष यमुनाके वरदानसे प्राप्त होगा।

संगति : भरद्वाज मुनि मार्ग-दर्शनकी आकांक्षाका प्रशमन सुगम मार्गके सुझावसे कर रहे हैं।

चौ०—मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं ॥२॥

भावार्थ : भरद्वाज मुनिसे मार्ग पूछनेपर उन्होंने मन-ही-मन हँसते हुए कहा कि सभी मार्ग प्रभुके लिए सुलभ है।

आचार्योंका गौरव

शा० व्या० : मार्ग-दर्शनमें योग्यतम भरद्वाज मुनिसे मार्ग पूछना भरद्वाज-मुनिके सर्वमान्य आचार्यत्वके गौरवको प्रकाशित करना है क्योंकि मुनिके निकट

समस्त सम्प्रदायवादी अध्ययन करते थे। वे अपने-अपने अनुकूल मार्गदर्शन प्राप्त करके कृतार्थ होते थे जो 'मुनि मुदित पचासक' आदिसे स्पष्ट होगा। प्रभुको वर्णाश्रम-प्रधान वेदोक्तमार्ग ही अपनाना इष्ट है। इसलिए मुनि चारों वेदोंकी प्रधानता समझकर बटुस्वरूप चार वेदोंको प्रभुके साथ जानेको कहेंगे जो 'बटु चारि संग दीन्हें' चौपाईकी व्याख्यामें स्पष्ट होगा।

शास्त्रकी प्रतिष्ठामें मुनिका हर्ष

'बिहसि'का भाव है कि भरद्वाज मुनि मन-ही-मन हँस रहे हैं कि प्रभु अपना प्रभुत्व छिपा कर आचार्यत्वका गौरव मुझे दे रहे हैं। वनवासके लिए मार्गदर्शनके हेतु मुझसे सहयोग चाहते हैं। प्रभुके इस शास्त्रप्रतिष्ठात्मक चरित्रको देखकर मुनिको हर्ष हो रहा है।

मार्गकी सुगमता

मुनि कह रहे हैं कि चाहे जिस मार्गसे प्रभु जायँ वही मार्ग सब प्रकारसे सुगम अर्थात् शास्त्रीयता और सफलताका साधक होगा। फिर भी विद्वानोंकी मन्त्रणाके विना कार्य करना शास्त्रविरुद्ध है।[1] इसलिए प्रभु मुनिसे पूछ रहे हैं।

संगति : मुनि शास्त्रप्रतिष्ठाका अनुसरण करते हुए मार्ग दिखाते हैं।

चौ०—साथ लागि मुनि शिष्य बुलाए। सुनि मन मुदित पचासक आए ॥३॥

भावार्थ : प्रभुके साथ जानेके लिए भरद्वाज मुनिने शिष्योंको बुलाया तो सुनते ही पचास शिष्य आ गये।

पचास शिष्योंका सम्बन्ध

शा० व्या० : 'मुदित'से स्पष्ट है कि गुरुशिष्यसम्बन्ध कितना प्रीतियुक्त है। मुनिके बुलाते ही पचास शिष्य सहर्ष उपस्थित हो गये। तन्त्रसारके अन्तर्गत पचास विष्णुशक्तियाँ निरुपित हैं।[2] तदनुसार पचास शक्तियाँ शिष्योंके रूपमें प्रकट होकर मुनिके सामने उपस्थित हैं। उनका वैभव भरतसत्कारमें प्रकट होगा। वे मुदित इसलिए हैं कि उनका उपयोग प्रभुकी सेवामें होगा।

संगति : सभी शिष्य—(सम्प्रदाय) मार्ग प्रदर्शन करनेके इच्छुक हैं।

चौ०—सबह्नि रामपर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मगु दीख हमारा ॥४॥

---

१. दुर्मन्त्रमेनं रिपवो यातुधाना इव क्रतुम्।
समन्ततो विलुंपन्ति तस्मान्मन्त्रपरो भवेत्॥
मार्गं सन्मार्गगतिभिः सिद्धये सिद्धकर्मभिः।
पूर्वैराचरितः सद्भिः शास्त्रीयन्न परित्यजेत्॥ नीतिसार स० १२

२. केशवाद्याश्च कीर्त्याद्या विष्ण्वाद्यास्तस्य शक्तयः।
पञ्चाशद्विष्णुशक्तीशत दीशत्वेन काम्यते॥ गणेश सहस्रनाम

भावार्थ : जितने पचास शिष्य आये थे सभीका प्रेम श्रीरामपर अपार है। सब कह रहे हैं कि मार्ग उनका देखा है।

सभी सम्प्रदायोंकी एकवाक्यता

शा० व्या० : 'सबह्नि रामपर प्रेम अपारा'का भाव है कि सभी सम्प्रदाय या पंथ एकमात्र भगवान्‌की ही उपासना करते हैं और स्वसम्प्रदायानुसार भगवत्तत्वका प्रतिपादन करते हैं जैसा टिप्पणीमें निर्दिष्ट श्रीमद्भागवतोक्तिसे स्पष्ट है।[1] सभी सम्प्रदाय प्रभुप्राप्तिका मार्ग बतानेका अधिकार रखते हैं जो कि उक्त चौपाईके द्वितीयचरणमें स्पष्ट किया है। इस प्रकार सब सम्प्रदायोंका आदर दिखाया गया है।

संगति : पचास शिष्योंमें-से मार्गदर्शन करनेमें सक्षम मुख्य चार शिष्योंको मुनिने मार्गदर्शनार्थ प्रभुके साथ भेजा।

चौ०–मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हें ॥५॥

भावार्थ : भरद्वाजमुनिने चार विद्यार्थियोंको प्रभुके साथ कर दिया। ये सब चारों ऐसे थे जिन्होंने अनेक जन्मोंका पुण्यसञ्चय बना रखा था ।

चार बटुसे श्रुतिका सम्बन्ध

शा० व्या० : प्रभुके मार्गदर्शनकी आकांक्षामें पचास शिष्योंके तत्पर होनेपर भी भरद्वाजमुनि चार शिष्योंको ही योग्य समझते हैं मानों 'बटु चारि' स्वरूपमें चारों वेदोंकी प्रधानता दिखा रहे हैं। क्योंकि वेदप्रतिपादित मार्ग ही मर्यादापुरुषोत्तमको इष्ट है।[2]

अथवा पचाससे अनेकों सम्प्रदाय या पन्थ विवक्षित हैं, जो मुनिसे अपने-अपने योग्य मार्ग प्राप्तकर रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार श्रीमद्भागवतमें सब सम्प्रदायोंकी स्थापनाका उल्लेख करते हुए किसीका खण्डन करना इष्ट नहीं है फिर भी वैदिक मार्गकी प्रधानता ही इष्ट है। उसी प्रकार रामचरितमानस भी वेदोक्त मार्गको ही मूलाधार बताते हुए वर्णाश्रमधर्मकी स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रतिभू चार वेद हैं।

वेदोंके पास कल्प-कल्पान्तरका सुकृत है जिसके फलस्वरूप वे रामसेवक बनकर उपस्थित हैं जो 'बहुजनम सुकृत सब कीन्हें'से व्यक्त है।

---

१. त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥ भागवत १०.४०.८
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ॥
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ भागवत १०.४०.९

२. बटुचतुष्टयकी सार्थकता ११० दोहेमें द्रष्टव्य है।

सेव्यगुणसम्पन्नकी सेवा

शिष्यों द्वारा श्रीरामकी सेवाके सम्बन्धमें अर्थशस्त्रसिद्धान्त स्मरणीय है जिसके अनुसार द्रव्यप्रकृतिहीन होनेपर सेव्यगुणसम्पन्न स्वामी सेव्य है। द्रव्यप्रकृतिविहीन-प्रभुकी सेवामें शिष्योंकी तत्परता उक्त नोतिसे समन्वित है।

संगति : शिष्योंके साथ चलनेके पूर्व मुनिका आशीर्वाद लेना कर्तव्य है। अत: श्रीराम उनको प्रणाम कर रहे हैं।

चौ०-करि प्रनामु रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई ॥६॥

भावार्थ : रघुनाथजी भरद्वाजमुनिको नमस्कार करके उनका आशीर्वाद लेकर हर्षोल्लसित मनसे आगे चले।

गुरुप्रसादमें हर्षकी विभावना

शा० व्या० : देव गुरु एवं पतिकी प्रसन्नताको देखकर सेवकोंका हृदय हर्षोल्लसित होता है। मुनिके आशीर्वचनको सुनकर श्रीरामकी प्रसन्नता प्रकट है। मनमें मोदका उल्लास है, जो शुभसूचक निमित्तशकुन है।

जनाकर्षणमें साधक गुण

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इस उक्तिका पूर्ण समन्वय श्रीराम-चरित्रमें स्मरणीय है। अपने स्नेहशीलके द्वारा श्रीरामने अयोध्यामें रहकर प्रभुरूपसे सम्पूर्ण जनताका आकर्षण-अनुराग-प्राप्त किया है। यह प्रियता राजा दशरथकी उक्ति 'सबहि रामु प्रिय'[1], गुरुवसिष्ठके वचन 'बरनि रामगुन सील सुभाऊ'[2], एवं बाल-सखाओंके उद्गार 'को रघुबीरसरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनि हारा'[3] से स्पष्ट है। स्वराज्यसे दूर वनवासके लिए निकल जानेके बाद भी श्रीराम विवेक-वैराग्य-विद्या-विनयसम्पन्न हैं। ये गुण ही अन्यान्य दूरदेशवासियोंका अद्भुतमें आकर्षण करनेवाले हैं। इसको बतानेके लिए प्रयागवासोप्रभृतिसन्तोंके आकर्षणका वर्णन किया गया है।[4] यह कार्यकारणभाव त्रिकालाबाधित है जो साहित्यसिद्धान्तसे अनुमोदित है। इस सिद्धान्तमें 'अभीष्टादेरचिन्तनं' को अद्भुतरसका विभाव माना गया है। अद्भुत-चरित्रके अन्तर्गत 'अभीष्टादेरचिन्तनम्'—जनसाधारणके लिए ध्यानाकर्षक है। श्रीरामके चरित्रमें अद्भुतकी स्थिति औचित्यसे परिपूर्ण है। यही कारण है कि श्रीराम-की ओर आश्रमप्रभृतिनिवासी आकृष्ट हो रहे हैं। आश्रमसे आगे चलते हुए श्रीरामके उपर्युक्त तत्व-अद्भुतविभावात्मक विद्याविनयसम्पत्तिके बलपर ही तत्तद्ग्रामवासियोंका आकर्षण होगा। श्रीरामका यह आदर्श भारतीयराजनीतिकी स्थापना करनेवालोंके लिए मननीय है।

---

१. चौ० ३ दो० ३। २. चौ० १ दो० १०। ३. चौ० ४ दो० २४।
४. इनकी सप्रयोजनता चौ० ८ दो० १०८ में द्रष्टव्य है।

संगति : आगे ग्रामवासियोंका आकर्षण कहा जा रहा है।

चौ०–ग्रामनिकट जब निकसहि जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई ॥७॥

भावार्थ : जब प्रभु किसी गाँवके पाससे निकलते हैं तो वहाँके स्त्री-पुरुष दौड़कर उनके रूपका दर्शन करते हैं।

शा० व्या० : षोड़शकलासे पूर्ण प्रभुका स्वरूप आत्मगुणसम्पत्तिकी पूर्णतासे समनियत है। उनमें कतिपयगुणोंसे संस्कृत व्यक्ति भी लोकके लिए आकर्षक बिन्दु बन जाता है तो श्रीराम लक्ष्मण के लिए कहना ही क्या ? दोनों भाई क्षात्रतेजस्सम्पन्न धनुर्धर हैं—आजानुबाहु, ओजस्विता, सुमुखाकृति, दयालुता, अचपलता, गम्भीरता, माधुर्य, लावण्य, सत्व, शौर्य, त्याग आदि सभी गुण दोनों भाइयोंमें परिलक्षित हो रहे हैं। वे राजोचित सामुद्रिक रेखाओंसे अंकित हैं। दोनों भाइयोंका पदनिक्षेप भी देवत्वके अनुरूप है। उपर्युक्तगुण साधारणमानवोंमें नहीं पाये जाते। अतः जैसे प्रयाग-वासियोंका दोनों भाइयोंके दर्शनार्थ आकर्षण हुआ वैसे ही ग्रामवासियोंके लिए भी श्रीरामका स्वरूप आकर्षक हो रहा है। सभी ग्रामवासी द्रुतगत्यात्मक आवेगमें राजपुत्रोंके दर्शनार्थ उत्सुक हैं जिसको 'धाए' कहकर कविने व्यक्त किया है।

लोकयात्राविस्त्व

उक्त आकर्षणके रहस्यको कुलीन विद्वान् समझते हैं। लोकमतको अपने अनुकूल बनाते हुए राज्यकी धुराको नीतिवित् सफल बनाते हैं। यह लोकयात्राविस्त्व श्रीरामके चरित्रमें दर्शाया गया है।

व्याप्तिविचार

इस चौपाईमें वर्णितविषयका विशेषविवेचन चौ० १ दो० ११४ में किया गया है। अभी ज्ञातव्य इतना ही है कि शिवजी दो० ११३ के अन्तर्गत जिन-जिन व्याप्तियोंका वर्णन करेंगे उसीका चित्रण ग्रामपुरवासियोंके चरित्रसे दिखानेका प्रयत्न हुआ है—जो 'जब'से स्फुट है अर्थात् कवि यहाँ 'ग्रामनिकट जब निकसहिं जाई'से याज्ञवल्क्यद्वारा किये गये भरद्वाजके प्रश्न (दो० ४६ बा० का०)का समाधान प्रस्तुत करना चाहते हैं। आगे चलकर श्रीरामके प्रभुत्वके सम्बन्धमें किये हुए भरद्वाजके प्रश्नके समाधानमें याज्ञवल्क्यमुनि भरद्वाजाश्रमसमीपवर्तिनी घटनाको व्यक्त करते हुए श्रीरामके प्रभुत्वको स्पष्ट लिंगक-चिह्न-प्रमाणोंसे स्फुट करेंगे। इस प्रकार प्रस्तुत चौपाइयोंका पूर्वापरसम्बन्ध नहीं भूलना चाहिए।

संगति : विनयशील नीतिवेत्ताको पाकर ग्रामवासी अपनेको सनाथ समझ रहे हैं, तथा अपने जीवनको सफल मानते हैं।

चौ०–होहिं सनाथ जनमु फलु पाई। फिरहिं दुखितमनु संग पठाई ॥८॥

भावार्थ : श्रीराम, लक्ष्मण, सीताजी उन तीनों मूर्तियोंका दर्शन करके ग्रामवासी अपनेको सनाथ समझते हैं, जन्म फलकी प्राप्ति मानते हैं। किन्तु शरीरसे उनका संग छोड़कर दुःखी हो लौटते हैं पर मनको उनके संग ही लगा देते हैं।

स्व-कर्तव्यके फल सम्बन्धमें मनुवचन

शा० व्या० : 'स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः। प्रिया भवन्ति लोकस्य'...। मनुके इस वचनकी चरितार्थता ग्रामवासियोंका कर्तव्यसे विरत होकर दौड़ते हुए आना और लौटते हुए मनमें नैरन्तर्येण याद करना एवं दूरदेशवासी राजपुत्रसन्तके प्रति उनकी स्पृहणीयतासे व्यक्त हो रही है।

सन्तमिलनमें शीलता

विद्वान् सन्तोंके संगमें संगी शीतलताका अनुभव करता है जैसे कि श्रीरामकी संगतिमें ग्रामवासियोंको सुखानुभूति हो रही हैं। इसमें उपपत्ति इस प्रकार है।

इच्छाके रहते अन्तःकरणमें विषयसिद्धिका अभाव होनेपर शोक सन्ताप आदि होते रहते हैं। उस दशामें शीतलता भी समाप्त होती है। यह दोष अकामहत श्रोत्रिय विद्वानोंमें नहीं रहता। इसलिए विद्वानोंके संगमें रहनेसे अन्तःकरण इच्छाओंकी अल्पतामें सुखी होता है। सुलक्षणसम्पत्ति स्नेहशील आदि गुणोंसे युक्त व्यक्तिकी विलक्षणता यही है कि उसका सामीप्य पाकर सन्तसे दूर रहना त्रासदायक मालूम पड़ता है। अतः सन्तका संग सदा सुखदायी होता है।

'मनु संग पठाइ'को न्यायकी परिभाषामें ऐसा कहा जायगा—'स्वविषयक स्मृतिमत्त्वसम्बन्धेन' प्रभु ग्रामवासियोंके हृदयमें बैठ गये। नीतिशास्त्रने नेता और नेय इन दोनोंके मध्यमें उक्त सम्बन्धकी स्थापना करनेपर बहुत बल दिया है। उसीमें अनुशासनकी सफलता है। उसीके माध्यमसे श्रीरामने राज्यको एकसूत्रतामें बाँधा है। ग्रामवासियोंने मन तो प्रभुके साथ भेजा पर शरीर राम सेवामें नहीं आया। ऐसा देखकर ग्रामवासी व्यथाका भी अनुभव कर रहे हैं जिसको 'फिरहिं दुखित'से व्यक्त किया है।

संगति : यमुना तीरपर आनेके बाद प्रभुने बटुओंको अपने आश्रममें लौट जानेको कहा।

दो०—बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुनजल जो सरीरसम स्याम ॥१०९॥

भावार्थ : विनयपूर्वक प्रभुने चारों बटुओंको लौटाया। वे भी मनोवांछित फल पाकर लौट चले। फिर प्रभु नीचे उतर कर यमुनामें नहाये जिसका जल प्रभुके शरीरके रंगके समान श्याम है।

सम्पूर्ण शास्त्रकी एकवाक्यतामें कर्तव्यनिर्णय

शा० व्या० : सभी शास्त्रोंकी एकवाक्यता स्थिर करके ही उसके बलपर प्रमाणवचनोंके सहारे अपने इष्टसाधनमार्गका निर्धारण करना चाहिए, ऐसी शास्त्रकी

सम्मति है।[१] इसीके अनुसार चारो बटुओं द्वारा की हुई एकवाक्यता श्रीरामको गन्तव्य मार्गपर प्रवृत्त कराती है। इस चरित्रका यह रहस्य है।

श्रुतिसम्मत मार्गमें सन्देहनिरासकता

प्रश्न : राजाके तरफसे छूट पाकर कैकेयी माताने श्रीरामको उदासी होकर वनवासी बनाया। पिताके आदेशको प्रभुने 'कानन-राजू'में परिणत किया। इसपर प्रश्न उठता है कि श्रीरामने तापस होकर पूर्ण उदासीनत्वको क्यों नहीं अपनाया ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि बटुरूपमें उपस्थित वेदचतुष्टयीने मार्ग-निर्दिष्ट कर श्रीरामको क्षात्रमार्गकी ओर प्रवृत्त कराया है। उदासी[२] वनवासी होकर भी क्षात्रधर्मके अनुकूल धनुर्धारित्वके साथ प्रजापालन करनेका विधान राजाके लिए श्रुतिसम्मत स्वधर्म है।[३] वही ग्राह्य है। अतः वनवासमें भी क्षत्रियोचित धर्मपालनको प्रभुने 'काननराजू'से ध्वनित कर श्रुतिचतुष्टय द्वारा गन्तव्य मार्गका निर्देश पाकर बटुओंको लौटाकर यहाँ प्रजापालनसहकृतपित्राज्ञापालनरूपधर्मविशेषको कर्तव्यतया अपनाया जो क्षत्रियके लिए ही नहीं, प्रत्येकने स्वस्ववर्णाश्रमधर्मपालनमें कर्तव्य समझना चाहिए। धर्मपालनमें स्थिर रहनेका विशेष फल यह है कि धर्मसञ्चालित पवित्र-प्रतिभामें यथार्थतत्त्वका प्रकाशन होता रहता है। स्वधर्मपालनके निर्णयसे प्रभु निःशंक निश्चिन्त होकर श्रुतिनिर्दिष्ट मार्गपर ज्यों बढ़े त्यों ही तपोरूपमें सारतत्व-धर्मतेजस्के मिलनकी सिद्धिका वर्णन कवि आगे करेंगे।

ज्ञातव्य है कि श्रुतिमार्गके निर्णयमें जब बाधा होती है तब स्मृतियोंसे श्रुति-मार्गका स्पष्टीकरण लेना होता है। इस पद्धतिको आगे चलकर ग्रन्थकार मार्गवासियों द्वारा 'सोधि सुगम मगु'—चौ० ८ दो० ११८—में स्पष्ट करेंगे।

यमुनाजलकी श्यामलता

यमुनातीरपर पहुँचकर उस तीर्थमें दोनों भाइयोंने स्नान किया। प्रभुका चिन्तन करते रहनेसे उनके शरीरका साधर्म्य यमुनाजलने पाया है, इस कौतुकको देखकर शिवजीने 'शरीरसम स्याम' कहा है।

रवितनया यमुना कलिमल हरिणी' है। यह उसके जलका माहात्म्य है। अपने उपासकोंको कलिमलरहित बनाकर वह प्रभुकी पहचान करनेकी योग्यता देती है। ग्रामवासियोंने लक्षणसम्पन्न सुन्दरताको देखकर श्रीरामको अद्भुत पुरुष ही समझा। तीरवासियोंने भी श्रीरामको सुन्दरतासे आकृष्ट हो उनके लौकिकसम्बन्ध 'माता-पिता स्थान' आदिको जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। उनमें किन्हीं वयोवृद्धोंने अयोध्याके राजा दशरथके पुत्रत्वसम्बन्धसे लेकर वनवास तककी कहानीको जानकर

---

१. युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

२. उदासीनत्वके सम्बन्धमें विशेष विचार चौ० ३ दो० २९ की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

३. भूतानां चाभिरक्षणम्।

श्रीरामकी पहचान सबको बतायी। उसके बाद विद्यावृद्धतपोवृद्ध और तापस, यमुनाकी कृपासे श्रीरामके प्रभुत्वको पहचानकर उनकी वन्दना करेंगे तब सर्वसाधारण श्रीरामके प्रभुत्वकी असंदिग्ध पहचान होगी।

संगति : ग्रामवासियोंके आवेगको कहकर अब यमुनातीरवासियोंके आवेगका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–सुनत तीरवासी नर-नारी। धाए निज-निज काज बिसारी॥१॥

भावार्थ : यमुनाजीके निकट रहनेवाले स्त्री-पुरुष श्रीरामका आगमन सुनकर अपना-अपना काम छोड़कर दौड़े आये।

अभ्यागतोंकी अद्भुतता व सुन्दरता

शा० व्या० : तीरवासियोंके दौड़कर आनेका कारण मूर्तित्रयकी अद्भुतता है जिसमें सुलक्षण, सामुद्रिक रेखाएँ आदि गुण श्रीराम लक्ष्मण और सीतामें लक्षित हो रहे हैं। उनका वर्णन चौ० ७ दो० १०८ में हुआ है। राजपुत्र पैदल विचरण करते नहीं देखे जाते हैं पर यहाँ देखे जा रहे हैं यह एक अद्भुत है। 'असूर्यंपश्या' राजदारा सीता-सुन्दरीका पतिके साथ भ्रमण करना दूसरा अद्भुत है। विपत्तिमें सहायता देनेवाले विरले होते हैं, भाई लक्ष्मण उन्हीं विरलोंमें गिने जा रहे हैं, यह लोकोत्तर तीसरा दृश्य है। राजपरिवारका निर्जन वनमें खुले आम घूमना चौथा, और वनवास होनेपर भी उसके क्लेश या हर्षसे सर्वथा शून्य रहना पाँचवाँ अद्भुतचरित्र है। पुनः चौपाई ८ दो० १११ में इस सौन्दर्यको कवि कहेंगे। ऐसे अद्भुत दृश्यके आकर्षणमें अभी तीरवासी अपना-अपना कार्य छोड़कर आ रहे हैं। भारतीय राजनीतिमें नीतिमान् नेताका ऐसा कार्य जनताको आकर्षण करनेवाला आन्दोलनात्मक माना गया है। इसको श्रीराम सीता और लक्ष्मण तीनों मूर्तिने स्नेहशील शुचिता आदि गुणोंसे चरितार्थ करके दिखाया है। विद्वानोंकी दृष्टिमें प्रभुका ऐसा कार्य आश्चर्यकारक नहीं है, इसलिए कि प्रभुका शरीर ही स्नेहमय है।

संगति : सुन्दरताईमें कवि अनेकविध अद्भुतोंके समावेशका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–लखन राम सिय सुन्दरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥२॥

भावार्थ : तीरवासी श्रीराम लक्ष्मण और सीताकी सुन्दरताको देखकर अपने भाग्यकी सराहना करते हैं।

सौन्दर्य

शा० व्या० : श्रीराम आदि तीनों मूर्तिमें लक्षण, गुण सभी यथोचित सन्निविष्ट हैं। यही उनके सुलक्षण हैं। श्रीराममें वे पूर्ण हैं यही सौन्दर्य है।[1] उनकी सराहना

---

१. सुश्लिष्टसन्धिबन्धं यत् तत्सौन्दर्यमिति स्मृतम्॥ भावप्रकाशन

तीरवासी करते हैं। सौन्दर्यको पूर्णता सर्वसाधारणमें दृश्य नहीं है। अतः अलौकिक सौन्दर्यको देखकर तीरवासी अपनेको भाग्यवान् समझ रहे हैं।

संगति : तीनोंके बारेमें तीरवासी अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहे हैं।

चौ०–अति लालसा बसहिं मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥३॥

भावार्थ : तीनोंका परिचय प्राप्त करनेकी उत्कट आकांक्षा तीरवासियोंके मनमें हो रही है। साथ ही उनका नाम और स्थान पूछनेमें वे सकुचा रहे हैं।

तीरवासियोंकी जिज्ञासा

शा० व्या० : विशेषधर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा सम्पूर्ण तीरवासियोंको एक साथ समानरूपमें हो रही है। इससे यह भी मालूम होता है कि ये राजकुमार इतने दूरतक पहले कभी नहीं आये थे। फिर भी श्रीरामकी कीर्ति उनके गुणोंसे दिगन्तव्यापिनी हो गयी है। राजपुत्र होनेसे उनसे पूछने में तीरवासियोंको संकोच हो रहा है। ऐसा होना भी इष्ट है। अथवा मूर्तित्रयके तेजस्से अभिभूत होनेसे प्रभुके समीपमें जाकर ग्रामवासियोंको पूछनेकी शक्ति नहीं हो रही है।

तेजस्का उत्कर्ष

वचनप्रमाणके बलपर माता-पिताकी आज्ञापालनमें तत्पर, उसीके प्रभावसे धैर्य एवं शुचिताधर्मप्रयुक्त तेजस्की दीप्ति तीनों मूर्तियोंके मुखमण्डलपर खिल रही है। उसके प्रभावसे तीरवासिनी जनता अभिभूता हो गयी। इस तेजस्का प्राकट्य तापसमिलनमें विशेषतया कहा जायगा।

संगति : जिज्ञासाका समाधान वयोवृद्धोंने युक्तिसे किया।

चौ०–जे तिन्ह महुँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने ॥४॥

भावार्थ : तीरवासी जनोंमें जो वयोवृद्ध चतुर लोग थे उन्होंने युक्ति लगाकर श्रीरामकी पहचान की।

युक्तिका निर्देश

शा० व्या० : तीर्थमें बैठे विद्वानों द्वारा पुराणादिकथाओंके माध्यमसे दाशरथिके सम्बन्धमें जो सुना है उस इतिहासको याद करके विवक्ष्यमाण युक्तियोंके आधारपर वृद्धोंने[1] समागत तीनों मूर्तियोंको पहचान लिया। सभीकी उत्कृष्ट जिज्ञासा होनेसे वृद्धोंकी युक्तियोंको सुननेवाला तरुणवर्गमात्र उन युक्तियोंके द्वारा श्रीरामके प्रभुत्वके बारेमें अनुमान न कर सका क्योंकि प्रमुख युक्तियोंमें साध्यके अनुमानकी साधकता अर्थात् हेतु रूप युक्तियोंमें साध्य-व्याप्यता तरुणोंको अज्ञात थी।

---

१. धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः। माव प्रकाशन

वृद्धोंकी उपादेयता

शिवजीने यहाँ वृद्धोंकी उपादेयता समझायी है। अर्थात् तर्कदृष्टि, गुरुवचन तथा विविध आगमका परिचय वृद्धोंको अधिक होता है। जो वृद्धोंके द्वारा भावी पीढ़ीको अनायासेन उपलब्ध होता है। उसीके आधारपर लक्ष्यके अनुमान या पहचानमें भ्रान्तियाँ इतर व्यक्तियोंमें नहीं फैलतीं। नहीं तो प्रमाणोंको ठुकरानेपर लक्षणैकचक्षुष्मत्ताके अभावमें प्रमाद एवं नीतिच्युति हो सकती है।

चक्षुष्मत्ताके भेद

तीन कोटिके चक्षुष्मान् होते हैं। एक लक्षणैकचक्षुष्मान्, दूसरे लक्ष्यैकचक्षुष्मान्, कोई उभयचक्षुष्मान्। पहली कोटिमें वे साधारण विद्वान् हैं जो निर्णीत लक्ष्यालक्ष्यके आधारपर जो लक्षण बताये गये हैं उनको समझकर भविष्यत्कालमें लक्ष्यकी वास्तविकताको समझते हैं। ये स्वयं लक्ष्यालक्ष्यका विवेचन स्वतन्त्रतया नहीं करते। दूसरे कोटिके विद्वान् वे हैं जो ऋषि या तत्तुल्य पारदृश्वा हैं। इसके अतिरिक्त गुरुभक्ति विवेक, तपस् और श्रुतिसम्पत्तिसे भी युक्त हैं। ये लक्षणनिरूपणकी कल्पना देते हैं उनका विशद विवेचन यथावत् नहीं करते। पर देखनेमात्रसे लक्ष्यको समझनेमें चूकते नहीं।

इन दोनोंसे अत्युत्तम तीसरे वे हैं जो लक्ष्योंके वैजात्यको देखनेमें भ्रान्त नहीं हैं, लक्षणका विवेचन करमेमें भी निपुण हैं। आगे आनेवाला तापस इसी कोटिमें है। इसके पूर्व भी श्रीरामके प्रभुत्वकी पहचान करनेवालोंका वर्णन बालकाण्डमें है उदाहृणार्थ परशुरामजी, राजा जनक आदि। अर्थात् परशुरामजीने आर्षप्रतिभासे प्रभुको समझा है। उनकी दृष्टिमें श्रीरामका प्रभुत्व दृष्टिगोचर हैं फिर भी वे अनुमानप्रणालीसे श्रीराममें प्रभुत्वको अनुमित करना चाहते हैं उसमें प्रतिवन्धकविशेषका दिग्दर्शन कविने कराया है। श्री लक्ष्मणने अपने संवादसे उस प्रतिबन्धकको निरस्त कराकर प्रभुत्वकी अनुमिति परशुरामजीको करा दी। विशेष विवरण परशुराम-लक्ष्मणके संवादमें स्पष्ट हे। मिथिलानरेशने भी मनःप्रतिभासे प्रभुको देखा विश्वामित्रमुनिके वचनप्रमाणसे उसकी पुष्टि की। दृष्टिमात्रसे श्रीरामके वैजात्यको समझनेकी योग्यता तीरवासियोंमें नहीं है। ऐतिहासिक प्रमाणके आधारपर दशरथसुतत्वको लेकर लक्षणोंके माध्यमसे ये देखते हैं न कि निरपेक्षभावमें।

संगति : युक्तियोंके अन्तर्गत शब्दप्रमाणका वृद्धोंने प्रथमतः उपस्थापन किया।

चौ०–सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहि चले पितु आयसु पाई ॥५॥

भावार्थ : चतुर वृद्धोंने दाशरथि श्रीरामको पहचानकर उनसे सम्बन्धित कथा सुनाते हुए यह बताया कि वे किस प्रकार पिताकी आज्ञासे वनमें जा रहे हैं।

इतिहासनिरूपणमें पितृभक्तिकी प्रतिष्ठा

शा० व्या० : ज्ञातव्य है कि पिताकी आज्ञापालनधर्मके कीर्तनका सामंजस्य यही है कि वृद्धोंके प्रति तरुणोंका आदरभाव उत्पन्न हो। इस प्रकार श्रीरामके वैयक्तिक धर्मकी जिज्ञासाका वृद्धोंने शमन किया है। पर श्रीराममें रसिकोंकी प्रभुत्वसाधक-जिज्ञासाका उपशमन नहीं हुआ, वह तो तापसचरित्रसे होगा जिसमें याज्ञवल्क्य मुनिसे किये गये भरद्वाजजीके प्रश्नका भी समाधान होगा।

संगति : उपस्थितिकृतलाघवसे आत्मगुणसम्पन्नश्रीरामका वनवास सुनकर तीरवासियोंके हृदयमें विषादका उदय कैसे हुआ ? इसको शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०–सुनि सविषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं ॥६॥

भावार्थ : श्रीरामवनवासको सुनकर बड़े दुःखके साथ सब तीरवासिनी जनता पछता रही है और कहती है कि राजा-रानीने अच्छा नहीं किया।

'भल'का विचार

शा० व्या० : तीरवासिनी जनताके हृदयसे यह आवाज निकली की निरपराध श्रीरामको वनवास देकर राज्यसे बाहर करना भला कार्य नहीं है। अर्थात् राजा रानी अपने पक्षमें भला नहीं कर रहे हैं। इसका भाव यह है कि निरपराध व्यक्तिके प्रति किया हुआ दुर्व्यवहार उस व्यक्तिपर प्रभावकारी नहीं होता बल्कि दुर्व्यवहार-कर्ताको ही फलप्रद होता है। इसमें मन्त्रशास्त्रकी सम्मति है। इस अभिप्रायको तीरवासियोंने 'रानी राय कीन्ह भल नाहीं'से व्यक्त किया है। 'भल नाहीं'की यह भी ध्वनि है कि ऐसा हो सकता है कि राजा मृत्युको प्राप्त हों और कैकेयीको वैधव्य भोगना पड़े। राजा एवं रानीका यह वैयक्तिक अनभल है। इसको प्रभुने भी इस प्रकार कहा है—'जासु राज प्रिय प्रजा दुःखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी'। वृद्धोंने जिस युक्तिसे श्रीरामके गूढ़ तथ्यको समझा है और नर-नारियोंको समझाया है, वह युक्ति दो प्रकारकी है १. शास्त्रके वचन, २. विद्वानोंके प्रात्यक्षिक व्यवहार। शास्त्रके अन्तर्गत वचनोंमें लक्षण एवं गुण आदि हेतु तथा वस्तुतत्त्वका व्याप्यव्यापक-भाव निर्दिष्ट होता है जिनका वर्णन पहले हो चुका है। विद्वानोंके[1] व्यवहारके अन्तर्गत तेजःपुंजतापसका चरित्र है। तापसचरित्र द्वारा निरूपित आदर्श जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त समाधानकारक है। इन युक्तियोंसे रामतत्त्व समझनेमें तीरवासियोंको पूर्ण सन्तोष होगा। जैसा उनके उद्गारसे आगे प्रकट होगा।

संगति : इसीलिए तीरवासियोंकी विषादावस्थाके बीच तापसका प्रसंग गाया जा रहा है। उसके बाद ही 'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे' इत्यादिसे विषादका वर्णन जोड़ दिया गया है।

---

१. आपरितोषाद्विदुषान्न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ॥
बलवदपि हि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

प्रश्नोत्तरनिरूपण

अथवा मानसके उपक्रममें श्रीरामके ईश्वरत्वकी शंका उपस्थापितकी गयी है यथा—

१. भरद्वाजका प्रश्न :

प्रभु सोई राम कि ऊपर कोउ।

याज्ञवल्क्यका उत्तर :

तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई। चतुराइ तुम्हारि मैं जानी ॥

२. सतीका संशय :

खोजइ सो कि अग्य इव नारी। संभु गिरा पुनि मृषा न होई ॥

पार्वतीका प्रश्न :

राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई ॥

शिवजीका उत्तर :

कीन्हहु प्रस्न जगत हित लागी।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई ॥

ग्रन्थकार मानसके नायक श्रीरामको ईश्वर देखते हैं। रामचरितके वर्णनमें ग्रन्थकारका उद्देश्य श्रीरामके ईश्वरत्वको प्रकट करना है। इस उद्देश्यको सफलता यमुना तीरवासियोंके प्रसंगमें मिश्रित तापसप्रसंगसे सिद्ध होती है।

भरद्वाजके उक्त प्रश्नको लेकर याज्ञवल्क्यजीकी यह उक्ति है 'चतुराई तुम्हारि मैं जानी' अर्थात् भरद्वाजने तपोभूमिमें श्रीरामके ईश्वरत्वका दर्शन किया था उसीको याज्ञवल्क्यजी द्वारा पुष्टि कराना चाहते हैं। इसी प्रकार शिवजी—

'तिन्ह महुँ जे वय विरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने' ॥ 'बनहि चले पितु आयसु पाई' आदि पार्वतीको सुनाकर बताना चाहते हैं कि वनमें सीताकी खोज करनेवाले जिन दाशरथि रामको शिवजीके 'सच्चिदानन्द' रूपमें देखनेपर सतीको शंका हुई थी उन्हीं श्रीरामको यमुनातीरवासी विद्यावृद्ध तपोवृद्ध युक्तिसे पहचान रहे हैं, तीरवासिनी जनताको भी उनका परिचय करा रहे हैं। तापस-धर्मको उपस्थित करके उस परिचयको और भी दृढ़तासे स्थापित कर रहे हैं। यह दूसरी ग्रन्थसंगति मननीय है।

चौ०—तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा ॥७॥

उसी समय एक तपस्वी आ गया जो अल्पवयस्क अत्यन्त तेजस्वाला देखनेमें शोभनीय था।

तेजःपुञ्जकी सार्थकता

शा० व्या० : चौ० २ में कही 'रामु सिय सुन्दरताई'को शिवजी तापसके तेजःपुञ्जके समर्पणसे और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

तपस्याके प्राकट्यसे रामचरितमानसकी अनन्यता

ज्ञातव्य है कि वाल्मीकिरामायणमें श्रीरामके सामने विद्याओंका प्रकट होना वर्णित है। उसी प्रकार रामचरितमानसमें तापसका उपस्थित होना है। जो 'इति विद्यातपयोर्निरयोर्निर्विष्णुरीरितः' आदिके अनुसार रामचरितमानसकी युक्ति विशेषतया स्मरणीय है।

तपःपदार्थ

तापसका अर्थ 'वैधक्लेशसहिष्णुता' और आलोचन है जो श्रीरामका प्रभुत्व-निर्णय करानेके लिए तापस रूपमें मूर्तिमान् हुआ है। सम्भव है कि यथार्थं भक्ति-मार्गके प्रवर्तक शिवजी ही श्रीरामके प्रभुत्व स्थापनार्थं तापस रूपमें प्रकट हुए हों। अथवा भरद्वाजके प्रश्नके[1] याज्ञवल्क्य द्वारा समाधानार्थ वर्णित तापसको श्रीरामके प्रभुत्वसाधक हेतुरूपमें प्रकट होनेका यह सुअवसर है। 'विषयसिद्धौ प्रतिवन्धकीभूत-जिज्ञासानिवृत्तौ अवश्यवक्तव्यम्' अवसर है।

अवसरके निम्नलिखित भाव वक्तव्य हैं:

१. वृद्धोंसे श्रीरामके सम्बन्धकी कथाको सुनकर तीनों मूर्तियोंके प्रति जनताकी एकाग्रता भग्न हो गयी। उनके वनवासके विचारोंमें वे ऐसे डूबगये कि श्रीरामके समक्ष होनेवाली गतिविधिका उनको भान हो नहीं रहा। उस अवसरको देखकर तापस प्रकट हुआ तथा विलीन भी हो गया।

२. गंगा-यमुनाके मध्यवर्ति भागमें ऋषियोंकी तपोभूमि है। वहाँ निवास करनेवाले तपस्वियोंका तेजस् ही मूर्तरूपमें प्रकट होकर तपोवनमें प्रभुके प्रवेशके शुभ अवसरपर श्रीरामका स्वागत कर रहा है।

३. माता-पिताके अज्ञापालनात्मक धर्मके बलपर ही नीतिमान् राम वनमें प्रवेश कर रहे हैं। श्रीरामका यह आन्तरिक हर्ष सम्पूर्ण हर्षोंमें परमश्रेष्ठ तापसरूपमें उपस्थित है।

४. 'विधि निषेधमय कलिमलहरनी'। रामकथा रविनन्दिनि बरनो' रूप यमुनामें स्नान करते ही तापसकी उपस्थिति होना अवसर है।

५. रावणकी तपस्या समाप्त होनेका यह अवसर है। अब वह तपश्शक्ति प्रभुमें प्रविष्ट होनेवाली है। यह अवसरका तात्पर्य है।

६. रावणके चरित्रको देखते हुए इस कौतुकपूर्ण कल्पनाका अवसर है कि जिस प्रकार देवताओं और लोकपालोंको रावणने स्ववश करके यत्रतत्र नियोजित कर रखा था उसी प्रकार दुर्गान्तिमें[2] तापसव्यंजनको रखनेके विधानकी मान्यता देते हुए उसने प्रत्यक्ष तपस्याको ही दण्डकारण्यमें रखा है।

---

१. रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही॥ चौ० ६ दो० ४६ बा० का०

२. दुर्गान्ते सिद्धतापसाः (अर्थशा०)

७. तेहि अवसरसे यह समझना है कि श्रीरामके दण्डकारण्यमें प्रवेशके अवसरपर तपस्या रावणके बन्धनसे मुक्त हो प्रभुके समक्ष प्रकट होकर उन्हींमें विलीन होनेवाली है। इसलिए तापसव्यंजनरूपचरके अभावमें दण्डकारण्यमें श्रीरामके प्रवेशकी रावणको सूचना देनेवाला ही कोई न रहा। जब शूर्पनखाने जाकर सब हाल बताया तब रावणने समझा।

८. भरद्वाजमुनि द्वारा निदिष्ट मार्गमें अग्रसर प्रभु जानपदोंके प्रशंसात्मक उक्तियोंको सुननेमें रुचि न रखते हुए एकाग्र हैं। उसी समय तापसचरित्रके आनन्दको देखकर शिवजी 'तेहि अवसर' कह रहे हैं।

९. धर्ममें मति बनाये रखना अति दुर्घट है।[1] कठिन परिस्थितिमें विद्वान् भी धर्म से विमुख हो जाते हैं। इसलिए धर्मका दर्शन दुर्लभ है। अतः धर्मको अपनेको प्रकट होनेके अनुकूल अवसर दिखाई नहीं देता। पर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम इस दृढ़ विश्वासको लेकर आगे बढ़ रहे हैं कि वनवास कार्यकी पूर्णतामें 'मानाधीना हि प्रमेय-सिद्धि'के अनुसार पितृवचन और तत्प्रतिपादित धर्म ही सहायक है। अतएव धर्मके सेवक दूसरोंके सहायताकी अपेक्षा नहीं करते जैसा श्रीरामने सुमन्त्र और चारों बटुओंको (भरद्वाजसे नियुक्त मार्गदर्शक) लौटाने और आगे चलकर गुहको वापस करनेसे दर्शाया है। विना प्रेरणाके कोई स्वयं सहायक हो तो वह विषयान्तर है जैसे देव। श्रीरामका उक्त दृढ़ विश्वास और निरपेक्षभाव ही धर्मतापसको प्रकट होनेका अवसर दे रहा है।[2]

१०. ज्ञातव्य है कि वैराग्य ऐश्वर्य और ज्ञान ही धर्मकी सम्पत्ति है जैसा—

'नमामि धर्मविज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालिने'से बताया गया है।

अनुष्ठानतः और वचनतः प्रामाण्य मानकर भक्तोंने शंका न करते हुए धर्म पर विश्वास करना चाहिये तभी धर्मके द्वारा रक्षण अवश्यंभावी होगा। धर्मके दर्शनमें विलम्ब होनेका कारण उपासककी उस पर आस्था न होना या शंका होना है।

———————

१. लोकज्ञस्य सर्वशास्त्रविदुषो धर्मे मतिर्दुर्लभा।

२. अथोत्पत्तिप्रवक्ष्यामि धर्मस्य महतीं नृप माहात्म्य च तिथिश्चैव तन्निबोध नराधिप।
सर्वं ब्रह्माऽव्ययः शुद्धःपरादपरसंज्ञितः ससिसृक्षुः प्रजास्त्वादौ पालनं च व्यचिन्तयत्।
तस्य चिन्तयतः स्वाङ्गाद्दक्षिणाच्छ्वेतकुण्डलः। प्रादुर्बभूव पुरुषःश्वेतमाल्यानुलेपनः॥
तं दृष्टोवाचभगवांश्चतुष्पात् स्यात् कृते युगे। त्रेतायान्त्रिपदश्चासौ द्विपदो द्वापरेऽभवत्॥
कलावेकेन पादेन प्रजाःपालयते प्रभुः। पदगेहो ब्राह्मणानां स त्रिधा क्षत्रे व्यवस्थितः॥
द्विधां विश्वेकधा शूद्रे सर्वगतः प्रभुः। यत्र स्थानं तदाधारो वदामि श्रूयतां प्रभो॥
वैष्णवेषुच सर्वेषु यतिषु ब्रह्मचारिषु। पतिव्रतासु प्राज्ञेषु वानप्रस्थेषु भिक्षुषु॥
नृपेषु धर्मशीलेषु सत्सु सद्वैश्यजातिषु। द्विजमैत्रीषु शूद्रेषु सत्सङ्गस्थितेषु च॥
एवं त्वं सततं पूर्णो धर्मराज विराजसे। युगे-युगे तवाधाराः सत्ये पुण्यतमाः प्रजाः॥

—ब्रह्मवैवर्तकृष्णजन्म खण्ड ४२ अ०

श्रीरामके सामने वनवास प्रस्तुत है, उनको तपस् एवं अन्वीक्षा कर्तव्य है, उसको पूर्ण करनेमें श्रीराम सन्नद्ध हैं। यही अनुष्ठानतः प्रामाण्य है। वचनतः प्रामाण्य पहले प्रकट हो चुका है। अतः धर्मको तपोरूपमें उपस्थित होनेका अवसर है।

११. कर्त्तव्य मार्गके पथिकोंको गन्तव्यदिशामें ले जानेके लिए बुद्धिके माध्यमसे उत्तम सुझाव देना धर्मका स्वभाव है। उपक्रान्तकार्यके अन्तिम बिन्दु तक कोई साथ नहीं देता, धर्म ही एक मात्र ऐसा है जो आद्यन्तसहायताका कार्य करता है। रघुपतिके वचनसे धर्मके प्रति प्रामाण्य स्वतः पहले प्रकट हो चुका है, अनुष्ठानतः अब हो रहा है। दैवीसम्पदामें अभय मुख्य है और वह परीक्षणीय है। राज्यसे निकलनेके बाद श्रीराम पितृभक्ति पर विश्वास करके सहायकोंकी अपेक्षाका त्याग कर रहे हैं। रामकी निर्भयता और धर्मके प्रति अनुष्ठानतः प्रामाण्यबुद्धि—ये दो तत्त्व धर्मको तापस रूपमें दृश्य होनेके लिए बाध्य कर रहे हैं, उसका यही अवसर है।

१२. अवसरकी व्याख्यानुसार 'प्रतिबन्धकजिज्ञासनिवृत्ति' विषयसिद्धिसे होती है। जिज्ञासापूर्तिके अनन्तर वक्तव्य अथवा कर्तव्य जो रहेगा उसके लिए वही अवसर है। श्रीरामकी अभयताकी परीक्षाके बाद दर्शन देना धर्मका कर्त्तव्य है यही अवसर है।

१३. यमुनातीरवासियोंके सम्वादके बीचमें तापसप्रसङ्ग आया है, इससे सिद्ध होता है कि वह भी यमुनातीरवासी हैं जो 'सन्दंश न्याय'से भी स्पष्ट है। अभी तक यह तापस उस स्थानमें रहता हुआ हताश था क्योंकि रावणके प्रभावसे वास्तविक धर्मवेत्ता व्यक्ति उपस्थित न होनेसे वह रावणके वधयोग्य उसके वरानुरूप मानव-प्रभुकी प्रतीक्षा कर रहा था। तदनुरूप सम्पत्तिसे पूर्ण रघुपतिके आते ही धर्म आश्वस्त हो गया। यमुनामें स्नान करनेके बाद ही श्रीरामको अपना देव पहचानकर आवेगमें प्रकट हो गया। तब शिवजी यमुनातीरवासियोंके मध्यमें उसको एकाएक प्रकट होते देखकर चकित हो उसका चरित्र सुनाने लगे जो 'तेहि अवसर'से व्यक्त है।

१४. योगवाशिष्ठके अनुसार एक बार श्रीरामको मोह हो गया था जब वह तीर्थ-यात्राके पश्चात् मुक्तिमार्गको अपनानेके लिए तत्पर हो गये और राज्यको त्याग ना सोचने लगे। तब महाराज दशरथ चिन्तित हुए उन्होंने विश्वामित्र, वशिष्ठ आदिको बुलाकर एक गोष्ठीका आयोजन किया जिसमें श्रीराम भी बुलाये गये। गोष्ठीमें श्रीरामने मुक्तिमार्गका प्रस्ताव रखा जिसको उक्त गुरुओंने मोहग्रस्त ठहराया। वैसा मोह श्रीरामको वनवासमें है कि नहीं? इस परीक्षाके हेतुसे धर्म अभी तक श्रीरामके समक्ष प्रकट नहीं हुआ था। सबका साथ छोड़कर पित्राज्ञापालनधर्मपर आरूढ़ हो निःशंक और निर्भय होकर इस समय श्रीराम आगे बढ़ रहे हैं तब धर्मके प्रकट होनेका अवसर आया है क्योंकि धर्म-कर्तव्य पर 'श्रीरामकी' पूर्ण आस्था देखकर धर्मको दृष्टिमें श्रीराम परीक्षामें उत्तीर्ण हैं।

तेजःपुञ्ज : विद्या और सन्त आत्मा तथा वयस्को लघुताके सम्बन्धसे उद्दीप्त रामकी उदर्य-अग्नि-ज्वालात्मक-ओजस् ही तेजःपुंजरूपमें प्रकट है अथवा तपस्वियोंका

ओजस् ही तेज:पुंज होकर एकत्रित हो आया है। यह तेजस्का पुंज ऐसा है जो अन्य अग्नि आदि के समान जलसे बुझनेवाला नहीं है। सम्भव है वह यमुनाजलसे प्रकट हुआ सदा देदीप्यमान रहनेवाला हो। 'लघुवयस्'—महान् या बड़ा होकर सामने जानेमें स्नेहभाव नहीं रहेगा। श्रीरामको स्मृतिविषयतया हृदयमें प्रवेश करनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त होगा। लघुवयस्क बालकमें निर्विकारता, शुद्धस्नेह और आकर्षण सहज हैं। लघुवयस्, तापसव्यञ्जनका व्यावर्तक है जो पूर्ण वैराग्यसम्पत्तिसे युक्त तापसविशेषका विशेषण है। जिसप्रकार नारदने कलियुगमें मथुरा पहुँचनेपर दैवी रूपमें प्रकट भक्तिकी प्रतिष्ठा की है उसी प्रकार त्रेतायुगमें रघुपतिने भी जन्म लेकर तपस्की प्रतिष्ठा की है, क्योंकि त्रेतायुगमें तपस्का ह्रास कहा गया है। अपनी प्रतिष्ठाको देखकर तपस् ही तापसके रूपमें उपस्थित है।

तापसकी उपस्थितिका प्रयोजन

रावण जैसे महान् तपस्वीका युद्धमें पराभव होना सरल नहीं है। इसके लिए श्रीराम जैसे धार्मिकको भी बारह वर्षतक तपस्या करना अपेक्षित है। उसी हेतुसे कैकेयीके वरदानमें सरस्वती द्वारा (चौदह बरिस रामु वनवासी)—वनवासकी चौदह वर्षकी अवधि निश्चित की गयी। इस हेतुसे ही तापस् उपस्थित होकर प्रभुके शरीरमें समा जाना चाहता है। कहनेका आशय है कि मानव स्वयं अपनी कृतिको पूर्ण करनेमें तबतक सफल नहीं होता जबतक कि विद्या और धर्म स्वयं अपने सेवकको वृत नहीं कर लेते।

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्धधाति च।
यत्कृपालेशमात्रेण नमोऽस्तु गुरवे सदा। (सिद्धान्तकौमुदी)

इस उपन्याससे शास्त्रार्थमें निरूपित कर्तृत्व उपर्युक्तआशयका बोधक है जिसका अर्थ है कि विद्यार्थका स्फुरण, अधिगमन तथा श्रद्धालुता सेवकके अधीन न होकर शास्त्रार्थके अधीन है। उसी प्रकार तपस्की अनुकम्पासे श्रीरामको तपस्या द्वादशवर्षमें ही रावणवधमें सक्षम एवं पूर्ण होनेवाली है।

१०९ दोहेसे १२४ दोहे तकका तात्पर्य

चौ० ७ दो० १०९ में 'ग्रामनिकट जब निकसहि जाई' कहनेके बाद ग्रन्थकार वर्णितविषयका सम्बन्ध अग्रिम चौपाईमें पुनः 'गाँवनिकट जब निकसहिं जाहिं' कहकर उक्त विषयका भाष्य उपस्थापित कर रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि भरद्वाजाश्रमसे निकलनेके बाद चौ० ७ दो० १०९ से चौ० ४ दो० १२४ तककी एकवाक्यतामें श्रीरामकी एक दिनकी यात्राका वर्णन किया गया है, जिसमें यमुनातीरवासियोंमें वृद्धसयानों द्वारा श्रीरामको युक्तिसे पहचानने, तापस मिलनका प्रसंग, पथवासियोंकी उक्तियाँ, शिवजी द्वारा वर्णितप्रभुत्वसूचकव्याप्तियों तथा मार्गस्थ ग्रामपुरवासियोंका संवाद जो उक्त व्याप्तियोंका व्याख्यान है, तीनों मूर्तियोंका विश्राम और रात्रिनिवास ये सब एक दिन की यात्रामें होनेवाले चरित्रोंका वर्णन है।

संगति : कैसे कहा जा सकता है कि बारह वर्षकी तपस्या रावणके पराभवमें सफल होगी ? इसका समाधान शिवजी अग्रिम चौपाईमें कर रहे हैं।

चौ०—कबि अलखितगति वेषु बिरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी ॥८॥

भावार्थ : उस तापसकी गति कवियोंको भी ज्ञात नहीं है अथवा कविरूप तापसकी गतिको कोई जान नहीं सकता। वह वैरागीके वेष में है और मनसा कर्मणा वाचा श्रीरामसे प्रीति करनेवाला है।

अलखित आदिका विवेचन

शा० व्या० : कविकी दृष्टिमें तापसकी गति 'अलखित' अर्थात् अवर्णनीय, अनुमानसे परे है। क्योंकि किसीको तपस्की सिद्धि जल्दी, किसीको दीर्घकालतकमें होती है। जैसे पार्वतीका दीर्घकालिक तपस् है, ध्रुवको छ महीनेमें ही सफलता मिली है। मनसा कर्मणा तापसका अनुराग अग्रिम दोहेमें वर्णित है। वचसा अनुराग 'कवि'शब्दसे ध्वनित है। इससे 'कवि'शब्दको तापसका विशेषण माना जा सकता है।

सत्पात्रतामें तापसकी सहायता

मुनिव्रतके आरम्भ करनेपर तापसका दर्शन शकुनस्वरूप है। इसको राजनीतिके मतसे दैवानुकूलता कहा जायगा। इस तापसदर्शनका फल यह होगा कि जैसे महाभारतके युद्धमें कर्तृत्वका बोझ कृष्णपर है, अर्जुन निमित्त है उसी प्रकार चौदह वर्षके कार्यक्रममें कर्तृत्वका भार तापसने ले लिया है, रघुपति निमित्तमात्र हैं। सत्पात्रताका यही उपयोग है। राजनीतिशास्त्रानुसार सत्पात्र व्यक्ति वही है जो विघ्नोंकी तरफ ध्यान न देकर गुरु, ईश्वर और माता, पिता आदि हितोपदेष्टाओंके वचनका पालन निष्कपट भावसे करता है तब ईश्वर स्वयं इस सत्पात्रके शरीरमें प्रवेश कर अपने सेवकोंको यशस्का भागी बनाता है। फिर चाहे प्रतिपक्षी कैसा भी बलवान् हो ? पित्रादेशमें रहकर श्रीरामने इसी धर्मस्थितिको समझाया है।

'वेषु बिरागी'से तापसका वैराग्यसूचक वेष वैराग्यके अनुभवमें उपवर्णित है। जो औद्धत्यके अभावका सूचक है। अनुद्धतवेषधारित्वको शास्त्रकारोंने सत्सङ्गतिमें प्रयोजक माना है। 'वेष बिरागी'में दाम्भिककी कल्पना 'तेजःपुंज'से व्यावृत्त हो जाती है। वैराग्य, तेजस्, तपस्या तथा धर्म रागियोंमें नहीं होते। श्रीरामके समीप पहुँचना उनका कृपाभागी होना तभी सम्भव है जब उक्त विशेषणविशिष्ट स्थिति हो। उदाहरणार्थ समुद्रतीरपर आये विभीषण और रावणके चरशुक आदि।

यह तापस श्रीरामको सुखसाधन न समझ सुखरूपमें देखता है, जो भक्ति एवं प्रीतिका लक्ष्य है इसलिए शिवजी उसको अनुरागी कह रहे हैं।

प्रश्न : रघुपतिको पहचाननेके बाद प्रभुकी नरलीला कैसे सम्पन्न होगी ?

उत्तर : तपस्वियोंकी दृष्टिमें प्रभु अपनेको अन्तर्हित नहीं रखना चाहते। क्योंकि वे प्रभुचरित्रमें बाधक नहीं होते। प्रभुका नाट्य उनको यथार्थवस्तुका परिचय

करानेके लिए होता है। वे भी प्रभुके वैयक्तिक व्यापारको देखकर सुखी होते हैं। नैतिक कार्यमें तन्मय व्यक्तिको देखकर सन्त महात्मा उनके प्रति आकृष्ट हो नीतिमान्को आदर्श मानकर उसके समीप रहना चाहते हैं यही नीतिमान्की नीतिमत्ताकी पहचान है।

प्रभुके सान्निध्यमें आनेपर वह तापस रघुपतिकी पवित्रतासे उनकी वास्तविकताको पहचानता है। यह नवीन नहीं है यतः तपस्वियोंका अन्तःकरण निर्मल होनेसे यथार्थ वस्तुको पकड़ लेता है जैसे गुह, केवट, भरद्वाज मुनि आदि। वास्तविक तत्त्वका ग्रहण न होना अन्तःकारणकी अशुद्धताका लक्षण है। निर्मल अन्तःकरण होते हुए भी वस्तु तथ्योंको यदि वे नहीं पहचानते तो प्रभुकी माया या उनकी विशेष इच्छा ही कारण समझना चाहिए। जैसे नारदका मोह आदि। कहनेका निष्कर्ष यह है कि पवित्रात्मा जन प्रभुको पहचानकर भी उनके चरित्रमें कार्यसाधक होते हैं। अतः प्रभुकी नरलीलामें बाधा होनेका कोई कारण नहीं है।

संगति : रघुपतिके तथ्यको पहचाननेमें नियामक युक्तिरूपसे उपस्थित तापसकी शारीरिक चेष्टाओंका वर्णन किया जा रहा है—

दो०—सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ॥११०॥

भावार्थ : वह तापस अपने इष्टदेव—श्रीरामको पहचानकर—प्रीतिपूर्ण अनुभावमें—नेत्रोंमें जल भरके शरीरसे रोमाञ्चित हो गया, पृथ्वीपर दण्डवत्के निमित्त गिर गया। उसकी प्रीतिदशाका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तापसमें भक्तिके चिह्न

शा० व्या० : आखोंमें अश्रुधारा, शरीरमें पुलक आदि भक्तिके सात्त्विक चिह्न बताये गये हैं। अनुरागके चेष्टात्मक अनुभाव तापसकी शरीरक्रियासे प्रकट हो रहे हैं।

प्रश्न : अनुराग अन्य तत्त्वोंको देखनेमें प्रतिबन्ध करता है, तब उत्कट अनुरागमें तापसको इष्टदेवके पहचाननेका भान कैसे रहा ?

समाधानमें कहना है कि सेवकको सेव्य प्रभुके प्रभुत्व रूपमें ही राग है। अतः उसके प्रभुत्वदर्शनमें धर्मकी अनुरक्ति प्रतिबन्धक नहीं है।

तापस-धर्मका प्रेम सेव्यसेवभावमें होनेसे वह अपने इष्टदेवको देखना चाहता है। जैसे माता कौशल्याको पुत्रके भावमें राग होनेसे श्रीरामका प्रभुत्व दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसे ही धर्मका इष्टदेव मानवतासे परिपूर्ण सत्पात्र है। उसीको देखनेके लिए यमुनाके समीपमें यह तापसरूपमें एकाग्र हो प्रतीक्षा करते बैठा था। रघुपतिको यमुनाजीमें स्नान करते देख वह अपनी प्रतीक्षाके सफल होनेका अवसर समझ गया। अपने इष्टदेव श्रीरामकी प्राप्तिसे कृतार्थ हो गया। कृतार्थतामें 'परेउ दण्ड

जिमि' अर्थात् साष्टाङ्ग प्रणामसे तापस आत्मनिवेदन कर रहा है। उत्कण्ठाके आवेगमें उसका आत्मनिवेदन देखकर शिवजी कह रहें हैं 'दसा न जाई बखानि'।

संगति : तापसकी भक्तिको देखकर प्रभु उसके आत्मनिवेदनके फलस्वरूप उसे गले लगा रहे हैं।

चौ०—राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा ॥१॥

भावार्थ : दण्डवत् करते तापसको श्रीरामने प्रेमसे पुलकित हो हृदयसे आलिंगित किया। उससे तापसको ऐसा सुख मिला मानो जन्मके अति दरिद्रको पारसमणि मिल गयी हो।

तापसको पारसस्पर्शकी सुखानुभूति

शा० व्या० : शान्तरसमें स्थित व्यक्तिके शरीरपर रोमांचके अतिरिक्त दूसरा सात्विक भाव नहीं प्रकट होता, ऐसा कतिपय साहित्यिकोंका मत है। 'राम सप्रेम पुलकित'से श्री रामका शान्तरसमें समासीन होना स्पष्ट है। धर्म प्रभुके हृदयसे उत्पन्न हुआ है। 'उर लावा'से प्रभु उसको पुनः हृदयमें बसा रहे हैं। 'तापसवेष-विसेषि'का यही व्याख्यान कहा जा सकता है जिससे अनुमान होता है कि वह तापस प्रभुमें ही विलीन हो गया। राक्षसोंके आतंकसे अपनेको निर्मुक्त समझकर तापसकी प्रसन्नता 'पारसु पावा'से व्यक्त की गयी है। संसारमें प्रायः सभी लोग धर्मका उपयोग प्रभुकी उपलब्धिके लिए करते नहीं पाये जाते हैं, इसलिए प्रभु तपस्-धर्मसे दूर रह जाते हैं। इस प्रकार प्रभुकी सायुज्यतासे वंचित हुआ धर्म-तपस् तथा-कथित साधकोंके बन्धनमें पड़ा रहता है और रंकके समान खिन्नमनस्क भी है। इस समय रघुपति जैसे धार्मिक पारसको पाकर अथवा सत्त्वगुणावच्छिन्न उपाधिसे युक्त श्रीराम-शरीरका स्पर्श करके तापस पारसका अनुभव कर रहा है। पारसके दृष्टान्तसे श्रीराममें कुछ न्यूनता भासित होती है, उसका परिहार श्रीरामके वास्तविक पारसत्वको चरितार्थ करते हुए कवि आगे वर्णन करेंगे जो दो० ११२ की व्याख्यामें द्रष्टव्य है। जिस प्रकार विद्याके उपासकोंमें विद्या स्वयंको समर्पण कर देती है उसी प्रकार धर्मधुरंधर धर्म भी अपनेको रघुपतिमें समर्पण कर रहा है। परमार्थतत्पर शान्तरसप्रधान व्यक्ति भी प्रेमीको उपेक्षासे नहीं देखता प्रेमकी वास्तविकता तो शान्तरसमें ही निहित है, उसमें प्रकट भी है। रघुपतिने तापसको हृदयसे लगाकर अपना सर्वस्वसमर्पण किया है। रघुपति और तापसके मिलनकी यही अलौकिकता है।

संगति : शिवजी सुनाते हैं कि श्रीराम और तापसका यह मिलन परमार्थ और प्रीतिका मिलन है।

चौ० : मनहुं प्रेमु परमारथ दोऊ। मिलत धरे तब कह सब कोऊ ॥२॥

भावार्थ : तापस और प्रभुका मिलन देखकर सब लोग कह रहे हैं कि मानों प्रेम और परमार्थ दोनों मूर्तिमान् होकर मिल रहे हैं।

परमार्थ और प्रीतिका सम्बन्ध

शा० व्या० : भागवतसिद्धान्तमें प्रीतिका सर्वस्व परमार्थ है और परमार्थका सर्वस्व प्रीति है। सच्ची प्रीति उसकी हो सकती है जो परमार्थ साध रहा है। परमार्थ भी विना प्रीतिमान् हुए सफल नहीं है। निष्कर्ष यह है 'यत्र परमार्थः तत्र स्नेहः, यत्र स्नेहः तत्र परमार्थः'।

तीरवासी साकेतवासी हैं

'कह सब कोउ'से ऐसा संकेत मिलता है कि समस्त यमुनातीरवासी साकेतसे आया हुआ मण्डल है। तभी वे रघुपति और तापसधर्मके मिलनको देखकर उनको परमार्थ और प्रेमके रूपमें पहचाननेतककी योग्यता रखते है। स्वधर्मपालनको यह महिमा है कि वह अपने सेवकोंमें प्रभुको पहचाननेकी योग्यता प्राप्त करा देता है।

पहले कहा जा चुका है कि—

जे तिन्हु महुं वयबिरिधि सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने।

पहचाननेवालों में सबसे वयोवृद्ध तापस है जो महान् सिद्ध है। रघुपतिका तापसवेष-विशेष यही है कि उसने निकटसे देखकर श्रीरामको अपना इष्टदेव पहिचाना है, तब आत्मसमर्पण किया है।

संगति : अब वह तापस लक्ष्मणजीको प्रणाम करने जा रहा है।

चौ० : बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाई उमगि अनुरागा ॥३॥

भावार्थ : श्रीरामसे मिलनेके बाद वह तापस लक्ष्मणजीके चरणोंका स्पर्श कर रहा है। लक्ष्मणजीने प्रेममें भरकर उसको उठा लिया।

स्वामीके समक्ष सेवकको अपने सम्मानमें संकोच

शा० व्या० : सर्वसङ्गत्याग कर प्रभुसेवामें जो संलग्न है वह जगद्वन्द्य है, ऐसे लक्ष्मणजीके चरणको वह तापस स्पर्श कर रहा है। परन्तु लक्ष्मणजीको उसका पैर पकड़ना अच्छा नहीं लग रहा है। इसलिए तापसको लक्ष्मण जीने तुरन्त उठा लिया। कारण यह कि भगवान्के दरबारमें या प्रभुकी उस्थितिमें सेवक अपना सम्मान कराना अनुचित सझते हैं अतः लक्ष्मण जीको संकोच है।

अनुरागका भाव है कि समानशील व्यसनी सेवक-तापसको देखकर लक्ष्मण-जीको पूर्ण सुखानुभूति हो रही है।

संगति : सीताको प्रणाम करनेके लिए तापस आगे बढ़ता है।

चौ० : पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दिन्हि असीसा ॥४॥

भावार्थ : श्रीराम और लक्ष्मणसे मिलनेके बाद तापसने सीताजीके चरणोंकी रजको अपने सिरपर लगाया। माता सीताने उसको शिशु मानकर आशीर्वाद दिया।

तपस्वीको स्त्रीका स्पर्श न करनेमें शास्त्रमर्यादा

शा० व्या० : दारवी स्त्रीका स्पर्श भी तपस्वीको वर्ज्य है। अतः तापस सीताजीके चरणरजस्को शीर्षपर धारण करता है। यहाँ तपस्वियोंके लिए शास्त्र मर्यादाका भाव दर्शाया है। लघुवयस् तापस सीताजीके सामने अपनेको अबोध शिशु रूपमें उपस्थापित कर रहा है, जिसको देखकर सीताजी पूर्ण संगोपनका भाव लेकर मातृभावमें आशीर्वाद दे रही है।

संगति : अब तापस निषादसे मिलनेके लिए बढ़ रहा है।

चौ० : कीन्ह निषाद दण्डवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही ॥५॥

भावार्थ : निषाद (गुह)ने उस तापसको दण्डवत् किया तो तापस उसको रामस्ने ही समझकर बड़े हर्षके साथ गलेसे मिला।

नीतिमें गुणका सम्मान

शा० व्या० : गुह निषादजातिका होनेसे वर्णाश्रमसमाजकी शास्त्रमर्यादामें तापसको दूरसे नमस्कार कर रहा है। मर्यादाका अतिक्रमण न करनेमें ही समत्व है, मर्यादासे विपरीत रागद्वेषयुक्त आचरणमें ही विषमता है। निषाद स्वधर्मनिष्ठ है, असूयालु नहीं है। नीतिशास्त्रानुसार गुण सम्पन्न व्यक्ति किसी भी वर्ण या जातिका हो उसका सम्मान करना ही चाहिए। नीतिशास्त्रमर्यादामें पक्षपात रहित होकर तापस गुहको प्रभुका प्रेमपात्र समझकर आलिंगन कर रहा है। इसपर विशेष विचार चौ० ५ दो० १९३ में द्रष्टव्य है। इससे तापस जैसे धर्मश्रेष्ठ परीक्षक द्वारा गुहके भक्तिकी पूर्णता दिखायी गयी है। गुहकी रामभक्तिको तापसने पहचाना है जो 'लखि'से व्यक्त किया गया है।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

इस भागवतोक्तिके अनुसार गुहकी भक्ति पूर्ण है। तापस-धर्मका ऐसे शुचि निषादको आलिंगन करना भक्तिशास्त्रकी प्रतिष्ठा है। ज्ञातव्य है कि निषाद श्रीरामको बनायी मर्यादाके बाहर आचरण करना जानता ही नहीं है, इसलिए दूरसे ही उसने तापसको प्रणाम किया है। पर तापस स्वयं निषादको आलिंगन करके भक्तिमें उसका अंगत्व दिखा रहा है। भगवान् और उनकी कथामें श्रद्धा ही समस्त शास्त्रोंका उद्देश्य है, उसीकी पूर्णतामें सब शास्त्रोंको विश्रान्ति एवं कर्मको पूर्णता है। निषादमें पवित्रता उस अंशमें पूर्ण है, इसलिए आलिंगनका अधिकारी है। ज्ञातव्य है कि 'विधिनिषेधमय कलिमल हरनी' यमुना है, उसके उपासककी यही दृष्टि है जिसको प्रकाशमें लानेके लिए ही 'गंगा-यमुनयोर्मध्ये ये वसान्ति' उक्तिके अनुसार ऋषियों-तपस्वियोंका वास गंगा-यमुनाके मध्यमें शास्त्रकारोंने दर्शाया है।

संगति : तापसके प्रेममग्न मिलन व सन्तोषको देखकर तीरवासियोंके हृदयमें प्रीतिका स्रोत अत्यधिक बढ़ रहा है।

चौ०-पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा ॥६॥

भावार्थ : केवल तापस ही अपने नेत्ररूपी दोनोंसे तीनों मूर्तियोंकी रूपसुधाका पान नहीं कर रहा है बल्कि समस्त तीरवासीजन उस रूपसुधाका पानकर ऐसे प्रसन्न हो रहे हैं मानों भूखेको सुन्दर भोजन प्राप्त हुआ है।

प्रभुत्वनिर्णयमें पूर्ण सन्तोष

शा० व्या० : केवल तापस ही रामदर्शनामृतका पान कर रहा है, ऐसा नहीं। बल्कि विद्यावृद्ध और तपोवृद्धोंके द्वारा श्रीरामके प्रभुत्वका निर्णय पाकर सब बुभुक्षित तीरवासी नेत्रोंसे श्रीरामके सौन्दर्यामृतका पान करने लगे जिससे उनको ऐसा आनन्द मिल रहा है जैसा भूखेको सुन्दर भोज्य पदार्थोंके प्राप्त होनेसे होता है।

प्रभुत्वनिर्णयका प्रसार

यद्यपि विश्वामित्र, भरद्वाज, परशुराम आदि मुनिद्वारा भी श्रीरामके प्रभुत्वका परिचय कराया गया है, फिर भी उनका परिचय स्वसीमित है, नीतिके अन्तर्गत सर्वविदित नहीं हैं। यहाँ खुलेआम सर्वसाधारणके सामने श्रीरामके ईश्वरत्वका परिचय कराकर नीतिकी स्थापना की गयी है। यह उपनिषदका रहस्यविषय है। अतः तपोवनमें उसका प्रकाश किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकारका उद्देश्य श्रीरामको प्रभु-रूपमें देखकर उनके चरित्रका वर्णन करना है।

संगति : चौ० ५ दो० ११० में 'सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहि चले पितु आयसु पायी'को सुनकर तीरवासिनी स्त्रियोंके उद्‌गारका वर्णन आगे किया जा रहा है।

चौ०-ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥७॥
राम लखन सिय रूपु निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी ॥८॥

भावार्थ : हे सखि ! बताओ कि वे माता-पिता कैसे हैं जिन्होंने ऐसे सुकुमार सुन्दर बालकोंको वनमें भेज दिया है। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके रूपसौन्दर्यको अच्छी तरह देखकर सब तोरवासी स्त्री पुरुष प्रेमके वश हो व्याकुल हो गये।

बोधके होनेपर भी विलापका माधुर्य

शा० व्या० : तापसके चरित्रको देखकर तथा वृद्ध सयानोंके वचन सुनकर भी नर नारी बालकरूप श्रीराम लक्ष्मणकी सुकुमारताको देखकर माता-पिता द्वारा ऐसे बालकोंको वनमें अकेले भेजनेपर दुःखका अनुभव कर रहे हैं।

यद्यपि नर-नारियोंके श्रीरामके हृदयमें प्रभुत्वका प्रबोध हुआ है तथापि स्नेहसे बँधे पुनः अनुरागमें आनेपर नर तथा स्त्रियाँ तीनों मूर्तियोंके सौन्दर्यको देखते वनवासमें उनकी सुकुमारताका स्मरण करके विकल हो रहे हैं।

संगति : अब प्रभु गुहको घरकी ओर जानेके लिए बिदा कर रहे हैं।

दो०–तब रघुबीर अनेकविधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेहि कीन्ह ॥१११॥

भावार्थ : तब रघुनाथ श्रीरामने सखा गुह को बहुत तरहसे समझाया। श्रीरामकी आज्ञाको शिरोधार्य करके वह अपने घरको चला।

गुह (सखा)की विदाई

'अनेक विधि सिखावन'के अन्तर्गत स्वकर्त्तव्यकी प्रेरणाके साथ प्रभुने उसकी प्रार्थना—'जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परन कुटी मैं करबि सुहाई'—के अनुसार गुहको आश्वासन दिया होगा कि अवसर आनेपर उसकी उक्त अभिलाषाकी पूर्ति होगी (चित्रकूटमें भरतसहित सब समाजको पहुँचाकर गुह प्रभुके आश्रमकी शोभा बढ़ानेमें योग देगा)। प्रभुकी शिक्षाका निष्कर्ष 'सिखावनु दीन्ह' यही है कि धर्मकी सार्थकता होने और ईश्वरत्वका बोध हो जानेपर नीतिके अन्तर्गत सबको स्व-स्वकर्तंव्योंमें रहना चाहिए जो राज्य रक्षणके हितमें है।[1] नीतिशास्त्रके अनुसार राज्यरक्षणमें ही सम्पूर्ण शास्त्र और भक्ति यथास्थान सफल हो सकते हैं। नीतिमान् प्रभुका उक्त आदेश मानकर गुह अपने घरको चले गये।

तापस प्रसंगका उपसंहार

विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें—मार्कण्डेय-धर्मराज-संवादमें यह निर्णीत है कि श्रीरामका चरित्र तथा अन्य पात्रोंका कुछ चरित्र नियत है और कुछ अनियत हैं। उदाहरणार्थं कुछ चरित्र जैसे भरद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद, सीतारामवनवास, सीताहरण रावणवध आदि नियत चरित्र हैं। श्रीरामद्वारा कुम्भकर्णवध अनियत चरित्र हैं। वैसा ही यह एक अनियत चरित्र तापसप्रसंग है जो श्रीरामचरितमानसमें वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदासजीने जिस गुरुपरम्परामें रामायण सुना होगा उसमें तापस-प्रसंग होना निश्चित है, अतः उसका वर्णन मानसमें किया गया है। ग्रन्थकारकी उक्तिसे भी यह स्पष्ट है—'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा' 'भाषा बद्ध करबि मैं सोई' आदि।

उपर्युक्त विषयको ग्रन्थकारने भी प्रकारान्तरसे कहा है—

कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

गंगा-यमुनाका भक्तिसम्बन्ध

ज्ञातव्य है कि ग्रन्थकारके वन्दनाप्रकरणमें 'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा'

---

१. तदाऽयंधर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थंकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपोनामिव वर्णसङ्करः॥
— श्रीमा० स्क० १ अ० १८ श्ला० ४५

कहा गया है उसकी संगति सीताजीकी प्रार्थना और गंगाके वरदानमें दिखाकर भक्तिकी स्थापना दर्शायी गयी है। उसी प्रकार 'बिधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनी बरनी' की संगति यमुनातीरवासी यमुनाके उपासक विद्वान् तपस्वियों द्वारा श्रीरामके ईश्वरत्वकी पहचान और 'उतरि नहाए जमुन जल'के बाद ही धर्म-तापसका प्रभुके मिलनसे दर्शाया गया है। जैसा पहले व्याख्यानमें कहा जा चुका है कि विश्वामित्र, गुह, केवट, भरद्वाज आदि मुनिके द्वारा रामके ईश्वरत्वका वैयक्तिक रूपसे ऐकान्तिक परिचय देकर वयोवृद्धों, विद्वानों, तपस्वियों द्वारा सर्व-साधारण-तीरवासिनी जनतामें प्रकट करना ग्रन्थकारका उद्देश्य है।

तीरवासी आदि समाख्या

जिस प्रकार अध्वर्युकाण्ड हौत्रकाण्ड आदि समाख्याओंसे (नामसे) उन क्रियाओंका कर्तव्य उन-उन काण्डोंसे संकेतित किया गया है उसी प्रकार कविने १०९ दोहेसे ग्रामवासी, फिर तीरवासी उसके बाद पथवासीपथिकोंकी समाख्यामें वर्णन किया है। ग्रामवासी केवल श्रीरामकी सुन्दरताईका वर्णन करके चले गये। तीरवासी श्रीरामके ईश्वरत्वका वर्णन करके जा रहे हैं। पथवासियोंकी मनष्तुष्टिकी विशद व्याख्या आगे करेंगे।

संगति : तापसमिलनके अनन्तर उसी धर्मरूप कवचकी सहायताको स्मृतिरूपमें अपनाते हुए प्रभु यमुनाकी प्रशंसा करते आगे जा रहे हैं।

चौ०—पुनि सिय राम लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनाम बहोरी ॥१॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कर करत बड़ाई ॥२॥

भावार्थ : यमुनातटसे आगे चलनेपर—फिर तीनों श्रीराम, लक्ष्मण और सीताने यमुनाजीको प्रणाम किया। सीताके साथ दोनों भाई प्रसन्न होकर चले। सूर्यतनया यमुनाजीकी प्रशंसा करते हुए वे जा रहे हैं।

यमुनाप्रशंसासे ध्वनित

शा० व्या० : दोहा ४१में श्रीरामने कहा था कि 'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर' उसका प्रयोजन यमुनातीरपर सिद्ध हुआ अब प्रभुत्वके निर्णायकस्पष्ट लिंगतापसमिलनसे कार्यसिद्धिका स्मरण कर 'बहोरि' अर्थात् बारम्बार यमुनाजीको प्रणाम करनेसे तीनों मूर्तियोंकी प्रसन्नता दिखा रहे हैं।

ध्यातव्य है कि सीताजीको वर देनेके बहानेसे गंगाजीने जो कहा था—चौ० ५, दो० १०३ तक—उसीको यमुनाने धर्म-तापसको प्रकट कराकर श्रीरामसे उसके मिलनसे पूर्ण सहयोग दिया है। अब राक्षसोंकी बाधासे अकल्याण होनेवाला नहीं है। धर्मपालन और नीतिनिष्ठाकी सफलतासे तीनों मूर्ति मुदित हैं।

संगति : मार्गमें आते-जाते जो पथिक मिलते हैं उनके विचार पूर्वनिर्देशके अनुसार श्रीरामकी प्रभुताके द्योतक होते हुए वर्णनीय हो रहे हैं।

चौ०—पथिक अनेक मिलहिं मगजाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥३॥

भावार्थ : मार्गमें जाते हुए बहुतसे पथिक मिलते हैं। वे श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको देखकर प्रीतिमें भरकर कहते हैं—

शा० व्या० : पथिकोंकी दृष्टि अभी दोनों भाइयोंपर आसक्त है। सुलक्षण-सम्पत्तिसे युक्त पुरुष बहुत नहीं मिलते। यह सम्पत्ति ही वास्तविक सौन्दर्य हैं जो दृष्टिको आर्कषित करती है। अतः पथिकोंका उनके प्रति स्नेहमें आकृष्ट होना स्वाभाविक है। तीनों मूर्तियोंको देखते हुए भी दोउ भ्राता कहनेका भाव—चौ० ४, दो० ११४में—'दोउ बीरा'की व्याख्यामें स्पष्ट होगा।

संगति : राजोचित लक्षण रहते ज्योतिषकी अप्रामाणिकतापर महान् दुःख हो रहा है।

चौ०—राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोचु अति हृदय हमारे ॥४॥

भावार्थ : पथिक कह रहे हैं—'तुम्हारे दोनों भाइयोंके सब शरीराङ्गोंमें राजाके चिह्न हैं। वनमें अकेले पैदल चलते देखकर हम लोगोंके हृदयमें बड़ा भारी सोच हो रहा है।'

ज्योतिषोक्त लक्षणमें व्यभिचार कैसे ?

शा० व्या० : ज्योतिषशास्त्रनिर्दिष्ट राजत्वसूचक मुद्राएँ हस्तपादादिक अङ्गोंमें स्पष्ट देखकर पथिक आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं। अपने हृदयमें वे सोचने लगे कि मुद्रा-लक्षणों से उनको राजा ही होना चाहिए, तब उसमें व्यभिचार कैसे हो रहा है ? उनका तर्क है 'हे श्रीराम ! लक्ष्मणजी !' त्वं यदि राजत्वयोगवान् न स्याः तर्हि इमानि राजचिन्हानि कथं भवेयुः'। इसको यदि इष्टापत्ति मान लिया जाय तो ज्योतिषशास्त्रका अप्रामाण्य ठहरेगा ! अतः कहाँ गड़बड़ी है उसका विचार करनेमें व्यभिचारका निरास ज्ञातव्य होना चाहिए। इससे अनुमान किया जा सकता है कि राजा दशरथके शासनमें विद्याओंका प्रचार ग्रामोंमें भी था, सभी ग्रामीण भी शास्त्रज्ञ थे। शास्त्रमें दोष उनको इष्ट नहीं है। विष्णुधर्मोत्तरपुराणके अनुसार तत्कालीन जनता विष्णुदीक्षासे दीक्षित थी उसमें ज्योंतिषविद्या भी अंगभूत थी ही, उसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

संगति : राजत्वयोगसम्पन्न व्यक्तिको मार्गमें क्या पैदल चलना निषिद्ध है ? इस शङ्काका समाधान अग्रिम चौपाईमें दे रहे हैं।

चौ०—मारग चलहु पयादेहि पाएँ। ज्योतिष झूठ हमारे भाएँ ॥५॥

भावार्थ : पथिकोंके सोचका विषय है कि राजचिह्न सम्पन्न दोनों भाई वन-मार्गमें पैदल चल रहे हैं तो उनके विचारसे ज्योतिषशास्त्र झूठा है।

शा० व्या० : राजोपचारमें राजाको पालकी आदिमें बैठकर चलनेका विधान है। वैसा न चलकर श्रीराम एवं लक्ष्मणजी सीताके साथ पैदल चल रहे हैं। इसमें

शास्त्रमिथ्यात्वका दोष आता है। यदि यह इष्ट है तो अदृष्टार्थबोधक शास्त्रोंमें मिथ्या-भाषिता आशङ्कित हो सकती है। इसका समाधान स्वयं प्रभु आगे ११२ दोहेमें करेंगे।

संगति : उक्त मिथ्यात्वशङ्कामें पड़कर पथिक श्रीरामको असहाय समझकर अपनी ओरसे सहायता देनेके लिए निवेदन कर रहे हैं।

चौ०-अगमु पंथ गिरि कानन भारी। तेहि महुँ साथ नारि सुकुमारी ॥६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम संग चलहि जो आयसु होई ॥७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरबबहोरि तुम्हहि सिरु नाई ॥८॥

भावार्थ : पहाड़ और बीहड़ वनमें रास्ता खोजना और चलना अत्यन्त कठिन है, उसपर भी साथमें सुकुमारी स्त्री है तो और भी कठिन है। बीहड़ वनमें रहने-वाले हाथी और सिंहोंकी टोह नहीं ली जा सकती। इसलिए आज्ञा हो तो हम पथिक साथमें चलें। जहाँ तक आप लोगोंको जाना होगा वहाँ पहुँचाकर हम लोग आपको नमस्कार करके लौट आवेंगे।

वनका कठिन मार्ग

शा० व्या० : दो० ६२-६३ के अन्तर्गत श्रीरामने सीताको वनका दृश्य इस प्रकार समझाया था—

काननु कठिन भयंकरु भारी। मारग अगम भूमिधर भारे॥
कन्दर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहि निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नाना। नर अहार रजनीचर चरही॥
कपट वेष विधि कोटिक करहि। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥ आदि

वही यहाँ पथिकों द्वारा कहा जा रहा है। दोनों भाइयोंके साथ शीलवती सुन्दरी है। इसलिए घोर वनके कठिन मार्गमें राक्षसों द्वारा सीताके अपहरणका भय है। तीनों मूर्तियोंके स्नेहमें खिंचे हुए पथिक दयालुतामें उनको गन्तव्य स्थानपर पहुँचानेमें सहायता करनेकी स्वीकृति माँग रहे हैं।

नीतिशास्त्रकारोंने राजाओंको उतने ही दूर तक यात्रा करनेको कहा है जहाँ तक सहायता, विविध, आसार पूर्णतया सुलभ हों।[1]

सहायकोपलब्धि

ज्ञातव्य है कि नीतिमान धर्मोपासक घोर वनमें प्रवेश करता है तो उसको सहायकोंकी कमी नहीं होती—क्योंकि तीनों भुवन नीतिमान् न्यायप्रियका अपना देश है, जहाँ विष्णुभक्त बन्धु बान्धवके रूपमें मिलते रहते हैं। तीनों मूर्तियोंके सौन्दर्यका आकर्षण पथिकोंको उक्त प्रस्ताव करनेके लिए बाध्य कर रहा है। इसमें राग या

---

१. सावीवधासारबिशुद्धमार्गं विश्वासिताक्रान्तजनं विशुद्धम्।
तन्मात्रमेव द्विषतामुपेयाद्यस्मान्न कुर्यीदपयान मार्तः॥ नीतिसार सं० १५

सौन्दर्याभास नहीं कहा जायगा, अपितु ज्योतिषशास्त्रसिद्ध लक्षणसौन्दर्य है। इससे स्पष्ट है कि सहायक गुहको लौटानेपर भी धर्मनिष्ठ नीतिमान् होनेसे श्रीरामको सहायककी उपलब्धि असम्भव नहीं है।

संगति : ग्रामीणोंका प्रस्ताव सुनकर नीति शास्त्रकी प्रतिष्ठाको प्रकट करते हुए श्रीरामके द्वारा ज्योतिषसिद्धान्तमें पूर्वोक्त अप्रामाण्यशङ्का और ज्योतिषकी मिथ्याभाषिताका समाधान हो रहा है।

दो०–एहि विधि पूछहि प्रेमबस पुलकगात जलु नैन।
कृपा सिन्धु फेरहिं तिन्हहि कहि विनीत मृदु बैन ॥११२॥

भावार्थ : इस प्रकार पथवासिजन प्रेममें पुलकायमान और अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे सहायताके लिए पूछते हैं। पर कृपासागर श्रीराम नम्रतापूर्वक मीठे वचनोंसे उनको लौटा देते हैं।

ज्योतिष-शास्त्रकी प्रतिष्ठा

शा० व्या० : दो० १११ में 'सखहि सिखावनु दीन्ह'में जिस प्रकार श्रीरामने गुहको कर्तव्य समझाया उसी प्रकार यहाँ कवि 'कहि विनीत मृदु बैन' से व्यक्त कर रहे हैं। श्रीराम शास्त्रनिष्ठामें निःशङ्क रहना कर्तव्य बताकर पथिकोंको समझा रहे हैं जिसका आशय यह है कि ज्योतिषशास्त्रके आधारपर हस्तपादादि-लक्षणोंसे पथिकोंने जो राजयोगका निर्णय किया है उससे प्रबल सुकृत से राजयोग अनुमेय है। वह यथार्थ है तो उसके सहायकरूपमें रहते अपनी सहायताका प्रस्ताव पथिकोंने रखना या उसको स्वीकृत करना ज्योतिषशास्त्रपर अप्रामाण्यरूपकृतक अविश्वास होगा। अर्थात् राजयोग है तो तीनों मूर्तियोंका जीवित रहना एवं गंगाजीके वचनप्रमाणसे कुशलतापूर्वक लौटना निश्चित है। तब आगे अकेले बढ़नेमें भयकी बात नहीं है। शौर्य आदि गुण जन्मतः ही प्रकट होनेसे दृष्टार्थक भय भी मानना व्यर्थ है। इस प्रकार पथिकोंके कथनके अनुसार शुभ अदृष्टसूचक ज्योतिष-शास्त्रके प्रामाण्यको प्रभु स्थिर कर रहे हैं। 'फेरहिं तिन्हहि'से पथिकोंकी शङ्काको निरस्तकर उनको संग चलनेसे रोकते हुए प्रभु अनुष्ठानतः ज्योतिषशास्त्रपर विश्वास प्रकट कर रहे हैं।

श्रीराम द्वारा शास्त्रप्रामाण्यकी सिद्धिके लिए प्रभुको वचनोक्तिको न कहकर उनकी कृतिको युक्तिरूपमें समझाना ग्रन्थकारकी वर्णनशैलीका गौरव है। ज्योतिष-शास्त्रके प्रामाण्यको सिद्ध करनेके लिए यह वर्णनका क्रम भी माननीय है।

पथिकों और श्रीरामके आन्तरिक भावाभिव्यक्ति

'पुलकगात जलु नैन'से पथिकोंका अश्रुपात और तनुपुलक श्रीरामके स्नेहमें हो रहा है अथवा वनवासकी भयानकताको सोचकर प्रभुके प्रति करुणामें है।

'करि केहरि वन जाइ न जोइ' आदि कहकर पथिकोंने हिंसक जन्तुओंका जो

भय उपस्थापित किया है उसके सम्बन्धमें स्मरण रखना चाहिए कि 'सकल सौच करि'से मुनिव्रतमें श्रीराम स्थित हैं। उनके अहिंसा आदि व्रतके प्रभावसे हिंसक जन्तु मित्रताके भावमें उपस्थित होंगे ही जैसा चित्रकूटमें वर्णित है—

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥

(चौ०१ दोहा १३८)

धर्मोपासनामें धैर्यका फल होगा कि देवता भी छिपकर नीतिमान् दाशरथिको वनवास आदिकी व्यवस्था करेंगे। (चौ० ६-८ दो० १३३) इस प्रकार भारतीय वैदिक रीतिको उपादेयताको अनुष्ठानतः समझाकर कवि ने श्रीरामके शास्त्रानुगामित्त्व-सहकृत प्रभुत्त्वका परिचय कराया है।

प्रभुत्त्वसाधक विवेचन

ऐसा लगता है कि शिवजी श्रीरामके प्रभुत्त्वनिर्णायक अनेकविध व्याप्योंको समझानेके हेतुसे ही दो० ११२ से ११३की बीचकी चौपाइयोंमें व्याप्यविषयोंका वर्णन करते आये हैं, न कि वनमार्गगमनका। श्रीरामके वनमार्गमें चलनेका वर्णन वास्तवमें दो० ११३ के बादसे आरम्भ होता है।

वस्तुतः शास्त्रनिष्ठाकी स्थापनाके उमङ्गमें शिवजी श्रीरामके प्रभुत्त्वसाधक व्याप्योंको समझानेके आनन्दमें हैं तथा सतीत्यागके प्रसङ्गमें 'मिटइ भगति पथु होई अनीति' उक्तिको ध्यानमें रखकर पार्वतीके सामने भक्तिपन्थकी स्थापना दिखानेके लिए शिवजीने श्रीरामका प्रभुत्त्व दिखाते हुए भरद्वाज आश्रमसे लेकर वाल्मीकि आश्रम तक प्रभुको पहुँचानेके बीच मार्गमें विद्वानोंकी सम्मति हेतुका अनन्य उपयोग दिखाते हुए पुण्य-श्रवण-कीर्तनमें रत साधु-साध्वियोंकी भक्ति एवं उनके प्रेमचरित्रका निरूपण भक्तिके आनन्दसागरमें गोता लगाते हुए किया है। अतः सन्तोंके चरित्रके मध्यमें तापसचरित्रको पूर्ण करनेके अनन्तर पुनः मार्गवासियोंका चरित्र सुनाया है।

संगति : तापसमिलनमें 'परमरंक जनु पारसु पावा' कहा है। पारस केवल लोहेको सोना बनाता है, श्रीरामका पारसत्त्व उससे अधिक महत्त्व रखनेवाला है जिसको शिवजी आगे वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : जे पुरगाँव बसहि मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं॥१॥

भावार्थ : मार्गमें पड़नेवाले जिन पुरों या गाँवोंमें श्रीराम वास करते हैं उनकी सराहना देव और नाग लोकके नगर करते हैं।

ग्रामवासमें पूर्वापरविरोध और उसका परिहार

शा० व्या० : प्रश्न : श्रीरामने गुहसे कहा था 'ग्रामवासु नहि उचित' (दो० ८८) तब यहाँ 'पुर गाँव बसहिं' कैसे कहा गया ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि मुन्युपदिष्ट शोधित सुगम गन्तव्य मार्गमें नान्तरीयकतया जो पुर और गाँव पड़े उनमें ठहरना दोषावह नहीं माना

जायगा। अथवा चौ० १ दो० ११४ में कहे 'गाँव निकट जब निकसहिं जाइ'से यह समझना होगा कि मार्गमें स्थित पुर गाँव के निकट से प्रभु निकल जाते है, पुर या गाँवोंके भीतर वास नहीं करते।

स्थानकी पवित्रता

प्रभुके वाससे सम्बन्धित स्थान पूर्वपिक्षया अधिक शुचि हो जाते हैं चाहे प्रभु स्थानकी शुचिताको देखकर निवास करें अथवा सामान्यस्थानमें बसें। अतः श्रीराम जिस पुर या ग्राममें निवास करते हैं वह तीर्थस्थल बनजाता है जो सुर नाग आदिके लिए भी प्रशंसनीय हो जाता है क्योंकि वे स्थल प्रभुके वाससे अन्य स्थानोंसे अधिक पवित्र हो जाते हैं। अपवित्रताको सर्वथा उन्मूलित करके पूर्ण पवित्रताका आधान करना प्रभुकी अपनी विशेषता है। उसका प्राकट्य भृगु द्वारा शापित दण्डकारण्यकी शुचितासे होगा।

नगररचनाका बीज

नीतिमान् वाग्मी जहाँ निवास करते हों उनकी छत्रछायामें अन्य आश्रयार्थी निवास करनेके हेतु उपस्थित होते हैं। नगररचनाके आरम्भका यही मूलमन्त्र है।[१] श्रीराममें उक्त गुण होनेसे वे जहाँ निवास करेंगे वहाँ सभी वर्गोको निवास करनेमें सुख होना ही चाहिए। 'नाग सुर नगर सिहाइ'का यह भाव है कि सज्जनोंकी प्राप्ति और तीर्थनिवासप्रयुक्त सुख नागलोकमें नहीं मिलता है, अतः निर्भयस्थान समझकर रामनिवासस्थल इतर लोकके अपेक्षया प्रशंसनीय है। इसमें उदाहरण वाराणसीमें गङ्गाजीका जल है। उसके जलचर अभी भी वाराणसीके प्रभावसे मानवोंके लिए अहिंसक पाये जाते हैं। ग्राम एवं नगरकी परिभाषा टिप्पणीमें द्रष्टव्य है।[२]

नीतिमान् विनयी वृद्धसेवी यत्र-तत्र घूमते फिरते नहीं पाये जाते क्योंकि सत्वगुणमें एकान्तप्रियता है। पथवासियोंका महान् पुण्य है कि श्रीराम जैसे शुचि महात्मा उनके ग्रामपुरमें आये। इसको महान् सुयोग समझना चाहिये।

संगति : रामनिवाससे संबद्ध पुर एवं ग्रामकी धन्यताका यशस् गा रहे हैं।

चौ०—केहि सुकृती केहि घरी बसाए। धन्य पुण्यमय परम सुहाए ॥२॥

भावार्थ : सुर नाग एवंनागलोकके नगर प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि

---

१. महति सज्जनाश्रये स्थानम्। (कामसूत्र)

२. ग्रामा हट्टादिशून्याः पुरो हट्टादिमत्यः (भागवतचन्द्र चन्द्रिका)। ग्रामो बहुजनाकीर्णो राजराजाश्रयं पुरम्।४।१८।३१ ग्राममें धान्य पशु हिरण्य सारदारु आदिका निर्माण होता है। 'विजयध्वजी' नगरमें विदग्धता कोष दण्डके साथ मनोरंजनकी सामग्री सुरक्षित रहती है। नगरवासियों द्वारा राजा उपकृत होते हैं। दुर्ग नागरकवृत्तमें होता है।

—अर्थशास्त्र

'किस पुण्यात्माने किस शुभ मुहूर्तमें इन पुर गावोंको बसाया जो कि ये पुण्यमय होकर प्रभुके वाससे परम सुशोभित हो रहे हैं। धन्य हैं ये।

संगति : शुभ मुहूर्तमें जिस निर्माता द्वारा ये नगर ग्राम बसाये गये हैं वे धन्य हो गये। इस विषयमें व्याप्ति समझा रहे हैं।

चौ०–जहं जहं रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥३॥
पुण्यपुंज मगनिकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुरवासी ॥४॥

भावार्थ : जहाँ जहाँ प्रभु रामके चरण चले जाते हैं उनके समान इन्द्रपुरी देवनगरी भी नहीं है। श्रीरामके चलनेके मार्गके पास रहनेवाले भी महान पुण्यवान् हैं जिनकी प्रशंसा देवलोकवासी भी करते हैं।

रामस्थल और सुरलोकमें वैधर्म्य

शा० व्या० : श्रीरामचरणस्पृष्ट पुर या ग्रामके साथ अमरावतीकी तुलना करनेमें शिवजीको अमरावती न्यून मालूम पड़ती है, क्योंकि भगवच्चरणधूलिस्पर्शसे सेवकोंकी तृष्णाएं समाप्त होती हैं, जो अमरावती में संभव नहीं।

शास्त्रकारोंका कहना है कि भगवच्चरणधूलिमें स्नान करनेवालोंका भोगाद्यापदक और तत्तत्संस्कारोद्बोधक कर्म समाप्त हो जाता है।

भगवच्चरणसेवामें रत भक्तजन चरणधूलिको इसलिए चाहते हैं कि भगवान्के चरणाग्रोंके माध्यमसे उनका तेजस् भक्तको प्राप्त होता रहे। पूज्यपूजकभावसे बढ़कर पवित्र करनेवाला दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके फलस्वरूप प्रभुसेवकोंके अन्तःकरणमें शास्त्र यथार्थ रूपमें प्रकाशित होता रहता है। यह सुयोग अमरावतीमें नहीं है।

श्रीरामचन्द्रचरणारविन्द द्वारा स्पृष्ट ग्राम एवं पुरवासियोंको शिवजी पुण्यपुंज कहते हैं, इसलिए कि प्रभु स्वयं उनको दर्शन दे रहे हैं। जन्मान्तरीय कर्मके प्रभावसे ही पुण्यात्मा जिस प्रभुके दर्शनकी कामना करते हैं वे प्रभु साकांक्ष्य मार्गके प्रति सापेक्ष होकर ग्रामपुरवासियोंसे संभाषणमें उद्यत हैं, उनसे सेवा भी ले रहे हैं। यह पथिकोंका पुण्य पुंज है।

प्रभुकी वत्सलता

ज्ञातव्य है कि प्रभु निरपेक्ष एवं सदा हृदयकी ओटमें रहनेवाला दुर्गवासी है। उसको देखनेके हेतु जो प्रयत्न करता है उसके लिए वह और भी भीतर होता जाता है। उस नियमको तोड़कर भक्तवत्सल प्रभु भक्तोंकी शुचिता स्नेह तथा शीलसे आकृष्ट हो स्वयं मायासे आच्छादित होकर माता कैकेयीके आदेशको निमित्त बनाकर अयोध्याके राजप्रासादको छोड़, वनमें स्वच्छन्द भ्रमण कर रहे हैं, मार्गवासियोंसे अग्रिम मार्ग पूछते जा रहे हैं। यह पुरग्रामवासियोंके नेत्रोंके लिए अपूर्व सुयोग है।

संगति : नीतिकी गरिमाको समझानेके लिए प्रभुके सापेक्ष होकर पुरग्रामोंसे

चलकर उद्दिष्ट पथकी ओर जाते हुए क्या विशेष हुआ, इसको शिवजी मार्गवासियोंको सराहना करते हुए वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—जे भरि नयन बिलोकहि रामहि। सीता लखन सहित घनस्याहि ॥५॥

भावार्थ : पुरवासी व मार्गवासियोंकी सराहना देव इसलिए करते हैं कि वे नेत्र भरकर सीता-लक्ष्मणके साथ घनश्याम श्रीरामका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

सत्वप्रकृतिका चिह्न

शा० व्या० : प्रभुके शरीरकी श्यामलता सत्वप्रकृतिका चिह्न है। सत्व-प्रकृति श्रीराम सुरोंके लिए भी सहसा दृश्य नहीं है। सत्वप्रकृति स्वयं आकर्षक है। उसका विभाव है 'अभीष्टादेरचिन्तनम्।' सत्वप्रकृति श्रीरामके सान्निध्यमें सेवकोंकी मनोवृत्ति कामतत्वसे अस्पृष्ट रहती है, इसलिए शास्त्रमर्यादित है। उसका प्रभाव है कि सेवकोंके मनस्का लगाव विद्वत्संगति और कथामृतके स्वादमें रहता है। ये पथवासी ऐसे ही हैं, इसलिए वे नेत्र भरकर प्रभुको देखें इस हेतुसे तीनों मूर्तियां दर्शनार्हा उपस्थित हैं।

संगति : संत महात्मा जिस जलमें स्नान करते हैं वह तीर्थ हो जाता है, जो तीर्थोंके इतिहाससे स्पष्ट है।

चौ०—जे सरसरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं ॥६॥

भावार्थ : जिस तालाब या नदीमें प्रभु राम स्नान करते हैं उसकी प्रशंसा मानसरोवर या देवनदी गंगा भी करती हैं।

तीर्थोंको सराहना

शा० व्या० : नीतिमान् साधु श्रीराम जिस जलमें स्नान करते हैं वह तीर्थ होता है तथा जगद्वन्द्य होता है। गंगा और मानसरोवर भी प्रभुपादारविदन्से संपृक्त जलसे अपनी शुद्धिकी कामना करते हुए उनकी सराहना करते हैं। इसी भावसे शिवजी भगवच्चरणसे निकली गंगाजीको मस्तक पर और ब्रह्माजी कमण्डलुमें धारण करते हैं।[1]

संगति : प्रभुका सान्निध्य जिन वृक्षोंको उपलब्ध हो रहा है उनकी भी सराहना शिवजी कर रहे हैं।

चौ०—जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ॥७॥

भावार्थ : जिस वृक्षके नीचे प्रभु जाकर बैठ जाते हैं उनकी बड़ाई कल्पवृक्ष भी करता है।

---

१. आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रीन् लोकान् प्रपुनन्ति हि।
शिरसाऽधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥भा० १०॥

पेड़ोंकी सराहना

शा० व्या० : पेड़ोंकी छायामें विश्राम लेकर प्रसन्न होना ही वृक्षोंके लिए प्रभुप्रसाद है। उस प्रभावसे उन पेड़ोंको भी कल्पतरु बननेमें समर्थ देखकर स्वर्गका कल्पवृक्ष वैसे पेड़ोंकी बड़ाई करता है।

यद्यपि कल्पवृक्ष वृक्ष होनेसे कण्ठताल्वाद्यभिघातजशब्दोंके उच्चारणमें असमर्थ है फिर भी वह चेष्टात्मक सांकेतिक अपनी भाषासे आन्तरिक भाव व्यक्त करता ही है। अतः कविकी उक्तिमें अनुपपत्ति नहीं है। अथवा कविने ऐसे स्थलोंमें वस्तुतत्वका यथार्थबोध हो इस हेतुसे व्यञ्जनावृत्तिका सहारा लेकर मानसको सुशोभित किया है। अथवा शास्त्रमतमें सबकी देवता पृथक्-पृथक् मानी गयी हैं उनकी सराहना हो रही हैं कहा जाय तो अनुपपत्ति नहीं है।

संगति : शिवजी भूमिकी सराहना में बोल रहे हैं।

चौ०—परसि रामपद पदुम परागा। मानत भूमि भूरि निज भागा ॥८॥

भावार्थ : श्रीरामके चरणकमलकी धूलिके स्पर्शसे भूमि भी अपनेको वड़भागी मानती है।

भूमिका शुचित्वाशुचित्व

शा० व्या० : भूमि स्वरूपतः शुचि या अशुचि न होनेपर भी पुण्यकार्यसे वह शुचि होती है। उसी प्रकार दुष्टों या म्लेच्छोंसे आक्रान्त होनेपर वह अशुचिताको प्राप्त करती है। इस अशुचिताकी तीव्रतासे धर्मकार्य एवं सन्त महात्माओंका निवास भी वहाँ दुष्कर हो जाता है। अतः शास्त्रकारोंने अशुचि भूमिभागको पर्यन्त देश-(म्लेच्छ) देश माना है। वैसी भूमि (दण्डकारण्य)को भी अपने चरणस्पर्शसे प्रभु पवित्र बना रहे हैं। इसलिए भूमि अपनेको धन्य मानती है। ध्यातव्य है कि दण्डकारण्यका अशुचिस्थल प्रभुके पादपद्मके स्पर्शसे पवित्र हुआ है।

प्रभुत्वसाधक युक्तियोंका निर्देश

भूमि, पुर, ग्राम, उनके निवासी, जल, वृक्ष आदि जहाँ भी प्रभुका सान्निध्य हुआ है वे सब पुण्यप्रद, पवित्र, पूज्य और वन्द्य हो गये हैं। ऐसा कहकर शिवजी श्रीरामके प्रभुत्वको साधनेमें हेतुरूपधन्यताश्रयतया भूमि आदिका निर्देश कर रहे हैं। तापस एवं ज्योतिषशास्त्र द्वारा श्रीरामके प्रभुत्वका निर्णय हो जानेपर यह निर्देशविशेष प्रभुत्वकी अनुमितिमें सहायक हो रहा है।

पवित्रत्वको समझाकर 'जे तेहि तिन्ह-तिन्हहि'से साध्य और हेतुका व्याप्य-व्यापकभाव बताया गया है। जैसे भूमिकी पवित्रता, वृक्षोंकी कल्पतरुता, तीर्थोंमें पुण्यप्रदत्व आदि विविध हेतुओंका समुच्चय बताकर श्रीराममें प्रभुत्व सिद्ध किया है।

अथवा प्रभुके प्रभुत्व रूप कारणसे नैयत्वेन उपर्युक्त पवित्रता आदिका अनुमान कविने कराया है।

ये सब विविध हेतु श्रीरामके ही प्रभुत्वके साधक नहीं अपितु ब्रह्मा आदि देवों, महर्षि, महात्माओंके संपर्कमें भी उक्त पवित्रताकी प्राप्तिसे पूज्यता तथा पवित्रताका अनुमान किया जा सकता है। कविने यह विषय दो० ३ में दर्शाया है—

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाषु तुम्हार॥

संगति : नीतिमानोंकी सेवामें प्रकृति भी सहायिका होती है। पर वे उद्देश्य-प्राप्त किये बिना प्रकृतिसेवाकी तुष्टिमें विश्राम न लेकर कर्तव्यकी ओर आगे बढ़ते हैं। उसी कर्तव्यनिष्ठाको समझा रहे हैं।

दो०—छाँह करहि घन बिबुधगन बरसहि सुमन सिहाँहि।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मग जाँहि॥११३॥

भावार्थ : पहाड़, वन, पक्षी, पशु आदिको देखते हुए श्रीराम मार्गमें जा रहें हैं। उनके ऊपर बादल छाया करते हैं देवगण पुष्पवृष्टि करते हुए प्रशंसा करते हैं।

रक्षककी सेवामें प्रकृतिकी प्रवृत्ति

शा० व्या० : नीतिमानोंको दैव, पुरुषार्थ, बुद्धि, सद्वृत्त सत्पक्ष तथा आत्मगुण सदा सहायक होते हैं। ये गुण श्रीराममें पूर्ण हैं। वेदान्तसिद्धान्तमें चर अचर सब चेतन हैं। रावणके आतंकसे पीड़ित हो सब रक्षककी खोजमें हैं। रक्षकके अभावमें प्रकृति आदिका अस्तित्व दुष्टोंके कारण खतरेमें रहता है। कामकर्महतमनवाले व्यक्तिके द्वारा जीवोंका रक्षण सम्भव नहीं। अतः श्रीराम जैसे गुणवान् महात्माको पाकर मेघ जैसे जड़ जीव भी उनको सूर्यके तापसे बचानेके लिए छाया करते हैं। यह प्रकृतिको प्रेरणा है। देव जैसे विवेकी भूमिकी कठोरताको देखकर श्रमपरिहारार्थ फूल बरसाते हैं। इस प्रकार जड़-चेतन सभी प्रभुकी सेवामें प्रस्तुत हैं।

अभिलक्ष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सद्भिर्निषेवितम्।
सेवेत सिद्धिमन्विच्छन् श्लाध्यं विन्ध्यनिवेश्वरम्। नीतिसार स० ५

इस उक्तिके अनुसार श्रीरामको आश्रयकी खोजमें प्रथम विन्ध्यगिरि दिखायी पड़ा तथा वासयोग्य वन, उसके सहचर विहंग मृग भी दिखायी पड़े। ये सभी वनमें होते ही हैं जैसा कि सीताने कहा है। 'खग मृग परिजन' आदि। 'राम चले मगु जाहीं'से व्यक्त किया है कि छाया आदिके प्रति विशेष रुचि न लेते हुए श्रीराम वनमार्गमें कर्तव्यपथपर बढ़ते जा रहे हैं।

मगका तात्पर्य

यहाँ मगसे तात्पर्य है कि श्रीराम उसी मार्गका अवलम्बन करते जा रहे हैं जो मार्ग इतिकर्तव्यताके रूपमें भरद्वाज ऋषि द्वारा निर्देशित हुआ है।

संगति : प्रभुत्वसाधक अनेकविध युक्तियोंके निरूपणके अनन्तर चौ० १ दो०

११० में कहे 'निज निज काज सिारीब'का स्मरण कराते हुए वेगमें प्रभुको देखने हेतु ग्रामवासियोंका पहुँचना कहा जा रहा है।

चौ०—सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहि जाई ॥१॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहि तुरत गृहकाजु बिसारी ॥२॥

भावार्थ : सीता और लक्ष्मण के साथ जब श्री रघुनाथजी किसी गाँवके पाससे निकलते हैं तो वहाँके सब बालक, वृद्ध और तरुण नरनारी अपने-अपने घरेलु कामको छोड़कर तुरन्त प्रभुके दर्शनार्थं चल देते हैं।

शा० व्या० : ज्ञातव्य है कि प्रभु ग्राममें प्रवेश नहीं करना चाहते इसीलिए यहाँ गाँबनिकट कहा है। 'जब निकसहि'से यह क्रम समझना होगा कि जिस-जिस गाँवके निकटसे प्रभु जाएँगे उस-उस गाँवके निवासियोंका वृन्द प्रभुके समीपमें पहुँचेगा। जैसा कि 'नरनारी चलहि तुरत गृह काजु बिसारी'से स्फुट है। (एतेन सर्वे ग्रामा व्याख्याताः)। पथिकोंका अग्रिम वर्णन भिन्न-भिन्न गाँवोंके अनुसन्धानसे हो सकता है।

पूर्वमें कहे ग्रामवासियोंके विस्मयका आलम्बन तीनों मूर्तियोंकी मुद्रा, उनके लक्षण यहाँ भी स्मर्तव्य होंगे। विस्मयके अनुभावात्मक आवेगमें 'चलहि तुरत' कहा गया है। उसी आवेगमें 'गृह काजु बिसारी' हो रहा है क्योंकि प्रभुकी कीर्ति व्याप्त हो चुकी थी। उसकी वार्ताएँ घर घरमें चल रही थी।

संगति : तीनों मूर्तियोंकी लक्षणसम्पत्तिरूप सौन्दर्यके बारेमें जैसा सुना था वैसा ही देख रहे हैं।

चौ०—रामलखनसियरूप निहारी। पाइ नयनफलु होहि सुखारी ॥३॥
सजलविलोचन पुलकसरीरा। सब भए मगन देखि दोउ वीरा ॥४॥

भावार्थ : श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजीके रूपसौन्दर्यको देखकर नेत्रोंका फल पाकर मगवासी सुखी हो रहे हैं। उनके नेत्र प्रेमाश्रुसे पूर्ण और शरीर रोमांचित हो रहा है। सब लोग श्रीराम लक्ष्मण दोनों वीरोंको देखकर प्रेममग्न हो रहे हैं।

दर्शकोंके कायिक अनुभाव

शा० व्या० : विस्मयके कायिक वाचिक मानसिक अनुभाव ग्रामवासियोंमें प्रकट हो रहे हैं। 'रूपनिहारी'से तीनों मूर्तियोंके सौन्दर्यको देखकर पथिकोंकी एकाग्रता प्रकट है। अद्भुतरसके आस्वादमें डूबनेसे उसके परिणाम ग्रामवासियोंके शरीर पर उल्लसित हो रहे हैं, जैसे प्रीतिप्रयुक्त आवेग, एकाग्रता, नयनविस्तार, आनन्दाश्रु, रोमांच, ध्यान, मुखपर प्रसन्नता, निर्निमेषदृष्टि, मनसूकी स्थिरता, दान, चौंकना, गुण-कर्मनिमित्तक संभाषण, साधुवाद, हर्ष, साधु घोष आदि। अद्भुतके आलंबन तीनों मूर्तियोंके चरित्र हैं। उदाहरणार्थं पित्राज्ञापालन, वनवासकी ईप्सा, उत्सुकता, देवऋषि आदिदर्शनके मनोरथ, राजलक्षण होते हुए भी पैदल चलना, कुमार-अवस्थामें

वनमें जाना, देशकालातीत प्रकृतिकी देन, शरीरकी लक्षणसंपत्ति, अभीष्ट (राज्य)का अचिन्तन आदि।

यहाँ 'देखि दोउ वीरा' कहकर सीताका उल्लेख न करनेका कारण यह है कि राजानुशासन और शास्त्रमर्यादामें परपत्नीकी ओर निर्निमेष देखना उचित नहीं है, इसलिए दोनों भाइयोंकी ओर ही एकाग्रतासे देखनेका वर्णन किया गया है।

संगति : ग्रामवासियोंमें अद्भुतताकी पूर्णसामग्री और उसके परिणामका वर्णन नहीं किया जा सकता इसलिए कवि आगे 'बरनि न जाई' कह रहे हैं।

चौ०—बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी ॥५॥

भावार्थ : मगवासियोंकी प्रेमावस्थाका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी प्रसन्नता ऐसी है मानों अति दरिद्रोंको चिन्तामणिका ढेर प्राप्त हो गया हो।

मार्गवासियोंकी वर्णनातीत दशा

शा० व्या० : लौकिकमें अलौकिकका साम्य देखना या कहना अनुपपन्न है, अर्थात् संपूर्ण रीतिसे लौकिकका साम्य अलौकिकसे देना संभव नहीं है। इसलिए उपमानके माध्यमसे कतिपय लौकिक अनुभावों-रूपकोंको व्यक्त कर अलौकिक तत्वका विस्मय कविने प्रकट किया हैं जो 'बरनि न जाई दसा तिन्ह केरी'से स्पष्ट किया गया है। यदि कहनेमें पूर्णता करते हैं तो विस्मय नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ—अकामहत श्रोत्रियके आनन्दका वर्णन करनेमें श्रुतिने आनन्दकी कल्पना देनेके हेतुसे मानुष आनन्दका वर्णन विस्तारसे किया है, तदनन्तर शतगुणित आनन्दको बताते हुए श्रोत्रिय आनन्दको ध्वनित कर विश्राम लिया है।[1] वही न्याय यहाँ समझना होगा।

संगति : 'लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढ़ेरी' सुनाकर आगे अद्भुतके कतिपय अनुभावों और परिणामोंका वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं ॥६॥

भावार्थ : एक दूसरेसे बोलकर यही शिक्षा दे रहा है कि नेत्रोंका लाभ इसी क्षण ले लो, फिर कहाँ मिलेगा ?

अद्भुतके वाचिक अनुभाव-देश-कालयोगकी दुर्लभता

शा० व्या० : 'एकन्ह एक बोलि'का भाव यह है कि तालध्वनिके समान परस्परमें साधक भक्त 'लोचन लाहु लेहु छन एही'का उपदेश एक दूसरेको कर रहे हैं, जो गुरु शिष्यके समान नहीं है। अर्थशास्त्रके अनुसार देश और कालके संयोगको देखकर लाभ लेना निपुणता है, क्योंकि काल और देशका योग प्रायः सुलभ नहीं होता। श्रीराम प्रभृति तीनों मूर्तियोंके सौन्दर्यका दर्शन देश कालके सुयोगसे अभी

---

१. युवा स्यात् साधु युवा ध्यायकः''''श्रोत्रियस्यचाकामहतस्य।

मिला है। अतः इसी क्षण नेत्रोंसे उस लाभको लेकर मानसमें मूर्तियोंको बसा लेना उचित है। ऐसा ग्रामवासी इसलिए कह रहे हैं कि अभी ये तीनों आये हैं, अभी ही चले जायेंगे। कालान्तरमें ऐसा दर्शन मिलना नहीं है। देखनेमें उपेक्षा होगी तो हृदयमें संस्कारका स्थैर्य नहीं होगा। भविष्यत्में उनका दर्शन कैसे हृदयमें करेंगे ? अतः आदरसे तीनों मूर्तियोंका दर्शन हम सभी कर लें।

संगति : मूर्तिको ध्यानस्थ रखनेके उद्देश्यसे कुछ लोग प्रभुके साथ कुछ दूर तक जा रहे हैं।

चौ०—रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि संग लागे ॥७॥

भावार्थ : कतिपयजन श्रीरामको देखकर स्नेहमें जाते हैं और उनके संगमें चलते हुए एकाग्रतासे देखते हैं।

मूर्तिकी धारणा

शा० व्या० : तीनों मूर्तियोंके दर्शनके आकर्षणमें लगे हुए कतिपय सज्जन उनके साथ दूर तक चलते हैं। 'चितवत' अर्थात् अनुरागमें दर्शन करते हुए दूर तक चले जाने और आनेमें उनको श्रमका अनुभव नहीं है। धारणामें कालका क्रम इस प्रकार होता है। प्रथमतः सुन्दरमूर्तिका दर्शन हुआ, कुछ दूर तक जानेसे मूर्तिविषयक धारणा हुई, उसके पश्चात् उसीको ध्यानस्थ कर लेनेके अनन्तर एकाग्रतामें लौटना हुआ आदि।

संगति : मूर्तित्रयके सौन्दर्यको देखकर अद्भुतताकी प्रतीतिमें मानसिक स्थितिका वर्णन करते हैं।

चौ०—एक नयन मग छबि उर आनी। होहि सिथिल तन मन बर बानी ॥८॥

भावार्थ : कोई कोई दर्शक नेत्रोंसे दर्शन करके हृदयमें उस मूर्तिको बसा लेते हैं। तब शरीर मनस् और वचनसे शिथिलताको प्राप्त हो जाता है अर्थात् वे कायेन वाचा मनसा निश्चेष्ट हो जाते हैं।

मानसिक अनुभाव

शा० व्या० : कतिपय सज्जनोंने नेत्रोंसे मूर्तिसौन्दर्यका दर्शन कर उसको हृदयमें बसा लिया। ध्यानस्थ हो जानेसे तन मनस् और वाणीका व्यापार अवरुद्ध हो गया। फलतः विरोधी तत्त्व जैसे अपने अपने व्यक्तित्वका भान आदि वे सभी विगलित हो गये, अर्थात् सब दर्शक समाधिस्थ हो गये।

संगति : विस्मयके अनुभावमें श्रेष्ठ भक्तोंके उपरोक्त स्वभावका वर्णन कर सेवक भक्तोंके आवेगपूर्वक सेवाका वर्णन किया जा रहा है।

दो०—एक देखि बट छाँह भलि डालि मृदुल तृन पात।
कहहि गवाँइअ छिनकु श्रमु गवनब अबहि कि प्रात ॥११४॥

भावार्थ : कोई वटवृक्षकी सुन्दर छाया देखकर उसके नीचे मुलायम पत्ते और घासपात बिछाकर कहते हैं कि कुछ समयके लिए आप यहाँ थकावट दूर करें। फिर चाहे अभी चले जायँ या सुबह चले जायँ।

विश्रामके लिए प्रार्थना

शा० व्या० : 'गवाइअ छिनकु श्रमु' कहनेका कारण आगे दो० ११५ में स्पष्ट है। अर्थात् 'लखत स्वेदकनजाल'से उनका श्रम स्पष्ट है। प्रभुकी दयामयी दृष्टि देखकर ग्रामीणोंमें सेवाका भाव जगा है। ऐसे भावको जगाना भारतीय राजनीतिको इष्ट है। नीतिमान् सेवाकी अभिलाषा नहीं रखते जैसा सुमंत्र एवं गुहको लौटानेसे स्पष्ट है। वे विष्टियोंसे भी बलात् सेवा नहीं लेना चाहते, अन्यथा राजनीतिकी न्यूनता सिद्ध होती है। प्रस्तुतमें ग्रामीण सेवकजन स्वयं सेवाके लिए उद्यत हो प्रार्थना करते हैं कि यदि प्रभु रात्रिभर यहाँ निवास करें तो सेवाका सुयोग होगा। वटछायमें शीतलता होती है, उसीके नीचे तृणादिका आसन बनाकर थोड़ी देर विश्राम करनेकी वे प्रार्थना कर रहे हैं जो धर्मशास्त्रके अनुकूल है।[1] ग्रामीणसेवकोंकी प्रार्थनामें दंभ नहीं हैं, किंबहुना पूर्ण सात्विकता झलक रही है।

संगति : कतिपयोंने प्रभुकी सेवामें जल लाकर रखा।

चौ०–एक कलस भरि आनहिं पानी। अंचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी ॥१॥

भावार्थ : कोई घड़ा भरकर जल लाकर मीठो वाणीमें कहते हैं कि हे प्रभो! 'आप आचमन करें'। 'अचइअ'से हाथ पैर धोना और जल पीना आदिका भाव है।

आतिथ्यसत्कारका क्रम

शा० व्या० : 'वट छाँह भलि'से स्थानका, 'कलस भरि पानी'से जलका, 'डासि मृदुल तृन पात'से आसनका प्रदान है 'मृदुबानी'से सूनृता वाक्' व्यक्त है।

संगति : ग्रामीण सेवकोंकी दंभरहित माधुर्ययुक्त सेवावृत्तिकी प्रार्थनाको प्रभुने स्वीकार किया।

चौ०–सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेषी ॥२॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं ॥३॥

भावार्थ : उनके मधुर वचनको सुनकर अत्यन्त प्रेमको देखकर विशेषशीलवान् दयालु श्रीरामने मनमें सीताको भी थकी जानकर वटछायामें थोड़ी देरका विश्राम किया अथवा कुछ घड़ी बितायी।

अतिथिका शील

शा० व्या० : सेव्यसेवककी मनोवृत्तिका विचार यहाँ प्रकट किया गया है।

---

१. तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता·········(मनु)

अभ्यागत अतिथिकी स्वागतप्रयुक्त प्रसन्नतामें अपना हित होगा ऐसा भाव सेवकोंमें होना चाहिए। सेवकोंके ऐसे प्रीत्यात्मक भावको यहाँ 'अतिप्रीति देखी'से स्पष्ट किया है।

अतिथि अपने स्वागतकी न्यूनतापर ध्यान देगा तो परस्परमें प्रीति और स्वागतका आनन्द नहीं रहेगा। अतः पूर्णतापर ही ध्यान देना अतिथिका कर्त्तव्य है। सेव्यके गुण 'रामकृपाल सुसील बिसेषी' कहकर श्रेष्ठ अतिथिकी विशेषता दिखायी है। यद्यपि नीतिमान् राम सेवानिरपेक्ष हैं फिर भी अभीतकके जीवनमें राजोपचारसे समृद्ध होते हुए भी ग्रामीणों द्वारा समर्पित तृणपातको सानन्द स्वीकार करते हैं, यह उनकी विशेष कृपालुता और शीलताका प्रतीक हैं।

अनेक ग्रामोंमें प्रभुके संचरणपर-विशेष (वक्तव्य)

ध्यातव्य है कि दो० ११४ से ११७ तक ग्रामान्तरीय तत्तद्ग्रामस्थोंका वर्णन करना कविको इष्ट है। यदि ऐसा ही माना जाय तो उसके सम्बन्धमें कहना है कि 'गबनब अबहि कि प्रात'का विना उत्तर दिये प्रभु दूसरे ग्राममें इसलिए चले गये कि वहाँ नरोंका समुदाय देखकर श्रीरामने सोचा होगा कि नारियोंके अभावमें इस स्थान पर 'धरिक बिलंबु' करना सीताको रुचिकर नहीं होगा। इसमें अर्थशास्त्रकी उक्ति स्मरणीय है। 'गावो हि असगन्धं गोगणमतिक्रम्य सगन्धेष्वेवावतिष्ठन्ति' अर्थात् गोजातिके अन्तर्गत होते हुए भी गायें (स्त्री) पुरुषजाति वाले साँड या बैलोंके साथ रात्रिनिवास नहीं करतीं। इसी प्रकार स्त्रीसमुदायके अभावमें सीताके अनुकूल वातावरण यहाँ नहीं मिलेगा। इसलिए नारियोंका भी पृथक् निरूपण आगे किया गया है। पूर्व दोहेमें ग्रामवासियों द्वारा प्रभुके सौन्दर्यका वर्णन हो चुका है। आगे चौ० ४ से पुनः सौन्दर्यका वर्णन ग्रामान्तरवासियोंका हो सकता है अथवा चौ० ७ दो० १०९ की व्याख्याके अन्तमें कहे अनुसार श्रीराम भरद्वाज आश्रमसे चलकर बहुत दूर चले आये हैं।

ज्ञातव्य है कि दोनों भाइयोंको मृगयादिक्रीड़ाका अभ्यास होनेसे अध्वसंचरणप्रयुक्त श्रम नहीं है।

सीताके श्रमकी उपपत्ति

प्रश्न : सीताने सुमन्त्रसे कहा है 'नहि मग श्रमु भ्रमु दुःदु मन मोरे' तब यहाँ 'जानी श्रमित सिय' कैसे कहा गया है ? 'श्रम नहीं' कहा जाय तो सीताके श्रमको समझना श्रीरामका भ्रम होगा। 'हाँ' कहा जाय तो उनका प्रभुत्व अनुपपन्न होगा। प्रमा कहनेपर सीताकी उक्तिसे विरोध होगा।

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि—सीताको श्रान्त समझना श्रीरामकी प्रमा है क्योंकि सीता अभी श्रान्ता हैं। सो कैसे ? यह नीचे स्पष्ट किया जारहा है—

मोहि मग चलत न होईहि हारी। छिनु छिनु चरणसरोज निहारी॥
सबहि भाँति पियसेवा करिहौं। मारगजनित सकल श्रम हरिहौं॥

इस उक्तिके अनुसार मार्गमें चलते समय श्रीरामके चरणकमलको देखते रहनेसे सीताको अध्वगमनप्रयुक्त दूरत्वका भान न होनेसे श्रम नहीं था।[1] चरणकमलसे हटकर अभी सीताका ध्यान ग्रामीण सेवकोंके कलश, आसन आदिपर चला गया तब सीताको दूरतक चलनेका भान हुआ। पश्चात् श्रमजनित दुःखका भी अनुभव हुआ। निष्कपट ग्रामीणोंको अतिप्रीतिको देखकर प्रभुके चरणोंके निहारनेसे उपरत हो श्रमका अनुभव करना प्रभुकी कृपालुताको सार्थक करनेमें सीताका योगदान है जो एक मननीय तत्त्व है। इससे पूर्वापरग्रन्थका समन्वय उपपन्न होता है। दोनों भाइयोंको यात्रामें दूरत्वका भान न होनेसे श्रमका अनुभव नहीं है, फिर भी मार्गजश्रमके फल स्वेदबिन्दुएँ मार्गवासियोंको दिखाकर अपनेको श्रान्त दिखाना आदि प्रभुकी अनुकम्पा समझनी होगी।

सीताके श्रमितके बहाने ग्रामीणोंकी कृतार्थ करने हेतु प्रभुने ग्रामस्थजनोंकी सेवा स्वीकार करके वटकी छायामें थोड़ी देरके लिए विश्राम किया। उक्त कल्पनाके लिए कविने यह अवकाश दिया कि प्रभु वहाँ विश्राम करते हैं जहाँ सीताकी तथोक्त श्रमकी अभिव्यक्ति हो जाय।

'छनिक बिलंबु कीन्ह'से विश्रामका उतना ही समय समझना चाहिए जितना सीताके श्रमपरिहारार्थं अत्यावश्यक है।

संगति : ज्ञातव्य है कि भरद्वाजविश्रामसे निकलनेके बाद दूरदेश तक जानेमें श्रमके कारण मुखपर भी विकृति होना सम्भव है जैसा लोकमें दृष्ट है। पर वह दोष प्रभुमें नहीं है यह समझानेके लिए दो० ११४ के आरम्भमें प्रभुके विस्मयकारक सौन्दर्यका वर्णन होनेपर भी ग्रामान्तरवासियोंके आकर्षणमें उसी सौन्दर्यको पुनः कह रहे हैं।

चौ०—मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा ॥४॥

भावार्थ : हृदयमें प्रसन्न भावसे स्त्री-पुरुष श्रीरामके सौन्दर्यको देखते हैं। उनका ऐसा उपमारहित स्वरूपसौन्दर्य है जो नेत्रोंको और मनको लुभा लेता है।

प्रभुके मुखाकृतिकी एकरूपता

शा० व्या० : ग्रामान्तरवासियोंने प्रभुकी पूर्वनिर्दिष्ट सुन्दरताको अपनी आँखोंसे अत्युत्तमरीतिसे पान किया है। यह चक्षुःप्रीति मनस्को आसक्त करनेमें सहायक हो रही है।

संगति : प्रभुके श्यामलता स्वरूपसौन्दर्यमें आकृष्ट दृष्टि वहाँसे हटना नहीं चाहती। यह मनस्संग है।

चौ०—एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचन्द्रमुखचन्द चकोरा ॥५॥

---

१. छिनु छिनु प्रभुपदकमल बिलोकी।
रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥ (चौ० ४ दो० ६६)

भावार्थ : जैसे चकोर चन्द्रमाको एकटक देखता रहता है वैसे ही सब स्त्री-पुरुष चारों ओरसे निर्निमेष दृष्टिसे श्रीरामके मुखचन्द्रके सौन्दर्यको देख रहे हैं।

मनस्संगमें उदर्यअग्निके आस्वादका सम्बन्ध

शा० व्या० : मनस्की लीनतामें चक्षुरिन्द्रियके लिए एकमात्र प्रभुसौन्दर्य ही गोचर हो रहा है जो तन्मात्रनिष्ठ है। यह समाधिका एक प्रकार माना जाता है। अर्थात् सौन्दर्यदर्शनकी प्रवाहधारामें अन्य तत्त्व दृग् विषय नहीं हो रहे हैं। कवियोंने इस एकाग्रताको चकोरके दृष्टान्तसे व्यक्त किया है। प्रकृतिमें चकोरका उदर्य अग्नि इस प्रकारका है कि वह चन्द्रके शीतल किरणोंका आस्वाद लेकर शीतल होता है। ग्रामीण साधुओंका उदर्य अग्नि भी चकोर सदृश प्रभुके सौन्दर्यपानमें लुब्ध व पुष्ट हो रहा है। इसी अग्निके तारतम्यसे श्रीराम कहीं ठहरते हैं, कहीं पेड़की छायामें विश्राम करते हैं तो कहीं रात्रिनिवास करते हैं।

संगति : ग्रामीणोंकी उक्त तन्मयताके कारणकी मीमांसामें कवि मदनकी अभूतोपमाका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटिमदनु मनु मोहा ॥६॥

भावार्थ : नव विकसित तमाल वृक्षके समान प्रभुके शरीरकी श्यामलता सुशोभित हो रही है जिसको देखकर मानो करोड़ों कामदेव भी मोहित हैं।

कोटिमदनकी अभूतोपमासे प्रभुका सौन्दर्य

शा० व्या० : करोड़ कामदेवोंको एकत्रित कर सबको शरीरके रूपमें यदि तैयार किया जाय फिर उसको देखते रहें तो भी सम्भव है कि चक्षुष् उस विषयसे हटकर विषयान्तरका ग्रहण करे। लेकिन प्रभुके सौन्दर्यको देखनेमें यह दोष नहीं है। अर्थात् मनस् वहाँसे कभी हटता नहीं। कारण यह कि प्रभुके सौन्दर्यमें पूर्णानन्द तत्त्व प्रकट होकर साधुजनोंको पूर्ण सुख पहुँचाता है। उसमें अविद्या, अलक्ष्यता, विकारिता आदि दोषका स्पर्श नहीं हैं।

प्रीतिमान् साधु व यमुनातीर-वासियोंका अहोभाग्य है कि वे प्रभुके पूर्ण अमल तनुके सौन्दर्यपानसे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

संगति : प्रभुकी संगतिमें स्थित लक्ष्मणके सौन्दर्यको वे किस प्रकार देख रहे हैं? कवि उसका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—दामिनिबरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जीके ॥७॥

भावार्थ : बिजलीकी चमकके समान लक्ष्मणजीके शरीरका रंग बड़ा सुहावना है जो नखसे शिखातक एकसमान सुन्दर है और मनस्को भानेवाला है।

लक्ष्मणजीके दामिनीवर्णकी प्रशंसा

शा० व्या० : लक्षणोंकी दृष्टिसे विचार करनेपर प्रभुके श्रीवत्सचिह्न और

स्वरंगके अतिरिक्त सब गुण लक्ष्मणजीके सौन्दर्यमें बराबर हैं। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार लक्ष्मणजीके सब अंगोंमें यथायोग्य लक्षणोंका होना सौन्दर्य हैं। लक्ष्मणजीके शरीरका रंग दामिनीके समान गौरवर्ण है। सुश्रुतके अनुसार लक्ष्मणजीका यह वर्ण पित्तप्रकृतिज है। श्यामलजलद श्रीरामके साथ यह दामिनीवर्ण सुभिक्षादिका[1] सूचक होनेसे सबको सुखद और आकर्षक है। श्रीरामके श्यामल रूपके साथ लक्ष्मणजीके दामिनीवर्णका यह महत्त्व बालकाण्डमें लक्ष्मणस्तुतिमें कविने कहा है। 'सीतल सुभग भगत सुख दाता' आदि। (चौ० ५ दो० १९ बा० का०)

संगति : दोनों भाइयोंकी सुषमाका एक साथ वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं करकमलनि धनुतीरा ॥८॥

दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरदपरबबिधुबदनबर लसत स्वेदकन जाल ॥११५॥

भावार्थ : दौनों भाई मुनिवस्त्र धारण किये हैं, कमरमें तरकस कसे हैं उनके कर-कमलोंमें धनुष्य बाण सुशोभित हैं। दोनोंके सिरपर जटाका मुकुट बना है। उनका वक्षःस्थल, भुजाएँ और नेत्र बड़े सुन्दर हैं। शरद्पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान उनका मुख है, उसपर पसीनेकी बूँदोंका समूह शोभा दे रहा है।

तापसवेषविशेषमें भ्रातृद्वयकी शोभा

शा० व्या० : ग्रामवासी दोनों भाइयोंके रूपकी झाँकीका आनन्द ले रहे हैं। उनका तापसवेष षाडवरसन्यायेन भाइयोंके अंगपर सुन्दर प्रतीत हो रहा है। मुनिवेषके साथ तूणीरसहित धनुर्धरत्व मुनिवेषके अनुकूल नहीं माना जायगा। तथापि कैकेयीद्वारा अनुमोदित यह तापसवेषविशेष है जो 'शाकपार्थिवादिवत्' विशेष अर्थका बोधक है। जैसे 'शाकप्रियः पार्थिवः' शाकपार्थिवः' ऐसा मत व्याकरणसम्मत है उसी प्रकार तापस 'वेषेण युक्तः तापसवेषविशेषः' समझना होगा। धनुर्धरत्वयुक्त तापसवेषविशेषकी व्याख्याका उपयोग अपने लिये नहीं अपितु भूतरक्षणमें हैं।

क्षात्र धर्मके प्रतीक धनुर्धरत्वको राजा दशरथ राजवेषसे विभूषित करना चाहते थे। उसको कैकेयीने सावधिककालके लिए (चौदह वर्षके लिए) तापस वेषविशेषसेवेष्टित कर दिया। अतः यह तापसवेषविशेषके साथ धनुधरत्व कैकेयोके शब्दोंमें 'तापसवेषविसेषि' हो गया। लङ्कासे लौटते चौदह वर्षकी अवधि पूर्ण होनेपर अयोध्यामें प्रभुके जटाजूट खुलनेका अर्थात् तापसवेषके त्यागका उल्लेख उत्तरकाण्डमें है।

ज्ञातव्य है कि प्रभुका लिया हुआ मुनिव्रत केवल बारह वर्षका था जो समाप्त हो चुका था। अतः उसका उल्लेख न कर जटाके त्यागनेका उत्तरकाण्डमें उल्लेख किया गया है।

---

१. पीता वर्षाय विज्ञेया।

चौ० ६ दो० ५३ में 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू' कहकर श्रीरामने माता कौसल्यासे तापसवेषविशेषको काननराजूसे जोड़ दिया। अर्थात् क्षत्रियजातिमें अवतीर्ण श्रीराम प्रजापालनात्मक राजधर्मको अपनाये हैं। प्रजापालनधर्मका विशेषचिह्न धनुर्धरत्व है। उस विशेषको रखनेके लिए ही सरस्वतीने कैकेयीके मुखसे 'तापस-वेषविसेषी' कहलाया। इस प्रकार कैकेयीकी मतिफेरीमें भी 'तापसवेषविसेषी' द्वारा स्वधर्मपालनको स्थिर रखना सरस्वतीका प्रशंसनीय कार्य है।

स्वेदबिन्दुकी शोभा

'लसत स्वेद कन जाल' अर्थात् मुखपर पसीनेके बिन्दु लौकिकश्रमजनित विकृतिका द्योतक नहीं है, बल्कि प्रभुके मुखके ऊपर श्रमकी अभिव्यक्ति ग्रामीण सज्जनों द्वारा समर्पित जलपान, वटकी शीतल छाया, आसन आदिकी सार्थकता हेतुक है, जो उन साधुजनोंकी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके लिए है।

अतिदेश

चौ० ३ दो० ११४ में वर्णित—'राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होइ सुखारी' का अतिदेश 'सरदपरवविधुवदन' के वर्णनमें मन्तव्य है। वर्षा ऋतुकी समाप्तिपर मेघोंका जल निकल जानेसे आकाश स्वच्छ हो जाता है, चन्द्रकी किरणें पृथिवी तलपर निर्बाध रूपसे आती रहती हैं अतः कवियों द्वारा शरद्चन्द्रका विशेष महत्त्व गाया गया है। उसी प्रकार व्रतस्थ प्रभुके चेहरेकी दीप्ति चमक रही है।

तथ्य यह है कि दोनों भाइयोंके मुखपर अध्वजन्यश्रमकी अभिव्यक्ति स्वेद-बिन्दुओंके द्वारा होनेपर भी उनका मुखचन्द्र अपनी निर्विकारिताको पूर्णयता झलका रहा है, अर्थात् मुखकी शोभामें अङ्गभूत हो स्वातिनक्षत्रसदृश स्वेदबिन्दुएँ चकोर रूप भक्तोंको अह्लादकारक हो रहे हैं।

संगति : उस शोभातिशयका वर्णन करनेमें कवि अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥१॥
राम लखन सिय सुन्दरताई। सब चितवहिं चित मन मतिलाई॥२॥

भावार्थ : मनोहर रूपवाली दोनों भाइयोंकी जोड़ीका सौन्दर्यवर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी शोभा अत्यधिक है। उसका वर्णन करनेके लिए बुद्धि बहुत थोड़ी है। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताकी सुन्दरताको सब लोग चित्त, मन और बुद्धिको लगाकर ध्यानसे देख रहे हैं।

प्रभुकी शोभामें स्वसंवेद्यता

शा० व्या० : 'मनोहर जोरी' से स्फुट श्रीराम-लक्ष्मणकी अलौकिक शोभा उपासकोंके लिए स्वसंवेद्य है। उसको शब्दोंसे व्यक्त किया जाय तो स्वसंवेद्यता विलुप्त हो जायगी। अतः कवि उसको 'बरनि न जाइ', कह रहे हैं।

सर्वलक्षणसम्पत्ति, प्रभुको छोड़कर, लौकिक सौन्दर्यमें नहीं मिल सकती। अतः प्रभुके सौन्दर्यकी उपमा नहीं दी जा सकी। अर्थात् प्रभुके सौन्दर्यका अवगाहन करनेके लिए प्रमाणरूपमें किसीको उपमान बनाना अपर्याप्त है। प्रभुका सौन्दर्य बुद्धिका विषय कैसे माना जा सकता है। इसलिए उसका वर्णन असम्भव है।

चौ० २-३ दो० ११४ में कह आये हैं कि दर्शनकी पूर्वावस्थामें नर-नारी औतत्सुक्यके आवेग में थे। अभी तीनों मूर्तियोंका सौन्दर्य चक्षुरिन्द्रियद्वारा स्वसंवेद्य हुआ तो वे समाधिस्थ हो गये। इसीको 'होंहि सिथिल तन मन बर बानी'की अवस्थाके निरूपणके अनन्तर 'सब चितवहिं चित मन मति लाइ' कहकर समझाया गया है।

भक्तोंका चातुर्विध्य

संगति : 'राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा'॥ चौ० ६ दो० २२ बालकाण्डके अनुसार चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन यहाँ मालूम होता है। इनमें अयोध्यवासी अथार्थी भक्तोंका वर्णन पूर्वमें हो चुका। यमुनातीरवासी जिज्ञासु भक्त हैं—जिनको 'वयविरिध सयाने' समझाया है। उन भक्तोंको 'तिन्ह करि जुगुति राम पहिचाने' से श्रीरामको युक्तिके द्वारा पहचानकर प्रभुकी कथा सुनायी। भरद्वाज वाल्मीकि प्रभृति मुनि ज्ञानी भक्त हैं। उन्हींमें तापसका भी अन्तर्भाव है। आगे 'प्रेम पिआसे' कहकर आर्त भक्तोंका वर्णन प्रारम्भ हो रहा है।

चौ०—थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृगग देखि दिआसे॥३॥

भावार्थ : प्रेमके प्यासे मार्गवासी स्त्री-पुरुष तीनों मूर्तियोंका सौन्दर्यपान करके स्तब्धताकी अवस्थामें आगये। जैसे वनमें मृग-मृगी दीपककी लौको देखते हुए स्तम्भित हो जाते हैं।

आर्त भक्तोंका प्रेम

शा० व्या० : प्रेमकी प्यासमें ग्रामवासी आर्त हो छटपटा रहे थे, मानो ये मृग-मृगी ही प्रेममूर्तिकी खोजमें रत थे। अभी ये सभी नरनारी श्रीराम लक्ष्मण सीताके सौन्दर्य रूपी दीपकको देखकर स्तब्ध हो गये। भरद्वाज मुनि एवं महर्षि वाल्मीकिके आश्रमके मध्यस्थलमें निवास करनेवाले नरनारी कथाओंके श्रवणसे शुचिर्भूत हुए विषयान्तरको समाप्त करके प्रेमपिपासामें शुद्ध प्रेममूर्तिकी खोजमें बैठे थे। अभी तीनों मूर्तियोंका दर्शन करके 'चित मन मति लाइ'से शुद्ध प्रेमको स्वसंवेद्य करते वे प्रेमपिपासे सिद्धिके साथ समाधिस्थ हो गये जिसको 'थकै'से ध्वनित किया है।

विश्वासकी स्थिरतामें प्रेमका संघटन

राजनीतिसिद्धान्तमें संघटनाकी दृष्टिसे यह विषय चिन्तनीय है। शील एवं साधुता, शुचिताप्रयुक्त पारस्परिक विश्वासापन्न संघटनाको जोड़नेवाली है। उसीको राजशास्त्रमें स्थायिप्रेमप्रयुक्त 'कांचनसन्धि' कहा गया है। इसलिए कि अन्य संधियोंमें किसी-न-किसी अंशमें अर्थका आदान-प्रदान है जो उपर्युक्त ग्रामीण सेवकोंके संघटनमें

नहीं हैं, वे तो केवल प्रेमपिपासामें आबद्ध हैं प्रभुसे मिलनेमें ग्रामीण सज्जनोंको पूर्ण सन्तोष हो रहा है। अतएव प्रभु भी आगे बढ़नेमें हिचक रहे हैं।

संगति : दो० ११४ के विशेष वक्तव्यके अनुसार नारियाँ सीताके सान्निध्यमें आ रही हैं।

चौ०–सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाही ॥४॥

भावार्थ : ग्रामीण स्त्रियाँ सीताजीके पास जाती हैं पर उनसे पूछने में अति-प्रेमके वशमें सकुचा जाती हैं।

ग्रामीण स्त्रियोंके पूछनेमें संकोच और औचित्य

शा० व्या० : सीताजीमें राजमहिषीके लक्षणोंको देखकर ग्रामीण स्त्रियाँ सोच रहीं हैं कि एक उच्च राजकुमारीसे प्रश्न पूछनेमें वे उचित मर्यादा दिखा सकती हैं कि नहीं ? इसलिए साधारण स्त्रीको राकुजमारीसे बात करनेमें संकोच होना स्वाभाविक है, उसपर भी पतिके बारेमें पूछना तो और भी संकोचका कारण है। पतिके सम्बन्धसे ही पत्नीका परिचय प्राप्त करनेकी मर्यादा है। अतः सीताके सम्बन्धमें प्रथमतः न पूछकर पतिका परिचय जानना समुचित ही है।

ध्येयके रूपमें प्रश्न

कथाओंको निरन्तर सुनते हुए 'एक नयन मग छबि उर आनी'से स्पष्ट है कि पटुप्रत्ययप्रयुक्त संस्कारके उद्रेकसे ग्रामीणस्त्रियोंने हृदयमें श्रीराम सीता दोनों मूर्तियोंको ध्यानस्थ किया है, जैसा अयोध्याकाण्डके मंगलाचरणके ध्यान विधिमें 'सीतासमारोपितवामभागं' कहा है। अभी सामने उपस्थित दो राजकुमारोंमेंसे कौन सीतापति हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रेमपिपास्वियोंके हृदयमें उदित हुई है जिसको 'पूछत अति सनेहु'से व्यक्त किया है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि आगे कहे 'स्वामिनि अविनय छमब हमारी'से सीतापतिको ध्येयरूपमें अपना पति बनाना चाहती हैं क्योंकि वे विशुद्धप्रेम की उपासिका हैं।

संगति : श्रीरामके प्रभुत्वका परिचय प्रेमपिपास्वी ग्रामीणोंको श्रीरामके स्नेह-मयरसरूपमें प्राप्त करना है।

चौ०–बार बार सब लागहि पाए। कहहिं वचन मृदु सरल सुहाए ॥५॥

भावार्थ : सब ग्रामीण स्त्रियाँ बारम्बार सीताजीका पैर छूती हैं। सीताजीको उनके सरल और कोमल वचन बहुत अच्छे लगते हैं।

प्रतारणाशून्य सुजनता

शा० व्या० : अपने प्रति सीताका स्नेहभाव उत्पन्न करते हुए ग्रामीण स्त्रियाँ बार-बार सीताकी चरणवन्दना करके उनके प्रति आदरभाव प्रकट कर रहीं हैं, अपनेको तुच्छ मानती हैं। 'सरल सुहाए'से उनकी प्रतारणाशून्यसुजनता प्रकट है।

संगति : प्रश्नविधिमें स्मरणीय है कि प्रश्न पूछनेके पहिले जिज्ञासुको अनुज्ञा माँगना अत्यावश्यक है। ग्रामीण स्त्रियोंके चरित्रमें भी उक्त विधिकी उपेक्षा नहीं है।

चौ०–राजकुमारि ! बिनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥६॥

भावार्थ : ग्रामीण स्त्रियाँ सीतासे कहती हैं कि हे राजकुमारि ! हम प्रार्थना करती हैं, स्त्री स्वभावसे कुछ पूछना चाहती हैं, पर डर लग रहा है।

विषयसिद्धिके अभावमें तीव्र इच्छाका परिणाम

शा० व्या० : नागरिक वृत्तमें अनभिज्ञा ये ग्रमीणस्त्रियाँ विदग्धा नहीं हैं। अतः राजकुमारीसे स्त्रीस्वभावानुसार पूछनेमें उन्हें भय लग रहा है, क्योंकि प्रश्न करने या पूछनेमें अनौचित्य हो सकता है ? परन्तु बिना पूछे विषयसिद्धि नहीं होगी, इच्छाकी निवृत्ति भी नहीं होगी तो स्वकार्यमें मनस् नहीं लगेगा। अथवा तीव्र इच्छाकी पूर्णताके अभावमें निद्रानाश, उन्मादका होना भी सम्भव है, इसका भी डर है। बिना पूछे सन्तोष भी नहीं है, इसलिए कि तीनों मूर्तियोंके अलौकिक सौन्दर्यसे वे विस्मयाविष्टा हो गयी हैं।

संगति : अपने गवाँरपनको स्वीकार करती हुई पुनः क्षमा माँग रही हैं।

चौ०–स्वामिनि ! अबिनय छमबि हमारी। बिलगुन मानव जानि गँवारी ॥७॥

भावार्थ : यदि हमारे पूछनेमें ढिठाई मालूम हो तो हे स्वामिनि ! आप हमें गँवारी-गाँवकी अनपढ़ी स्त्रियाँ-समझकर बूरा न मानियेगा।

क्षमाप्रार्थनाका औचित्य

शा० व्या० : सीता राजकुमारी होनेसे उसका स्वामिनी होना अर्थप्राप्त है। अथवा 'स्वामिनि' सम्बोधनसे अपनेको समर्पणकर स्वके सम्बन्धसे सीताके पतिको जानना चाहती है।

अविनयकी सम्भावनामें क्षमाप्रार्थना नीतिशास्त्रके अन्तर्गत सामप्रयोग माना गया है। कहनेका निष्कर्ष यह है कि ग्रामीण नारियाँ नागरिकवृत्तसे अनभिज्ञा अविदग्धा होती हुई भी दुष्टा नहीं हैं इसलिए उपेक्ष्या नहीं है। इसीको 'बिलगु न मानब जानि गँवारी'से व्यक्त किया है।

संगति : 'द्वौ राजकुमारौ भवत्याः संबन्धिनौ कौ' ? इस जिज्ञासामें विषय दो पुरुष हैं।

चौ०–राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्हते लही दुति मरकत सोने ॥८॥

भावार्थ : ये दोनों राजकुमार सहज सुन्दर हैं। इनके शरीरकी आभा ऐसी है मानों मरकतमणि और सुवर्णके रंगकी शोभा इन्हींसे बनी हो अर्थात् उनकी चमक भी इन दोनोंके श्यामल और गोर वर्णकी शोभा के आगे फीकी है।

श्रीराम लक्ष्मणके शरीरकी दीप्ति

शा० व्या० : इन दो धर्मियोंमें श्यामलता और गौरवर्णप्रयुक्त सौन्दर्य है। उसीसे मरकतमणि और सुवर्ण द्युतिमान् है। अर्थात् जितना आकर्षण इनमें हैं उतना मणि और सुवर्णमें नहीं है। इसका यह भी भाव है कि यदि उक्त वर्णको छोड़ दिया जाय तो दोनों कुमार सौन्दर्यमें एक समान हैं।

संगति : दोनोंकी छविका वर्णन कर रहीं हैं।

दो०—श्यामल गौर किसोरवर सुन्दर सुषमा ऐन।
सरदसर्बरीनाथ मुखु सरदसरोरुह नैन ॥११६॥

भावार्थ : ये राजकुमार क्रमशः श्याम और गौर वर्णके हैं, शोभाके निधान हैं। उनका मुख शरद्पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान उज्जवल है। नेत्र शरद्ऋतुके कमलके समान खिले हैं।

सात्त्विकता आदि गुणोंका परिचायक सौन्दर्य

शा० व्या० : ऊपर 'राजकुमारी' और 'राजकुवँर' कहनेके बाद यहाँ 'किशोर' शब्दसे स्पष्ट होता है कि प्रेमपिपासु भक्तोंके उपास्य, कुवाँरी और कुमार किशोर-वयस्क मूर्तियाँ हैं। इसलिए उसी रूपमें ये मूर्तियाँ वनवासी ग्रामीणोंके सामने उपस्थित हैं। किशोरवयस्की निर्विकारितामें ग्रामीण स्त्रियोंको उनके सामने आनेमें संकोच नहीं है, क्योंकि कुमारोंके चेहरेपर सात्विकता, दयालुता, कोमलता, निर्मलता स्पष्ट झलक रही है।

उनका मुख पूर्णशरच्चन्द्रके समान है। नेत्र चन्द्रज्योत्स्नासे विकसित कुमुदके समान खिले नेत्रसन्तापको दूर करनेवाले हैं। विरहसन्तापको शीतलता प्रदान करनेवाला नेत्र कमल है।

संगति : जिज्ञासाविषय धर्मको ग्रामीण स्त्रियाँ स्पष्ट कर रही हैं।

चौ०—कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥१॥

भावार्थ : करोड़ों कामदेवको अपनी शोभा से लज्जित करनेवाले—श्यामल राजकुमार—तुम्हारे कौन हैं? हे सुन्दरमुखवाली! हमको बताओ।

प्रेमभाव और कामतत्त्वमें अन्तर

शा० व्या० : करोड़ों कामदेव भी उपस्थित हो जायँ तो भी वे श्यामल कुमारकी प्रभासे अभिभूत होंगे क्योंकि काममें सावधिक सौन्दर्य है। तथा स्वार्थ है। प्रेमतत्त्वमें परोपकारिता और निरतिशयता-निरवधिकता है।

यद्यपि कामदेव एक ही मूर्ति है, कोटिता उसकी यथार्थ नहीं है तथापि रस-प्रतीतिके लिए ऐसा वैयञ्जनिकप्रयोग करना अलौकिक वस्तुके निरूपणमें रसाभास या अलङ्काराभास नहीं समझना चाहिए।

ग्रामीण स्त्रियोंका जिज्ञासित विषय

ग्रामीण स्त्रियाँ विषयका उपस्थापन करती हुई पूछ रही हैं कि श्यामल कुमार आपके कौन हैं ?

'सुमुखि' सम्बोधन कहनेका भाव है कि वनमार्गमें चलने पर भी सीताके मुखकी कान्ति पूर्ववत् बनी हुई है। अथवा अपनी जिज्ञासाके उत्तरमें अपने ध्येयके सम्बन्धमें कहनेवाली सीता सुमुखी है। कविकी दृष्टिमें सुमुख वही है जिसके मुखसे ईश्वरतत्त्व तथा ईश गुणोंका यथार्थतया शास्त्रसम्मत निरूपण हो।

संगति : प्रश्नका उत्तर देनेमें सीताजीको संकोच हो रहा है।

चौ०—मुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी ॥२॥

भावार्थ : ग्रामीण स्त्रियोंकी प्रेमसे पूर्ण सुन्दर वाणीको सुनकर सीताजी लज्जित हो मनस्में भीतर ही भीतर मुसकाने लगीं।

सीताका संकोच व समाधानकी उपेक्ष्यता

शा० व्या० : 'संकुची सिय'से कवि व्यक्त कर रहे हैं कि स्पष्ट संकेतसे पतिका परिचय देनेमें सीताको संकोच हो रहा है। पतिका सीधे उल्लेख करना मर्यादाके विरुद्ध है। साहित्यमें खुले शब्दमें उल्लेख करना वमन दोष माना गया है। ग्रामीण स्त्रियोंकी वाणीमें शुचिता और स्नेह देखकर सीता मनस्में मुदित हुई। उनकी जिज्ञासाका समाधान करना आवश्यक समझती हुई भी उन स्त्रियोंकी ग्रामीणता को समझकर असमंजसमें पड़ गयी कि किस शब्दव्यापारसे पतिको बताया जाय ?

पतिके सौन्दर्यगुणका वर्णन सुनकर उनका परिचय बतानेमें हार्दिक हर्षका भाव 'मन महुँ मुसुकानी'से व्यक्त किया है।

संगति : सीताके संकोचका अनुभाव कहा जा रहा है।

चौ०—तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचति बर बरनी ॥३॥

भावार्थ : ग्रामीण स्त्रियोंकी ओर देखकर फिर भूमिकी ओर सीताजी देखती हैं अर्थात् नीची दृष्टि कर लज्जा व्यक्त करती हैं। श्रेष्ठ वर्णवाली सीता दो प्रकारके संकोच से लजा रही हैं।

सीताके संकोचका वैविध्या

शा० व्या० : एक बार ग्रामीण स्त्रियोंकी तरफ देखकर, सीताका संकोच यह बता रहा है कि उनको पतिका परिचय कैसे कराया जाय ? फिरलज्जामें नीची दृष्टि करके भूमिकी ओर देखना मर्यादाशील स्त्रियोंने पतिको बतानेका स्पष्ट संकेत है। चतुर स्त्रियाँ इसको मौनसंकेत समझती हैं, पर ये गँवारी नहीं समझ रही हैं। इन स्नेहमयी ग्रामीण स्त्रियोंको न समझाना भी स्नेहके विरुद्ध है, एवं स्पष्ट शब्दोंमें कहना मर्यादाके विरुद्ध है। 'दुहुँ संकोच'से यह बताया है कि अकार्य होनेसे

सीताको दोनों बातोंका संकोच है। 'बरबरनी'से सीताका श्रेष्ठ नायिकात्व स्फुट किया है। अथवा वर(पति)का वर्णन करनेमें सीताको संकोच है।

संगति : विचार करके सीताने बोलनेका उपक्रम किया, ऐसा शिवजी कह रहे हैं।

चौ०–संकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुरवचन पिकबयनी ॥४॥

भावार्थ : हिरण के बच्चे के समान नेत्रवाली सीता प्रेमके वश सकुचा गयी। फिर कोकिल स्वरवाली सीता मीठी वाणीमें बोली।

पतिके लिए सीताकी प्रेमातिशयता

शा० व्या० : 'बालमृगनयनी'से सीताके नेत्रोंका विकास कहा जो पतिके रूपसौन्दर्यका वर्णन सुननेसे हुआ है। 'बाल मृग'से नेत्रोंके भावको निर्विकारता भी बतायी है। 'पिकनयनी'से सीताकी कोयल जैसी मीठी वाणोमें पञ्चम स्वरका माधुर्य प्रकट किया है।

संगति : सिंहावलोकनन्यायसे शिवजी सीताकी उपरोक्त मनःस्थितिको सुनाकर सीताका पतिपरिचायक उत्तर सुना रहे हैं।

चौ०–सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे ॥५॥

भावार्थ : सीता बोली कि सहज सुभावने तथा सुन्दर गौर शरीरवाले, जिनका नाम लक्ष्मण है, मेरे छोटे देवर हैं।

लक्ष्मणका शील एवं उनकी व्यावृत्ति

शा० व्या० : 'सहज सुभाय'[1]का भावार्थ यह है कि लक्ष्मणजी स्वभावसे ही सुयोग्य भाई हैं। अथवा चरुप्रदानकी दृष्टिसे गर्भावस्थाके अनुसार सगे भाई हैं। 'सु'से उनकी सुष्ठुता प्रकट है। 'सुभाय'से दायभागप्रयुक्तशत्रुतासे रहित हैं। श्रीरामके मौलबन्धु भी हैं, दीर्घकालिकारण्यवासमें[2] उनका साथ है। अथवा 'सुभाय'से लक्ष्मणजीकी पवित्र भावनाको स्पष्ट करना है, यह कि उनकी दृष्टि सदा सीताजीके चरणोंपर ही रहती है।

'सुभग'का भाव है कि लक्ष्मणजी भाग्यवान् हैं, प्रभु सर्वज्ञके वचनको प्रमाण मानकर उनके अधीनस्थ निरन्तर रहकर प्रमेयसिद्धिके भागी हैं। अथवा उनका यह गौर वर्ण सुन्दर हैं। दोनों भाइयोंमें गौरवर्णवालेका नाम लक्ष्मण बताकर सीताने उनके देवरसम्बन्धको बताकर उसकी व्यावृत्तिसे ग्रामीणोंको बोध कराना चाहा कि लक्ष्मणके भाई श्यामवर्णवाले उनके पति हैं।

संगति : दोनों कुमारोंमें-से देवरसे पतिको व्यावर्त्यरूपमें समझाते हुए भी

---

१. मिर्जापुरी बोलीमें भाईके जगह भाय बोलते सुना जाता है।
२. मौलास्तु दीर्घकालत्वात् क्षयव्ययसहिष्णवः। नीतिसार

ग्रामीण स्त्रियाँ श्रीश्यामल कुमारको सीताका पति न समझ सकीं, तब सीता घूँघटके व्याजसे प्रत्यक्षतः समझा रही हैं।

चौ०—बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥७॥

भावार्थ: फिर अपना मुखचन्द्र अञ्चलसे ढाककर उसके भीतरसे भौंहको टेढ़ा करके पति श्रीरामके शरीरकी ओर खञ्जन पक्षीके समान नेत्रोंसे सीताने कटाक्ष किया। इस प्रकार नेत्रोंके इशारेसे[1] सीताने उन ग्रामीण स्त्रियोंको अपना पति बता दिया।

सीताका नायिकात्व

शा० व्या०: सबके सामने पतिको ताकना ग्राम्यधर्म माना जाता है। अतः सीता अपना चन्द्रमुख आँचलसे ढँककर अर्थात् घूँघट निकालकर भौहोंको टेढ़ा करके खंजनदृष्टिसे श्रीरामको देख अपने पतिका परिचय ग्रामीणनारियोंको करा रही है। इस चरित्रमें नायिकाके सर्वश्रेष्ठ शृङ्गारभावकी अभिव्यक्ति स्फुट है। नागरक वृत्तमें विदुषी नायिकाओंका ऐसा ही व्यापार प्रदर्शित होता है।

पतित्वपरिचायक युक्ति

ज्ञातव्य है कि 'तिन्ह करि जुगुति पहिचाने'से विविध युक्तियोंके द्वारा श्रीरामके प्रभुत्वको पहचाननेकी बात कही गयी है। उन्हीं युक्तियोंके अन्तर्गत प्रेमपिपास्वी ग्रामीण नारियोंको प्रेमतत्त्वरूप श्रीरामको पहचान करवानेकी यह भी एक युक्ति है। अर्थात् अनुराग हेतुको प्रकट कराकर स्त्रियोंको 'अनयोरयं मे प्रियः' ऐसा निर्णय कराया। सीताके उक्त साङ्केतिक चरित्रसे ग्रामनारियोंमें ध्येयके निर्णयमें 'अनयोरयं प्रियः रामः' समझ कर स्थिरता आगयी।

रामतत्व (ब्रह्म)को बतानेमें श्रुतिका अनुगामित्व (विशेष वक्तव्य)

जिस प्रकार श्रुतिने 'नेति नेति' कहकर ब्रह्मका निर्देश किया है उसी प्रकार सीताने 'नामु लखन लघु देवर मोरे' कह कर लक्ष्मणको बाधित कर "निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि" अर्थात् इङ्गितसे अपने पतिको समझाया है। इस प्रकार प्रेमास्पद ग्रामीणभक्ताओंको ध्येय लक्ष्यकी ओर सीताजीने एकाग्र करा दिया।

याज्ञवल्क्यके वचन 'त्वया अरे आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः'के अनुसार आत्मसाक्षात्कारमें अपेक्षित उक्त चारों तथ्योंकी पूर्णता मननीय है। भरद्वाज वाल्मीकि महर्षियोंकी कथाश्रवणसे 'आत्मा श्रोतव्यः' वचन चरितार्थ हुआ। 'मन्तव्यः' वचन तीरवासी 'वयबिरिध सयानों'की युक्तियोंसे चरितार्थ हुआ। 'द्रष्टव्यः' वचन तो सर्वत्र आश्रमवासियों तीरवासियों ग्रामपुरवासियोंके चरित्रसे स्पष्ट

---

१. स्वामिप्रायानुरूपक्रियाविष्करणमिङ्गिनम्।

है। उसीका विशेष स्पष्टीकरण सीताके चरित्रसे ध्येयके रूपमें स्त्रियोंकी एकाग्रतासे है। 'निदिध्यासितव्यः' ग्रामपुरवासियोंके प्रेममय चरित्रसे 'छबि उर आनी' तथा 'चितवहि चितमन मति लाइ' आदिसे चरितार्थ हुआ है। जिस प्रकार गुहसे लक्ष्मणजीने 'राम परमारथ रूपा' आदि कहकर बन्धु श्रीरामके वास्तविक स्वरूपको बताया उसी प्रकार सीताने श्रीरामका प्रभुत्व व्यावृत्तिपूर्वक प्रेमतत्वकी ओरसे संकेतित्त किया है।

'निजपति कहेउ सिय सयननि'का भाव है कि सीताने नेत्रपल्लवी करपल्लवी आदि भाषासे अपने पतिका परिशेषानुमान करा दिया।

संगति : शङ्कासमाधानसे ग्रामीण स्त्रियाँ प्रसन्ना भयीं।

चौ०—भई मुदित सब ग्रामवधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी ॥८॥

भावार्थ : सीताके उक्त चरित्रसे पतिका निरूपण देखकर सब ग्रामवधुएँ प्रसन्ना हो गयीं, मानों कंगालोंके हाथ राजसम्पतिका ढेर लगा हो।

ग्रामस्त्रियोंको मोद

शा० व्या० : श्रीराम और लक्ष्मणके स्वरूपमें विवेक करके उनके वास्तविक स्वरूपको देख कर ध्येय एवं प्रिय पदार्थकी उपलब्धि होनेसे ग्रामीण स्त्रियोंको अत्युत्कट हर्ष हुआ। उनके मोदके अनुभावमें सीताको भी रसास्वाद मिल रहा है। इस अवसरपर उनके हर्षको व्यक्त करनेके लिए कवि उपमा दे रहे हैं—जैसे राजाने कोषका ढेर लुटा दिया हो और जन्मजात दरिद्रोंने उसे लूटा हो।

संगति : श्रीरामके प्रेमतत्वके आस्वादमें विभोर होनेपर ग्रामीण नारियोंका प्रथम अनुभाव सीताजीको नमस्कार करनेसे प्रकट हो रहा है।

दो०—अति सप्रेम सियपाय परि बहुविधि देहि असीष।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस ॥११७॥

भावार्थ : अत्यन्त प्रेममें भरकर वे सीताजीके चरण छूती हैं, बहुत प्रकारसे आशिष देती हैं—तुम्हारा सौभाग्य सदा बना रहे जबतक कि शेषनाग पृथ्वीको सिरपर धारण किये रहें।

कृतज्ञताका प्रकाशन

शा० व्या० : जैसा दो० १११ को व्याख्यामें श्रीरामके प्रभुत्वनिर्णायक प्रसंग उल्लिखित हैं वैसा यहाँ भी प्रेमप्रिया ग्रामीण स्त्रियोंने सीताजी द्वारा पतिको जानकर श्रीरामको प्रेमातत्वके रूपमें पहचानना यह भी एक श्रीरामके प्रभुत्वनिर्णायक चरित्रका प्रकार है।

'अतिसप्रेम'से ग्रामीण स्त्रियोंको अत्युत्कण्ठित पदार्थ प्राप्त करानेवाली सीतापर जो प्रेम है उसे प्रकट किया है। कृतज्ञतावश 'बहुविधि देहि असीस'से सीताके लिए अपना मनोरथ सीताके अखण्ड सौभाग्यकी अवधिको शेषके मस्तकपर पृथ्वीकी अखण्डतासे व्यक्त कर रही हैं अर्थात् अनन्तकाल तक सीताका यशस्

सौभाग्यके रूपमें अखण्डतया गेय होता रहे। दो० १०३ में गंगोक्त आशिष भी 'बहु विध'के अन्तर्गत समझना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि इनका आशीर्वाद प्रार्थनापरक है।

संगति : सीताका सौभाग्य अर्थानुबद्ध न होकर सौहार्दबद्ध रूपमें स्मरणीय हो ऐसी कामना वे आगे व्यक्त कर रही हैं।

चौ०–पारबती सम पति प्रिय होहू। देवि न हमपर छाड़ब छोहू ॥१॥

भावार्थ : पार्वतीकी तरह तुम पतिकी प्रियतमा रहो। परन्तु हे देवि ! हम लोगोंपरसे अपनी कृपा मत हटाना।

सेवाकी निपुणता

शा० व्या० : निष्काम सेवक सेवा द्वारा आप्तकामके हृदयमें आत्मीयताका भाव जगा दे तो सेवाकी निपुणता है। शास्त्रों द्वारा यही निपुणता पार्वतीमें वर्णित है। 'पारबती सम पति प्रिय होहु'से कामना करके अपने लिए यह प्रार्थना कर रही हैं कि जिस प्रकार सीताजीने उनको अभी आत्मीयत्वेन स्वीकार किया है वही भाव भविष्यत्में भी बना रहे। अन्यथा वे अपनेको उपेक्षिता समझेंगी।

रामावतारमें पार्वतीके उल्लेखका समाधान

प्रश्न : यदि ऐसी शंका की जाय कि यत्कालिक श्रीरामके चरित्रका वर्णन यहां किया जा रहा है उसकालमें तो शिवजीके साथ सतीका सान्निध्य था। पार्वतीका जन्म भी नहीं था तो ग्रामीण स्त्रियोंने पार्वतीका उल्लेख कैसे किया ?

उत्तर : इसके समाधानमें वक्तव्य है कि कथाओंमें पार्वतीका नाम पुराणप्रसिद्ध हैं जिससे वे स्त्रियां परिचिता हैं। दांपत्यकी अभिरुचिमें पार्वतीका नाम-कीर्तन करना कविसमयसिद्ध है। इसलिए पार्वतीका नाम उपमानरूपमें गाया गया है। जैसे शिवविवाहमें गणेशपूजन। जिनका विशेष विचार बालकाण्डमें तथोक्तप्रसंगमें किया गया है।

संगति : स्त्रियां पुनः प्रार्थना कर रही हैं—

चौ०–पुनि पुनि बिनय करिअ कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी ॥२॥
दरसनु देब जानि निज दासी। लखी सीयं सब प्रेम पिआसी ॥३॥

भावार्थ : हाथ जोड़कर आपसे बारंबार प्रार्थना करती हैं कि यदि आप इसी रास्तेसे फिर लौटें तो हमको अपनी दासी समझकर दर्शन अवश्य दें। सीताजीने उन सबको प्रेमकी पियासी लखा।

दासी समझनेकी प्रार्थना

शा० व्या० : सीताजीने ग्रामीण स्त्रियोंका मनोरथ पूर्ण किया है। जिसके

उपलक्ष्यमें उन्होंने मंगलाशासन किया है। प्रेममें होनेवाली उनकी उत्कंठा जिस प्रकार पहले थी उसकी वास्तविकताको सीताजीने उनकी उत्सुकतामें देखा।

'एहि मारग'का भाव है कि मानव चरित्रको दिखानेवाले जिस मार्गका अनुसरण करते हुए श्रीराम जा रहे हैं उसी मानव मार्गके अवलंबसे यदि प्रभु लौटें तो उनको दर्शन दें। ध्यातव्य है कि रावणबध एवं लंकाविजयके बाद श्रीराम प्रभुरूप में लौटेंगे, सीधे विमानसे त्रिवेणीपर उतरेंगे फिर भी लं०का० दो० ११९ अनुसार प्रभु इन्हें दर्शन देंगे। उनकी आकांक्षाएँ पूरी होनेमें कोई विरोधकी बात नहीं है। (प्रेमतत्त्वकी पियासी ग्रामीणस्त्रियाँ युगान्तरमें गोपीरूपमें अवतीर्ण हो प्रभुके मानुषावतार कृष्णरूपमें दर्शन करके अपनी आकांक्षापूर्ति करनेवाली होंगी?)

ग्रामीण स्त्रियोंने पहले सीताजीको स्वामिनी संबोधन किया है इसलिए यहां अपनेको 'निज दासी' कहा हैं। इसमें राजनीतिसिद्धान्त स्मरणीय है। अर्थशास्त्रानुसार राजाके लिए दासोंके घर जानेका निषेध है। तथापि शास्त्रनिर्देशानुसार विशेष आत्ययिक कार्यके अवसरपर[1] सुरक्षाकी मर्यादा देखते हुए भृत्योंके घरपर वह जा सकता है जिसको 'फिरिअ बहोरी'से व्यक्त किया है।

संगति : सीताजीके उत्तरका संकेत कवि कर रहे हैं।

चौ–मधुरवचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी ॥४॥

भावार्थ : सीताजीने मधुर वचनोंको कह-कहकर उन सबका परितोष किया। सन्तुष्ट होनेपर वे प्रसन्नतामें ऐसी खिल गयीं मानों चन्द्रज्योत्स्नासे कुमुदिनी खिली हो।

सीताके मधुरवचनका स्पष्टीकरण

शा० व्या० : 'लखी सीय सब प्रेम पिआसी'के अनुसार ग्रामीण स्त्रियोंके स्थायिअनुरागको देखकर उसके अनुरूप स्त्रियोंको परितोष करानेवाले वचन सीताने सुनाये। सीताके इन प्रिय वचनोंका यहां स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। तथापि अग्रिम ग्रन्थमें नर-नारियोंके पारस्परिक सम्वादमें तथा चौ० ८ में उनकी धृति और मति प्रकट होगी, उससे 'मधुर वचन कहि परितोषी'का अर्थ स्पष्ट होगा।

ग्रामीणोंकी वेदनाका विनाश एवं संतोषप्राप्ति

सीताके वदनविधुसे प्रसृत वचनरूपिणी कौमुदीके सम्पर्कमें प्रेमपियासी नारियोंको सन्ताप दूर होकर सन्तोष प्राप्त हुआ। जिस प्रकार सार्ष्टि सालोक्य सामीप्य सायुज्य चाहनेवाले भक्तोंको अपनी मर्यादामें ही रहनेसे सुखका अनुभव होता है, अथवा गुरुशिष्यसंवादमें गुरुको उच्चासन पर बैठानेमें ही शिष्यको सन्तोष होता है, अथवा पतिव्रताको पतिकी सेवा करते हुए जीवनयापनमें किसी कमीका अनुभव न करते हुए सुखका अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रेमपियास्वी नारियोंको सीता द्वारा

---

१. नचानुजीवितं पश्येदकल्पेपृथि वीपतिः अन्यत्रात्ययिकात् कार्यात् सर्वत्रात्ययिको गुरुः ॥

प्रभुके प्रेमतत्वका परिचय पाकर विरह या संशयकी वेदना समाप्त हो रही है। सीताजीके मधुरवचनसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो रहा है। जिस प्रकार श्रीरामने दो० ११२ में 'विनीत मृदु बैन'से पथवासियोंको आश्वस्त किया था उसी प्रकार यहाँ सीताने मधुर वचनसे ग्रामीण स्त्रियोंको परितोष दिया है। अथवा जिस प्रकार गुहकी वेदनाको मिटाकर लक्ष्मणजीने 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू' कहकर रामभक्तिमें सन्तुष्ट किया उसी प्रकार सीताजीने ग्रामीण स्त्रियोंको प्रेमतत्वमें सन्तुष्ट किया है।

संगति : आगे जानेके कई मार्ग होंगे अथवा मार्ग तृणादिसे आच्छन्न होगा ऐसा देखकर प्रभु क्षणभर रुके होंगे तब प्रभुका रुख देखकर लक्ष्मणजीने मार्गवासियोंसे जानेका मार्ग पूछा।

चौ०—तबहि लखन रघुबर रुख जानो। पूछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी ॥५॥

भावार्थ : उसी समय लक्ष्मणजीने रघुपति श्रीरामका रुख समझकर मार्गवासियोंसे मधुर वचन में आगे जानेका रास्ता पूछा।

मार्गनिर्णयमें विद्वत्सम्मति

शा० व्या० : महर्षि भारद्वाजने चार बटुरूप वेदोंके द्वारा मार्गनिर्णय करा दिया है। उसीके अनुगमन करनेमें अनेक पक्ष खड़े होंगे। जैसा श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥१०॥

अथवा पाखण्डियोंके प्रचारसे वास्तविक मार्ग आच्छन्न होता है।[1] कभी उपासकोंको मार्गमें पड़कर शाखाप्रशाखाओंके उलझनमें फंसकर बुद्धिभ्रम हो जाता है।[2] तब वास्तविक सन्मार्गकी समस्या उपस्थित होने पर सहवासी आप्त विद्वान् गुरुभक्त विवेकी तपस्वीसे पूछकर मार्गानुसरण किया जाता है। इसी विधिको दिखानेके लिए मार्गवासियोंसे लक्ष्मणजी का मार्ग पूंछना है जो राजनीतिसम्मत है यथा—

दौर्गान् पथिष्वाटविकान्तपालान् संश्लेषयेद्दानवता च साम्ना।
विरुद्धदेशेषु हि सन्निरोधे ते चास्य मार्गोपदिशो भवन्ति ॥नी० सा०॥

श्रीरामने अभी आटविकोंके साथ मैत्री बनायी है उसका प्रयोजन दिखाते हुए मार्गवासियोंके परितोषके फलस्वरूप उनके द्वारा योग्य मार्गका निर्देश प्राप्त होना है।

संगति : लक्ष्मणजीका प्रश्न सुनकर प्रेमार्द्रतामें ग्रामवासियों पर क्या परिणाम हुआ? शिवजी सुना रहे हैं।

---

१. वे जिमि पाखण्ड वादमें गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ-किष्किन्धा दो० १४

२. वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं नैको मुनियस्य वचः प्रमाणम्।

चौ०–सुनत नारि नर भए दुखारी। पुलकित गात विलोचन बारी ॥६॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी द्वारा जानेका मार्ग पूछते ही सब स्त्री-पुरुष दुःखी हो गये। विरह होनेसे प्रेम की दशामें उनका शरीर रोमांचित हो गया। आँखोंसे प्रेमाश्रु निकल आये।

नरनारियोंका दुःख

शा० व्या० : ग्रामवासी नर और नारी सोच रहे हैं कि जिनकी सेवामें मार्ग-दर्शनके लिए सुमन्त्र थे, बादमें गुह एवं भरद्वाज मुनिके विद्यार्थी थे, उनको साथमें न रखकर लौटा देना अब मार्गसम्बन्धी प्रश्न करना, यह कैसी विधिकी विडम्वना है ?

'विलोचन बारी'का भाव है कि इन वनगमनार्थियोंके संकटको देखकर नर-नारी दुःखी हो रहे हैं। करुणामें आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है। और उनके विरहको सोचकर तीनों मूर्तियोंके प्रेमाकर्षणमें 'पुलकित गात्र' हैं।

संगति : तीनों मूर्तियोंके सौजन्यसे प्रभावित होकर बिना प्रतारणा किये श्रीरामको ऐसा मार्ग बताना है जिसमें किसी प्रकारका अहित न हो।

चौ०–मिटा मोदु मन भए मलीने। विधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥७॥

भावार्थ : उनके मनकी प्रसन्नता जाती रही। वे उदास हो गये मानो विधाता (भाग्य)-दी हुई सम्पत्तिको छीन रहा है।

विधाताके कार्यमें स्थायिता

शा० व्या : प्रभुके आगमन व दर्शनसे ग्रामवासियोंको जो प्रमोद हुआ है वह लक्ष्मणजीका प्रश्न सुनकर समाप्त हो गया। उनका संग छूटनेकी बात सोचकर वे उदास हो गये। इसमें दैवकी दोषावहता नहीं कही जायगी क्योंकि प्रभुके प्रति आक-र्षणको जीवित रखते हुए दैवने ग्रामीणोंके प्रेमको स्थायी बनाया है। तत्कालमें होनेवाली मनकी मलिनता तो अस्थायी है। सबको अद्भुतके माध्यमसे बढ़ती प्रेम-पिपासाके शमनार्थ ग्रामीणोंको प्रभुदर्शन दैवने कराया, यही 'विधि निधि दीन्ह' है।

संगति : विधिमर्यादाका अतिक्रमण करनेसे प्रेमरस समाप्त न हो इसलिए ग्रामवासी धैर्य धारण कर रहे हैं।

चौ०–समुझि करमगति धीरजु कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा ॥८॥

भावार्थ : कर्मकी गतिको समझकर मार्गवासियोंने धैर्य धारण किया और सुगम मार्ग खोजकर उनको बता दिया।

कर्मगतिकी महिमा

शा० व्या० : सीताजी द्वारा 'मधुर वचन कहि परितोषी'का फल है कि ग्रामवासियोंने कर्मके गतिकी महत्ता समझी है। अर्थात् वनवासात्मक कर्मकी

गतिने ही तीनों मूर्तियोंको यहाँ पहुँचाकर उनका दर्शन ग्रामीणोंको कराया है। वही कर्मगति ग्रामीणोंको अब उन मूर्तियोंसे दूर कराने जा रही हैं। यह कर्मगति देवके विधान से है जिसको वे रोक नहीं सकते। श्रीरामको वनगमनसे रोकना पित्राज्ञापालनात्मक धर्ममें अवरोध है। राजनीतिक दृष्टिसे ऐसा धर्मविरोध अपनय कहा जायगा ऐसा समझना हो ग्रामवासियोंका धैर्य धारण करना है। धैर्यमें कर्तव्य स्थिर करनेकी सूझ आती है जो योग्य रीतिसे सुगम मार्गको खोजकर बतानेसे स्पष्ट है।

'सोधि सुगम' (लाघव एवं तर्कयुक्त) मार्ग श्रुतिमार्ग है

शोधनका अर्थ है—तर्काभासोंको दूरकर सत्परामर्शसे निर्णय करना। सुगमका अर्थ है—सत्परामर्श होते हुए भी सम्बन्धकृत, शरीरकृत, कल्पनाकृत लाघवको देखकर, इन दोनों युक्तियोंसे श्रुतिमार्गको अपनाना, जिसको शिवजी 'सोधि सुगम मग' कहकर न्याय मीमांसाकी प्रतिष्ठा दिखा रहे हैं, जिस प्रकार पूर्वमें ज्योतिषप्रतिष्ठाको दिखाया है। श्रुतिमार्गावलम्बियोंके लिए यह विषय माननीय है कि कभी कभी श्रुतिके अस्पष्टनिरूपणमें मतिभ्रम होकर भय एवं स्खलितकी ओर झुकनेका भय होता है, उस अवस्थामें तर्कशुद्ध लघुभूत श्रुतिमार्गका निर्देश प्राप्त करनेके लिए स्मृतियों, पुराणों, सदाचारोंकी सहायता लेनी पड़ती है। लक्ष्मणजीका स्मृतिस्थानापन्न ग्रामवासियोंसे मार्ग पूछना ठीक ऐसा ही है। इसमें दो० १०९ चौ० ५ की व्याख्या स्मरणीय है। ध्यातव्य है कि जिस प्रकार स्मृतिनिर्दिष्ट मार्ग वेदोक्त मार्गके विरोधमें नहीं होता, उसी प्रकार भरद्वाज मुनिके वेदरूप चार बटुओं द्वारा निर्दिष्ट मार्गके अनुकूल यह मार्ग होना चाहिए जिसको 'सोधि सुगम मग' कहा है।

संगति : ग्रामवासियोंके 'सोधि सुगम मग'से प्रभु आगे बढ़ रहे हैं।

दो०—लखन-जानकी-सहित तब गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रियवचन कहि लिए लाइ मन साथ॥११८॥

भावार्थ : तब श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके साथ चले। उन ग्रामवासियोंको प्रिय वचन कहकर लौटा दिया। परन्तु उनका मन अपने साथ लेते गये।

ग्रामीणोंका सत्संग

शा० व्या० : ग्रामवासियों द्वारा शोधित सुगम मार्गका अनुसरण करते हुए प्रभुने गमन किया। 'फेरे'से स्पष्ट होता है कि ग्रामवासिनी जनता प्रभुका अनुगमन करनेको उद्यत हुई, पर प्रभुने 'प्रिय वचन कहि' अर्थात् समझाकर उनको साथमें चलनेसे रोका और लौटा दिया जैसा दो० ११२में पथवासियोंको लौटाना कहा गया है। प्रभुके प्रिय वचनको सुननेका फल ग्रामीणोंका 'धीरजु कीन्हा'से व्यक्त किया गया है जिसमें उनको प्रभुके प्रति मनःसंग प्राप्त हो रहा है।

विपद्में धैर्यकी क्षमता

भक्तिशास्त्र और राजनीतिको स्मरण करते हुए कहना है कि नीतिमान् साधु-महात्मा जगत्के रक्षणका संकल्प लेकर ईश्वरकी शरणमें जब आत्मसमर्पण करते हैं तब प्रभु वैसे नीतिसेवकोंको विपत्तिकी बलिवेदीपर चढ़ाते हैं। फिर भी वे अपने प्रतिज्ञातार्थका त्याग नहीं करते तब प्रभु उनको उबारते हैं। राक्षसोंसे संयुक्त वनमें निवास करना सबके लिए निर्बाध नहीं है। इसलिए वचनप्रमाण होनेपर भी सबको वनमें जानेकी प्रेरणा नहीं होती। इसमें सीता और लक्ष्मण की वनवास-क्षमताकी परीक्षा प्रभुने ली है। तदनुकूल धैर्य देखकर प्रभुने उन दोनोंको अपने साथ रखा है। सीता और लक्ष्मणजीकी धृति, धर्म और स्वामिभक्ति वनवासमें रसिकोंके लिए आस्वाद्य है। ग्रामीणोंको लौटानेमें प्रभुको उक्त नीति स्मरणीय है।

संगति : 'मधुर वचन कहि-कहि परितोषी'से सीता द्वारा ग्रामवासियोंको दिया गया परितोष, 'फेरे सब प्रिय वचन कहि'से श्रीराम द्वारा ग्रामवासियोंको कहे वचनोंका प्रभाव ग्रामीण नर नारियोंके पारस्परिक संवादसे स्फुटित हो रहा है।

चौ०–फिरत नारि नर अति पछिताहीं। दैअहि दोषु देहिं मन माहीं ॥१॥

भावार्थ : लौटनेमें ग्रामीण नर-नारियोंको अत्यन्त पश्चात्ताप हो रहा है। मन ही मन वे दैवको दोष देते है।

वनदासका हेतु दैव (पूर्वपक्ष)

शा० व्या० : लौटते हुए ग्रामवासी वनवासके कारणकी मीमांसा करते हुए दोषीका विचार कर रहे हैं। 'कुमति कीन्ह सब विस्व दुखारी'को लक्ष्मणजीने काटकर 'काहुहि वादि न देइअ दोषू' कहकर गुहको समाधान कर दिया कि कैकेयी का स्वभाव क्रूरताका नहीं है, न तो वह दोषवती ही है। स्पष्ट है कि श्रीराममें कोई अपनय नहीं है। जब दोनोंकी ओरसे अपनयका प्रश्न नहीं है तब भरद्वाज ऋषिके संवादसे श्रीराम जैसे महात्माका संग मिलकर उसके न टिकनेमें ग्रामवासी दैवको कारण ठहराते हैं। श्रीरामको राजपदासीन न होनेमें और वनवास करानेमें वे दैवको दोष देते हैं। 'अति पछिताहीं'का एक कारण यह है कि वे प्रभुके संगमें होनेवाली सुखानुभूतिसे वञ्चित हो रहे हैं। दूसरा कारण राजनीतिकी दृष्टिसे यह भी है कि राजप्रासादमें भेदनीतिकी स्थापना आशंकित है जिसका परिणाम राज्यका विनाश होना है। 'अति पछिताहीं'में उनको खेद है कि दैवबलके चलते श्रीरामको राजपदपर बैठानेका उपाय किसीके हाथमें नहीं हैं, जैसा अयोध्याके नागरिकोंके विचार-विवेचनमें कहा गया है।

संगति : विधिकी प्रबलताका मनमें समझकर उनको विषाद हो रहा है।

चौ०-सहित विषाद परसपर कहहीं। विधि करतब उलटे सब अहहीं ॥२॥

भावार्थ : मनमें दुःख भरकर वे आपसमें कहते हैं कि विधाताका सब काम उलटा होता है।

विषाद और वनवासमें विधिकी प्रबलता

शा० व्या० : विषादकी व्याख्या 'विषादः चेतसो ग्लानिः सत्वक्षयः' है। ग्रामवासी दैवकी ओरसे आयी विपदाको देखकर विषाद कर रहे हैं। रामराज्याभिषेक न होनेमें राजा दोषी नहीं है, दैवने प्रतिवन्ध कर श्रीरामको १४ वर्षोंके लिए वनमें भेजा है।

'उलटे सब अहहीं'का भाव है कि अयोध्यावासियोंसे लेकर वनवासियों तकके सब लोगोंका दैव उलटा-विपरीत हो गया है। इनमें से किसीका भी दैव अनुकूल होकर इतना सबल नहीं है कि वह रामराज्याभिषेक करा देता। सभीका दैव श्रीरामको राज्याभिषेक न करानेमें कार्यंकारी हुआ है यही 'विधि करतब' अर्थात् दैवकी कारीगरी या कार्यंकुशलता है क्योंकि श्रीराम लक्ष्मण सीता तीनों अदृष्टसे वनमें आये हों ऐसी सम्भावना हो ही नहीं सकती। ग्रामवासी अपने दैवको ही दोषी ठहरा रहे हैं, क्योंकि रागद्वेषहीन होनेसे प्रभु अदृष्टकी परतन्त्रतामें कार्य नहीं करते हैं।

'विधि करतब'का भाव यह भी है कि सृष्टिके आरम्भमें विधाताने जैसा संकल्प किया है उसीका अनुगमन करते रहना जगत्का स्वभाव या प्रकृति है, वह परिवर्तित नहीं होती। स्वयं विधि भी विधानका अनुगामी हो समय-समयपर अवतरण आदि कार्य करते रहनेमें बाध्य है। श्रीरामका वनवास भी उसी विधिके अधीन है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण कर्तृत्व प्रमाणभूत विधिमें ही केन्द्रित है।

संगति : ग्रामवासियोंके मतमें विधिशब्दसे उल्लिखित दैव नहीं है किन्तु ब्रह्मा-विधाता है क्योंकि वह चेतन है। अतः वही उपालभ्य है जैसा चौ० ५ दो० १२०में स्पष्ट है। उसने श्रीरामको वनवास करानेमें आज ही विपरीत योजना बनायी है ऐसा नहीं, किन्तु विपरीत विरोधी कार्य करना उसका स्वभाव है।

चौ०—निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥३॥
रूख कलपतरु सागर खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा ॥४॥

भावार्थ : वह ब्रह्मा एकदम स्वतन्त्र निर्दयी और भयरहित मालूम होता है। जिस बहाने अपनी सृष्टिसे चन्द्रमाको कलंकसे युक्त और रोगग्रस्त अर्थात् घटने-बढ़नेवाला बनाया है।

विधिकी गरिमाका विवेचन

शा० व्या० : ग्राम-नर-नारियाँ रजोगुणप्रकृति ब्रह्माकी निरंकुशता आदि स्वभाव कह रहे हैं। ब्रह्मा निरंकुश है अर्थात् अन्य किसीका स्वयं प्रयोज्यकर्ता होना विधाताको इष्ट नहीं है। उसी प्रकार वह अपने द्वारा सृष्ट पदार्थोंके प्रति आर्द्र नहीं है, बल्कि कठोरताका आचरण करता है। उसको न तो भय ही है और न वह अपने अज्ञानता एवं कार्यंकारिताप्रयुक्त दुर्नयको माननेको तैयार है अर्थात् निःशंक है। राजस् विधाता अपने कल्पनाप्रसूत सृष्टिकार्यमें जिसको जैसी प्रेरणा देता है उसको

वैसा ही रहना पड़ता है। ब्रह्माके उक्त 'निरंकुश निठुर निसंकू' स्वभावको तीन दृष्टान्तों से समझा रहे हैं—

१. 'ब्रह्मा (विधाता) निरंकुशः समतया सर्वत्र आल्हादकर्तुः चन्द्रस्य विषम-स्थितिरोगकलंकसम्पादकत्वात् ।'

२. 'ब्रह्मा गुणवत्संग्रहणाशीलः आश्रितस्यमनोरथपूरणकर्तुः कल्पवृक्षस्य रूक्षता-कर्तृत्वात् ।'

३. 'विधाता अभिमानी निरंकुशः संसारजीवनतत्वप्रदातुः सागरस्य क्षारगुण सम्पादकत्वात् ।'

उक्त वर्णनसे यह समझना है कि राजस व्यक्तिके हाथोंमें शासन होता है तो वह निरंकुश होकर नीतिमानोंको भी त्रास देनेमें नहीं चूकता।

ज्ञातव्य है कि विधाताकी आलोचना करनेमें कवि ग्रामीणोंको ग्राम्यत्वादेव उक्त उद्गार करा रहे हैं जो ग्रामीणोंके लिए शोभनीय हैं। कविका तात्पर्य विधि या विधाताके दोषोद्गारपूर्वक आलोचना करनेसे नहीं है किन्तु उपेक्षामें है। इसपर विशेष विचार (चौ० ६ दो० १२)—'ऊँच निवास नीच करतूती'में द्रष्टव्य है। अथवा विधिका अर्थ विधान है इसको समझते हुए यह कहा जायगा कि सृष्टिमें सभी प्रकारके गुण-दोषोंके सम्बन्धको त्यागकर उसके परिणाम और ग्राह्याग्राह्य-विवेकता आदि सभी नीतिमानोंको समझने होंगे। उसके लिए प्राचीन इतिहास भी द्रष्टव्य होगा। विधाताके गुण-दोषका परिणाम तत्तद् अधिकारियोंके चरित्रको आगे रखकर उनके माध्यमसे समझाया जाता है, जिसको देखकर विधानोंकी सफलता तथा विधिकी मर्यादातिक्रमणमें दोष, हानि आदि ज्ञात होते हैं। तभी सन्तोंको विधिकी वास्तविकताका परिचय होता है। उदाहरणार्थं विधिकी मर्यादामें चन्द्र आल्हाददायक है। विधिके अतिक्रमणमें वही चन्द्रमा कलंक और रोगसे पीड़ित होता है। कल्पवृक्ष पत्र-पुष्पोंसे रहित सूखा होनेपर भी दानी है। समुद्र सभीको मेघों द्वारा रससे पुष्ट कराता है, पर खारा होनेसे स्नान आदि कार्यके अयोग्य है। इसमें विधिकी निरङ्कुशता या कठोरता न समझकर गुण-दोषोंको समझना है। कहना होगा कि वैसा ही प्रभुने रावणवधार्थं विधान बनाया है जिसके अनुसरणसे वनवास हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि रामवनवासको देखकर आपाततः यथाश्रुतमें ग्रामीण स्नेहियोंके उद्गार दोषपरक अथवा असूयापरक मालूम होते हैं, जो कि उनके विषादके सूचक हैं। पर इसको देवोंके विधानप्रयुक्त कार्यकी भर्त्सना नहीं माननी चाहिए।

निन्दामें स्तुति

भारद्वाज मुनिके निर्देशानुसार वेदोक्तधर्ममार्गका अनुसरण करके प्रभु वनमें आगे बढ़ रहे हैं। स्नेहके वशमें रामवनवासजन्य दुःखका अनुभव करते हुए

ग्रामीणोंका जो विचार चल रहा है उसमें विधिको दोषी ठहराया जा रहा है अर्थात् विधिरूपसे सरस्वतीने कैकेयीके वरदानमें 'मति फेरी' द्वारा जो कार्य किया वही दुःखका कारण है। विधाता भी सरस्वतीके मतका अनुगमन कर रहे हैं। फिर भी वह विधान नीत्याभास न होनेसे प्रामाणोंकी वास्तविकताको दृढ़मूल बना रहा है।

संगति : वनवासके कारणकी मीमांसामें पूर्वपक्ष उपास्थापित करते हुए ग्रामीणजन वार्ताविद्याकी व्यर्थताकी सम्भावनामें उद्गार प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—जौ पै इन्हहि दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू ॥५॥
ए बिचरहि मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥६॥
ए महि परहि डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥७॥
तरुबर बास इन्हहि बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा ॥८॥

दो०—जौ ए मुनि पटधर जटिल सुन्दर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार ॥११९॥

चौ०—जौ ए कन्दमूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं ॥१॥

भावार्थ : यदि विधाताने इनको वनवास दिया है तो भोगविलासकी सामग्री व्यर्थ ही बनाया। ये मार्गमें बिना पदत्राणके (नंगे पैर) चल रहे हैं तो विधाताने अनेक प्रकारके वाहन—हाथी, घोड़े, रथ—आदिकी रचना व्यर्थ किया। ये भूमि पर कुश-पत्रकी शैयापर सोते हैं तो विधाताने फूलों जैसी शैयाका निर्माण क्यों किया? इनको विधाताने पेड़की छायामें निवास दिया तो बड़े-बड़े प्रासाद भवन बनाकर क्यों व्यर्थ श्रम किया? यदि ये मुनिवस्त्र और जटाजूट पहनते हैं, इतने सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार होते हुए भी, तो विधाताने नाना प्रकारके गहने वस्त्रोंका निर्माण व्यर्थ किया। यदि ये कंदमूलफल आदिका ही भोजन करते हैं तो संसारमें अमृतोपम भोज्यसामग्री व्यर्थ बनी।

वार्ताविद्याके अन्तर्गत पदार्थोंका असस्मान

शा० व्या : वार्ताविद्याके अन्तर्गत भोगविलास सामग्रियोंका समर्पण नीतिमान् महात्माओंकी सेवामें नहीं होता तो उनका उपार्जन व्यर्थ है। नीतिमान् श्रीरामके उपयोगमें न आनेसे ब्रह्माजी द्वारा बनायी भोगसामग्रियोंकी व्यर्थता बतला रहे हैं। 'वाहन नाना, सुभग सेज, धवल धाम, बिबिध भाँति भूषण बसन, सुधादि असन, आदिके उल्लेखसे निम्नलिखित विभाजन मन्तव्य है।

१. क्रिया-सम्बन्धी—विचरहि बिनु पदत्राणादि।
२. अर्थ-सम्बन्धी—वाहन नाना पश्वादिसम्पत्ति।
३. द्रव्य-सम्बन्धी—सुभग सेज आदि।
४. भूमि-सम्बन्धी—धवल धाम आदि।
५. भोजन-सम्बन्धी—अमृतोपम भोज्य पदार्थ।

भारतीय राजनीति सिद्धान्तानुसार धर्मकी प्रतिष्ठामें स्वयंको समर्पण करने-

वाले नीतिमान् व्यक्तिके जीवनकी व्यवस्थाके लिए ही वार्ताविद्याका प्रादुर्भाव हुआ है।[1]

इसी विद्याने अर्थको प्रकाशमें लाकर भोगसामग्रियोंको सुलभ किया है।

भोगसामग्रियोंका निर्माण तो हुआ पर उसके द्वारा नीतिमान् साधु सुखी[2] नहीं होते तो भारतीय नीति विफल मानी जायगी। इस तथ्यको दृष्टिमें रखकर नीतिशास्त्रकारोंने नीतिमान् राजाको श्रीमान् कहकर मंगलाशासन किया है।[3] जब नीतिमान् साधुओंको उत्तम सामग्रियोंका समर्पण नहीं होता यानी उनसे वंचित किये जाते हैं तब प्रजामें व्यसन बढ़ता है। उसके साथ ही उन सामग्रियोंकी उपज भी कम होती है। परिणाममें जगत् अन्धयुगमें प्रवेश करता है।[4]

नीतिका ध्येय

हर्षमें जनता उत्तम भोगसामग्रियोंको स्वयं समर्पण करनेको उद्यत होती है, इसका यह अर्थ नहीं कि उत्तम भोगसामग्रियोंको प्राप्त करना नीतिमान्का ध्येय है। वास्तवमें नीतिमान् व्यक्ति धर्मपालन कार्यमें जितना अपेक्षित है उतना ही भोग करना अपना कर्तव्य समझता है। अन्यथा कामनाप्रयुक्त होकर वह जनताके अपरागका पात्र होगा।

नीतिमें वार्ताका अंगत्व

श्रीराम लक्ष्मण सीता तीनोंकी वनवासमें प्रवृत्ति उत्साहपूर्वक है। उत्साह नीतिसे सम्बद्ध है, न कि व्यसनसे। अयोध्यामें निवास करते हुए भी उनकी प्रसिद्धि नीत्यनुष्ठाननिमित्तक हैं। वार्ताविद्या द्वारा उपार्जित सामग्रियोंका उपयोग नीति प्रतिष्ठामें सन्नद्ध श्रीराममें उपयुक्त न होनेसे ग्रामीणोंको दुःख इस बातका भी है कि रामवनवासमें कैकेयीकी मनोरथसिद्धिको देखकर धर्म एवं राजनीतिके प्रति अनादरभाव उत्पन्न कराकर राजवंश धर्म एवं नीतिसे विमुख हो सकता है।

ज्ञातव्य है कि भरतने अपने चरित्रसे भोगसामग्रियोंकी सार्थकता श्रीरामके उपयोगमें ही दर्शाया है यथा 'सम्पति सब रघुपति कै आही। जौ बिनु जतन चलौं तजि ताही। तो परिनाम न मोरि भलाई।' तथा राज सम्पत्तिका उपभोग उन्होंने स्वयं नहीं किया—'भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥'

---

१. व्यवस्थापितधर्मस्य जीवनहेतु वार्ता।

२. लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां लोके विकासिन्यापि किंतया।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च विस्रब्धं या न भुज्यते॥

३. यस्य प्रभावाद्भुवनं शाश्वते भुवि तिष्ठति।
देवः स जयति श्रीमान् दण्डधारो महीपतिः॥

४. प्रजायोव्यसनस्थायां न किंचिदपि सिद्धति। नीतिसार।

विधाताकी अदूरदर्शिता

उपर्युक्त चौपाइयोंमें वर्णित सामग्रियोंके सर्जनमें विधाताका श्रम व्यर्थ है, क्योंकि उन सामग्रियोंको श्रीरामके चरणोंमें समर्पण करनेमें प्रतिवन्धक उन्हींकी विधि है, ऐसा ग्रामवासी कह रहे हैं। अर्थात् भोग विलासके अधिकारी होनेपर भी ये तीनों मूर्ति उनके फलभोगसे वंचित हैं, यही ग्रामवासियोंका महान् दुःख है। श्रीराम सद्गुणोंकी खान हैं। आत्मसम्पत्तिके रहते उत्तम भोग्य पदार्थोंका उनको समर्पण होना अनिवार्य है। अतः नीतिदृष्टिसे श्रीराम ऐसा संकल्प नहीं कर सकते कि भोगसामग्री उनके पास न आवे। यदि श्रीरामको उत्तम न्यायप्राप्त वस्तुका उपभोग अपेक्षित नहीं है तो उनको प्रजारंजनार्थ कार्यसे विरत हो एकान्तिक जीवन व्यतीत करनेमें क्या हानि है।

प्रश्न : ये ग्रामवासी ही भोगसामग्रीका समर्पण प्रभुके चरणोंमें क्यों नहीं करते ?

उत्तर : समाधानमें यह कहना होगा कि जब एक रात्रि-निवासकी प्रार्थना भी श्रीरामको स्वीकार्य नहीं है तो अन्यान्य भोग कैसे स्वीकार होंगे ? वार्तकि वैयर्थ्यका परिहार चित्रकूटमें पहुँचनेके अनन्तर श्रीरामके अनुकूल उनकी सेवामें गुहा-निर्माण आदिकी व्यवस्थाके वर्णनमें ज्ञातव्य होगा। इस रीतिसे वनवास कारण-मीमांसाके अन्तर्गत पूर्वपक्ष पूर्ण हुआ।

संगति : पूर्वपक्षमें ग्रामवासियोंने ब्रह्माको दोषी ठहराया है। इसके उत्तरमें दूसरा पक्ष दैवकी प्रशंसा कर रहा है।

चौ०—एक एकहि ए सहज सुहाए। आपु प्रकट भए विधि न बनाए ॥२॥

भावार्थ : एक पक्ष कहता है कि ये तीनों सहज शोभायमान हैं अर्थात् अपने आप प्रकट हुए हैं, ब्रह्माके बनाये नहीं हैं।

श्रीराम लक्ष्मण सीताको बनानेमें विधाताका अकर्तृत्व

शा० व्या० : 'एक कहहिं'से स्पष्ट है कि पूर्वपक्षमें एकेश्वरवादीका मत उपस्थापन किया गया है जिसमें चन्द्रमा, कल्पतरु, समुद्र आदिके देवतन्त्र-सर्जनमें एकमात्र विधातामें कर्तृत्व बताया गया है। यह मत पक्षान्तरको मान्य नहीं है क्योंकि वे श्रीरामको सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर मानते हैं, ब्रह्माके कल्पनासृष्टिमें वे आते नहीं। ब्रह्माके संकल्पक्षेत्रमें प्रभुका ऐश्वर्य बाधक है। अतः रामशरीरके निर्माणमें ब्रह्मा कारण नहीं है। तब रामवनवासमें विधाताको कारण मानना भी ठीक नहीं।

अब विचार यह करना है कि श्रीरामके विशिष्ट सुन्दरतम शरीरका निर्माता कौन है ? बिना हेतुके कार्य उत्पन्न होता नहीं। रामशरीरके निर्माणमें निर्माताका निर्णय करना बुद्धिके बाहर है।

प्रश्न : विधाता आदि निर्माताओंमें उनका ऐश्वर्य श्रीरामके प्राकट्यमें कारण क्यों नहीं है ?

उत्तर : रामशरीरके प्राकट्य या वनवासादि कार्यमें साधक प्रभुकी इच्छा है। इन लोगोंको प्रभुका दर्शन होनेमें साधक उनका सुदैव है जैसा आगे चौ० ७ में कहेंगे।

संगति : 'आपु प्रकट भए विधि न बनाए' इस प्रतिज्ञात-अर्थकी सिद्धिके लिए ब्रह्माके अनैश्वर्यको बतानेमें सत्तर्कका निरूपण शब्दप्रमाणसे आगेकी चौपाइयोंमें कर रहे हैं।

चौ०—जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥३॥
देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ अस नारी ॥४॥

भावार्थ : जहाँ तक वेदने ब्रह्माका कार्य वर्णन किया है—जो कानों, नेत्रों और मनके द्वारा अनुभवमें आ सकता है, वहाँतक चौदहों लोकोंमें देखनेपर भी श्रीराम लक्ष्मणके समान पुरुष और सीताके समान स्त्री ढूँढ़नेपर नहीं मिलेगी।

ब्रह्मसृष्ट पदार्थोंमें रामसादृश्याभाव

शा० व्या० : वेदोंको प्रमाण मानकर उसके विधानके अनुसार विधाता सृष्टिके रचयिता हैं। उनसे सृष्ट जीवोंमें (चतुर्दशभुवनमें) ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसमें गुणतः कर्मतः श्रीरामका सादृश्य हो। यद्यपि स्वर्गादि लोकवासी ग्रामीणोंके लिए दृश्य नहीं हैं, फिर भी वेदोंसे वे जानते हैं कि किसी भी भुवनान्तरीय व्यक्तिकी गुण सम्पत्तिमत्ता श्रीरामके सदृश नहीं कही गयी है। इसीलिए सीतारामका सौन्दर्य अवर्णनीय माना गया है। किंबहुना कवियोंने श्रीरामके सौन्दर्यवर्णनमें अभूतोपमाका प्रयोग किया है, जैसे 'कोटि मनोज लजावनि हारे'। मनमें भी इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह अभूतपूर्व सौन्दर्यकी कल्पना कर सके। इसलिए कहना है 'अयं रामः यदि ब्रह्मनिर्मितः स्यात् तर्हि एवंविध सौन्दर्यं नोपलभेत्।' इस सत्तर्कसे पूर्वपक्षका मत बाधित होता है।

ज्ञातव्य है कि ग्रामवासियोंके उक्त वचनका आधार वाल्मीकि मुनिके वचनमें (सो० १२६) स्फुट होगा।

संगति : ब्रह्मसृष्ट विलाससामग्रियोंके उपभोगसे विरत श्रीरामको देखकर ग्रामवासी ब्रह्माको उपालंभ देते हुए एक कल्पना कर रहे है।

चौ०—इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोग बनावै लागा ॥५॥
कीन्ह बहुत श्रम एक न आए। तेहि इरषा बन आनि दुराए ॥६॥

भावार्थ : इन विशिष्ट सुन्दरतम मूर्तियोंको देखकर ब्रह्माके मनमें ऐसा अनुराग हुआ कि उनकी बराबरी करनेवाली मूर्तियाँ बनानेका वह यत्न करने लगे। बहुत श्रम करनेपर भी वैसी एक भी मूर्ति नहीं उतार सके अथवा कोई युक्ति न सूझी तो ईर्षावश इन तीनों मूर्तियोंको वनमें लाकर मानो छिपा दिया है।

शा० व्या० : 'मन अनुरागा'से श्रीमद्भागवतकी उक्ति—(१०.४४.१४)

(गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धं)

के अनुसार 'असमोर्ध्वं, लावण्यसार यहाँ दर्शाया गया है।

विधाताके रजोगुणमें असूयाभाव

श्रीराम सहित तीनों मूर्तियोंके 'सहज सुहाए' स्वरूपको देखकर प्रथमतः ब्रह्माको प्रीति हुई। प्रीतिके व्यभिचारी भावात्मक चपलतामें पड़कर ब्रह्माको सीताराम जैसे सुन्दर नर-नारीको अपनी सृष्टिमें बनानेकी रुचि हुई। परन्तु बहुत श्रम करनेपर भी जब वह बना न पाये तो रजोगुणी स्वभाव होनेसे ईर्ष्या उत्पन्न हुई। 'एक न आए'का भाव है कि ('आपु प्रगट भए' 'सहज सुहाए') सीताराम जैसी एक भी मूर्तिको बनाना ब्रह्माके वशके बाहर हो गया। अतः ईर्ष्यावश हो उसने श्रीरामको वनमें लाकर छिपा दिया है। ब्रह्मापर इस प्रकारका दोषारोपण कविसमयसिद्ध है।

यह कहना असंगत न होगा कि 'मधुर बचन कहि कहि परितोषी'में सीताने पूर्व इतिहास सुनाते हुए सरस्वती द्वारा कैकेयोकी 'मतिफेरि' और उसकी वरयाचनामें रामवनवास आदि वृत्तान्त ग्रामीणोंको सुनाया होगा। उसकी प्रतिक्रियामें कविने विधाताकी ईर्ष्याका कौतुक वर्णन किया है। बिना ईर्ष्या-द्वेषके विधिका अनुसरण करना श्रीरामकी साधुता एवं नीतिमत्ताका परिचायक है। केवल वनवास ही नहीं, मुनिव्रत धारण करके श्रीरामने विधिकी मर्यादाका निर्वाह भी किया है।

संगति : 'प्रतिकूल वेदनीयं दुःखं'के अनुसार अपनी इच्छाके विपरीत कार्यको देखकर ग्रामीण जनता रामवनवासमें दुःखका अनुभव कर रही है जिसका निरास करते हुए दूसरे ग्रामीण वर्ग 'अनुकूल वेदनीयं सुखं'को भावनामें विधिको दोषी ठहरानेका निवारण करते हैं।

चौ०-एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥

भावार्थ : सृष्टिकी रचना आदि गूढ़ विषयको सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि वे उस विषयमें बहुत नहीं जानते। अपनेको ही (रामदर्शनमें) परम धन्य मानते हैं।

विधाताके दोषका परिहार

शा० व्या० : प्रतिकूल वेदनामें जिन्होंने 'बिधि करतब सब उलटे अहहीं' कहकर विधातामें ईर्ष्या आदि दोषका आरोप किया, उसको अनुचित बताते हुए दूसरे सज्जनवृन्द चौ–७-८ दो-१०९में कहे 'देखहिं दरसु नारिनर धाई। होहिं सनाथ जनम फलु पाई'का निर्वचन करते हुए अपना पक्ष रख रहे हैं।

विधिके अनुगमनमें रहकर अनुकूलताका अनुभव करना सुखी होनेका उपाय है। 'बहुत न जानहिं'का भाव है कि विधि-विधाता या दैवको दोषी ठहराना, सृष्टिकी रचनामें ब्रह्माको ईर्ष्या आदि मतोंके औचित्यानौचित्यके बारेमें सोचविचार

करना वे नहीं जानते, श्रीरामके वनगमनमें केवल अपने अनुकूल हितको देखकर अपनेको धन्य मानते हैं।

रामवनवासमें कारणतावच्छेदक विधाताके उक्त दोषका निरास सरस्वती के विधान 'तापसवेष विसेषि' से समझना चाहिये जिसमें श्रीरामका प्रजापालकत्व धनुर्धरत्व-विशेषसे स्थिर रखा गया है अर्थात् चौदह वर्षके वनवासकी अवधिमें राक्षसविनाश एवं रावणवधके लिए बनाया गया विधाताका कार्यक्रम नान्तरीयक है। किंबहुना दण्डकारण्यकी शुचिता, धर्म-नीतिकी प्रतिष्ठा एवं विद्याओंके सफल प्रचार आदि कार्योंको संपन्न करनेके हेतु ही विधाताका विधान है। इस अवधिमें होनेवाला विषाद नान्तरीयक है। उसकी मध्यावधिमें प्रभुदर्शनका जो लाभ हो रहा है उससे अपनेको परम धन्य माननेमें सन्तोष है।

संगति : विधिके कार्यक्रममें प्रभुदर्शनकी उपलब्धिकी उपपत्ति बता रहे हैं—

चौ०—ते पुनि पुण्य पुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

भावार्थ : इन सज्जनोंकी समझमें वे सभी पुण्यपुंज हैं जिन्होंने तीनों मूर्तियोंका दर्शन किया, कर रहे हैं और आगे करेंगे।

प्रभुदर्शनमें पुण्यपुंज साधना

शा० व्या० : सत्कर्मोंसे होनेवाले पुण्यपुंजका सुफल प्रभुदर्शन है जैसा भरद्वाज मुनिने चौ० ५-६ दो० १०७ में कहा है। विधिके विधानके अधीन वनमार्गसे जाते प्रभुका दर्शन मार्गस्थ ग्रामवासियोंको सुलभ होनेमें विधिकी अनुकूलता मानकर वे अपना पुण्यपुंज समझते हैं। विधिकी अनुकूलता यही है कि उन्हींके गाँवके निकटसे प्रभु जा रहे हैं।

श्रीरामके दर्शनमें पुण्यपुंज माननेमें रामचरित्रकी विशेषताएँ ध्यातव्य हैं—स्वतन्त्र परतन्त्र होकर जा रहा है, द्रष्टा होते हुए भी दृश्य है, अपनेमें स्वतन्त्र कर्तृत्व रखते हुए भी पिताकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिए वनगमनमें प्रेरित है, शास्ता होते हुए भी शास्य है, सर्वज्ञ होते हुए भी अल्पज्ञताका अभिनय करता है, कार्मिक मलसे रहित होनेपरभी मलावृत जैसा होकर वनमें आया है, निराकांक्ष होते हुए भी (मार्ग एवं निवासकी आकांक्षा होनेसे) साकांक्ष है—इत्यादि।

प्रभुदर्शनमें अपेक्षित पुण्यपुंजको त्रिकालाबाधित बतानेके लिए 'जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे' कहा है।

संगति : ग्रामवासियोंके अन्तिम मतकी पुष्टिके प्रीत्यातिशयमें शिवजी उनके प्रीतिके अनुभावोंको सुना रहे हैं।

दो०—एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

भावार्थ : ये सब ग्रामवासी प्रेमभरे बचन कहते हैं, आँखोंमें अश्रु भर आते

हैं। स्नेहकी विह्वलतामें कहते हैं कि अत्यन्त सुकुमार शरीरवाले ये तीनों अगम्य कठिन वनमार्गपर कैसे (पैदल) चल पायेंगे।

अप्रियकी लक्षणामें मीमांसा

शा० व्या० : 'एहि विधि'का भाव है कि रामप्रीतिकी अभिव्यक्तिमें ग्रामवासियोंके विधिके प्रति दूषणपरक वाक्यभी अप्रियतामें संगत न होकर गुणीभूत हो रहे हैं जैसा 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यो पशवः'की उक्ति में पशुको अपशु कहा जाता है। 'कहि कहि बचन प्रिय'में उपर्युक्त रामचरित्रकी विशेषताओंमें मुख्यतः विधिके अनुसरणमें पित्राज्ञारत श्रीरामके त्याग एवं शुचिताका स्मरण करते करते वनके कंटकाकीर्ण मार्गपर तीनों सुकुमारोंके कोमल चरण पड़नेसे होनेवाली पीड़ाकी कल्पना करते हुए ये ग्रामवासी स्नेहमें अश्रुपात कर रहे हैं। 'प्रिय'का अन्वय 'बचन'से न कर 'लेहिं'से करनेपर 'प्रिय लेहिं'का भाव है कि प्रेममय मूर्तिको हृदयमें रख रहे हैं।

संगति : चौ० ८ दोहा १०९ में 'फिरहिं दुखित मनु संग पठाई'से प्रेमी भक्तोंका मनःसंग सामान्यतया वर्णित है। विशेष वर्णन आगे किया जा रहा है।

चौ०--नरि सनेह विकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं॥१॥

भावार्थ : ग्रामस्त्रियाँ स्नेहके वश ऐसी विकला हो रही हैं जैसे सायंकाल होते होते चकई विरहसे व्याकुल होने लगती है।

प्रीतिका परिचय

शा० व्या० : साहित्यमें प्रीतिका परिचय पतिव्रता नारोके संयोग-वियोगसे कराया जाता है। उसीको यहाँ चकवा-चकवीके दृष्टान्तसे स्फुट कर रहे हैं। 'सनेह विकल बस होहीं'से प्रेमापियासो ग्रामनारियोंकी स्नेहविकलता दिखायी है जो तीनों मूर्तियोंको वनगमनमें अग्रसर होते देख उनके विरहकी कल्पनामें हो रही है। विकलतामें वे सोच रही हैं कि अपने ही पुरुषोंने मार्ग बताया है, पर वह सुगम मार्ग भी तीनोंके कोमल चरणोंके लिए कठिन है।

तन्मयता ही भगवद्भक्तिका मूलतत्त्व है जिसमें कामक्रोधादिका भी उपयोग है[1]। अतः 'सनेह बस' होनेपर भी योगियोंकी तरह इन्द्रियोंके व्यापार अवरुद्ध नहीं हैं, एकाग्रतामें अनन्यविषय हैं। हृदयके द्रवोभावके परिणाममें प्रभु उनके हृदयमें बसते जा रहे हैं—यहाँ तक कि इस जन्ममें क्या, जन्मान्तरमें भी छूटनेवाले नहीं हैं। (प्रसंगतः यह मत ज्ञातव्य है कि ये प्रेमपियासी ग्रामनारियाँ अगले कल्पमें प्रभुकी उपासिका गोपियाँ होंगी)।

---

१. कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

चौ०–मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदयँ कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥

भावार्थ : कहाँ इनके चरण कमलके समान कोमल और कहाँ वनका रास्ता इतना कठिन !—ऐसा सोचकर उनके हृदयमें व्यथा हो रही है और प्रीतियुक्त वाणीमें कहती हैं कि उनके चरणके नवपल्लवके समान लाल-लाल कोमल तलवोंको स्पर्श करके कठिन भूमि वैसे ही सकुचा जायगी जैसे हमारा हृदय उसकी कल्पनामें सकुचा रहा है।

शा० व्या० : श्रीमद्भागवतमें वर्णित गोपियोंके उद्गार[1]के समान ही इन स्नेहासक्त ग्रामनारियोंके हृदयोद्गार हैं। नीतिसिद्धान्तमें कहा गया है कि विधि मर्यादाका अवलम्बन करनेवाले महात्माओंको देखकर प्रसन्न हो प्रकृति स्वभावतः उनकी सेवामें तत्पर होती है जैसा भरतजीकी चित्रकूटयात्रामें द्रष्टव्य होगा—'देखि दसा सुर बरसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला' (चौ० ८ दो० २१६)

संगति : 'सोधि सुगम मग'में इन नारी भक्तोंका संकल्प स्फुट हो रहा है।

चौ०–जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा ॥४॥

भावार्थ : यदि ईश्वरने इनको वनवास ही दिया है तो वनमार्गको भी पुष्पके समान कोमल क्यों नहीं बना दिया ?

ईश्वरका पालकत्व

शा० व्या० : ये प्रीतिमार्गी भक्त नारियाँ रामवनगमनमें जगदीश्वरको कर्ता मानती हैं। जगत्का पालन करनेसे वे जगदीश्वर कहे जाते हैं तो नीतिमान् श्रीरामके साथ चलनेवाले लक्ष्मण और सीता-तीनोंकी सुकुमारताके अनुकूल मृदु मार्गकी व्यवस्था क्या नहीं करेंगे अर्थात् भक्तोंके आकांक्षित संकल्पके अनुरूप भूमि कोमल भावमें आकर उक्त 'सुमनमय मारगु' प्रदान करेगी।

'जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा'का भाव

श्रीराम कर्मणमलसे रहित हैं तो वनवासकी प्रसक्ति विधि द्वारा नहीं हो सकती जगत्के पालन कर्त्ता ईश्वर द्वारा वनवासका विधान है तो भविष्यत्में मंगल होना निश्चित है। उदाहरणार्थ सीताका लंकानिवास प्रभु द्वारा प्रेरित होनेसे सीताके पालन और सकुशल लौटनेका भार प्रभुपर है।

---

१. चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥
यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु। तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्। (दशमस्क० अ० ३२)

संगति : मोक्षसामग्रीमें अपेक्षित विराग, विवेक, तन्मयता, शमदमादि साधन सम्पत्ति इन भक्तोंमें भी पूर्ण है, अन्तर इतना ही है कि भक्तिमें दर्शनलालसा विशेष है। अतः उसी दिदृक्षाके लिए प्रार्थना कर रही हैं।

चौ०—जौ मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

भावार्थ : 'हे सखि,! विधातासे माँगनेसे मिल सके तो यही प्रार्थना है कि ये आँखोंमें बसे रहें।

भक्तिमें दिदृक्षा

शा० व्या० : योगमार्गकी मुमुक्षा और भक्तिमार्गकी दिदृक्षामें अन्तर ग्राम-नारियों द्वारा किये मनोरथ 'रखिअहिं आखिन्ह माहीं'से विशेष रूपसे प्रकट है। धर्मके अन्तर्गत जो पुण्य है उसका संचय वैदिकमर्यादाका पालन करते हुए अनन्यभावमें रहनेसे होता है। भक्तिशास्त्रमें उस पुण्यपुंजकी पूर्णता भगवद्दर्शनसे माना गयी है यही धर्म और भक्तिका समन्वय है।

संगति : पूर्वापर ग्रन्थ संगतिको लगाते हुए समझना है कि प्रभुदर्शनके आन्तरिक आनन्दानुभूतिको व्यक्त करनेके उल्लासमें प्रभुको देखनेवाले इन नरनारियों की इच्छा हो रही है कि जैसे वे दर्शनकी सुखानुभूति कर रहे हैं वैसे ही अनुपस्थित सज्जनोंको भी अपने वचनानुभावोंसे हम लाभान्वित करावें जैसा अक्रूरके साथ श्रीकृष्णके मथुरागमनके अवसर पर गोपियोंके उद्गार हैं।[1]

संगति : प्रमुदर्शनसे वंचित ग्रामवासियोंका दुःख आगे वर्णन किया जा रहा है।

चौ०—जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए ॥६॥
सुनि सरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गए कहाँ लगि भाई ॥७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनमफलु पाई ॥८॥

भावार्थ : उस अवसरपर जो स्त्री-पुरुष नहीं आये वे सीतारामको न देख सके। उनके सौन्दर्यके बारेमें सुनकर वे दर्शनके लिए व्याकुल हो पूछते हैं कि अबतक तीनों मूर्ति कहाँ तक गये होंगे? उनमें जो सामर्थ्यवान् थे वे दौड़कर उनका दर्शन करते हैं और आनन्दित होते हैं तथा जन्मकी सफलता मिल गयी ऐसा मानते हुए लौटते हैं।

प्रभुदर्शनकी उत्कण्ठा

शा० व्या० : अवसरकी व्याख्या चौ० ९ दो० ११० की व्याख्यामें द्रष्टव्य है। अवसर बार-बार नहीं आता। दर्शन किये हुए ग्रामवासियोंसे अनुपस्थित नर-नारी

---

१. सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
महोत्सव श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥
श्री० म० भा० द० स्क० अ० ३९

तीनों मूर्तियोंके सौन्दर्य और गुणोंको सुनकर दर्शनकी आकांक्षामें उत्कण्ठित हो गये। उन सज्जनोंके सहृदयतासे किये प्रभुके रूप-गुणके कीर्तनमें उनकी सात्विकतासे आकृष्ट होकर अनुपस्थित सज्जन प्रभावित हो प्रभुके दर्शनके लिये लालायित हो उठे, जिसको 'सुनि सरूपु बूझहिं अकुलाई'से व्यक्त किया है। स्मरणीय है कि सात्विकतामें असूयाका अभाव होनेसे ही प्रभुदर्शनकी पात्रता उपलब्ध हुई है।

'गये कहाँ लगि भाई'में 'भाई'के सम्बोधनसे स्पष्ट है कि ये नर-नारी दर्शनप्राप्त सज्जनोंमें स्वजन एवं सुहृत्का भाव रखते हैं। भक्तिभावमें प्रभुदर्शनकी उत्कण्ठामें प्रभुप्राप्तिका मार्ग उन्हीं सज्जनोंसे पूछना चाहिये जो सदसत्का विवेक रखनेवाले एवं लक्षणों आदिको जानकर प्रभुदर्शन प्राप्त करनेवाले विद्वान हैं, क्योंकि उनके वचन-प्रमाण ही प्रभुदर्शनके लिए प्रेरक हैं—जिसको 'बूझहिं'से संकेत किया है। उनके वचनों पर आस्था रखकर कार्यमें प्रवृत्त होनेवाले 'समरथ धाई'से विवक्षित हैं। उनके कार्यकी सफलतामें कृतार्थताका अनुभव 'बिलोकहिं, प्रमुदित, जनमफलु पाई'से व्यक्त है।

सामर्थ्य एवं सफलता

'समरथ धाई' एवं 'जनमफलु पाई' का सैद्धान्तिक तात्पर्य यह है कि प्रभुसेवा-मार्गमें अज्ञानकी निवृत्ति और ज्ञानकी उपलब्धिकी योग्यताके प्रति सामर्थ्य। ऐसा सामर्थ्यवान् उपासक बन्धनमुक्त हो कर्तव्यमार्गमें बढ़ता है तो उसकी शंका निवृत्त होकर उसको यथार्थ वैराग्य, कार्यसफलतामें संतोष एवं जन्मकी सार्थकता या कृतार्थताका अनुभव होता है अथवा लक्षणज्ञ आप्तजनोंसे प्रभुप्राप्तिका मार्ग पूछने और समझनेके बाद किसी प्रकारकी शंका न करते हुए आलस्य छोड़कर जो सेवक या साधक निर्दिष्ट मार्गपर चलता है, वह सफल होता है।

रामदर्शन करनेवाले सज्जनोंका वर्णन पहले भी किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि रामदर्शन प्राप्त करनेवाले आप्तजनोंने रामदर्शनाकांक्षियोंको एक ही रूप और एक ही मार्ग बताया है जो अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार 'सर्ववादि सम्प्रतियन्न' है।[1]

ज्ञातव्य है कि चौ० ४ दो० ११० में कहे 'तिन्ह करि जुगुति राम पहिचाने' के अन्तर्गत यह भी एक प्रकार है।

चौ० ८ दो० १०९ में प्रभुदर्शन प्राप्त करनेवाले सज्जनोंकी जो स्थिति 'होहिं सनाथ जनमफलु पाई'से व्यक्त है, वही स्थिति इन अनुपस्थित नर-नारियोंको भी प्रभुदर्शन प्राप्त करनेपर सुलभ हुई है जैसा 'प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई'से स्पष्ट है।

---

१. कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः

वैशेषिक भाष्यमें सुखके भेदके अनुसार मानोरथिक, वैषयिक, आभिमानिक आभ्यासिक एवं विद्याधर्मनिमित्तक सुख कहा गया है। यहाँ कविने 'प्रमुदित'से सर्वविध सुखकी उपलब्धि बतायी है। ये दौड़नेवाले सज्जन अपने मनोरथके अनुकूल प्रभुदर्शन पा रहे हैं जो वैषयिक सुख है। रामदर्शन पाकर अपने जन्मकी सफलता मानना आभिमानिक सुख है। हृदयपटलमें उन मूर्तियोंका बारम्बार दर्शन होना आभ्यासिक सुख है। ऋषि-मुनियोंके सम्पर्कमें विद्या-भक्तिका यथार्थ रूप समझकर विवेक होना विद्याधर्मसे प्राप्त सुख है। भक्तियोगकी पूर्णतामें ग्रामवासियोंका प्रयत्न धारणा, एकाग्रता, तत्त्वजिज्ञासा तथा तत्त्वका परिचय उनके चरित्रनिरूपणसे दर्शाया है।

संगति : सामर्थ्यवानोंका वर्णन करनेके बाद सामर्थ्यहीनोंका हाल बताया जा रहा है।

दो० : अबला बालक वृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेम बस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं ॥१२१॥

भावार्थ : अबला अर्थात् गर्भवती या प्रसूता आदि होनेके कारण जो बलहीन स्त्रियाँ थीं, बच्चे और बूढ़े लोग (जो प्रभुदर्शनसे वंचित रह गये) हाथ मल-मल कर पूछता रहे हैं। श्रीराम जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ लोग इसी प्रकार प्रेमके वश हो जाते हैं।

शा० व्या० : कहनेका निष्कर्ष है कि समर्थ और सामर्थ्य रहते जो प्रभुप्राप्तिके लिए प्रयत्नशील नहीं होते उनको अवसर निकल जानेपर उपर्युक्त सामर्थ्यहीनोंके समान पछताना पड़ता है।

अबला—स्त्रियोंको सौन्दर्यमें जितना अधिक आकर्षण होता है उतना ही उनमें विवेक कम होता है। विवेक न होना ही बल या सामर्थ्यका अभाव है।

बालक—विषय-ग्रहणमें बिलकुल असमर्थ होना बालक-स्वभाव है।

वृद्ध—ज्ञानकी उपलब्धि करनेपर भी वार्धक्यके कारण कृतिसाध्यताके निर्णयके अवसरपर सामर्थ्यका अभाव रहना, फलोपलब्धिके प्रति आसक्ति रहते भी फलसे वंचित रह जानेपर पश्चात्ताप करना वृद्धका स्वभाव हो जाता है जिसमें प्रभुकृपाका भी विस्मरण हो जाता है।

संगति : "यत्र यत्र ग्रामे नीतिमान् प्रभुः रामः गच्छति तत्र तत्र सर्वेपि प्रेम लक्षणसम्पन्नाः भवन्ति" इस व्याप्तिको बतानेके लिए ग्रामवासियोंके वृहत् विवेचनका तात्पर्य है। नीतिमान् साधुके लिए कोई स्थान परदेश या कोई व्यक्ति अबन्धु नहीं है क्योंकि ऐसा महात्मा अपने स्नेहमय जीवनके सम्पर्कमें आनेवालोंको अद्भुत-रसमें आकर्षित कर उनमें आत्मीयताको जागृत कर देता है।

चौ०—गाँव गाँव अस होइ अनन्दू। देखि भानुकुल कैरव चन्दू ॥१॥

भावार्थ : सूर्यकुलके चन्द्र श्रीरामको देखकर गाँव गाँवमें ऐसा ही आनन्द हो रहा है।

शा० व्या० : उपनिषद्में गरुड़की उपमासे आनन्दकोषको बतानेमें प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्दका निरूपण किया गया है अर्थात् गरुड़का सिर 'प्रिय' है, उसका दक्षिणपक्ष 'मोद' और उत्तरपक्ष 'प्रमोद' है, आत्मा 'आनन्द' है। प्रभु रामके दर्शनसे प्रत्येक ग्राममें होनेवाले आनन्दको वर्णन करनेमें शिवजी उसी 'आनन्द आत्मा'की अनुभूति कर रहे हैं क्योंकि नीतिके अनुष्ठानमें सुखोपलब्धिकी सम्पूर्ण सामग्रियाँ निहित हैं। यहाँ ध्यान देना है कि नीतिमान श्रीराम ग्रामवासियोंको सुखी करके जनानुराग बना रहे हैं, इसमें त्यागमय जीवन अपेक्षित है।

संगति : अदृष्टवादियोंका विचार पूर्वमें विधिके उपालंभसे वर्णन किया जा चुका है। जिन्होंने राम-वनवासका समाचार अभीतक नहीं सुना है वैसे दृष्टवादियोंका विचार कहा जा रहा है।

चौ०—जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोष लगावहिं ॥२॥

भावार्थ : जो लोग रामवनवाससम्बन्धी कुछ समाचार सुनते हैं वे राजा और रानी (कैकेयी) को दोषी बताते हैं।

समाचार

शा० व्या० : पूर्वोक्त अदृष्टवादके खण्डनको बतानेके लिए यहाँ हेतुतया 'समाचार सुनि' कहा गया है। अतः 'समाचार'से वही समाचार समझना चाहिए जो कैकेयीकी उक्ति 'आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूँछेहु आई' तथा 'समाचार जब लछिमन पाए'में समाचारका विषय निरूपित है। यह समाचार कर्णोपकर्णिकया क्रमशः फैलता हुआ दूरस्थ ग्रामवासियोंतक पहुँचा, जहाँ दृष्टका विचार करते हुए कतिपय ग्रामवासियोंने राजा-रानीको दोषी ठहराया। अर्थात् उनकी दृष्टिमें राजाकी कामवशता एवं कैकेयीका स्त्रीत्वप्रयुक्त हठ (जिसके मूलमें मन्थराकी भेदनीति है) रामवनवासमें मुख्य कारण है। यह दृष्टवादियोंका पूर्वमत है।

संगति : दृष्टवादियोंका उत्तरमत आगे कहा जा रहा है—

चौ०—कहहिं एक अति भल नर नाहू। दीन्ह हमहि जोइ लोचन लाहू ॥३॥

भावार्थ : कुछ लोग कहते हैं कि राजाने अत्यन्त भला किया जो हम लोगोंको (तीनों मूर्तियोंके दर्शनका सुयोग बनाकर) हमारा नेत्र सुफल किया है।

चौ०—कहहिं परसपर लोग लोगाईं। बातें सरल सनेह सुहाईं ॥४॥

भावार्थ : उस मतके अनुयायी स्त्री-पुरुष आपसमें इस प्रकारकी सीधी-साधी प्रेमभरी बातें करते हैं जो शोभनीय हैं।

कृत्यपक्षका अभाव

शा० व्या० : राजनीतिविधानके अन्तर्गत कृत्याकृत्य पक्षको लेकर जनतामें जो वादविवाद होता है[1] उसको 'कहहिं परसपर'से व्यक्त किया है। 'सरल सनेह'से राजाके प्रति 'कृत्य-पक्ष'का अभाव स्पष्ट किया हैं अर्थात् राग या भयके वश हो किसी दबावमें पड़कर राजशासनसे बाध्य होकर वे ऐसी बातें नहीं कर रहे हैं। 'सुहाए'का भाव है कि छल-कपटसे रहित हो जनता राजाके सम्बन्धमें एकमत है।

संगति : ग्रामवासियोंके सरल स्वभावका प्रतीक उनका उद्गार आगे व्यक्त है।

चौ०–ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाए। धन्य सो नगरु जहाँ ते आए ॥५॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ ॥६॥

भावार्थ : वे माता-पिता धन्य हैं जिन्होंने इनको जन्म दिया है। वह नगर धन्य है जहाँसे ये आये हैं। वह देश, पहाड़, वन और गाँव धन्य है (जिसमें इनका स्थान है) और वह वह स्थान भी धन्य होगा जहाँ जहाँ ये जायँगे। (दो० १३५ और उसके आगे उक्त धन्यताकी पुष्टि होगी)।

देशवासियोंकी प्रीतिमें राजाको बलप्राप्ति

शा० व्या० : दो० ११३ तक श्रीरामके प्रभुत्वसूचक व्याप्तियोंके अन्तर्गत इन ग्रामवासियोंके उद्गारका वर्णन है। अभी स्मरणीय है कि देशवासियोंकी राजाके प्रति प्रीति उसके शीलगुणके प्रभावसे बनती है, केवल मासिक वृत्ति आदिसे नहीं, तभी मौल भृत्योंकी उपलब्धि हो सकती है। राजा दशरथ एवं श्रीरामने अपने स्नेह शीलसे प्रजाका ऐसा प्रीतियुक्त स्वभाव बनाया हे जिसमें देशवासी राजाके पुत्र श्रीरामके सम्बन्धसे माता-पिता, नगर, देश, पहाड़, वन, गाँव एवं गन्तव्य स्थानोंको भी धन्य मानते हैं। इस कथनसे कविका संकेत हे कि दण्डकारण्यकी अशुचिता समाप्त होकर उसका 'प्रत्यन्तत्व' (म्लेच्छदेशत्व) श्रीरामके आगमनसे समाप्त होनेवाला है।

चौ०–सुखु पायउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही ॥७॥

भावार्थ : जिनका प्रीतिसम्बन्ध श्रीरामसे है या जिनको श्रीरामने अपना सान्निध्य दिया है उन सबको बनाकर ब्रह्माने सुख पाया है।

शा० व्या० : 'पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्। यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः' इस भागवतोक्तिके अनुरूप ग्रामवासियोंकी उक्ति है।

चौ०–राम लखन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई ॥८॥

---

१. सर्वगुणसम्पन्नश्च राजाश्रूयते न चास्य कश्चित् गुणो दृश्यते यः पौरजानपदान् दण्डकराभ्यां पीडयति इति तत्र येनुप्रशंसेयुस्तानितरस्तं च प्रतिषेधयेत्।

भावार्थ : मार्गमें चलते हुए श्रीराम लक्ष्मणके सम्बन्धमें जो कथा प्रसिद्ध है वह सर्वत्र वनमार्गवासियोंमें फैली हुई है।

शा० व्या० : श्रीराम लक्ष्मणके सम्बन्धकी वही कथा है जो 'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई' चौ० ७ दो० १०९ से यहाँतक वर्णन की गयी है।

दो०—एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्र समेत ॥१२२॥

भावार्थ : इस प्रकार रघुकुलको उज्ज्वल करनेवाले श्रीराम मार्गवासियोंको सुख देते हुए वनकी शोभा देखते सीता और लक्ष्मणके साथ चले जा रहे हैं।

उपसंहार

शा० व्या० : दो० ११३ में कहे 'देखत गिरि बन बृहग मृग रामु चले मग जाहों'का उपसंहार करते हुए यहाँ 'चले देखत बिपिन' कहा है। 'सिय सौमित्र समेत'के उल्लेखसे ऐसा मालूम होता है कि सीता और लक्ष्मणको वन दिखानेका कौतुक प्रकट कर रहे हैं क्योंकि सीताने वन कभी देखा नहीं और लक्ष्मणको वन देखनेकी उत्सुकता है। पथिकों एवं मगवासियोंको सुख देनेकी पूर्वोक्त विधिको 'एहि विधि'के अन्तर्गत समझना चाहिए। प्रभुके वनगमनका मार्ग उसी विधिसे निर्दिष्ट है जो भरद्वाज ऋषिने बताया है।

श्रीराम जैसे सर्वगुणसम्पन्न नीतिमानके राज्यनिष्कासनसे उत्पन्न क्षोभको आटविकों, वटु, ब्रह्मचारियों, ब्राह्मणों, तपस्वियों, मुनियों, वनमार्गस्थ ग्रामवासियों आदिके हृदयसे दूर करते हुए अब प्रभु चित्रकूटनिवासकी ओर बढ़ रहे हैं जहाँ भरत-मिलनसे अयोध्यावासियोंका भी क्षोभ दूर होगा।

संगति : भरद्वाज ऋषि द्वारा निर्देशित मार्गपर श्रीराम, सीता और लक्ष्मणके चलनेके क्रमसे कवि वेदप्रतिपादित मार्गमें ब्रह्मके सम्बन्धसे जीव और मायाकी स्थिति बता रहे हैं—

चौ०—आगे रामु लखनु बने पाछे। तापस बेष बिराजत काछे ॥१॥

भावार्थ : सबसे आगे श्रीराम हैं और सबके पीछे लक्ष्मण सुशोभित हैं। तपस्वीका वेष धारण किये दोनों शोभा पा रहे हैं।

तापसवेषकी विशेषणता

शा० व्या० : 'तापसवेष विराजत काछे'से स्पष्ट किया गया है कि वे तापस-वेषसे उपहित न होकर तापसवेषविशिष्ट हैं। 'वचस्येकं मनस्येकं कर्मण्येकं महात्मनां'के अनुसार माता पिताके आदेशमें वास्तविक श्रद्धा रखकर वे तापसवेष धारण किए हैं।

प्रभुका शास्त्रशरीर अनुगमनहि है

मार्गमें चलते लक्ष्मणजी जिस मर्यादामें प्रभुका अनुगमन करते हैं उसमें

शास्त्रीय सिद्धान्त स्मरणीय है—धर्म प्रभुका वक्षस्थल और अधर्म पीठ है। प्रभुका सामुख्य जबतक न हो तबतक जीवको शास्त्रसम्मत मार्गपर चलते हुए प्रभुचरणोंको देखते रहना चाहिए। शास्त्र भगवान्‌का शरीर है। शास्त्रीय मार्गके अनुसरणका फल है कि प्रभु प्रसन्न होकर अपने मुखारविन्दका दर्शन शास्त्रानुगामीको कराते हैं। शास्त्रोंकी उपेक्षा करनेसे जीवको प्रभुकी पीठ अर्थात् अधर्म ही दिखायी पड़ेगा। इस प्रकार भरद्वाज ऋषी द्वारा निर्दिष्ट शास्त्रसम्मत मार्ग, श्रीरामके प्रभुत्वसूचक उक्तियों का निरूपण एवं तापस आदिकोंके परिज्ञात तत्त्वको कवि साहित्यिक भाषामें समझा रहे हैं।

संगति : शास्त्रानुसरणमें माया किस प्रकार प्रभुदर्शनमें बाधक न होकर उपासकके लिए सहायक होती है, इसको कविने सीताके चलनेका क्रम वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है।

चौ०—उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥२॥

भावार्थ : श्रीराम और लक्ष्मणके मध्यमें सीता ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया रहती है।

शा० व्या० : विक्षेपात्मक मायामें प्रतिफलित ब्रह्म ईश्वररूपमें परिणत होता है। अज्ञान एवं विक्षेपयुक्त मायामें प्रतिफलित जीव कहलाता है। ग्रन्थकारके मतानुसार मायासे यहाँ विक्षेप एवं आवरण विवक्षित है। अथवा भक्तिसिद्धान्तमें ऐसा मानना होगा कि ब्रह्मका रामस्वरूप होनेसे मायामें प्रतिबिम्बित होना ही जीव भाव है। यह माया भावरूपा होनेसे ईश्वर, ब्रह्म और जीवका भेद कल्पित करती है।

संगति : विद्वान् ग्रन्थकार भगवत्कृपासे श्रीराम और लक्ष्मणके मध्यवर्तिनी सीताको माया और रामको ब्रह्म बताकर ईश्वरसम्बन्धी पहचान प्रस्तुत कर रहे हैं।

चौ०—बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई ॥३॥

भावार्थ : श्रीराम लक्ष्मणके बीच सीताके चलनेकी जो शोभा मनमें बस रही है उसका वर्णन पुनः करते हुए कवि कहते हैं कि मानो वसन्त ऋतु और कामदेवके बीच रति सुशोभित हो।

शा० व्या० : छबि (शोभा)की व्याख्या इस प्रकार है—

> सा शोभा सैव कान्ति स्यात् मन्मथाप्यायिता छबिः।
> स्पर्धाविक्रियते यत्र सा शोभेति कीर्तिता।
> स्वप्रभावप्रकटनं शोभेति परिकीर्त्यते ॥ (भावप्रकाशन)

प्रीतिका उच्छलन

रसानुगुण-ध्यानसे इच्छित वस्तुका चिन्तन करते ध्यानभक्तिमें सामाजिकोंके हृदयमें प्रेमरसका जो प्रवाह होता है उसको मधु-मदन-रतिकी उपमासे कवि समझा रहे हैं। प्रेमपिपासू जन मदनरूपराम और मधुरूपीलक्ष्मणके बीच रतिरूपा सीताका

ध्यान करके भक्तिरसका स्वाद लेते हैं। मधुर भावमें मथनशील मनमें रामको कामदेव रूपमें देखनेसे प्रेमरसका उच्छलन जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे तृप्तिका अनुभव होता है जिसमें प्रभु स्नेहवल्लीके रूपमें प्रकट होते हैं। उक्त उपमा-उपमान भावको वर्णन करके कवि इसी स्नेहवल्लीको समझते हैं। इसी स्नेहात्मक तत्त्वके आविर्भावके लिए मदनसे श्रीरामकी उपमा दी गयी है।

संगति : लक्षणज्ञ विद्वान् ग्रन्थकारके द्वारा रामके प्रभुत्वकी पहचानका निरूपण आगे हो रहा है—

चौ०–उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ॥४॥

भावार्थ : वनमार्गमें श्रीराम और लक्ष्मणके बीचमें सीता चल रही है, उस शोभाको वर्णन करनेमें मनमें बहुत ढूढ़कर कवि उसकी उपमा बता रहे हैं कि मानो बुध और चन्द्रमाके बीच रोहिणी नक्षत्र हो।

शा० व्या० : लक्षणोंको पहचानकर प्रभुकी पहचानमें उक्त उपमा देना परिश्रमसाध्य मालूम होता है; अनुभववेद्य नहीं है—ऐसा 'जिय जोही'से स्पष्ट होता है। श्रीरामको चन्द्रमा, लक्ष्मण को बुध और उन दोनोंके बीच शकटसदृश रोहिणी-रूपा सीताकी शोभाको देखकर लक्षणों द्वारा लक्ष्यकी पहचान करके मनमें आह्लाद हो रहा है है। बुध चन्द्रमाका पुत्र है, इस सम्बन्धसे बुधस्थानीय लक्ष्मणके प्रति पुत्रका वात्सल्यभाव प्रकट है। वृषका चन्द्रमा रोहिणीके संसर्गसे उच्चका माना जाता है जिसका तात्पर्य है कि ज्योतिषशास्त्रके अनुसार श्रीरामका राजयोग स्पष्ट है।

संगति : श्रीरामका अनुगमन करते हुए सीता और लक्ष्मणको प्रमाद नहीं है इसको आगे बता रहे हैं।

चौ०–प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता ॥५॥

भावार्थ : प्रभुके पीछे चलनेवाली सीता प्रभुके दोनों चरणोंके चिह्नोंके बीच-बीचमें होकर चलती है। इसप्रकार मार्गमें चलते अपने पैरोंको धरतीपर डरते-डरते रखती हैं (कि कहीं प्रभुके पादचिह्न पद्दलित न हो जाँय।

धर्ममें प्रमाद अक्षम्य

शा० व्या० : प्रभुका अनुगमन करनेमें सीता और लक्ष्मणकी उक्त सावधानी से बताया जा रहा है कि धर्माचरण करनेवालोंको प्रमाद क्षम्य नहीं है। प्रमादमें अदृष्टसिद्धि नहीं होती। धर्मानुष्ठान करनेवाले प्रीतिके आवेगमें प्रमाद करते हैं तो कामुकता आती है जो उनके साधनमार्गमें बाधा करनेवाली है। प्रमादमें संस्कारका विलोप होनेसे कर्तव्यका ध्यान नहीं रहता। 'सभीता'से सावधानी दर्शाया है। धर्माचरण करनेवालोंको मर्यादाके उल्लंघनका भय रहना चाहिए।

नाट्यशास्त्रानुसार पदक्षेपोंके अन्तरसे सात्विकताकी पहचान होती है। इसी क्रमसे सिंहगामिनित्व, गजगामिनित्व आदिकी भी पहचान होती है। उदाहरणार्थं

प्रस्तुत प्रसंगमें परम सात्विक लघु होनेसे श्रीरामके पदक्षेपोंका अन्तर साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा दूरवर्ती होना चाहिये। श्रीरामके चरणोंमें शङ्ख, चक्र, पताका, यव, पद्म आदि चिह्नोंका होना शास्त्रानुमोदित है। धर्मावलम्बी उपासकोंके लिए प्रभुचरण ध्येय हैं क्योंकि शास्त्र और तर्क ही प्रभुचरण हैं।[1]

नीतिमत्ता एवं प्रीतिमत्ता ही प्रभुका व्यावहारिक एवं नैतिक स्वरूप है। मुनिव्रतके अन्तर्गत प्रभु 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं' का निर्वाह करते हुए चलते हैं। उनके अनुगत सीता और लक्ष्मण प्रभुके चरणोंका ध्यानपूर्वक दर्शन करते हैं। इस प्रकार प्रभु अपने शरणागतको 'सोधि सुगम मग'की उपलब्धि अनायास कराते हैं।

चौ० : सीय राम पद अङ्क बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥६॥

भावार्थ : सीता प्रभुपद रेखाओंको बचाती हुई (बिना मिटाए) चलती हैं। (तर्क एवं प्रमाण ही प्रभु के चरण हैं)। लक्ष्मणजी दोनोंके चरणचिह्नोंको बचाते हुए दक्षिण काटकर मार्गमें चलते हैं।

शा० व्या० : 'राम पद अङ्क बराएँ'का भाव है कि 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी'के अनुसार माया स्थानापन्ना सीता प्रभुपद चिह्नोंको न ढककर जीव स्थानापन्न लक्ष्मणको पदचिह्नोंके दर्शनका योग बनाती है। तात्पर्य यह है कि जो सेवक या उपासक प्रभु चरणरूप तर्क एवं प्रमाणका अनुसरण करता है, माया उसको तत्वका विशेष दर्शन कराती हुई आवरणसे आच्छन्न न कर शरणागताकांक्षी सेवकको प्रभुप्राप्तिका अधिकारी बनाती है। सीताका प्रभुके तथा अपने पाद चिह्नोंको मार्गमें लक्ष्मणजीके दर्शनार्थ छोड़ते हुए चलनेका यही तात्पर्य है। यहाँ ज्ञातव्य है कि जब शास्त्र उपेक्षित हो जाता है तभी माया अविद्यारूप होकर जीवको चिरकालके लिए अज्ञानमें रखकर ईश्वरविमुख कर देती है।

'दाहिन लाएँ'से प्रदक्षिणामें दक्षिणावर्त परिक्रमाका विधान सूचित करते हुए लक्ष्मणजी द्वारा सीतारामके पद-चिह्नोंका अत्यन्त आदर और सावधानी व्यक्त है। दाहिनी ओरसे चलना अनुकूलताका शुभसूचक है। निष्कर्ष यह है कि जो सेवक (प्रभु-पद-चिह्नों) प्रमाण एवं तर्कका आदर करते हुए उपासना मार्गमें लगा रहता है उसको मायाकी अनुकूलतासे प्रभुकृपाकी पात्रता प्राप्त होती है।

चौ० : राम लखन सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥७॥

भावार्थ : श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीता तीनोंमें ऐसी प्रीति सुशोभित है जिसको वर्णन करनेमें वाक्-इन्द्रियकी पहुँच नहीं है तो उस प्रीतिको कैसे बताया जाय ?

---

१. 'ईशस्यैष निवेशितः पद्युगे' (न्यायकुसमांजलिः)
ईशस्य पद्युगे······प्रमाणतर्करूपे (प्रकाश टीका)

प्रीतिमें विश्वासस्थायिता

शा० व्या० : 'प्रीति सुहाई'का भाव है कि तीनोंमें शुद्ध प्रीति होनेसे परस्परमें विश्वास्यता एवं हितसाधनताका भाव स्थिर है। रामचरणोंके अनुगामी सीताजी एवं लक्ष्मणजीमें अवज्ञा, मत्सर, ईर्ष्या आदि दोष नहीं हैं, तृष्णा या अभिमानकी आकांक्षा नहीं है। श्रीरामके प्रति सेव्य-सेवकभाव रखते हुए दोनोंको परस्परमें शङ्का या तर्जना नहीं है। श्रीरामकी संरक्षतामें प्रेमप्रवाहके रसमें दोनों प्रवाहित हैं। दोनों भाइयोंके मध्यमें स्त्रीका सम्पर्क होते हुए भी उनमें शङ्काकी स्थान नहीं है, ऐसा कहना संस्कृति या नीति की दृष्टिसे संगत हो सकता है। श्रीरामके प्रति लक्ष्मणजीका मातृ-पितृ भावके साथ गुरु-शिष्य भाव भी है जैसा 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी'से लक्ष्मणजीने वनगमनके अवसरपर स्पष्ट किया है।

संगति : वनके मृग आदिका वर्णन सीताजीने वनवासके आरम्भमें माताके सामने किया था, उसी प्रीतिका वर्णन कवि आगे कर रहे हैं।

चौ०—खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोही ॥८॥

वनके खग-मृग तीनों मूर्तियोंकी 'प्रीति सुहाई'को देखकर आनन्दित हैं। पथिक रूप रामने उनके चित्तका आकर्षण कर लिया है।

अहिंसादिका प्रभाव

शा० व्या० : पशु पक्षी आदि जीवोंमें निर्वैरताका भाव व्याप्त है जो तीनोंके अहिंसाव्रतका प्रभाव है, इसको 'मगन देखि छबि होहीं'से स्फुट किया है। 'राम बटोही'का भाव है कि ईश्वर अपने अंश आत्माके रूपमें जीवमें पथिककी तरह रहता है। आत्मगुणसम्पन्न होनेपर देहान्तर्गत मनरूपकाननमें विचरनेवाली इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ जो पशुपक्षीके समान हैं, एकाग्र हो जाती हैं जिसको 'लिए चोरि चित'से स्पष्ट किया है।

गुहके मिलनके बाद आगे मिलनेवाले मार्गस्थ ग्राम-पुरवासियोंको श्रीरामके त्यागमय जीवनका परिचय जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे रामदर्शनसे अपनेको कृतार्थ मानकर वे सब स्नेहमें आ गये। फल यह हुआ कि उनके हृदयसे श्रीरामका राज्यसे निष्कासनप्रयुक्त क्षोभ समाप्त हो गया तथा उदासिभावमें मुनिव्रतको पूर्ण करनेमें स्वराष्ट्रमण्डलकी ओरसे होनेवाली बाधाकी सम्भावना न रही।

दो०—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भव मग अगमु अनन्दु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ ॥१२३॥

भावार्थ : जिन जिन वनवासियोंने सीता सहित दोनों भाइयोंको प्रिय पथिकके रूपमें देखा उनका अगम संसारपथ अनायास समाप्त हो गया और उनको आनन्दकी उपलब्धि हो गयी।

जीवदशामें मुक्ति

शा० व्या० : महाव्रतमें स्थित दोनों भाइयोंको सीताके साथ जिन जिन वनस्थ ग्रामपुरवासियोंने देखा उनकी कामुकता समाप्त हुई। प्रेमतत्वके रूपमें रामका दर्शन करके दुःखके अभावकी स्वतः सिद्धि होकर उनको आनन्दकी प्राप्ति हुई—यही जीवदशामें मुक्ति है। 'सिय समेत' कहनेसे जीवकी जीवनमुक्तिमें मायाकी अनुकूलताकी प्रधानता दिखाया है। 'अनन्दु'से आत्मानन्दका सुख कहा गया है।

संगति : पथिक रूपमें श्रीरामके साथ सीता और लक्ष्मणके ध्यानका माहात्म्य बता रहे हैं।

चौ०—अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखन सिय राम बटाऊ॥१॥
रामधाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥२॥

भावार्थ : लक्ष्मण सहित सीता-रामके पथिकरूपका ध्यान आज भी जिसके हृदयमें स्वप्नमें भी होगा वह प्रभुके धाम पहुँचनेका मार्ग अवश्य पावेगा। यह पथ ऐसा दुर्लभ है जो कोई कोई मुनिको कभी कदाचित् सुलभ होता है।

रामधाम-मार्ग

शा० व्या० : 'सोधि सुगम मगु' (चौ० ८ दो० ११८)से वर्णाश्रमधर्म संबलित वेदप्रतिपादित मार्ग है जो मुनिराज भरद्वाजद्वारा निर्देशित है। प्रभु इसी मार्गके पथिक हैं। भगवत्-शरीर शास्त्र हैं जिनकी मर्यादाकी रक्षा मायारूपिणी सीता कर रही है। जीवभावमें लक्ष्मण रामपथपर सावधानीसे चल रहे हैं व अन्तमें रामधाममें पहुँच जायेंगे। वाल्मीकिद्वारा निर्णीत प्रभुका निवासस्थान चित्रकूट ही रामधाम है। इसी रामधाममें पहुँचनेका संकल्प भरतजीका होगा जैसा 'चले चित्रकूटहिं चितु दीन्हें' (चौ० ३ दो० २१६)में स्फुट है। जिस प्रकार श्रीराम (पथिक)के साथ पथिकरूपमें सीता और लक्ष्मण उनका अनुगमन करते हुए रामधाममें पहुँच गये उसी प्रकार चौ० ५ दो० १९९से चौ० ३ दो० २०१ तक वर्णित तीनों मूर्तियोंके बटाऊरूपका ध्यान करते हुए भरत रामधामपथका अवलम्ब लेते हुए सम्पूर्ण समाजको, जो दो० ८६में कहे अनुसार रामदर्शनका ध्यान कर रहा है, उसी पथका अनुसरण कराते हुए रामधाममें पहुँचा देंगे।

'बसहुँ लखन सिय राम बटाऊ'में लक्ष्मणके नामका सर्वप्रथम उल्लेख करनेका तात्पर्य जीवोंके शिक्षणार्थ है। प्रभुका अनुगमन करनेवाले लक्ष्मण और सीताके आदर्शमें प्रीति रखनेवाले सज्जनोंको प्रभुधामका मार्ग सुगमतासे प्राप्त होगा, ऐसी फलस्तुति यहाँ गायी है। जो दास या सेवकभाव नहीं रखता एवं अनन्यप्रीतिसे रहित है, वह मुनि भी क्यों न हो अपने साधनश्रमके बलपर रामधामको सुलभ नहीं कर सकता। अरण्यकाण्डमें ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति आदिके विवेचनमें प्रभुने जो लक्ष्मणको सुनाया है उसमें भी यह विषय चर्चित है।

शास्त्र वाङ्मयमात्र नहीं

रामायण, नाटक, रामलीला आदिके माध्यमसे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके आदर्शमय जीवनको समझकर हृदयमें प्रीति उमड़ती है तो ऐसे सज्जन वर्तमान समयमें भी दुःखशून्य होते हैं, आनन्दपर पड़ा पर्दा हट जाता है। भारतीय संस्कृति वाङ्मय मात्र है, आदर्श नहीं है—ऐसा जो कहते हैं, उसका उत्तर पथिक श्रीरामके चरित्रसे स्फुट है। वनगमनमें श्रीरामके जीवनमें जो आदर्शमय चरित्र अभिनीत हुआ है उससे प्रीतिनिमग्न हो तीनों मूर्तियोंका स्वरूप पथवासियोंके हृदयमें बस गया है। उनके चरित्रका अभिनय देख-सुनकर आज भी सामाजिकोंका हृदय भक्ति एवं प्रीतिसे ओत-प्रोत होता रहता है।

संगति : 'बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ'के अनुसार उपासनामें तीनों मूर्तियोंका निवास ध्येय है जैसा वाल्मीकि-सम्वादमें आगे स्फुट होगा। यह अग्रिम ग्रन्थसंगति है।

चौ०–तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी ॥३॥

भावार्थ : दो० १२२में कहे अनुसार प्रभु वनमार्गमें चलते जा रहे हैं। तब प्रभुने मनमें समझा कि सीता थक गयी है। पासमें ही वटकी शीतल छाया और पानीकी सुविधा देखकर (ठहर गये)।

वासकी विभिन्नता

शा० व्या० : सीताके श्रमित होनेका विस्तृत विवेचन चौ० ३ दो० ११५की व्याख्यामें द्रष्टव्य है। जहाँ सीताका श्रमित होना है वहाँ प्रभुका विश्राम है। जहाँ केवल वटछाया है वहाँ घरिक (अल्प) विश्राम है। जहाँ वटछाया, वापी-स्रोत आदिके जल एवं फलमूल आदिकी सुलभता है वहाँ रात्रिनिवास है।

सेवा वही है जिसमें सेवकको श्रमका भान ही न हो जैसा भरतजीने कहा है 'सब ते सेवक धर्म कठोरा।' 'जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे' (चौ० १ दो० १४२)के अनुसार प्रभु सेवककी सँभालमें सचेत हैं। इसलिए प्रभुको सीताके श्रमका अनुमान हो जाता है। इस सम्बन्धमें ज्ञातव्य है कि सात्विक व्यक्तियोंके चलनेमें पदका संक्रमण जितनी दूरीपर होता है उस गतिमें अन्तर पड़नेपर उसके श्रमका अनुमान हो सकता है। 'श्रमित सिय जानी'से ऐसा अनुमान भी वक्तव्य है।

'मोहि मग चलत न होइहि हारी।' (चौ० १ दो० ६७) तथा 'नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरे' (चौ० २ दो० ९९)के अनुसार स्मरण रखना होगा कि सीताको कभी श्रमका भान नहीं होगा, न तो वह श्रमका दुःख व्यक्त करेगी। इसका विशेष विचार चौ० ३ दो० ११५की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

चौ०–तहँ बसि कंदमूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई ॥४॥

भावार्थ : चौ० ३में कहे स्थानपर प्रभुने रात्रिनिवास किया और कन्दमूल फलका आहार लिया। प्रातःकाल होते ही स्नान करके आगे चले।

शा० व्या० : जैसे गंगापार करनेपर 'विटप तर वासू'का एक प्रयोजन भरद्वाज-मिलन है, जिसमें मार्गकी आकांक्षापूर्ति उद्देश्य है, उसी प्रकार 'तहँ बसि'का प्रयोजन वाल्मीकि-मिलन है जिसमें 'कुत्र वसेम'की इतिकर्तव्यताकी आकांक्षापूर्ति उद्देश्य है।

संगति : निवासकी इतिकर्तव्यताके निर्णयार्थ प्रभु वाल्मीकि आश्रममें जा रहे हैं।

चौ०—देखत वन सर सैल सुहाए। वाल्मीकि आश्रम प्रभु आए ॥५॥

भावार्थ : वन, तालाब और पहाड़ोंकी शोभा देखते प्रभु वाल्मीकि मुनिके आश्रममें आ गये।

शा० व्या० : कौसल्याजीके संवादमें तथा सीताराम-संवादमें वनका जो दृश्य बताया गया है उसमें 'वन सर सैल'को देखते हुए तीनों मूर्ति वाल्मीकि आश्रममें पहुँच गये। 'आए'से प्रभुका कर्तृत्व—निवासकी आकांक्षाका प्रयोजन बताया है।

अथर्ववेदमें वर्णन मिलता है कि प्रयागसे आगे जानेपर जो वनका आरम्भ होता है उस वनप्रान्तमें मलेरिया आदि महामारी रोगोंके कीटाणु मिलते हैं जिनको मन्त्रप्रयोग द्वारा वहाँ भगा दिया जाता है। ऐसे वनमें पथिकोंसे भेट संभवप्राय नहीं होती।

संगति : शिवजी मुनिके आश्रमकी शोभा गा रहे हैं।

चौ०—राम दीख मुनि वासु सुहावन। सुन्दर गिरि काननु जलु पावन ॥६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले ॥७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥८॥

भावार्थ : वाल्मीकि मुनिके निवासस्थलकी शोभा प्रभुको दिखायी पड़ी। वहाँके पहाड़ और जंगल बड़े सुन्दर हैं। स्वच्छ जल बह रहा है। तालोंमें कमल खिले हैं। वनके वृक्षोंमें फूल लगे हैं। सुन्दर भौरे पुष्परसमें मदमत्त हो गुंजार कर रहे हैं। पशु-पक्षी खूब सस्वर बोल रहे हैं और स्वाभाविक वैरको त्यागकर प्रसन्न मनसे चर रहे हैं।

आश्रममें प्रेमसमृद्धि

शा० व्या० : आश्रमके निवासमें तपस्वी, वैद्य, नदी आदिका सुपास अपेक्षित है। इनके सान्निध्यसे आश्रम-निवास सुखकर होता है। प्राकृतिक शोभाके वर्णनमें वनवृक्षोंका फूलना-फलना, मधुपोंका गुंजार, खगमृगोंका कोलाहल, कमलसे खिले तालाब आदिको शोभा वर्णन करना कविसमयसिद्ध है। यहाँ उक्त वर्णनकी परम्परा लक्षित है।

'मुनिवास सुहावन'से कवि वाल्मीकि मुनिके अप्रतिम प्रभावसे आश्रमके निकट अपचार आदिका अभाव, आश्रमकी सार्थकता तथा अन्वर्थताको पशुओंके

'विरहित वैर मुदित मन चरहीं'से स्पष्ट कर रहे हैं। भगवदुपासकोंके स्वधर्मपालनका प्रभाव या परिणाम है कि सर्वत्र प्रेमकी समृद्धि हो रही है, जैसे श्रीरामका आदर्श चरित्र देखकर मार्गस्थ वनवासियों एव पथिकोंनेभी श्रीरामके वनवासको उचितकारिताके रूपमें देखा है।

दोहा–सुचि सुन्दर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर आगमनु मुनि आगे आयउ लैन ॥१२४॥

भावार्थ : कमलके समान खिले नेत्रवाले श्रीराम वाल्मीकि मुनिके सुन्दर पवित्र आश्रमको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। रघुवर रामका आना सुनकर मुनि उनके स्वागतके लिए पहले ही बाहर आ गये।

भरद्वाज एवं वाल्मीकिके आश्रमकी पवित्रतामें अन्तर

शा० व्या० : भरद्वाज ऋषिके आश्रमके वर्णनमें 'भरद्वाज आश्रम अतिपावन। परम रम्य मुनिवर मनभावन'से[1] वहाँकी शुचिता परिज्ञात है जिसमें कविने प्रयागक्षेत्रके महत्वको ध्यानमें रखकर स्थल-विशेषका भी वर्णन किया है। यहाँ स्थल-विशेषका इतना महत्व नहीं है जितना वाल्मीकि-आश्रमका। अतः कवि 'शुचि सुन्दर आश्रम'से वाल्मीकि-आश्रमको विशेष 'सुहावन' कहनेमें इस बातका संकेत कर रहे हैं कि दण्डकारण्यका महानुभाग अशुचि होनेपरभी वाल्मीकि-आश्रमकी शुचिता बनी है। शौच, सन्तोष, दया, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतसम्पन्न तपस्वीके निवाससे आश्रमका सौन्दर्य प्रकाशित होता है। चौ० ३ दोहा ९४ की व्याख्यामें निर्दिष्ट शौच तथा गौतम ऋषि द्वारा बताया अर्थशौच भी इस आश्रममें पूर्ण हैं।[2]

आश्रममें प्रभुका हर्ष

'हरषे राजिवनैन'से प्रभुकी प्रसन्नता इसलिए भी दिखायी है कि यहाँ शास्त्र-मर्यादाका उल्लंघन नहीं है। शास्त्रोंका शासन प्रभुका आदेश है। आश्रमके सान्निध्यमें पेड़ पौधे, पशु पक्षी, विद्यार्थी आदि सब मर्यादामें हैं। यहाँ धर्म व्यावहारिक रूपमें जीवित है क्योंकि धर्मानुष्ठान नीतिसमन्वित हैं अर्थात् शब्दप्रमाण (वेद) का आधार रहनेसे धर्मशुचिता है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमानतः नीतिका पालन हो रहा है, अतः नीति भी है।

'सुनि रघुवर आगमनु'से ऐसा लगता है कि नीतिमान वाग्मी धर्मात्मा (श्रीराम)के आगमनकी उत्कण्ठामें वाल्मीकि मुनि बैठे ही थे, आश्रमवासी विद्यार्थियों द्वारा सुनते ही प्रियश्रवणप्रयुक्त आवेगमें उनके स्वागतार्थ आगे बढ़े।

---

१. चौ० ६ दो० ४४ बा० का०।

२. योर्थे शुचिः स हि शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः।

वाल्मीकि-आश्रममें रात्रिनिवास नहीं

भरद्वाज-आश्रममें प्रभुने रात्रिनिवास किया, वाल्मीकि-आश्रममें रात्रिनिवासका उल्लेख नहीं है—इससे ऐसा मालूम होता है कि त्रिवेणीस्नान और दर्शन आदिके बाद प्रभु भरद्वाजआश्रममें मध्याह्नमें पहुँचे होंगे। अतएव कन्द-मूल-फल खाकर वहीं सायंकाल हो जानेसे रह गये। यहाँ वाल्मीकिआश्रममें प्रातःकालके बाद ही पहुँच गये हैं। अतः उसी दिन वहाँसे चलकर चित्रकूट पहुँच गये होंगे। प्रभुके चरित्रके बारेमें 'इदमित्थं' नहीं कहा जा सकता। अतः विद्वान् ही इसका विचार करें।

संगति : आगे प्रभु-वाल्मीकिमिलन एवं संवाद कहा जायगा।

चौ०—मुनि कहुँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबादु बिप्रबर दीन्हा ॥१॥

भावार्थ : वाल्मीकि विप्रवर हैं। 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय'के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामने मुनिको प्रणाम किया और मुनिने भी मर्यादामें आशीर्वाद दिया।

शा० व्या० : दो० १०६ में 'दीन्हि असीस मुनीस'से भरद्वाज मुनिने भी मर्यादामें आशीर्वाद दिया है। वैसी ही शास्त्रमर्यादाका उल्लेख यहाँ भी है।

चौ०—देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमानु आश्रमहि आने ॥२॥

भावार्थ : श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर वाल्मीकि मुनिके नेत्र तृप्त हो गये और प्रभुका आदर करते हुए आश्रममें ले आये।

शा० व्या० : 'नयन जुड़ाने'का भाव है कि रामदर्शनकी आकांक्षामें बैठे मुनि जिसको देखना चाहते थे उसको देखते ही उनकी आँखें जुड़ गयीं और सौन्दर्यका पान करने लगे।

भरद्वाज मुनिके आश्रममें प्रभु सीधे पहुँच गये, इसलिए 'आश्रमहि आने'का उल्लेख वहाँ नहीं है। दो० १०६ में कहे भरद्वाजजीके आशीर्वादके अनन्तर कुशल-प्रश्न, पूजा, कंदमूल फलके प्रदान आदिका जो क्रम है वही यहाँ भी 'करि सनमानु'से व्यक्त है।

चौ०—मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाए। कंदमूल फल मधुर मँगाए ॥३॥

भावार्थ : मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजीने प्राणप्रिय अतिथियोंको पाकर मीठे कंदमूल फलोंको मँगवाया।

आतिथ्य

शा० व्या० : श्रीराम वाल्मीकिआश्रममें पहले कभी नहीं आये और न भविष्यमें आनेवाले हैं। अतिथिकी व्याख्या ऐसी ही है।[१] अतिथिसत्कारमें बिना

---

१. यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः।
अकस्माद् गृहमायाति सोतिथिः प्रोच्यते बुधैः ॥
अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठति। अज्ञातपूर्वं गृहागतपूर्वव्यक्तिः ॥

बिलम्ब किये भोजन सामने रखना प्रधान कर्म है। प्रभुके स्वागत पूजनके बाद मुनि वैसा ही अतिथिसत्कार कर रहे हैं।

'प्रानप्रिय'का भाव है कि प्रभु रामके चरित्रगायनमें वाल्मीकि मुनिका जीवन समर्पित है। अतः अतिथि रूपमें 'प्रानप्रिय पाए' कहा है।

स्वागतमें वैचित्र्य

भरद्वाजजीके सत्कारमें 'कन्द मूल फल अंकुर नीके' कहा है। यहाँ अंकुरका उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि अंकुर फलाहारमें न हो। वहाँ प्रभुके साथ गुह भी था इसलिए कन्द मूल फलके साथ अंकुरका भी समर्पण युक्तियुक्त कहा जा सकता है।

चौ० : सिय सौमित्रि राम फल खाए। तब मुनि आश्रम दिए सुहाए ॥४॥

भावार्थ : सीता, लक्ष्मणजी और श्रीरामने फलाहार किया। उसके बाद मुनिने उनके विश्रामके लिए योग्य स्थान दिया।

शा० व्या० : 'आश्रमहि आने' और 'आश्रम दिए सुहाए'में राजनीतिशास्त्रमें मन्त्रणाके लिए कहा गया गुप्त प्रदेशका अवलम्ब[1] स्मरणीय है। यहाँ निवासकी इतिकर्तव्यताकी आकांक्षामें मुनिके मन्त्रणाका अवसर उपस्थित है।

चौ०–वाल्मीकि मन आनन्दु भारी। मंगल मूरति नयन निहारी ॥५॥

भावार्थ : मंगलमूर्ति श्रीरामको आँखोंसे प्रत्यक्ष देखकर वाल्मीकि मुनिको बड़ा आनन्द हुआ।

जगन्मंगल की कल्पना

शा० व्या० : राक्षसोंका विनाश और रावणवधसे होनेवाले जगमंगल-कार्यंको कल्पनामें त्रिकालज्ञ वाल्मीकिमुनि जिस मंगलमूर्तिका चिन्तन कर रहे थे उसी अवतारी श्रीरामको प्रत्यक्ष देखकर मुनिको बड़ा आनन्द हुआ अर्थात् 'सुर महि गो द्विज हित लागि' प्रभुके अवतारसे होनेवाले मंगलकार्यंका अनुमान मुनिको हो गया।

चौ०–तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई ॥६॥
तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्वबदर जिमि तुम्हरे हाथा ॥७॥

भावार्थ : तब रघुपति रामजी हाथ जोड़कर मुनिके कानोंको सुख देनेवाले बचन बोले 'हे मुनीश्वर! आप तीनों कालको हाथमें रखे बेरके फलके समान देखनेवाले हैं। अर्थात् तीनों कालकी घटनाएँ आपके लिए प्रत्यक्ष हैं'।

वचनका सुखदातृत्व

शा० व्या० : 'कर कमल जोरि'से प्रभुका विनयभाव दिखाया है। प्रभुकी वाणीकी मृदुता स्वभावतः श्रवणको सुखस्पर्शदायी है। अथवा प्रभुके वचन मुनिको

---

१. वदुद्देशः संवृतः कयानामनिरसावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्।

सुख देनेवाले होंगे क्योंकि निवासकी आकांक्षामें मुनिकी सेवाके स्वीकार होनेका अवसर है। प्रभु द्वारा भरद्वाज और वाल्मीकिके सम्मान-क्रममें जो अन्तर दिखायी पड़ता है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रभुके व्यवहारमें भेदभाव है या विषमता है। श्रीमद्भागवतोक्त क्रम 'न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा। तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥' के अनुसार प्रभुका यथायोग्य व्यवहार है।

वाल्मीकिमुनिका अधिकार

वनवास रामावतारके चरित्रारम्भका बीज है, उसके बीजभूत मन्त्रात्मक सुविचारमें प्रभु बाल्मीकिमुनिकी योग्यता अपने मुखसे गा रहें हैं। 'त्रिकालदरसी'से वाल्मीकिमुनिका मन्त्रणामें अधिकार व्यक्त किया है जैसा राजशास्त्रमें मन्त्रवेत्ताओं-का सदुपयोग बताया गया है।[1] 'मुनिनाथा'का भाव है कि मनन करनेवालोंमें सन्देह दूर करनेकी शक्ति होती है इसलिए निवासकी आकांक्षामें वनवास कहाँ फलदायक होगा, इसको बतानेमें मुनिका वचन नियामक होगा। वाल्मीकि युक्तयोगी पूर्ण अदृष्टसिद्ध महर्षि हैं। 'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा'का भाव है कि बाल्मीकि मुनिको कुछ भी परोक्ष नहीं है, संकल्प मात्रसे ही वस्तुतत्त्वको समझने और जगतकी घटनाओंको देखनेमें उनको कोई परिश्रम नहीं है। उनके निर्णयमें विसंवादित्त्वका अवकाश नहीं है। त्रिकालदर्शी होनेसे रामचरित्रके अनुरूप जगत्की घटनाओंको जाननेकी योग्यता रखते हैं क्योंकि वे रामचरित्रके प्रणेता कहे गये हैं।

'बिस्वबदर'का भाव

आयुर्वेदमें बदरीफल अपथ्य माना गया है। 'बिस्वबदर'का यह भी भाव है कि इस समय रावणके आतंकसे समस्त विश्व अपथ्यरूपमें असेवनीय हो गया है। वाल्मीकि मुनिकी त्रिकालज्ञतासे जगत्को मंगलमय बनानेका घटनाक्रमका बीजारंभ जहाँसे हो सके ऐसा निवास प्रभुको आकांक्षित है। पूर्वमें चौ० ५ में 'मंगलमूरति नयन निहारी'से स्पष्ट है कि जगमंगलताको मुनि श्रीराममें देख रहे हैं—उसकी वास्तविकताको प्रभु 'बिस्वबदर जिमि तुम्हरे हाथा' कहकर स्वीकार कर रहे हैं।

संगति : मुनिकी त्रिकालज्ञतामें जगमंगलताकी घटनाके अन्तर्गत प्रभु विस्तारके साथ अबतककी सब घटनाएँ वाल्मीकि मुनिको सुना रहे हैं।

चौ०—अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी॥८॥

भावार्थ : ऐसा कहकर प्रभुने सब कथा विस्तारके साथ कही। कैकेयीने जिस जिस प्रकारसे वनवास दिया, यह भी कहा।

---

१. मन्त्रार्थकुशलोराजा सुखंभूतिसमश्नुते। विपरीतस्तु विद्वद्भिः स्वतन्त्रोऽप्यवधूयते॥

—नीतिसार म० १२.२१

'सब कथा बखानो'का प्रयोजन

शा० व्या० : वाल्मीकि मुनिकी योग्यता कहकर 'सब कथा बखानी'का तात्पर्य है कि शब्दप्रमाण तदनुगामी प्रत्यक्ष-अनुमान-प्रमाणके बलपर कर्तव्यका अनुष्ठान करनेमें जिस प्रकार मानवता होगी उसको प्रयोगमें लानेके लिए श्रीरामने सम्पूर्ण इतिवृत्त सुनाया क्योंकि वाल्मीकि मुनि उत्तरमन्त्रित्वमें समर्थ हैं, उनके समक्ष कोई विषय अप्रकाशित रखना अनुचित है। रामके अवतार-चरित्रका आरम्भ-निर्णय वाल्मीकि द्वारा होना है अर्थात् प्रभु होते हुए भी मनुष्य-चरित्रमें कर्तव्यकी मन्त्रणा करनेमें त्रिकालज्ञ मुनिकी मर्यादा रखना उचित है।

'सब कथा बखानी'में 'जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी'के उल्लेखसे कैकेयीके चरित्रका विशेष गौरव दिखाया है जिसका प्रयोजन यह है कि रानीके वचन 'तापस वेष विसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी'का यथायोग्य निर्वाह करते हुए रावणवधान्त सब कार्य जिस प्रकार सफल हो सके ऐसे वननिवासका निर्णय मुनिसे आकांक्षित है।

संगति : 'सब कथा'में प्रमुख विषयको प्रभु आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

दो०–तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुण्य प्रभाउ॥१२५॥

भावार्थ : प्रभु वाल्मीकि मुनिसे कह रहे हैं "पिताके वचनका पालन, माता कैकेयीका हित तथा 'सनेहु सील सेवकाई'से युक्त भरतका राजत्व सफल होनेमें हे प्रभो, आपका दर्शन मुझको प्राप्त हुआ है—यह सब मेरे पुण्यका प्रभाव है"।

शा० व्या० : निवासस्थलके निर्णयकी मन्त्रणामें ध्यातव्य विषय—'तात बचन, मातु हित, भाई भरत राउ' और 'तुम्हार दरस' हैं। ये चारों जिस प्रकार प्रभुको इष्ट हैं उसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित है—

'तात वचन' आदि चतुष्टयीका स्पष्टीकरण

१. तात बचन—वनगमन-कार्यमें पिताके विध्यात्मक वचनका प्रामाण्य सुरक्षित रखना है। ज्ञातव्य है कि सत्यसन्ध हितकारी पिताकी प्रेरणा पुत्रके लिए जिस कार्यमें होती है उसमें कृतिसाध्यता, हितसाधनता एवं बलवदनिष्टननुबन्धिता निर्णीत है। वनवासकी चतुर्दशवर्षावधिमें 'तात बचन'के पालनसे ही उक्त तीनों साध्योंको निर्बाध बनाना है, इसलिए 'तात बचन' सर्वप्रथम कहा है। मानव चरित्रका यही सदाचार है।

२. मातु हित—कैकेयीकी शंकासे उत्पन्न भेदको समाप्त करते हुए वनवासको सफल बनानेमें माता कैकेयीका हित करना है। रागरोषमें कहा कैकेयीका वचन हितकारी नहीं माना जा सकता। फिर भी प्रभुकी इच्छाके अनुकूल होनेसे उसका हित साधना प्रभुको इष्ट है जैसे प्रभुने नारदके शापको 'मम इच्छा' (चौ० ३, दो० १३८ बा० का०) कहकर स्वीकार किया। जैसा दो० २०६में भरद्वाज ऋषिके

वचनसे कैकेयीकी निर्दोषता सिद्ध होनेपर माता कैकेयीके प्रति दोषाभावको भरत-मिलनके अवसरपर चित्रकूटमें प्रत्यक्ष व्यवहारतः प्रभुने दूर किया (चौ० ८ दो० २४४) तथा जनकरानीके मिलनमें कौसल्यादि माताओंकी उक्तिसे कविने (दो० २८२ के अन्तर्गत) प्रकट कराया है।

३. भाइ भरत राउ—चित्रकूटमें भरतके प्रति प्रजारंजनको प्रकट कराकर पिताके वचन-प्रामाण्यको स्थिर रखते अपनी अनुपस्थितिमें भरतको राज्यभार सौंपकर उसके द्वारा राज्यसंचालनकी क्षमताको सिद्ध किया। 'अस'का भाव है कि ऐसे भरत जिन्होंने 'सनेहु सील सेकाई'को चरितार्थ किया है।

४. मुनिदरस—रामचरितमानसके अनुसार श्रीराम प्रभु हैं, उनको पुण्य सम्बन्ध नहीं है। अतः 'मम पुण्य प्रभाउ'से प्रभुका लोकसंग्राहक स्वधर्माचार समझना चाहिए। ऐसे धर्माचरणसे सन्त-महात्माओंका दर्शन और उनके सत्संगसे सुकृतमें प्रवृत्ति बनी रहती है, तदनुसार वाल्मीकिमुनिका दर्शन श्रीरामके लिए तीनों कालमें पुण्यनिधिके प्रभावका परिचायक होगा। श्रीरामके 'प्रभु' सम्बोधनसे वाल्मीकिमुनिकी विप्रवर्यता, त्रिकालदर्शिता, मन्त्रवेत्तृत्व आदि गुणोंको प्रकट करते हुए आदरभाव व्यक्त है।

संगति : 'मम मुण्य प्रभाउ'में सुकृतको आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भए सुकृत सब सुफल हमारे ॥१॥

भावार्थ : हे मुनिराज ! आपके चरणोंका दर्शन करके हमारे सब सुकृत सफल हैं, भविष्यमें भी सुफल होनेवाले हैं।

सदाचार (लोकसंग्रह)में व्याप्यता

शा० व्या० : 'यो योः सदाचारवान् स राजनीत्युक्त फलसम्पत्तिमान् जन भवति' इस व्याप्तिके अनुसार पूर्वकृत सदाचार (सुकृत)की सफलता तथा दोहा १२५में कहे विषयोंकी सार्थकताका श्रेयस् वाल्मीकिमुनिको प्रभु दे रहे हैं। मुनि रामचरित्रके प्रणेता हैं, अब उसको सफल बनानेकी मन्त्रणा मुनिके अधीन है। मुनिकी मन्त्रणाके अनुसार ही प्रभु वनवासकी चतुर्दशवर्षाविधिको पूर्ण करेंगे—जैसे बारह वर्ष चित्रकूटमें मुनिव्रत करते, एक वर्ष पञ्चवटीलीला, अन्तिम एक वर्ष लंकाविजय आदिमें व्यतीत होगा।

संगति : आगे चौ० ५ में निवासस्थानकी आकांक्षा प्रभु व्यक्त करेंगे। उसके पूर्व वासस्थान कैसा होना चाहिए—इस सम्बन्धमें प्रभु अपना विचार मुनिके सामने स्थापित कर रहे हैं।

चौ०—अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदवेगु न पावै कोई ॥२॥

भावार्थ : आपको आज्ञानुसार वहाँ वास हो जहाँ किसी भी मुनिको कोई उद्वेग (चित्तका विक्षेप या कष्ट) नहीं होगा।

मुनियोंको अनुद्वेग

शा० व्या० : वाल्मीकि मुनिकी आज्ञासे श्रीराम वहाँ निवास करना चाहते

हैं जहाँ उनके निवाससे मुनियोंको उद्वेग न प्राप्त हो क्योंकि प्रभुने तपोभूमिमें प्रवेश किया है जहाँ तपस्वी मुनियोंकी निवासस्थली है। स्मरण रखनेकी बात है कि रावणके आतंकसे मुनि उद्वेजित हैं, उस उद्वेगसे प्रभुको मुनियोंकी रक्षा करनी है। गीतामें उद्वेगकी व्याख्या 'यस्मान्नोद्विजते लोको'के अनुसार मुनियोंको किसी प्रकारका कष्ट या उनके साधनमें बाधा नहीं होनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि शास्त्रसम्मत आचरणमें ही उद्वेगका सम्बन्ध नहीं रहता।

चौ०-मुनि तापस जिन्ह ते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं ॥३॥
मंगलमूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू ॥४॥

भावार्थ : तपस्वी मुनि जिनके द्वारा दुःख पाते हैं वे राजा बिना आगके जल जाते हैं। ब्राह्मणोंका परितोष सब मंगलोंका मूल है। ब्राह्मणोंकी रोषाग्नि समस्त कुलका नाश कर देती है।

नीति दृष्टिसे विप्ररोषाग्निका प्रभाव

शा० व्या० : जैसे लोकमें सतियाँ विरल हैं वैसे ही रागद्वेषवर्जित व्यक्ति भी विरल है। ऐसे तापस, मुनि, सती आदिको असुरक्षित कर दिया जाय तो दैविक सम्पत्ति, आध्यात्मिक ज्योति एवं सत्त्वकी प्रचुरता विलुप्त होगी और न्यायका औचित्य आकाशकुसुमवत् हो जायगा। तब सुख-शान्ति भी नहीं रहेगी।

आत्मतत्त्वसे परिचित तपस्वी मुनि एकान्तप्रिय होते हैं। उनका जीवन धर्मसे सम्बद्ध है। वे लोकयात्राके सञ्चालक होते हैं। उनकी सुरक्षाके लिए नीतिका सर्जन हुआ है। नीत्यानुगामी शासक दुष्टोंका दमन करके तापस, सती आदि धर्मात्माओंका न्यायतः पालन करता है। गुणवानोंकी प्रतिष्ठा करना राजाका कर्तव्य है। ब्रह्मतेजस्वि व्यक्तियोंका रहना राजशासनके हितमें है। वेदसिद्धान्तका अनुगमन करनेवालोंकी उपेक्षा करना एवं अपनी स्वच्छन्दचारितामें मुनिवासको प्रतिबन्धक समझकर उनको किसी प्रकारकी पीड़ा पहुँचाना राजाका औद्धत्य है। महात्मा गुरुओंके अनुशासनमें रहकर जबतक राजा शासन चलाता है तबतक प्रजा अनुकूल रहती है।[1] तापस्, मुनि, सती, विप्रों आदिके धर्ममय जीवनमें प्रतिघात होनेसे उनका रोष सम्भावित है जो राजाके लिए दण्ड सिद्ध होता है जैसा राजा दण्डकका हाल हुआ। विप्रोंको रोषाग्निसे समूल कुलका नाश हो जाता है जैसा मानसमें वर्णित प्रतापभानुके इतिहाससे ज्ञात है। विप्र मुनियोंकी प्रसन्नता राजाके मंगलका कारण होती है जिसको 'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर'की उक्तिसे श्रीरामने चरितार्थ किया है। अतः श्रीराम तापस्-मुनियोंकी सुरक्षामें प्रमादसे बचनेके लिए योग्य-निवासकी आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं।

---

१. ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगमशस्तितम् ॥ (अर्थशास्त्र)

श्रीरामके 'काननराजू'में 'नरेस'का उल्लेख युक्तिसंगत है। 'तापसवेष विसेषि' में नरेशत्व एवं धनुर्धरत्वका सम्बन्ध बना है। 'कोटिकुल'का भाव अपना कुल तथा अपने कुलसे सम्बन्धित समस्त कुल है जैसा 'सत्यकेतु कुल कोइ नहि बाँचा' (चौ० ७ दो० १७५ बा० का०)से स्पष्ट है।

संगति : प्रभु निवासकी आकांक्षाके शमनार्थं मुनिसे स्थान पूछ रहे हैं।

चौ०–अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ ॥५॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला ॥६॥

भावार्थ : उपरोक्त बातोंका मनमें विचार करके आप वही स्थान कृपया बताइये जहाँ सीता और लक्ष्मणके साथ मैं रहूँ। वहाँ रुचिके अनुकूल पर्णशाला बनाकर कुछ समयके लिए वास करूँगा।

निवासके लिए ध्यातव्य विषय

शा० व्या० : 'अस जिय जानि'से संकेत है कि मुनिको जिन बातोंका विचार करके निवासका निर्णय करना है उनमें तात बचन, मातु हित, भरत राउ, कानन-राजूमें धनुर्धरत्वके अतिरिक्त इस बातका भी ध्यान रखना है कि वे स्त्री और भाईके साथ वहाँ निवास करेंगे—इस दृष्टिसे 'मुनि उद्वेग न पावै कोई' पर भी जोर है।

कछुकालका तात्पर्य

'कछुकाल'का तात्पर्य चतुर्दशवर्षावधिकाल है जो मुनिव्रतसे संगत एकान्तिक जीवन और साधुसन्तोंके संगसे है। उपासनाकी दृष्टिसे 'कछुकाल'का शास्त्रीय अर्थ साधनावस्थाका काल है जिसमें राम लक्ष्मण सीता—तीनों मूर्ति ध्येय हैं (जैसा चौ० १-२ दो० १२४ में स्पष्ट है)। साधनकी परिपक्वता हो जाने पर साधकका एकमात्र ध्येय रामब्रह्ममें विलीन हो जाता है जैसा वाल्मीकि-संवादमें आगे स्पष्ट होगा।

संगति : शिवजी मुनिके उत्तरका उपक्रम सुना रहे हैं।

चौ०–सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी ॥७॥

भावार्थ : रघुवर रामकी सहज सरल वाणीको सुनकर (रामके प्रभुत्वकी अनुभूतिमें) ज्ञानी मुनि साधुवाद कर रहे हैं।

मुनिको प्रत्यभिज्ञा

शा० व्या० : 'सहज सरल'का भाव है कि अवतारके प्रयोजनसे श्रीरामने जो कहा है वह सहज है। सहज भावको व्यक्त करनेवाली वाणी सरल है। जिस प्रकार अपनी ब्रह्मण्यताके प्रकाशनसे परशुरामजीको 'अयं नारायण:'की अनुमिति कराया (चौ० ६ दो० २८४ बा० का०) उसी प्रकार 'सहज सरल बानी'से वाल्मीकि मुनिको 'अयं रामः' की प्रत्यभिज्ञा प्रभुने करायी है जिसको मुनिने 'रघुवर' कहकर ध्वनित किया है। 'ग्यानी'का भाव है प्रभुकी सहज सरल बानीका तत्त्व मुनिने समझा है और उसका अनुभव करके 'साधु-साधु' कहा है अर्थात् प्रभुके बिना

ऐसी सहज सरल वाणी दूसरा कौन कह सकता है? नीति दृष्टिसे कहना है कि प्रभुकी वाणीमें छलका स्पर्श नहीं है, स्वाभाविक विनय है। सर्वज्ञ होते हुए भी प्रभु अपने निवासकी आकांक्षा विप्रवर वाल्मीकिके सामने प्रकट कर अपनेमें अल्पज्ञता दिखाते हुए विनयोचित आदर दिखा रहे हैं।

चौ० ४ दोहा ११० में कहे 'तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने'का यह भी एक प्रकार स्मरणीय है।

संगति : 'मुनि ग्यानी'की यथार्थता वाल्मीकि द्वारा प्रभुके वन्दनमें स्फुट हो रही है।

चौ०—कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू ॥८॥

भावार्थ : हे रघुकुल केतू! आप ऐसा क्यों न कहेंगे क्योंकि आप सदासे ही वेद मार्गका पालन करनेवाले हैं।

'कुलकेतु'का अर्थ

शा० व्या० : 'रघुकुल केतू' कहनेका भाव है कि रघुकुल श्रुतिसेतुके पालनमें प्रसिद्ध है। उस कुलमें जन्म लेकर श्रीरामने कुलका यश उज्ज्वल किया है अर्थात् श्रीरामका अवतार श्रुतिसेतु-विरोधियोंका उच्चाटन करनेके लिए हुआ है।

निरपराध सत्पथप्रदर्शक श्रुतिपर आघात करनेकी जगतकी गतिविधिको देखते महर्षिगण श्रुतिसेतुपालककी खोज करते हैं। सृष्टिकालसे श्रुतिपर जो आघात होते हैं उनसे श्रुतिका रक्षण करनेके लिए प्रभु सक्रिय रहते हैं जिसको 'संतत'से व्यक्त किया है। नीतिशास्त्रके अनुसार उक्त रक्षणके हेतुसे ही मुनिगण राजाकी उपादेयताको स्वीकार करते हैं, उसको पूजित मानते हैं, ऐसे राजाके हितमें लगे रहते हैं।

साधुत्वके उद्गारका अवसर

'साधु-साधु'की अभिव्यक्तिमें मुनिका भाव है कि राम जैसे ब्रह्मण्यके निवाससे श्रुतिकण्टकोंका विनाश होगा तथा उनके पवित्रतम चरित्र द्वारा श्रुतिपालनका विधान प्रकाशित होगा। श्रीमद्भागवतमें[1] भी ऐसी उक्ति है।

संगति : श्रुतिसेतु पालक रामके प्रभुत्वको 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा'के सम्बन्धसे वाल्मीकि मुनि गा रहे हैं। श्रीराम सीता और लक्ष्मणका वास्तविक स्वरूप अलग-अलग वर्णन करके रामावतारके प्रयोजनमें सफल वनवासकी साधनताकी पर्याप्ति तीनोंमें बता रहे हैं।

छंद—श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधानकी॥
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचरधनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥१२६॥

———————

१. स्व सेतुपालाः प्रखसंयमंकृत् यशो वितन्वन् व्रज आस्थितो गायन्ति देवा यदशेष मंगलम्।
—(भा० १०)

भावार्थ : हे राम ! आप श्रुतिसेतुके पालक जगदीश्वर हैं। आपकी ही माया सीता हैं जो जगत्का निर्माण करती है, पालन करती है और संहार करती है। इस कार्यको कृपाके धाम प्रभुकी इच्छा या संकेतके अनुसार माया चलाती है। हजार फनवाले शेषनाग जो पृथ्वीको धारण करनेसे सम्पूर्ण चर-अचर (जड़ चेतन)रूप सम्पत्तिके स्वामी हैं, वही लक्ष्मण हैं। मनुष्यरूपमें राजाका शरीर धारण करके देवहित कार्यको करनेके लिए खलों-राक्षसोंके दलका विनाश करने जा रहे हैं।

वेदमर्यादामें सामान्य-धर्मका रक्षण

शा० व्या० : ईश्वरका श्रुतिसेतुपालकत्व श्रीमद्भागवतके वचनसे भी स्पष्ट है—'नृञ्छिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्'।

वेदमर्यादाबद्धविशेषधर्मके आचरणसे ही अहिंसादि सामान्यधर्म अनुप्राणित होते हैं। वेदमर्यादाके विलोपमें सामान्यधर्मका भी अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए प्रभुको श्रुतिसेतुपालन इष्ट है। श्रुतिकी मर्यादाको श्रुतिसेतु कहा है। वेदने अपनी मर्यादामें सबको धर्मद्वारा बांधकर रखा है। ऐसे श्रुतिसतुकी रक्षा करना जगदीश्वरका कार्य है। कैकेयी माताके वचनसे सम्बद्ध पिताकी आज्ञाको धर्मरूपमें पालन करते हुए श्रीराम श्रुतिसेतुपालनकार्यमें प्रवृत्त होकर वनवासमें आये हैं। 'राम तुम्ह जगदीस'की उक्ति वाल्मीकि महर्षिको योगजधारणाप्रसूत अदृष्टनिमित्तक प्रतिभात प्रत्यभिज्ञाकी सूचक है। (इसका विशेष वक्तव्य दो० १२७ की व्याख्यामें भी है)

मायाके कार्य

मायाका प्रधान कार्य ईश्वरके प्रतिबिम्ब जीवको ईश्वरसे पृथक् प्रतिभात कराकर भेददर्शन कराना है। ज्ञातव्य है कि बिम्बसे प्रतिबिम्ब वास्तविकतया पृथक् न होनेसे जीव स्वभावत: अपनेको स्वतन्त्र मानकर आनन्दप्राप्तिकी ओर झुकता है। मायामें प्रतिफलित होनेसे अविद्याभावमें जीव अपनेको भूल जाता है[1] और वास्तविक कर्तव्याकर्तव्यके विवेकको भी भूल जाता है। ईश्वरके शरणमें रहकर जीव जब श्रुतिसेतुपालनमें विश्वस्त हो अपनेको समर्पित करता है तब ईश्वरके रूपको सन्मुख करानेमें माया अवरोध नहीं करती। जैसा 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसो'की व्याख्यामें स्पष्ट किया गया है। सिद्धान्तमें जगन्मात्र जीव है, फिर भी सत्वादिगुणभेदसे जड़ चेतन आदिमें उसका वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है—उसमें कारण माया ही है, ईश्वर नहीं।

मायाके भेद

वेदोंने मायाके तीन भेद—लौहित्य शुक्ल और कृष्ण बताये हैं। रागमें परिणत होकर सृजनकार्यमे लौहित्य अनुगुण माना गया है जिसमें परिच्छिन्न जगदीश ब्रह्म-

---

१. अजोऽनुबद्धः स्वगुणैरजाया गुणात्परं वेद नतेस्वरूपम्।

रूपमें प्रकट होते हैं। शुक्ल सत्त्वगुण-बोधक है, उससे परिपूर्ण मायावच्छिन्न जगदीश्वर विष्णुरूप हैं वही अभी श्रीरामरूपमें अवतीर्ण है। कृष्ण तमोगुणका बोधक होकर सृष्टिके विनाशमें सहकारी माना गया है—उससे अवच्छिन्न ईश्वर रुद्र-रूपमें प्रकट होता है।

मायाके कर्तृत्वमें सफलता

मायाविशिष्ट ब्रह्मके निरूपणमें कर्तृत्व ब्रह्ममें न होकर मायामें माना गया है। 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशिष्टं उपसंक्रामति'—इस न्यायसे सर्जन-पालन-संहारका कर्तृत्व मायामें मानना वेदान्तका अभिमत है। उक्त कर्तृत्व मायामें मानने पर भी सांख्यमतसे उसमें चेतनत्व नहीं है क्योंकि मायाका कार्य जगन्मात्र ही जड़ है, उसमें चेतनत्वका प्रकाश ब्रह्मके सम्बन्धसे है। उद्भवस्थितिसंहारकारिणी सीताके बारेमें कवीश्वर वाल्मीकिजी अपने विशुद्ध विज्ञानसे 'सृजति पालति हरति' कह रहे हैं। आश्चर्य यही है कि स्वयं जड़ होती हुई भी मायाके कर्तृत्वमें निष्फलता नहीं है, उसका कारण भगवत्प्रसाद है जिसको यहाँ 'रुख पाइ कृपानिधानकी' कहकर मुनिने व्यक्त किया है।

अपने विज्ञानसे वाल्मीकि मुनिको लक्ष्मणजीका वास्तविक स्वरूप शेषावतार रूपमें प्रत्यभिज्ञात है। सम्पूर्ण चराचरसृष्टि लक्ष्मणजीके (शेषरूपमें) धारण करनेसे टिकी है। 'सचराचर-धनी'का भाव है कि पृथ्वीकी सम्पूर्ण चर-अचर सम्पत्तिके वे मालिक हैं, उसका विनियोग उनके हाथमें है।

अवतारप्रयोजन

देवताओंका हविर्भाग राक्षसोंने छीन लिया है, उसको पुनः व्यवस्थापित करना 'सुरकाज' है। इसको पूर्ण करनेके लिए दुष्ट राक्षसोंका विनाश और रावण-वधके लिए 'नरराजतनु' क्षत्रियशरीरधारी श्रीरामके वनवासमें आनेका प्रयोजन मुनिको ज्ञात है जो 'चले दलन खल निसिचर अनी'से व्यक्त है।

जनसमर्थन

अर्थशास्त्रानुसार राजनीतिमें शास्त्राके लिए प्रजानुरक्ति बनानेमें वृद्धाभिसम्मति कारण बतायी गयी है। वह तभी प्राप्त होती है जब शासक स्वयं धार्मिक होता हुआ न्यायोचित रूपसे प्रजाका पालन करनेमें दृढ़प्रतिज्ञ हो और आवश्यकता पड़नेपर परपुरंजयमें समर्थ हो।[1] छन्दकी अन्तिम पंक्तिमें इसी कार्यकारणभावको स्पष्ट किया है। मुनि भरद्वाजसे आरम्भ करके अन्तमें वाल्मीकिकी सम्मति वृद्धाभि-सम्मतिके अन्तर्गत है। उसके बीचमें प्रत्याहारन्यायेन 'वयविरिध सयाने' तथा ग्रामपुरवासी आदिकी सम्मतिका निरुपण किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि

---

१. धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम्। राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजाः॥ नी. १ स.

ऋषियोंसे समर्थनप्राप्तिरूप वृद्धाभिसम्मतिकी ओर श्रीरामकी समुचित दृष्टि है। उसके फलस्वरूप जनसमर्थन भी प्राप्त है।

संगति : श्रीरामके पालनपरत्व, परपुरंजयत्व आदि व्यावहारिक स्वरूपको बताकर उनका पारमार्थिक स्वरूप वाल्मीकिमहर्षि द्वारा प्रकट इसलिए करा रहे हैं कि ग्राम-पुरवासियोंके संवादमें जिसका संक्षिप्त वर्णन है, उसकी प्रामाणिकताको महर्षिके मुखसे स्पष्ट कराना कविको इष्ट है।

सो०–राम ! सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥१२६॥

भावार्थ : हे श्रीराम ! आपका स्वरूप वाक् इन्द्रियादिकोंसे गम्य नहीं है, बुद्धिसे परे है। उसको न तो कोई जान सकता है न कह सकता है। वह इतना अपार है कि वेद भी आजतक उसको 'नेति-नेति' कहकर समझाते हैं।

ईश्वरका स्वरूप

शा० व्या० : शास्त्रदृष्टिमें ईश्वरका स्वरूप 'सृष्ट्यादित्रितय कर्तृत्वे सति बिम्बत्वम्' कहा गया है। किन्तु वह ईश्वर जब भक्तोंके सामने क्रीड़ा करनेको उपस्थित होता है तब वही 'ईश्वर है', ऐसा समझना कल्पनाशक्तिके बाहर हो जाता है। तथापि ईश्वरकी शरणागतिमें रहकर जो धर्ममें आस्था व निष्ठा रखते हैं उनकी मनोवृत्ति ईश्वरके जिस स्वरूपके चिन्तनमें लगी रहती है उसी स्वरूपमें ईश्वरका नाट्य उनके समक्ष होता है जैसे गणपति, सूर्य, शिव, दुर्गा आदिका रूप।

ईश्वरके सत्यस्वरूपके सत्यान्वेषणके प्रयत्नमें 'इदमित्थं' निर्णय करना सम्भव नहीं। भक्तोंको जिस स्वरूपका चिन्तन इष्ट है वही ईश्वरका वास्तविक स्वरूप है ऐसा कहना वेदसम्मत कैसे होगा ? जबकि ईशका जो भी प्रतिभात रूप हैं वेदोंने उनका बाध 'नेति नेति'से किया है। 'बचन अगोचर बुद्धिपर' कहनेसे प्रतिभातकी प्रामाणिकता संदिग्ध होती है। अर्थात् ध्येयमात्रसे ईश्वरके वास्तविक स्वरूपका निर्णय कठिन है। एक पक्ष यह भी है कि भक्तोंके ध्यानकी परम्परा यह कहती है कि प्रतिभात स्वरूपोंका बाध श्रुतिने 'नेति नेति' द्वारा किया है फिर भी ईश्वरकी सत्तामें ध्येय होनेसे तदनुबंधितया अनुमित श्रुतिके द्वारा मायिकरूपसे वे स्वरूप परिगृहीत हो सकते हैं। मायिक ईश्वरकी सत्ताको वेदोंने माना है अतः भक्तों द्वारा ध्येय ईश्वरकी सत्ता प्रामाणिक हैं जैसा ब्रह्मसूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्'से मानता है। तात्पर्य यह है कि भक्तों द्वारा की गयी ईश्वरकी कल्पना वृथा नहीं है। रामायणमें भक्तोके प्रेम आदि हेतुसे जिस श्रीरामका ईश्वरत्व समझाया गया है वह मायावच्छिन्न ब्रह्मके बारेमें सही मानना होगा जो वेदान्तको भी स्वीकृत है। लक्षणों द्वारा अनुमानित मायावच्छिन्न ब्रह्म सविकल्पक होनेपर भी वे लक्षण 'गोत्वादि' प्रत्यक्षके समान अव्यक्त ईश्वरका बोध या झलक अवश्य कराते हैं वह भी दृश्य रूपमें, द्रष्टाके रूपमें नहीं, जैसा 'अविगत'से स्पष्ट किया है। ब्रह्म मायावच्छिन्न होता है, जीव भी अवच्छिन्न है—फिर भी यह

स्मरण रखना चाहिए कि जीव जाग्रदादिअवस्था एवं परिमितप्रमातृतासे परिच्छिन्न है, ईश्वरमें यह दोष नहीं है।

'वचन अगोचर बुद्धिपर' यह भक्तोंके ध्येय ईश्वरके सम्बन्धमें, और 'अविगत अकथ अपार' यह वेदप्रतिपादित ईश्वरके सम्बन्धमें कहा जाय तो युक्तिविरुद्ध नहीं होगा। वेद श्रीरामके ब्रह्मस्वरूपको अव्यक्त कहते हैं और 'नेति नेति'से उसके वर्णनको अपार कहते हैं। अवतारमें मायावच्छिन्न ब्रह्मका व्यक्त स्वरूप राम है, उसका भी वर्णन अपार है।

श्रीमद्भागवतमें (स्क० ११ अ० श्लोक ३६) ईश्वरके सम्बन्धमें 'नेति नेति'का निरूपण अच्छी तरह स्पष्ट किया है।[1] निष्कर्ष यह कि पाताललोकसे वैकुण्ठपर्यन्त उपासकोंके ध्येयमें ईश्वरका जो रूप है वह अधिकारिभेदसे उपासकोंके लिए सत्य है। पर वेदान्त कहता है कि वह दृश्यमात्र है, वही सत्य नहीं है अर्थात् जिसके आधारपर यह दृश्य है वह शुद्ध स्वरूपतः प्रतिभासित हो जाय तो यह दृश्यमात्र उसी क्षण विलीन हो जायगा। 'नेति नेति' द्वारा निषेधका तात्पर्य यह है कि वेदान्तमतेन निर्गुण ब्रह्मकी स्थिति जो उपासकोंके ध्येयसे परे या उपरि है उसको बताकर ईश्वरका अलौकिकत्व स्थापित करते हुए उपासकको अपने उपास्य ध्येयका बोध कराकर उत्तरोत्तर अलौकिकताकी ओर ले जाना है। स्वरूपतः आत्मसाक्षात्कारके बाद उपासकका दृश्यमात्र ध्येय विलीन होता है, तब न बोलनेवाला रह जाता है और न देखनेवाला। उस अवस्था तक ले जाकर उपासकको तूष्णींभावकी उपलब्धि कराना 'नेति नेति' द्वारा निषेधसिद्धिका उद्देश्य है, यही ब्रह्मका परिचायक है। यह अवस्था किन्हीं मतोंमें भले ही शून्य मानी जाती हो (जैसे बुद्ध आदि मतोंमें) वेदान्तमतसे मात्र वह शून्य नहीं, आनन्दरूप है। इस प्रकार यह कहना है कि उपासकोंकी जहाँ तक गति है, वही उनका अन्तिम ध्येय बिन्दु है और वह ईश्वर का स्वरूप है जैसे मनुकी उपासनामें उनका ध्येय ब्रह्मा विष्णु शिवसे इतर, ब्रह्मका वह स्वरूप है जो बालकाण्ड चौ० ४,५,६ दो० १४६में 'बस सिव मन माही' आदिसे स्फुट किया है वही ईश्वर है।

संगति : भक्तोंके चिन्तनमें त्रिदेव या अन्य देवता होते हुए भी श्रीरामके ब्रह्मस्वरूपकी विशेषता कह रहे हैं।

चौ०—जगु पेखन तुम्ह देख निहारे। विधि हरि सम्भु नचाव निहारे ॥१॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जान निहारा ॥२॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥३॥

भावार्थ : जगत् दृश्य है, एकमात्र श्रीराम ही द्रष्टा है। ब्रह्मा विष्णु महेशको वही संचालित करने वाले हैं। वे तीनों श्रीरामका मर्म या तत्त्व नहीं जानते तो

---

१. नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथाऽनलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥

और कोई क्या जान सकता है ? तथापि जिसको प्रभु जना देते हैं वही जान सकता है। प्रभुको जानते ही वह भी ईश्वर हो जाता है।

श्रीरामका साक्षित्व

शा० व्या० : सबके आन्तरमें रममाण ईश्वर (राम) ही वास्तविक द्रष्टा हैं। वे बाहर और भीतर दृश्य-अदृश्य रूपमें होनेवाली घटनाओंको देखते रहते हैं। न्यायरत्नावलीमें वेदान्तके अनुसार पदार्थ दो प्रकारसे विभाजित हैं—दृक् और दृश्य। दृक् ही द्रष्टा है जो दृश्य नहीं है। यदि द्रष्टाको दृश्य होना है तो मायासे अवच्छिन्न होकर ही दृश्य हो सकता है। तथापि अनवच्छिन्न ब्रह्मकी तुलनामें वह नहीं आ सकता। रामायणके मतसे ब्रह्मकी उपासनामें श्रीराम ही अनवच्छिन्न ब्रह्म निर्विकल्पक तुरीयस्वरूप हैं। वही ब्रह्म अवच्छिन्न अवस्थाको प्राप्त हो कर जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिके आभिमानिक देव ब्रह्मा विष्णु शिवकी उपाधियोंसे आवृत होकर सृष्टि-पालन-संहार करते रहते हैं। तीनोंमें साक्षिरूपमें अनुस्यूत सूत्रात्मा एक राम ही है। ये तीनों उनके अधीनस्थ हैं जो 'विधि हरि सम्भु नचाव निहारे' कहकर व्यक्त किया है ऐसी उक्ति रामायणमें अनेक बार आयी है जिसका तात्पर्य श्रीरामको प्रभु सिद्ध करना है। इन त्रिदेवोंका ईश्वरसे इतना सान्निध्य होनेपर भी वे ईश्वरको पूर्णतया जानने-समझनेमें असमर्थ हैं तो अन्य जीवोंके लिए प्रभुका अप्रमेय होना अर्थसिद्ध ही है। 'सोइ जानइ' उक्तिसे त्रिदेवोंकी अवहेलना कविको इष्ट नहीं है। प्रत्येक सृष्टिमें त्रिदेवोंका निर्माण प्रभुके हाथमें हैं जो 'नचावनिहारे' का अर्थ है। 'तेउ न जानहिं'का भाव इतना ही है कि ईश्वरतत्त्वको स्वतन्त्ररूपमें न जानकर उन्होंने ईश्वरकी कृपासे ही जाना है जैसा कि कमलनाल पर बैठे ब्रह्माको भगवत्प्रेरणासे तपस्या द्वारा सृष्टिकार्थ करनेकी कथासे प्रसिद्ध है। अन्य जीव तो त्रिदेवोंको तुलनामें निम्न कोटिके हैं। उनमें वे ही ईश्वरके तत्त्वको जाननेमें समर्थ हो सकते हैं जिनको प्रभु कृपा करके जाननेकी योग्यता देते हैं।

प्रभुकी कृपासे ही प्रभुकी पहिचान

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'का अर्थ है कि श्रीरामकी कृपा बिना कोई उनको नहीं जान सकता—इस व्याप्तिको ब्रह्मा बिष्णु महेशके लिए भी प्रयुक्त माननेका इतना ही भावार्थ है कि वे सदा रामकृपाके पात्र हैं, अतः श्रीरामका स्वरूप उनको तत्त्वतः सदा प्रकाशित रहता ही हैं जैसा आगे चौ० ४ में कहा है। कभी कदाचित् ब्रह्मा आदिके चरित्रमें जो मोहका प्रसंग दिखायी पड़ता है उसमें प्रभुकी विशेष इच्छा ही समझनी चाहिए, न कि प्रभुकी अकृपा।

उपासनामें इष्ट स्वरूपविशेषविवेचन व सम्प्रदायोंके ध्येयका समन्वय

ईश्वरतत्त्वको मनोवाणीसे अगम्य मानते हुए सिद्धान्तरूपमें यह भी समझ लेना चाहिए कि उपासकका अधिकार देखते हुए प्रभु जिस सीमातक अपना ज्ञान

कराना चाहते हैं वहींतक उस उपासकको ईश्वरका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके लिए वही ब्रह्मका स्वरूप है। उसका अतिक्रमण करके हठात् विशेष उपलब्धिका प्रयत्न करना या मतान्तरका खण्डन करना उस उपासकके लिए मृगमरीचिकाके समान निष्फल होगा। किंबहुना वह ईश्वरके कोपका भाजन भी होगा। कहनेका आशय यह है कि जिस सम्प्रदायमें जहाँतक ब्रह्म की उपासना है, वह दूसरेके लिए आलोचनाका विषय नहीं है, प्रत्युत ऐसी आलोचना उसके स्वाभिमानका द्योतकमात्र होगा। वक्तव्य यही है कि चार्वाक्, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि विभिन्न मतोंमें जो निष्पक्षपातपूर्वक उनकी अलग-अलग उपासना विहित है उसीमें रहकर उसके अनुयायीको भगवत्प्राप्ति सहज हो सकती है।[1]

वर्णाश्रमी समाजके लिए अपनी-अपनी मर्यादामें रहते शास्त्रके अनुशासनसे जहाँ जितना विहित है वहाँतक सगुणके माध्यमसे निर्गुणकी उपासना कर्तव्य है। जन्मान्तरमें उपासकके अधिकारके अनुरूप प्रत्येकका उत्थान करते हुए प्रभु उसको जहाँतक उठाना चाहते हैं वहाँतक उसको अपने स्वरूप (ईश्वरतत्त्व)का ज्ञान कराते हैं, इसमें उपासककी स्वतन्त्र उपासनाका कर्तृत्व नहीं है।

संगति : शुद्ध द्रष्टारूपमें अवस्थान होना ही ज्ञानका अन्तिम फल है। इस स्थितिमें सम्पूर्ण जगत्का लय या विनाश हो जाता है—यही वेदान्ताभिमत मुक्ति है। ऐसी मुक्ति उपासकोंको इष्ट नहीं है क्योंकि वे विद्यात्मक मायावच्छिन्न ब्रह्मको ही अपना इष्ट मानते हैं। इसी भावमें वाल्मीकि मुनि आगे प्रभु रामकी स्तुति कर रहे हैं।

चौ०—तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत-भगत उर चन्दन ॥४॥

भावार्थ : भक्तोंको चन्दनके समान पूर्णांगमें शीतलताप्रदान करनेवाले प्रभु हे रघुनन्दन श्रीराम! आपकी ही कृपासे आपको भक्त लोग जानते हैं।

आवरणभंग

शा० व्या० : विक्षेप एवं आवरण-उभयात्मक मायासे आवृत जीव आवरणको दूर करनेमें तभी समर्थ हो सकता हैं जब प्रभु उसको अपवर्गमें पहुँचाना चाहते हैं। जीव और ब्रह्ममें भेद करानेवाली माया जब प्रभुकृपासे हट जाती है तब जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।

ब्रह्मा आदिकोंका नियन्ता व साक्षी ब्रह्म किसीके लिए दृश्य न होकर अप्रमेय है। तथापि कामिनीके सदृश निरन्तर चिन्तन और दर्शनकी अभिलाषा करनेवाले भक्तके हृदयमें प्रभुदर्शनयोग्य संस्कार अतिमात्रामें जब उद्बुद्ध हो जाते हैं तब प्रभु भी दृश्य हो जाते हैं। अथवा धर्मके विशुद्ध आचरणसे जिन उपासकोंको अदृष्टकी सिद्धि हो जाती है उन भक्तोंके अदृष्टको सफल करनेके लिए प्रभु अपनी

———

१. सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरं। यद्यन्यदेवतामक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ मा० १०

इच्छासे दृश्य हो उनके सामने विचरते हैं। अवतरित श्रीरामका दर्शन करनेवाले दोनों स्थितिके उपासकोंका चरित्र मानसरामायणमें वर्णित है। प्रथम कोटिके भक्तोंमें सुतीक्ष्ण आदि संस्कारसम्पन्नस्थितिके भक्त हैं। अदृष्टसे पूर्ण रामका दर्शन प्राप्त करनेवालोंमें कौशल्या आदि हैं। इसी कोटिमें रावणको भी माना जायगा जिसको द्वेषकी पूर्णताप्रयुक्त एकाग्रतामें भगवद्दर्शनयोग्य संस्कार उद्बुद्ध है। ऐसे भक्तोंके संसर्गमें रहनेवालोंको भगवद्दर्शन प्राप्त हो रहा है वह सत्संगतिसे प्राप्त अहोभाग्य है।

भक्तोंके ईश्वरदर्शनमें प्रमात्व

सृष्टिका निर्माण हो जानेपर सामान्यतया जड़मात्रको गतिमान् बनानेके लिए ईश्वरने स्वयं उनमें प्रवेश किया—ऐसा वेदान्तसिद्धान्त है। अतः वह सर्वत्र है। दूसरी विशेषता यह है कि 'भगत उर चन्दन'से व्यक्त किया गया है कि जिस प्रकार चन्दन लगानेसे उसकी शीतलता सम्पूर्ण अंगोंमें व्याप्त हो जाती है और सुख पहुँचाती है उसी प्रकार ध्यान या दर्शनमें ईश्वरकी प्रतीति भक्तोंको सुखकर होती है। एवं च प्रतीति, संस्कारजन्य होनेपर भी सिद्धान्तमें भ्रम नहीं मानी जाती क्योंकि इस मतसे वृत्यवच्छिन्नचैतन्यसे विषयावच्छिन्न चैतन्यका अभेद है। सर्वत्र भगवान्‌की ही सत्ता होनेसे यहाँ चित्-तादात्म्य निर्विवाद है। अतः भक्तोंको होनेवाला भगवद्दर्शन भ्रम नहीं है। यही भाव वाल्मीकि मुनिने उक्त चौपाईमें स्पष्ट किया है।

संगति : स्मरणीय है कि भरद्वाजमिलनके बाद वाल्मीकि-आश्रममें पहुँचनेके बीच श्रीरामके प्रभुत्वोपपादक युक्तियोंका निरूपण हुआ है। श्रीरामके प्रभुत्वका निर्णय हो जानेपर पाठकोंको यह आकांक्षा हो सकती है कि 'अयं रामः प्रभुः' ऐसी प्रतीति सबको क्यों नहीं हो रही है? इसका समाधान वाल्मीकि मुनि आगे कर रहे हैं।

चौ०–चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥५॥

भावार्थ : श्रीरामका शरीर चिदानन्दमय है ऐसा जानने-समझनेके अधिकारी वे ही हैं जो विकारसे रहित हैं।

उपनिषदमें श्रीरामका स्वरूप

शा० व्या० : सत्-चित्-आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है। सद्रूपमें श्रीराम वाल्मीकि मुनिके सामने प्रकट हैं, इसलिए मुनि सत्‌का उल्लेख न करके केवल 'चिदानन्दमय' कह रहे हैं। श्रीरामका शरीर चित् अर्थात् प्रकाश है, पूर्ण आनन्द है। ब्रह्मसूत्रमें 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'से भी बताया है कि आनन्दका अंश या विकार उसमें (रामशरीरमें) नहीं है। उसी शास्त्रोक्त अभ्यासमें निरत वाल्मीकि मुनिने श्रीरामके चिदानन्दमय रूपका अनुभव करके अपने चिन्तनकी विश्रामभूमिकाको

'देहु तुम्हारी' कहकर व्यक्त किया है। इस प्रकार भक्तिकी सीमा दिखाकर मुनिने श्रीरामको सगुण ब्रह्मके रूपमें प्रकट किया है—यही रामचरितमानसका ध्येय है। अद्वैत सिद्धान्त इसके आगेका चिन्तन बताते हुए कहता है कि सगुण ब्रह्मके आनन्दमें भी मायाका अंश रहनेसे पूर्ण ब्रह्मसे उसमें पार्थक्य है। यह पार्थक्य भी जब छूट जायगा तभी जीव सम्पूर्ण मायाप्रपञ्चसे विश्राम लेगा।

विगतविकारका भाव

'चिदानन्दमय देह'से यह भी व्यक्त है कि श्रीरामका शरीर प्रकृतिके विकार, पञ्चमहाभूतोंसे सम्बद्ध नहीं है, न अव्यक्त महत्तत्वादिसे भी, क्योंकि प्रभुका चिदानन्दमय तनु इन तत्त्वोंकी स्थितिके पहलेसे ही विद्यमान है। इस भावसे 'विगत विकार' कहा है। अथवा 'विगतविकार'का अन्वय 'अधिकारी'के साथ करनेसे यह अर्थ होगा कि शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मका परिपाक हो जानेपर एकाग्र या उपरुद्ध भूमिकामें मनस्के संयोजनसे 'विगतविकार'की स्थितिमें ही श्रुतितत्त्व ज्ञात होता है। श्रुति ही प्रभुको जाननेमें प्रमाण मानी गयी है। अतः उक्त स्थितिमें श्रुतितत्त्वको जाननेवाला ही भगवान्‌के स्परूपको जाननेका अधिकारी है जैसे तापसने श्रीरामका भगवत्स्वरूप पहिचाना जो 'इष्टदेव पहिचानि'से स्पष्ट हुआ है।

चौ०—नर तनु धरेउ सन्त सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥६॥

भावार्थ : हे श्रीराम ! तुमने सन्तों और देवताओंका कार्य करनेके लिए मनुष्य-शरीर धारण किया है। दिव्य शरीरवाले होनेपर भी प्रकृतिसे निर्मित शरीरवाले राजाके समान कहते और करते हो।

सगुणतनु-धारणका प्रयोजन

शा० व्या० : बालकाण्डमें देवताओंकी प्रार्थनापर आकाशवाणी द्वारा कहे 'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर वेसा'से प्रभुके मनुष्य-अवतारका प्रयोजन दिखाकर दोहा १९२ में 'विप्र धेनु सुर संतहित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार'से प्रभुका प्राकट्य गाया गया है। प्रस्तुत रामावतारमें रामराज्योत्सवमें विघ्न करनेके लिए देवोंने सरस्वतीसे 'जाइअ अवध देवहित लागी' कहकर प्रार्थना की थी उसीको वाल्मीकिजी 'सुरकाजा' कह रहे हैं।

सुरकाजाका स्पष्टीकरण

सुरहित-कार्यका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—भगवान्‌के विधानसे प्रदत्त हवि-र्भोजनका अधिकार देवोंको है। उस अधिकारसे वञ्चित होनेपर विधानकी मर्यादा समाप्त होनेकी स्थितिमें प्रभु अवतार लेकर देवताओंके कार्यको बनाते हैं।

'सन्तकाजा'का संकेत दो० ४१में कही प्रभुकी उक्ति 'मुनि गन मिलनु विसेषि वन'से है जिसको अरण्यकाण्डमें (दो० ९) 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ

सुख दीन्ह'से चरितार्थ किया है। 'नरतनु धरेउ सन्त सुर काजा'का स्पष्टीकरण पार्वतीको सुनाये शिवजीके वचनोंसे बालकाण्ड चौ० ६से दोहा १२१ तकमें किया गया है।

'कहहु करहु जस प्राकृत राजा'का भाव परशुरामजीकी स्तुतिमें कहे वचनों — 'विनय सील करुना गुन सागर। जयति वचन रचना अति नागर'से स्पष्ट है। 'प्राकृत राजा'से श्रीरामका क्षत्रियत्व और राजोचित चरित्रको प्रकट किया है।

सन्तकी पतनसे रक्षा

'सन्त काजा'के विषयमें निम्नलिखित वक्तव्य मननीय है—

भगवदुपासकोंके प्रभुपदप्रीतिकी एकाग्रतामें होनेवाले व्यवहार सांसारिकोंकी दृष्टिमें उपेक्षित व निन्दनीय समझे जाते हैं। ऐसी दशामें सतत उपहास द्वारा उपासकोंकी बुद्धिको एकाग्रतासे च्युत करनेका प्रयत्न किया जाता है। च्युत हो जानेपर वे संसारियोंके अभिनन्दनके योग्य समझे जाते हैं। इस प्रकार संसारियोंके उपहाससे घबड़ाकर जब चिन्तनकी एकाग्रता एक बार छूट जाती है तब पुनः उसका अभ्यास करना कठिन हो जाता है। संसारियोंकी उपेक्षा, निन्दा, उपहास, उपद्रव आदिसे अविचलित रहनेवाले प्रभुके चरणचिन्तनमें तन्मय सन्तोंके सहायतार्थ एवं रक्षार्थ प्रभुका अवतार है जिसको शिवजीने 'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा' कहकर पार्वतीको समझाया है।

चौ०—राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥७॥

भावार्थ : हे श्रीराम! आपके चरित्रको देख सुनकर मूर्ख अज्ञानी लोग मोहमें पड़ जाते हैं, बुद्धिमान् ज्ञानीजन सुखी हो जाते हैं।

शा० व्या० : श्रीरामको देखकर या उनके चरित्रको सुनकर जिनको श्रीरामके प्रभुत्वका ज्ञान नहीं हुआ, वे जड़ हैं। जिनको श्रीरामके प्रभुत्वकी पहचान हो गयी वे बुध हैं। 'राम देखि जड़ मोहहिं'का उदाहरण सती है और 'सुनि चरित जड़ मोहहिं' का उदाहरण रावण है।

बुधोंको निश्शंकस्थितिमें सुख

'तिन्ह करि जुगुति रामु पहचाने'से संगत 'बुध होहिं सुखारे'का भाव है कि विद्वान् तर्कके प्रकाशमें श्रीरामके प्रभुत्वका निर्णय करके निश्शंक हो जाते हैं अथवा बुध होते हुए भी अपनी जिज्ञासाके उपशमनके लिए श्रीरामके प्रभुत्वसम्बन्धी शंकाको उपस्थापित करके निश्शंक स्थितिमें बैठे विद्वानोंसे अपने प्रश्नका समाधान प्राप्त करके सुखी हो जाते हैं! उदाहरणार्थ शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद आदि। वर्तमान पाठकों या श्रोताओंको रामायण पढ़कर या रामकथा सुनकर मोह नहीं छूटता तो उनकी भी जड़ता कही जायगी। यदि उनकी बुद्धिमें यथार्थ-भक्ति और नीतिका प्रकाश होता है तो उनके लिए 'बुध होहिं सुखारे'की उक्ति

सार्थक है। 'जड़ मोहहिं' एवं 'बुध होहिं सुखारे'की व्याख्या नीतिदृष्टिसे भी मननीय है। 'बुध होहिं सुखारे'के अन्तर्गत विद्वान् नीतिज्ञोंको रामचरित्र देख-सुनकर प्रसन्नता होती है। रामचरित्रमें 'नय'के अन्तर्गत नीतिकी शिक्षाको समझकर, विद्वानोंको यशस् मैत्री, विश्वासके प्रति व्याप्ति एवं नैनामें पक्षधमंताका निर्णय प्राप्त होता है। फलतः विद्वान् इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि अपनेको प्रभुका अनुगामी बनाकर शरीरको स्वस्थ रखते हुए सुखानुभवमें स्वतन्त्रता रहती हैं। इसके विपरीत जो हैं वे 'जड़ मोहहिं'के अन्तर्गत नास्तिक्यवादमें शरीरात्मवादी दुःखानुभव करते हुए रोगी होते हैं। नास्तिक्यवादका प्रतिफल जड़ता है। इस पक्षमें बुद्धिकी दौड़ विषयभोगसंबद्ध अन्वय-व्यतिरेकतक ही सीमित रहती है, वास्तविक विश्वास, यशस् एवं मैत्रीका परिचय ऐसे मूढ़ोंको नहीं होता। नास्तिक्यवादमें जो अध्यात्म कथित है वह विषय-रुचिकी ओर लेजाता है। वेदके प्रति द्रोह करना नास्तिक्यवादमें पुरुषार्थ है। अर्थात् वैषयिक सुखप्राप्तिके ध्येयमें वेदमर्यादाको तोड़ना आदि। ध्यातव्य है कि धनुष्यभंगके अवसरपर बालकाण्डमें दो० २४१ और २४२के अन्तर्गत कहे हुए विषय 'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे'का स्पष्ट दृष्टान्त है।

संगति : अग्रिम चौपाईमें वाल्मीकिजी रामचरित्रका सारतत्व कह रहे हैं।

चौ०—तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिअ नाचा ॥८॥

भावार्थ : आप जो कहते हैं और करते हैं वह सब सत्य होता है। जैसा स्वांग हो वैसा ही नाचना चाहिए अर्थात् मनुष्यशरीरका स्वांग बनाकर आये हैं तो मनुष्योचित आचरण करना ही चाहिए।

रामचरित्रमें विशेषता

शा० व्या० : 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथा-रथ'से मुनिकी उक्ति संगत है। पूर्वपरम्परागत शास्त्रीय मार्ग ही सफल मार्ग है। अन्यान्य चरित्रोंसे रामचरित्रकी विशेषता यह है कि शास्त्र एवं वेदसे अभिन्नता रखते हुए भरद्वाज वाल्मीकि जैसे आप्त विद्वानोंसे समर्थित कर्तव्यको श्रीरामने अपनाया है तथा रागद्वेषसे रहित हर्षविषादशून्य हो उसका प्रतिपादन एवं अनुसरण किया है जैसा सुमन्त्रने चौ० ८ दो० १५१में श्रीरामका सन्देश राजाको सुनाते हुए कहा है 'बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥'

शास्त्रमार्ग ही राममार्ग है

ज्ञातव्य है कि मनीषियोंने मानवको ही शास्त्रोपदेशका अधिकारी कहा है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने शास्त्रीय वेदमर्यादाका पूर्णरूपसे पालन करते हुए अपने चरित्रमें ब्रह्मण्यता, सम्मानिता, विनय, निर्विकारता आदिको प्रकट किया है। 'कहहु करहु सब साँचा'का भाव है कि अन्वयव्यतिरेकसे शुद्ध शास्त्रीय मार्ग ही सत्य मार्ग है, उसीको श्रीरामने बताया है और स्वयं आचरित किया है। शास्त्रके रहस्यको पूर्ण

रीतिसे समझकर धर्मका पालन करते हुए नीत्युचित मानव-व्यवहार किया है। पारमार्थिक दृष्टिसे श्रीरामके कार्य भले ही नाटकरूपमें हों, किन्तु व्यावहारिक परम्परामें वे सब सत्य हैं। अनबुधके अधिकारसे वाल्मीकिमुनिने रामचरित्रकी यथार्थता समझते हुए 'बुध होहिं सुखारे' कहा है।

प्रभु होते हुए श्रीरामकी परतन्त्रता

प्रश्न : श्रीराम प्रभु हैं तो परतन्त्रतामें अपना जीवन क्यों बिता रहे है ?

उत्तर : श्रीरामकी परतन्त्रता सोपाधिक है, वास्तविक नहीं। उन्होंने मनुष्य अवतार लिया है। शास्त्रानुगामित्वको मानवताका प्रतीक मानकर जीवन भरके लिए सत्यसंध पिता एवं माताके प्रति परतन्त्र रहनेको वे बाध्य हैं। अविद्याके आवरणमें विषय-लालसाके प्राचुर्यसे विलुप्तप्राय मानवताको वस्तुतत्त्वकी ओर उठानेवाला रामचरित्र है। कतिपय ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं पूर्वजन्मकृत पुण्यबलसे बिना किसी परतन्त्रताके शास्त्रानुसार कार्यक्रम किसीके होते हों, पर उनके कार्य वास्तविक शास्त्रकी रहस्यके ज्ञानसे प्रयुक्त नहीं है, किन्तु घुणाक्षर प्रयुक्त कहे जायेंगे। श्रीरामने शास्त्ररहस्यको प्रकट करके उसके अन्वय-व्यतिरेकको समझाकर शास्त्रोक्त कर्तव्यको मानवके लिए अनुकरणीयतया प्रमाणित किया है।

संगति : प्रभुके प्रश्न 'अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ'के उत्तरमें प्रभुके निवासका विचार व्यक्त कर रहे हैं।

दो०—पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ ॥१२७॥

भावार्थ : आपने हमसे पूछा कि कहाँ रहूँ ? मैं आपसे यह पूछनेमें सकुचाता हूँ कि आप जहाँ न हों वह स्थान बता दीजिए तब मैं आपको उस स्थानका सुझाव दूँ।

निवासमें इतरदेश-व्यावृत्तिका अभाव

शा० व्या० : बा० का० चौ० ६ दो० १८५में[1] शङ्करजीके कहे वचनकी एकवाक्यता वाल्मीकि मुनिके उक्त वचनोंमें स्फुट हो रही है। शास्त्रसिद्धान्तसे भगवान् सर्वत्र प्रविष्ट है—अणु-परमाणुमें भी। तब प्रभुके निवासायोग्य देशको व्यावृत्ति करना कहाँ तक सम्भव है ? जब प्रभु शास्त्रसिद्धान्तका अतिक्रमण नहीं करते तो प्रभुसे ही पूछना चाहिए कि क्या कोई ऐसी सृष्टि भी है जहाँ उनका प्रवेश नहीं है ? ऐसा पूछनेमें मुनिको संकोच हो रहा है क्योंकि प्रभुकी कही उक्ति 'विश्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा'की योग्यता से मुनि प्रभुके उक्त सर्वव्यापी निवासको सिद्धान्ततः जानते हैं। अतः प्रभुके निवाससम्बन्धी प्रश्नका सिद्धान्ततः उत्तर देना अपरिमितको परिमित, व्यापकको परिच्छिन्न बनाना है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं बताया जा सकता जो

---

१. देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥

भगवान्‌से रिक्त हो। सर्वज्ञ जब सामने उपस्थित है तब न पूछना भी मूढ़ता होगी। अतः संकोच छोड़कर पूछ रहे हैं 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि।' कृत्वाचिन्तया यह मान कर कि प्रभुने ऐसा स्थान भी क्या बनाया है ? जहाँ वे न हो, ऐसे स्थानको जानकर ही निवासकी प्रेरणा देनेकी बात 'तुम्हहि देखावौं ठाउँ' से कह रहे हैं।

विधिका सार्थक्य

विधिका अर्थ आचार्योंने भावना या प्रवर्तना माना है। इस भावनाका अन्वय आख्यातार्थ प्रवृत्तिके[1] साथ होता है जिसमें स्वको हेतु मानकर इष्टसाधनता, कृति-साध्यत्व एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वकी अनुमिति प्रवृत्तिके पहले होना आचर्योंके मतसे अपरिहार्य है। अतएव इस अनुमितिके माध्यमसे यदि प्रवृत्ति होती है तो विधिकी सार्थकता मानी गयी है। इसके अनुसार यह कहना है कि मुनिको विधिका सार्थक्य तभी है जब श्रीराम मुनिके बताए चित्रकूट निवासकी विधिसे उक्त अनुमान करते हों। ऐसा होने पर ही 'श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तरं भवति' आदि उपनिषद् वाक्यों का सामञ्जस्य विध्यर्थके अनुष्ठानोंमें हो सकेगा।

दोहेके उत्तरार्धमें मुनिकी उक्तिके अनुसार श्रीरामका निवास सर्वत्र है ही तो चित्रकूटमें भी वह है। इस दृष्टिसे श्रीरामकी निवासाकांक्षाके उत्तरमें अपनी ओरसे निवासका विधान बतानेमें मुनिको पारलौकिक मर्यादाको याद रखकर संकोच हो रहा है।

'तुम्हहि देखावौं ठाँउ'के अनुसार आगे चौ० ३में 'सुनहु राम अब कहउँ निकेता'से वाल्मीकि मुनि विधिको उक्त प्रवर्तनाके रूपमें संकेत मानकर चित्रकूट-निवासका विधान बतावेंगे।

संगति : छन्द तथा सोरठा १२६ में श्रुतिके आधारपर निरूपित अमायिक ब्रह्मकी सर्वव्यापकताको बताते हुए तटस्थ लक्षणके माध्यमसे श्रीरामका प्रभुत्त्व स्पष्ट किया। उसके बाद अनुरक्तिमें लक्ष्यका दृष्टिगोचरत्व भी समझाया जैसा चौ० ४ दो० ११० को व्याख्यामें लक्ष्यलक्षण-चक्षुष्मत्ता विवेचित है। इसको सुनकर प्रभु सकुचाते और मुस्कुराते हैं।

चौ०— मुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने ॥१॥

भावार्थ : प्रेमभावमें ओतप्रोत वाल्मीकिमुनिके वचनोंको सुनकर प्रभु सकुचा गये और मन ही मन हँसने लगे।

वाल्मीकिको अपोहन

शा० व्या० : श्रीरामके शीलस्नेहके आकर्षणमें मुनि उनका मायावृतरूप भूल

---

१. आख्यातार्थ विधिका अर्थ है भावना। तिआदिका अर्थ है कृति उसके प्रयोगमें जो विधिभाग आते हैं, उसमें दो भाग हैं—एक विधिभाग और दूसरा व्याकरणके अनुसार 'ति, तस्' प्रत्यय जिसको आख्यात कहा जाता है।

गये जो श्रीरामके अभिनयसम्बद्ध दर्शनका प्रभाव है जिसको 'प्रेमरससाने'से कविने व्यक्त किया है। प्रभुके 'मन महुँ मुसुकाने'से मुनिके प्रेमरसमें प्रभुकी प्रसन्नता है अथवा रामावतारमें जिस कार्य के लिए मुनिका नियोग है उसको भूलकर श्रीरामके पारमार्थिक स्वरूपमें मग्न हो रहे हैं तो अवतारकार्य कैसे सम्पन्न होगा ? क्योंकि व्यवहारमें पारमार्थिक प्रणालीसे काम नहीं चलेगा। 'सकुचि'का भाव है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम शास्त्रविधिकी मर्यादा दिखानेके लिए मानवरूपमें 'अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रिसहित जहँ जाऊँ॥'से तीनोंके योग्य निवासस्थान पूछ रहे हैं जिसके उत्तरमें वाल्मीकि मुनि उनके पारमार्थिक स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाऊँ' कह रहे हैं। प्रभुका हँसना माया है जैसा मानसमें 'मायाहास' और भागवतमें 'छायासु मृत्युं हसिते च मायां'से स्पष्ट है। प्रभुकी मायाहासका उद्देश्य अपने पारमार्थिक स्वरूपको भुलवाकर मुनिको पारमार्थिकस्तरसे व्यवहारमें उतारनेके लिए है।

संगति : 'सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने'का मर्म समझनेपर मुनिको हँसी आयी।

चौ०—वाल्मीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ रस बोरी॥२॥

भावार्थ : फिर वाल्मीकिजी हँसकर बोले। अमृतरसमें सनी मधुर बाणीमें कह रहे हैं।

मुनिको स्मृति व हास

शा० व्या० : प्रभुके हास (मन महुँ मुसुकाने) मायासे प्रभावित होनेपर श्रीरामके पारमार्थिक स्वरूपसे हटकर प्रीतिरसमें मुनि उतरे तो कर्तव्यकी यादके साथ अपनी भूलपर उनको हँसी आयी। हँसनेका यह भाव है कि जहाँ यथार्थ सैद्धान्तिक तत्वका कहना-सुनना होता है वहाँ विद्वानोंको प्रसन्नता होती है, उस प्रसन्नतामें कविने "हँसि कहहिं' कहा है। 'अमिअ रस बोरी'से मुनिकी वाणीका अमृतत्व यही है कि उनके द्वारा रामचरित्र सुधा बनकर भक्तोंको आह्लाद देनेवाला होगा। श्रीरामके निवासका निरूपण जिस प्रकार भक्तोंके लिए अमृत है उसी प्रकार प्रभुके लिए भी उल्लासदायक होनेसे मधुर है।

संगति : यद्यपि श्रीरामका निवास सर्वत्र है तो भी विविध उपासनाओंके द्वारा प्राप्त रामनिवासकी विधिका निरूपण आरम्भ कर रहे हैं।

चौ०—सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥३॥

भावार्थ : मुनि कह रहे हैं 'हे श्रीराम ! सुनो; अब मैं वह निवास बता रहा हूँ जहाँ आप सीताजी और लक्ष्मणके साथ निवास करें।'

निवासाकांक्षापूर्ति

शा० व्या० : निवासकी आकांक्षामें प्रभुसे पूछे 'अस जिय जानि कहिअ सोइ

ठाउँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाउँ ॥' का उत्तर 'बसहु सिय लखन समेता' कहकर देने जा रहे हैं—इसको 'सुनहु अब'से संकेत कर रहे हैं। ज्ञातव्य है कि 'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखन सिय रामु बटाऊ ॥' (चौ० १ दो० १२४)के अनुसार वनवासी श्रीरामके साथ सीताजी लक्ष्मणजी अर्थात् त्रिमूर्ति ध्येय है, उसीकी पुष्टि वाल्मीकिजी 'बसहु सिय लखन समेता'से कर रहे हैं।

नीतिनिर्देश

वाल्मीकिद्वारा निरूपित 'निकेत'से ज्ञातव्य है कि उपासकोंका हृदय ही चित्रकूट है और हृदयके अन्तर्वर्तिनी सुषुम्ना देशमें प्रभुका निवास ही पर्णशाला है। धर्ममार्गका निर्देशन जिस प्रकार भरद्वाजजीने किया उसी प्रकार नीतिमार्गका निर्देशन वाल्मीकिजीने किया है।

संगति : वाल्मीकिजी उपासनाका आरम्भ (१) श्रवणभक्तिसे करते हुए राम निकेतके चौदह स्थान बता रहे हैं।

चौ०—जिन्हके श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥४॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥५॥

भावार्थ : जिनके कान समुद्रके समान हैं जिसको अनेक पुण्यवती नदियोंके समान रामकथा अनवरत भरती जा रही हैं पर वह समुद्र कभी भरता ही नहीं अर्थात् जिनके कान कथाश्रवणसे कभी तृप्त नहीं होते, ऐसे भक्तोंके हृदयमें श्रीराम ! आपका रुचिर निवास हो।

रामनिवास श्रवणभक्तमें

शा० व्या० : श्रवणभक्तको निरन्तर कथाओंको सुनते-सुनते भी अलंभाव नहीं होता। यह कथाश्रवणात्मक उपासना पटुप्रत्यज-संस्कारको दृढ़ बनानेवाली है। इसमें उपासककी मनोवृत्ति बालवत् रहती है अर्थात् उसमें तर्कका प्राचुर्य न रहते हुए भी विश्वासकी दृढ़तामें शङ्का या कुतर्क या अवहित्था नहीं रहती। 'भरहिं निरन्तर' व 'समुद्रसमाना'का—तात्पर्य यह है कि विषयोंका परिचय होते हुए भी कथाश्रवणमें उत्कट इच्छा रहनेसे वह उपासक अतृप्त रहता है जो यह अमृत विषयान्तर-ग्रहणमें प्रतिबन्धक है।

मनस्की शुद्धि

'कथा सुभग सरि'का भाव है जैसे पुण्यनदियोंमें स्नान करनेसे पवित्रताका अनुभव होता है वैसे ही कथाओं द्वारा उत्कट इच्छाविषय भगवच्चरित्रको सुनते-सुनते श्रोता विषयसम्पर्कसे दूर होता जाता है। इसीसे मनस्की शुद्धि होती है और भगवत्तत्त्व समझमें आने लगता है। कथाश्रवणमें सर्वविध हित साधनताकी बुद्धि होनेसे पुत्र-कलत्र-धन-धाम आदिका चिन्तन अनायासेन छूटने लगता है और उत्तरोत्तर कथाश्रवणमें रुचि बढ़ने लगती है। एवं च आजका कथाश्रवण कलके

कथाश्रवणमें साधन बन जाता है। कथाश्रवणमें एक श्रवणेन्द्रियकी उपासनासे अन्यान्य इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूपकी ओर प्रेरित होती हैं।

'गृहरूरे'का भाव है कि कथाश्रवणमें उत्कट इच्छासे हृदयमें भगवान्के निवासका सौन्दर्य प्रकट होता है।

संगति : अब (२) चाक्षुष भक्ति बता रहे हैं।

चौ०—लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥७॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥८॥

भावार्थ : जिन्होंने अपने नेत्रोंको चातकके समान बना रखा है जो एकमात्र श्याममेघोंको ही देखते रहनेकी इच्छा रखते हैं। उसीके स्वातिबिन्दुजलसे सुखी होते हैं, उसके आगे, कितना भी जलसे भरा तालाब, नदी या समुद्र हो, उसका निरादर वे कर देते हैं। ऐसे भक्तोंके हृदयमें लक्ष्मण व सीताके साथ रघुनाथ रामजी सुखद गृह मानकर निवास करें।

चाक्षुषभक्ति

शा० व्या० : इन्द्रियोंमें प्रधानता चक्षुष्की है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी है अर्थात् जहाँतक उसकी पहुँच है वहाँतक पहुँचकर स्वविषयको ग्रहण करता है। चातक और स्वातिबिन्दुके उदाहरणसे चाक्षुषभक्ति समझायी है। श्रीरामके दर्शनका उत्कट अभिलाषु भक्त श्रीरामके रूपको छोड़कर अन्य विषयोंकी ओर देखनेमें रुचि नहीं रखता। जहाँ श्रीराम गोचर नहीं हैं, वहाँ उसके चक्षुष् जाते ही नहीं। यदि जाते भी हैं तो हृदयमें विषयोंका संवेदन नहीं होता।

आहरण व रुचिका सम्बन्ध

ज्ञातव्य है कि उपासकोंको उदर्य-अग्नि (जठराग्नि) उनके आहारको ऐसा बनादेता है कि वह ध्येय पदार्थको छोड़कर अन्य पदार्थको स्वीकार ही नहीं करता। जैसे राजा अम्बरीषकी उदर्याग्नि भगवत्प्रसादको छोड़कर अन्य भोज्य पदार्थोंको ग्रहण करनेमें उत्तेजित ही नहीं होती थी। उसी प्रकार चातककी उदर्याग्नि स्वाति-बिन्दुको छोड़कर अन्य जलाशयों—नदी, समुद्र आदिके जलको स्वीकार ही नहीं करती। चाक्षुष भक्तोंके लिए चक्षुरिन्द्रियका ग्रहणीय केन्द्रबिन्दु श्रीरामका ही रूप है जैसे चातकके लिए जलधरका स्वातिबिन्दु। प्रीतिकी निष्कपट मनः स्थितिको देखकर प्रेमी आकृष्ट होता ही है, उसी प्रकार तन्मयीभावमें रहनेवाले भक्तोंके हृदयमें प्रभु वास करते हैं। उसके हिताहितका ध्यान रखते हुए उसके जीवनको भी नियमतया सञ्चालित करते हैं।

'हृदयसदन सुखदायक'का भाव है कि ऐसे भक्तोंका हृदयरूप गृह प्रभुको सुख देनेवाला है, साथ ही प्रभुका यह निवास भक्तोंको भी सुख देनेवाला है।

संगति : अब वागिन्द्रियकी (३) भक्ति (कीर्तन भक्ति) बता रहे हैं।

दो०–जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु ॥१२८॥

भावार्थ : मानसरोवरमें रहनेवाली हंसिनी जिस प्रकार विमल मोतियोंके दानोंको चुगकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार जिस भक्तकी जिह्वा निर्मल रामयशस्के गानमें, प्रभुके गुणमणोंका वर्णन करनेमें स्वाद लेती है उसके हृदयमें श्रीराम बसें।

गुणदोषविवेक

शा० व्या० : हंसिनीका दो काम है, एक तो दूधको अलग करके पी जाना और जलांशको छोड़ देना। दूसरा (निर्मल जलवाले मानसरोवरके) मोतियोंको चुगना। उसी प्रकार जिह्वाके भी दो काम हैं—एक बोलना और दूसरा स्वाद लेना। ऐसे ही भक्तकी जिह्वा निर्मल रामयशस्का वर्णन करती है और उसमें प्रभुके गुणोंको प्रकट करती है।[1] प्रेमी अपने प्रेमास्पदके दोषोंको कभी देखता नहीं, कहता नहीं। आपाततः दोष प्रकट भी हों तो हंसिनीके क्षीर-नीर-विवेकके सदृश केवल गुणोंको ही वह ग्रहण करता है।

प्रभुके यशोमय कीर्तनमें स्वाद लेनेवाले भक्तोंकी उदर्याग्नि जिह्वारूपसे प्रभुके गुणोंको ही ग्रहण करनेमें उत्तेजित होती है। एवं च हरिभक्तिसम्प्रदाय भक्तिके लक्ष्य-लक्षणके विचारमें आस्वादकी परानुरक्ति कहता है। भगवद्गुणोंका गान करनेमें स्वाद लेनेवाले भक्तोंका हृदय निर्मल होता है जिसको 'मानस विमल' कहा है। उसीमें श्रीरामका निवास होता है।

भक्तिकी पूर्णतामें अतिदिष्ट इतिकर्तव्यता

ज्ञातव्य है कि भक्तिकी इतिकर्तव्यतामें पातिव्रत्यधर्म अतिदिष्ट होते हैं। पतिव्रताके लिए प्रेममूर्ति पतिके प्रति जो-जो धर्म आदिष्ट हैं वे सब भगवत्-प्रीतिके इतिकर्तव्योंमें भक्तके लिए शास्त्रोक्त धर्मके रूपमें अतिदिष्ट हैं। इस भावसे हंस न कहकर 'हंसिनी' कहा है। रतिभावमें भक्तका चरित्र नायिका-धर्मके अनुरूप होनेपर ही प्रभुके प्रसादका भाजन है जैसे सुना जाता है कि श्रीकृष्णको रासलीलाके आस्वादनका अधिकारी बननेके लिए शिवजीको गोपीरूप धारण करना पड़ा।

संगति : अब वाल्मीकि मुनि त्वक्, नासिका और रसग्राहक रसनेन्द्रियकी (४) उपासना बता रहे हैं।

चौ०–प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा ॥१॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पटभूषन धरहीं ॥२॥

भावार्थ : प्रभुके पवित्र और सुन्दर फूल-प्रसादकी सुगन्धको जो भक्त आदर

---

१. 'गायन्तीमिश्च कर्माणि, शुभानि बलकृष्णयोः'। भा० १०

पूर्वक नित्य अपनी नाकसे ग्रहण करते हैं, भोजनको प्रभुको अर्पण करके ही स्वयं प्रसाद पाते हैं, तथा वस्त्र और आभूषण प्रभुको समर्पित करके प्रसाद रूपमें स्वयं धारण करते हैं।

त्वक्-घ्राण आदिकी उपासनामें शुचिपदार्थोंका ग्रहण

शा० व्या० : भगवान्‌ने अपने प्रिय पदार्थोंको शास्त्र द्वारा प्रकट किया है। शास्त्रोंमें निर्दिष्ट पदार्थ ही शुचि माने गये हैं। शास्त्रानुसारी पदार्थोंके आहार-विहारका प्रयोग तथा सेवन उपासनामें सहायक है। शास्त्रोपदिष्ट पदार्थोंमें 'सुचि सुबासा' कहा गया है। प्रभुसेवामें अर्पित सभी पदार्थोंका 'सुभोग' कहा है। इससे सिद्ध है कि शास्त्रोपदिष्ट पदार्थ स्वयं शुचि होते हुए भी भगवत्प्रसाद रूपमें हो जानेपर अधिक प्रभाववान् हो जाते हैं, उनके सेवनमें, प्रभुकी प्रसन्नता सिद्ध होनेसे वह प्रसाद सेवककी भाग्यसम्पत्तिको बनानेवाला है। अतः भक्तोंको वे ही पदार्थ इष्ट हैं जो प्रभुको प्रिय और निवेदित हैं। शास्त्र और भक्तिका यह समन्वय सेवक-उपासकोंके लिए मननीय है।

सात्विक (सुबासा) पदार्थोंका विवेचन

प्रभुको निवेदित भोग्य पदार्थोंमें पुष्प, फल, अन्न, वस्त्र, आभूषण मुख्य हैं जिनका उल्लेख प्रभुप्रसादके अन्तर्गत शास्त्रमें किया गया है। वे शास्त्रनिर्दिष्ट पदार्थ सात्विक हैं। शास्त्रमें निषिद्ध या निन्दित पदार्थ तामस माने जाते है। जो उपेक्षित हैं, वे राजस् हैं। राजस-तामस पदार्थ राजस-तामस-भक्तिमें उद्दिष्ट हो सकते हैं, पर यहाँ सत्वप्रधान नैतिक उपासनाका प्रसङ्ग है, इसलिए सात्विकसे इतर तामस या राजस पदार्थोंकी व्यावृत्ति करनेके लिए 'सुबासा' कहा है। (यातयामं गतरसं) पदार्थ तामस कहा गया गया है। प्रभुके प्रसादमें गुणोंकी व्यभिचारिताका सम्बन्ध नहीं रहता।

माया-विजयमें जीवनकी सार्थकता

ऐसे उपासकोंका जीवन भक्तिसिद्धान्तमें सार्थक माना गया है। जिनकी रसना, नासिका और त्वगिन्द्रिय प्रभुके उच्छिष्ट भोजन, वस्त्र, माल्य, अलंकार आदिको प्रसाद रूपमें प्राप्त करनेको लालायित रहती हैं अर्थात् अपने अपने इन्द्रियके स्वादकी पर्याप्ति प्रभुको समर्पित उच्छिष्ट भोग्य पदार्थोंमें ही मानती हैं तो वे श्रीरामके प्रियपात्र हैं। भागवतसिद्धान्तानुसार उपासकोंके लिए प्रभुका उच्छिष्ट प्रसाद मायाजयका उपाय कहा गया है[1] जिसको यहाँ 'निवेदित भोजन करहीं'से व्यक्त किया है।

---

१. त्वयोपभुक्त स्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासा वयं मायां जयेमहि॥ (भा. ११)

अब कर्मेन्द्रियोंकी उपासनाके अन्तर्गत भक्तिभावकी उपासना बता रहे हैं।

चौ०—सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय बिसेषी ॥३॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहि दूजा ॥४॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम! बसहु तिन्हके मन माहीं ॥५॥

कर्मेन्द्रियोपासना

भावार्थ : देवता, गुरु और ब्राह्मणको देखकर जो विशेष नम्रतासे सप्रेम मस्तक झुकाकर नमस्कार करता है, जिसके हाथ रामचरणकी पूजामें नित्य लगे रहते हैं और हृदयमें श्रीरामको छोड़कर दूसरेका विश्वास नहीं रखता, जिसके पैर रामतीर्थोंकी यात्राके लिए चलते रहते हैं—उनके मनस्‌में श्रीराम वास करें।

शा० व्या० : सुर—मन्दिरमें देवताओंकी प्रतीक मूर्तियाँ यहाँ 'सुर'से विवक्षित हैं। आत्मगुणसम्पत्तिमत्व ही सुरत्व है।

गुरु—विवेकवृत्यवच्छिन्न चित्-तत्व ही गुरुत्व है। शिष्य और स्वके हिताहित साधनके विवेचनामें जो विवेकी हैं वे गुरु हैं।'

द्विज—सत्वगुणयुक्त वेदविद्याध्येतृत्व पूर्णद्विजत्व है। कर्तव्याकर्तव्यका निर्धारण करना वेदविद्याका कार्य है।

कृतक विनय

'सीस नवहिं'से देव, गुरु, विप्रके प्रति उपासकोंका स्वाभाविक विनय दर्शाया गया है। अर्थात् नमस्कारात्मक उपासनामें कायिक तन्मयता ऐसी होती है कि गुरु आदिको देखते ही मस्तक अपने आप झुक जाता है। 'विनय विसेषी'से विनयकी विशेषता यही है कि उसमें दम्भ नहीं रहता।

'प्रीति सहितका' भाव है कि विनयमें स्वाभाविक अभिरुचि हो। ऐसी अभिरुचिको कृतकरूपमें बनानेमें उपासकोंको विद्याध्ययनके क्रमसे प्राप्त प्रकाश सहायक होता हैं क्योंकि विनयकी सफलता एवं अविनयकी निष्फलता उनको समझमें आ जाती है।

द्विजत्वकी पूज्यता

ज्ञातव्य है कि ब्राह्मणमात्रमें ही पूर्ण द्विजत्व है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि वेदविद्या-अध्येतृत्वकी योग्यता ब्राह्मणमें जन्मसिद्ध है। यह बात अलग है कि अशुचि संसर्ग एवं क्रियाहीन होनेसे ब्राह्मण सत्वगुणसे वंचित हो विद्याके अभावमें गुणहीन कहा जाएगा, तावता वह अपूज्य नहीं है जैसा अरण्यकाण्डमें 'पूजिअ विप्र सील गुनहीना' कहा है। वेदविद्या-सम्पत्तिकी पात्रता या योग्यताकी दृष्टिसे उसमें पूज्यताका भाव माना गया है जो वर्णाश्रम समाजकी व्यवस्था बनाए रखनेमें कार्यकारी है।

पूर्वमें कही उपासनाओंसे शमकी उपलब्धिके साथ जैसे जैसे प्रकाश होता रहेगा वैसे वैसे उपासकोंकी प्रीति भगवान्‌के साथ साथ गुरु-द्विजमें भी होती जाती है जैसा श्रीमद्भागवतमें भी कहा है।[1]

कर्मेन्द्रियोंमें मस्तक सर्वोच्च और पैर सबसे नीचे है, इसलिए शिरसूसे आरम्भ करके पैरतककी सेवा कही गयी है। ज्ञानेन्द्रियोंमें संवेदन है, कर्मेन्द्रियोंमें चेष्टा है। यही दोनोंमें अन्तर है।

मानसके आरम्भमें रामभरोसका अर्थ मंगलाचरणमें कहे 'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' को 'सीस नवहिं'से श्रद्धा और 'रामभरोस'से विश्वास व्यक्त किया है।

रामपदका तात्विक स्वरूप

शास्त्र ही भगवान्‌का शरीर है। प्रमाण व तर्कको 'रामपद' कहा गया है। शास्त्रके आचरणमें ही उपासकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। भगवच्चरणोंकी पूजामें प्रेम रखनेसे भक्तोंका हस्तेन्द्रिय इस प्रकार संस्कृत हो जाता है कि श्रीरामके चरणोंको पकड़नेमें ही वह सदा अग्रसर होता है। अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित सुखज्ञान या तज्जन्य वासना ही प्रीति है, 'रामः मे हितसाधनम् न अन्यः' ही भक्तोंका प्रीत्यात्मक-भाव है अर्थात् शास्त्रानुमोदित कार्योंको करनेमें शास्त्रात्मक भगवान्‌को छोड़कर दूसरेका भरोसा न रखना भक्तोंका प्राथमिक सुस्वभाव है। वही 'रामभरोस' है।

प्रभुप्रसादका फल

'यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः'के अनुसार हृदयमें चंचलता न होनेपर सेवक विश्वास और विभूतिका पात्र होता है अर्थात् स्वामीकी प्रसन्नतासे सेवकका मंगल होता रहता है। 'हृदय नहिं दूजा'से व्यक्त किया गया है कि यदि सेवक क्षण-क्षणमें स्वामीके प्रति अपना भाव बदलता रहता है तो उसकी सेवा व्यभिचरित होती है। उस दशामें वह एकाग्र न होनेसे स्वामीसे उपेक्षित होता है, वैसे व्यक्तिके लिए 'रामभरोस' नहीं कहा गया है।

अनात्मवान् संपन्नकी सेवाका निषेध

सेवावृत्ति प्रकरणके[2] अनुसार अनात्मवान् स्वामीके पतनोन्मुख होनेपर उसके

---

१. तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥ (११ स्क. अ. ३ श्लो. २१-२२)

२. अनात्मवान् नयद्वेषी वर्धयन्नरिसंपदः प्राप्यापि महदैश्वर्यं सह तेन विनश्यति।
'अभिलक्ष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सद्भिर्निषेवितम्। सेवेत सिद्धिमन्विच्छन् श्लाघ्यं विन्ध्यमिवेश्वरम्॥''

संसर्गमें रहनेवाला सेवक भी गर्तमें गिरता है। अतः अनात्मवान् स्वामीकी सेवाका शास्त्रकारोंने निषेध किया है। आत्मवान् स्वामी श्रीरामकी सेवा करना व शुद्ध जीवनकी कामना करना शास्त्रानुमोदित है।

'राम पद पूजा'से सेवककी नित्यकर्तव्यताकी धारणा पुष्ट होती है तो उनकी सेवासे दुराप पदार्थ (मुक्ति तक) भी सुलभ होती है।

तीर्थका भाव

'राम तीरथ'से व्यक्त है कि मन्दिरों एवं तीर्थोंमें प्रायः महात्मा विद्वानोंसे भेंट होती है। उनके सान्निध्यमें विनयविशेषकी शिक्षा प्राप्त होती है। जिसके फल-स्वरूप मानमदका अभाव होता है। ऐसे महात्माओंके हृदयमें श्रीरामका निवास रहता है क्योंकि 'तीर्थं परं किम् स्व मनो विशुद्धम्'के अनुसार विशुद्ध मनस्वाले विद्वान् ही तीर्थ हैं। उपासकोंके पैर ऐसे महात्माओंके पास जानेमें स्वतः आगे बढ़ते हैं। भरद्वाज, वाल्मीकि जैसे सन्तरूप तीर्थसे संलग्न रहनेवाले गुह, केवट, ग्राम-पुरवासी आदि रामप्रीतिके भाजन हुए हैं। श्रीरामने ऐसे सन्तों भरद्वाज, वाल्मीकि, अगस्त्य आदिकोंके पास जाकर तीर्थयात्राका जो आदर्श उपस्थापित किया है वह हम सबके लिए अनुकरणीय है।

संगति : अब जपादि (५) पुरश्चरणके सम्बन्धमें बता रहे हैं—

चौ०—मन्त्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥८॥

भावार्थ : मन्त्रश्रेष्ठ रामनामका जो नित्य जप करते हैं और परिवार सहित (सीता लक्ष्मणके साथ) रामका पूजन करते हैं।

मन्त्रजपकी उपासना

शा० व्या० : पूजामें भगवन्नामका मन्त्रजप अंगभूत है। तन्त्रग्रथोंमें किये पुरश्चरणसे भगवन्निवासका आधार सिद्ध होता है। गार्हस्थ्यमें पुरश्चरण करनेवाले साधकके अन्यान्य नित्य-नैमित्तिक कर्म विना परिवारकी अनुकूलताके सम्पन्न होना कठिन है। राजा दशरथसे कहे गुरु वसिष्ठके वचन 'विप्र सहित परिवार गोसाईं। करहिं छोहु सब रौरिहि नाईं'से स्पष्ट है कि राजाके सुखमें परिवार कभी बाधक नहीं रहा—इसीको ध्यानमें लाकर श्रीरामने पिताके सन्तापको देखकर कहा था—'प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ'।

'सहित परिवारा'का अन्वय 'तुम्हहि'के साथ करनेपर यह भाव होगा कि वनवासी श्रीरामके ध्यानमें सीता और लक्ष्मणके साथ श्रीरामका पूजन, मुनिको इष्ट है।

रामचरितमानसके इष्टदेव श्रीराम हैं। अतः रामनामको 'मन्त्रराजु' कहा गया है। नामवन्दनामें भी कविने 'राम' नामका महत्त्व गाया है यथा—'महामन्त्र जोइ जपत महेसू', 'महिमा जासु जान गनराऊ', 'जान आदि कवि नाम प्रतापू' आदि

कहकर 'तुलसी रघुबर नामके बरन बिराजत दोउ' (दो० २०)से राम नामको सब वर्णोंका मुकुटमणि कहा है।

संगति : 'सहित परिवारा'की प्रसक्ति विधि-कर्मोंमें भी है जो आगे कहा जा रहा है।

चौ०–तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाइँ देहिं बहु दाना ॥७॥

भावार्थ : शास्त्रोंमें जपके अंगभूत जो विधि बतायी गयी हैं उनके अनुसार तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन, बहुत प्रकारके दान आदि कर्म करते रहते हैं (तर्पण आदि कर्म जपके अंगभूत तपस् विवक्षित हैं अथवा वर्णाश्रमोचित कर्मके अन्तर्गत कर्म विशेषपरक) हैं।

जप आदि कर्ममें दम्भाभाव

स्मरण रखना चाहिए कि बाहुल्येन या संक्षेपमें किये जानेवाले जप आदि धर्मकार्य शास्त्रोक्त विधिसे ही होने चाहिए क्योंकि विधिरहितकर्म प्रभुप्रीतिजनक नहीं होते जैसा श्रीमद्भागवतमें भी कहा है।[1] यह भी ज्ञातव्य है कि उक्त धर्माचरणमें विनयविशेष रहनेसे दम्भ नहीं रहता।

दानमें धर्म एवं लोकसंग्रह

दानके सम्बन्धमें पात्र-अपात्रका विचार भी ज्ञातव्य है। सामान्यरूपसे सर्वसाधारणको दिया जानेवाला दान लोक व प्रजाके रक्षणार्थ है। दानके लिए सत्पात्रकी खोज शास्त्रवचनके अनुसार होनी चाहिए[2] अन्यथा लोकसंग्रह नहीं होगा। अपात्रको दिया दान व्यर्थ कहा गया है।[3]

यद्यपि उक्त धार्मिक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ हैं तो भी वे नीतिके अन्तर्गत लोकसंग्राहक माने गये हैं। उपासकोंकी दृष्टि इस ओर भी रहना चाहिए।

न्यूनतापरिहार

यहाँ उपरोक्त धर्म कर्मोंमें तपस्का कोई उल्लेख इस चौपाईमें नहीं किया गया है, इससे ग्रन्थकी न्यूनता नहीं समझना है क्योंकि तपसकी व्याख्यानुसार वैधक्लेशजनक कर्म तपस् है, तदनुसार सभी शास्त्रीय कर्म वैधक्लेशजनक होनेसे तपस्के अन्तर्गत समाहित हैं अथवा तपस् आदि उपलक्षक है।

संगति : उक्त धार्मिक कर्मोंमें विनयविशेषके सम्पादनार्थ विद्यावृद्ध-संयोगको दृष्टिमें रखते गुरुकी प्रशंसा गा रहे हैं—

---

१. अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते। यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥

२. गुणानुरागी स्थितिमान् (आचारवान्) श्रद्धानो दयान्वितः। धनं धर्माय विसृजेत् प्रियां वाचं उदीरयन्। (नी० सर्ग ३)

३. अपात्रवर्षणात् जातु किं स्यात् कोषक्षयादृते।

चौ०—तुम्हते अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी ॥८॥

भावार्थ : प्रभुकी प्राप्तिकी ओर ध्यान देनेसे प्रथम गुरुकी प्राप्तिकी ओर अधिक ध्यान देना कर्तव्य है, ऐसा मनमें अच्छी तरह समझकर गुरुकी सर्वभावसे सेवा और आदर करते हैं।

विद्यावृद्धसंयोग प्रभुनिवासमें उपजीव्य

शा० व्या० : विद्यावृद्ध-संयोग रामप्राप्तिमें उपजीव्य है, अतः किसी भी अवस्थामें गुरुकी उपेक्षा प्रभुको इष्ट नहीं है, इसको समझाने के लिए 'अधिक गुरहि जिय जानी' कहा है। जीवनके अन्धकारमय कर्म मार्गमें विना शास्त्रका आधार लिए आगे बढ़ना फलदायी नहीं होता, इस दृष्टिसे गुरुको दीपक कहा है। दृष्ट-अदृष्ट फलके उद्देश्यसे प्रवृत्त होनेवाले साधकोंको गुरु द्वारा ही प्रकाश मिलता है। प्रभुसे भी अधिक गुरुका सम्मान करनेका आशय शास्त्रज्ञानकी उपादेयता और महत्त्वको बताना है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने अपने चरित्रमें सर्वत्र शास्त्रमर्यादाका आदर दिखाया है। गुरुकी सेवासे शास्त्रर्यादाके पालनमें तन्मयताकी अनुवृत्तिको बनाये रखनेके लिए 'सकल भायँ सेवहिं सनमानी' कहा है।

प्रभुकी सेवाका क्रम बताना और प्रतिबन्धकका निरास करना एवं समानो-भयकोटिक विषयमेंसे एकतरनिर्णय करनेमें लाघव-गौरवको नियामक मानना तथा धर्म-अर्थ-कामके सिद्धिका उचित उपाय बताना-आदि गुरुका कार्य है अन्यत्र सिद्ध तत्त्वको शास्त्रप्रतिपाद्य कर्मोंके ध्येयकी वास्तविकतामें समझानेमें गुरुकी उपादेयता है।

संगति : सम्पूर्ण शास्त्रोक्त कर्मोंका ध्येय माननेकी उपासना बता रहे हैं?

दो०—सबु करि मागहि एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्हके मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ ॥१२९॥

भावार्थ : उपरोक्त सब धर्मकर्मोंके फलरूपमें जो उपासक एकमात्र राम-चरणोंकी प्रीति ही मांगते हैं। ऐसे भक्तोंके हृदयरूपी मन्दिरमें सीताराम दोनों बसें अथवा सीतासहित दोनों रघुनन्दन भाई (राम लक्ष्मण) बसें।

सदाचार कर्मका ध्येय

शा० व्या० : शास्त्र निर्दिष्ट आचारमें अर्थ-कामकी सिद्धि स्वतः नियत है तो सदाचारात्मक वृत्तियोंका उद्देश्य अर्थ-कामकी प्राप्ति मानना निष्प्रयोजन है। कामादिके संस्कारमें परतन्त्रताके रामचरणरति दुर्लभ है। 'गुरहि अधिक जिय जानी' एवं 'सेवहि सकल भायँ सनमानी'का फल है कि गुरुके द्वारा प्राप्त विवेकसे उपासकको समझमें आ जाता है कि अनेक विधिसे किये जानेवाले सदाचारोंका उद्देश्य एकमात्र रामचरणरति है जैसा लक्ष्मणजीने गुहसे कहा है—'होइ विवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा, 'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥' (चौ० ६ दो० ९३)।

'रामचरन-रति'को ध्येय मानकर उपासना करनेवालोंको अर्थ-कामकी प्राप्ति उद्देश्य न होनेसे उसमें तृष्णा नहीं रहती। अतः वे कामादिके प्रभावसे बचे रहते हैं।

संगति : 'तुम्हहि देखावौं ठाऊँ'से वाल्मीकि मुनिने प्रभुका निवास दो० १२९ तक बताया। अब 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि'से प्रभुका निवास जहाँ आकांक्षित नहीं है, वैसी (६) उपासना बता रहे हैं।

चौ०–काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा ॥१॥
जिन्हके कपट दम्भ नहि माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥२॥

भावार्थ : जिनको क्रोध, मद, मान, मोह लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह कपट, दम्भ, माया आदि नहीं हैं, उनके हृदयमें हे रघुनाथजी ! आप निवास करें।

प्रभुकी निवासमें रुचि

शा० व्या० : जिनके हृदयमें उक्त दोष हैं वहाँ प्रभुको निवास करनेकी आकांक्षा नहीं है। अरण्यकाण्डमें 'काम आदि मद दम्भ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके। दम्भ मान मद करहिं न काऊ' आदिसे प्रभुने स्वयं अपने मुखसे अपना कामादिसे शून्यको रुचिकर निवास कहा है।

कामादिकी हेयता

ज्ञातव्य है कि व्यसनके सम्बन्धसे ही कामादि तत्त्व प्रकृतमें हेय कहे गए हैं। यह भी स्मरणीय है कि काम क्रोधादि, व्यसनके रूपमें हों तो पतनकी ओर ले जाते हैं यदि वे ही 'राम चरन रति'में अङ्गभूत होकर तन्मयतामें पोषक होते हों तथा कृतक इन्द्रियजयमें सहायक होते हों या प्रेम, सुख, अनुकूलता, एकता, संघटन, विश्वास आदिमें बाधक न होवे हों तो वे नीति दृष्टिसे ग्राह्य हैं।

कामादि तत्वोंकी व्याख्या निन्नलिखित रूपमें विवेचनीय है—

काम आदि विकारोंकी व्याख्या

काम—इच्छा ही काम है।
क्रोध—अक्षमा ही क्रोध है।
मद—शौर्यादि प्रयुक्त दर्प मद है अथवा मोहमें आनन्दकी अनुभूति मद है।
मान—अवनतिमें उन्नतिकी भावना मान है।
मोह—कर्तव्यनिर्धारणाऽभाव (कर्तव्यका निर्णय न कर सकना) मोह है।
लोभ—परकीय (दूसरेके) द्रव्य या धनमें हितसाधनताकी भावना लोभ है।
क्षोभ—धैर्यका अभाव ही क्षोभ है।
राग—विरुद्ध अर्थमें इन्द्रियोंकी प्रतिपत्ति राग है।
द्रोह—मिथ्या-ज्ञानप्रयुक्त द्वेष ही द्रोह है।
कपट—किसी प्रकारकी प्रतारणा कपट है।

दम्भ—कुक्कुटवृत्तको दम्भ कहा है। वस्तुगत्या अपनेमें अभाव जानते हुए भी उसकी वास्तविकताका आरोप करना दंभ है।

माया—इन्द्रजाल या जादूगरीका कार्य माया है।

संगति : अभीतक स्वहितकी दृष्टिसे उपासनाका वर्णन किया। अब परहितसे सम्बन्धित सामाजिक दृष्टिसे रामनिवासके उपयुक्त निवासस्थान (७)का विचार प्रकट कर रहे हैं।

चौ०-सबके प्रिय सब के हितकारी। दुख सुखसरिस प्रसंसा गारी ॥३॥

भावार्थ : जो सब लोगोंका प्रिय और हित करनेवाले हैं, या जिनको दुःख-सुख या प्रशंसा-गाली बराबर है अर्थात् दोनोंमें एक समान रहते हैं।

जितेन्द्रियतामें सर्वप्रियत्व (आभिगामिकत्व)

शा० व्या० : सात्विकता उद्बुद्ध होने पर कामुकता चली जाती है। निष्काम व्यक्ति जितेन्द्रिय और विनयशील होता है। संवासिगण ऐसे व्यक्तिको अपने अनुकूल समझते हैं। जितेन्द्रिय व्यक्ति किसीके प्रति एकार्थाभिनिवेश नहीं रखते। कोई भी किसी आकांक्षाको लेकर निष्काम व्यक्तिके पास जाते हैं तो जितेन्द्रिय व्यक्तिके द्वारा समझाये गये यथोचित एवं सत्यसे पूर्ण प्रिय बचन उत्तरके रूपमें जिज्ञासुको स्वीकार्य होता है। नीतिमें प्रियहितकर्तृत्वरूप आभिगामिकत्व आकर्षक माना गया है। इसीको शास्त्रकारोंने आत्मसंपत्तिगुण कहा है।

नीतिपालनमें समभाव

नीतिसिद्धान्तके पालनमें प्रियहितका अनुष्ठान करते हुए न्यायपथका अनुसरण करनेमें दैवके विलाससे कभी सुख कभी दुःख आता रहता है, प्रियहितकारित्वमें कभी प्रशंसा होती है कभी असूया (इर्ष्या)के कारण निन्दा भी होती है पर निष्काम व्यक्ति सब अवस्थाओंमें नितिधर्मप्रतिष्ठाके व्रत या स्वकर्तव्यकी प्रधानतामें अपने हृदयमें उद्वेग या हर्षको स्थान नहीं देते। किंबहुना तर्कविद्या एवं नीतिविद्याके प्रकाशसे समस्थितिमें रहते हैं। यह निकर्ष 'हर्षशोकौ व्युदस्यति'से इस नीतिसारीय वचनसे भी व्यक्त है।

संगति : जीवनकी ऐसी संघर्षमय अवस्थाओंमें उपासक अपनी स्थितिको किसके बलपर सुदृढ़ रखता है, इसको 'सरन तुम्हारी'से आगे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०-कहहिं सत्य बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥४॥

भावार्थ : जो प्रियता और अर्थकी सत्यताका विचार करके ही बोलते हैं और जागृति या स्वप्नकी अवस्थामें, तभी एकमात्र प्रभुकी शरणमें रहते हैं।

सत्य-प्रिय-वचनकी उपपत्ति

शा० व्या० : प्रश्न : एक ही व्यक्ति सबका प्रियकारी और हितकारी होकर सत्य प्रिय वचन कैसे बोल सकता है ?

उत्तर : 'सबके प्रिय सबके हितकी'का उल्लेख स्वरूपतः किया गया है, न कि समाजकी ज्ञान विषयताको लेकर—अर्थात् किसी व्यक्तिविशेषको ज्ञान कराकर प्रिय हितकारित्वका विचार यहाँ अभिमत नहीं है अपितु वस्तुगत्या समाजका हितकारित्व ही उद्देश्य है। 'सत्य प्रिय वचन' सत्य प्रियहित कर्तृत्वका भी उपलक्षक है। तभी ऋजुत्व समन्वित होगा।

सत्य-प्रिय विचारीका तात्पर्य

सत्यका तात्पर्य परोक्षवेदप्रमाणप्रसूत वचनार्थसे है और प्रियका तात्पर्य प्रत्यक्ष प्रमाणप्रमितअर्थसे है। प्रमाण (त्रय)के रहते अकारणत्व निष्फलत्व आदिकी शंकाओंको कालत्रयमें अवकाश नहीं है, न तो सत्यका कभी बाध ही है। सत्य प्रिय हितकारी वही व्यक्ति हो सकता है। जिसको प्रत्यक्षानुमानप्रमितार्थमें रुचि और विश्वास है तदनुसार सही तत्वनिरूपण करनेमें दृढ़ संकल्प है। 'बिचारी'से कवि वेदप्रमाणप्रसूत अर्थके निर्णयमें लाघव-सत्परामर्श समझा रहे हैं। उसके माध्यमसे वेदवचनोंका समन्वय करते हुए तत्तत् स्थलोंमें 'इदं इत्थं'का निर्णय करके सत्यांशको प्रकाशित करना है। प्रतारणात्मक व्यावहारिक प्रपंचमें जीवनकी समस्याओंका सामना करते हुए 'कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी'से सत्यांशको कहना बड़ा कठिन है। यह तभी हो सकता है जब 'प्रभु सरन' की भावनाको तर्क एवं प्रमाणान्तरोंसे दृढ़ बनाये रखे, जिसको 'जागत सोवत सरण तुम्हारी'से स्पष्ट किया है। शरणागतभावमें प्रभुकी इच्छा या आदेश (शास्त्र विधि)के विपरीत आचरण करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि प्रभुको छोड़कर शरणागतको अन्यत्र अविश्वास होनेसे विषयान्तरका ध्यान नहीं होता। इसके विपरीत रहना विषयसंग्रहका स्वभाव है, वैसे व्यक्ति अपने स्वार्थपूर्ण उद्दिष्टको साधनके लिए दूसरोंके अहितमें भी प्रवृत्त होते हैं तो उसमें आश्चर्य नहीं यतः वैसा किये बिना उनको स्वार्थ सिद्धिमें बाधा पहुँचती हैं।

जाग्रत् व स्वप्नके विचारमें एक रूपता

वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार जागृतिमें जो विचार अभ्यस्त होते रहते हैं वे ही विचार वचन या स्वप्नमें अभिव्यक्त होते हैं। स्वप्नमें होनेवाली स्फूर्ति उस व्यक्तिके चिन्तनकी अनुमापिका है। इसको ध्यानमें रखकर 'जागत सोवत सरन तुम्हारी' ऐसा एक साथ कहा गया है।

संगति : शरणागति इतर निरपेक्षतामें है तो सेवकका ऐकान्तिक भाव प्रकट होना है वैसे सेवकको प्रभु अपना सदन मानते हैं।

चौ०—तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥५॥

भावार्थ : श्रीरामको छोड़कर दूसरेकी गति जिसके चिन्तनमें नहीं है, उसके मनमें श्रीराम ! निवास करें।

रामचिन्तनयोग

शा० व्या० : 'दूसर गति नाही'से स्पष्ट है कि शरणागतकी चिन्तनधारामें श्रीरामके स्वरूपके अतिरिक्त दूसरा कोई विषय नहीं आता। ऐसी तन्मयतामें रामचिन्तनयोग सहज पूर्ण हो जाता है तो श्रीराम उस उपासके हृदयमें बस जाते हैं जैसे व्रजकी गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्ण बस गये थे।

संगति : नैतिक या उपासनाकी दृष्टिसे (८) उपासककी पवित्रताका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–जननीसम जानहिं परनारी। धनु पराव विष ते विष भारी ॥६॥

भावार्थ : जो पर नारीको माताके समान जानते हैं और परधनको विषसे भी बड़ा विष समझते हैं।

कामिनी-कनककी निराकांक्षतामें नैतिक शुचिता

शा० व्या० : 'पराव'का भाव है कि योगियोंके समान विषयोंसे सर्वतः निराकांक्ष आत्माराम या विषयीकेसमान ईशानुरक्तिमें रहनेवाला नीतिमान् या उपासक है। भारतीय राजनीतिमें भी नेता वही माना गया है जिसमें परस्त्रीधर्मिक मातृत्वबुद्धि एवं परधनधर्मिक विषत्वबुद्धि है (जैसा छत्रपति शिवाजीके इतिहासमें देखा गया है)। लोभीको अपना धन जैसे सदा न्यून मालूम होता है उसी प्रकार कभीका अनुभविता राजा कोषका लोभी होगा तो प्रजा पीड़ना होगी ही। नीतिमान् गृहस्थको भी नीतिमय जीवनमें प्रभुप्राप्तिके लिए घबड़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं है उसने भगवन्निवासपर ध्यान देना है। भगवान्का निवास जिस प्रकार योगियोंके हृदयमें है उसी प्रकार नीतिमान् भी भगवन्-निवासका पात्र है। 'विषते विष भारी'से यह समझाया गया है कि लोभ ऐसा भारी विष है कि वह सब आत्मगुणोंका नाश कर देता है। विष तो प्राणहर्ता है लोभ तो प्राणके साथ सर्वस्वका हरण करनेवाला है।

चौ०–जे हरषहिं पर संपत देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेषी ॥७॥

भावार्थ : जो दूसरेकी संपत्ति या वैभवको देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरेकी विपत्ति देखकर दुःखी होते हैं।

असूयाभावकी महत्ता

शा० व्या० : दूसरोंकी संपत्तिमें असूया करना दोष है। सन्तोंके लक्षणमें कहे 'पर दुःख दुःखी सुखी सुख देखे पर'के अनुसार हो नीतिमान् उपासक दूसरेके अभ्युदयमें सहानुभूति और दूसरोंकी विपत्तिमें दुःखानुभव करता है तो प्रभु उसको निवासके योग्य समझते हैं यही सत्त्वगुणका लक्षण है।

संगति : कवि लोकसंग्राहक गुणोंको श्रीरामके निवासका आधार बताकर भारतीय राजनीतिकी महत्ता प्रकटकर रहे हैं। उसमें प्रभुप्रेमकी स्थिति बता रहे

हैं। अपने प्रेमका अन्तिम बिन्दु अर्थात् सर्वातिशायी सुख श्रीराम है जो ऐसा दृढ़ विश्वास रखते हैं वे अन्य उपासकोंके समान प्रभुनिवासके योग्य माने जाते हैं।

चौ०—जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥८॥

भावार्थ : हे श्रीराम ! जिनको तुम प्राणसे अधिक प्रिय हो, उनके हृदयमें तुम्हारा शुभदायक निवास हो।

उपासकका निरतिशय सुख

शा० व्या० : उपासक मनस्‌से निरतिशय सुख रूपमें प्रभुको ही प्राणसे बढ़कर प्यारा मानता है। तो उसके मनस्‌में निवास करते हुए प्रभु उपासक प्रेमीका सब प्रकारके शुभ या कल्याण करते हैं। भक्तिशास्त्रमें वास्तविक शुभ या मंगल वही है जो संसारकी आसक्तिसे हटकर अपनेको प्रभुप्रीतिकी ओर लगा दे।

संगति : उक्त चौपाईका ध्यान रखते हुए कहना है कि धर्मतः उपास्य प्रभुकी उपासनामें ही जो मन लगाते हैं (९) वे रामनिवासके पात्र हैं।

दो०—स्वामी सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम तात।
मनमन्दिर तिन्हके बसहु सीयसहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

भावार्थ : जिन उपासकोंके स्वामी, सखा, पिता, माता, व गुरुके रूपमें एकमात्र श्रीराम ही सब हैं, उनके मनोरूपी मन्दिरमें सीताके साथ दोनों भाई निवास करें।

धर्मतः उपास्य

शा० व्या : स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरुकी सेवा करते हुए जो उपासक स्वामी आदि मूर्तिमें अपने ध्येय श्रीरामको ही मानता है, उसके हृदयमें प्रभु निवास कर सब प्रकारका मंगल करते हैं। इसका उदाहरण लक्ष्मणजी हैं।

गुरु एवं प्रभुमें उपास्यभावके विरोधका परिहार

'जिन्हके सब तुम्ह तात'में सबके अन्तर्गत गुरुका उल्लेख करनेसे पूर्वमें कहा 'तुम्ह ते अधिक गुर हि जियजानी'का विरोध मालूम होता है। इसके समाधानमें कहना यह है कि स्वात्मोपकारित्वकी दृष्टिसे वहाँ गुरुको अधिक महत्व दिया है। यहाँ परमें प्रियत्वकी सीमा बतानेके भावसे लोकसंग्रह बनानेके लिए माता, पिता, गुरु आदिको प्रभुकी उपासनाका द्वार मानकर एकमात्र श्रीरामको उपास्य बताया है। जिससे संघटन भी बना रहे ओर प्रभुकृपाका योग भी प्राप्त हो। इसका उदाहरण श्रीमद्भागवतमें अक्रूर हैं। उसने स्वामी (कंस) की निष्कपट सेवा करते हुए भी उसमें अपना ध्येय श्रीकृष्णको ही माना)।

उपासनाके उदाहरण

ज्ञातव्य है कि उक्त दोहेके अन्तर्गत कहीं उपासनामें भरत और लक्ष्मणका चरित्र दृष्टान्तके रूपमें मननीय है। जैसे स्वहितमें 'गुर पितु मातु न जानउँ काहू'के अनुसार

लक्ष्मणजीको श्रीराम ही प्राणप्रिय हैं, अतः प्रभु उनको स्वतंत्ररूपमें पृथक् नहीं रख सकते। लोकसंग्राहक कार्यको करते हुए माता, पिता, गुरु आदिके प्रति अपने कर्तव्यका निर्वाह करते श्रीराममें भरतकी प्राणप्रियता प्रकट है जैसा लक्ष्मणकी उक्ति ('भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जगुजाना')से व्यक्त है। तथा नीतिके अनुष्ठानमें भरत जैसा उपासककी विरलता यह प्रभुकी उक्तिसे स्पष्ट है[1]।

संगति : सन्यासी, ब्राह्मण, ऋषि तपस्वी आदिमें भी लोकप्रियता रहती है पर शत्रुसे त्राण करनेका कार्य क्षत्रिय ही कर सकता है। विप्र धेनुके हितमें संकट आनेपर हिंसाकार्य करते हुए भी नीतिमान् (१०) उपासक प्रभुनिवासके पात्र हैं आगे कहा जा रहा है।

चौ०–अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनुहित संकट सहहीं ॥१॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका ॥२॥

भावार्थ : जो दोषोंकी ओर ध्यान न देकर सबके गुणोंको ही अपनाते हैं और गौ ब्राह्मणोंके रक्षणार्थ विपत्तिको सहनेमें तत्पर रहते हैं। जिनकी नीतिनिपुणताकी प्रतिष्ठा विश्वभरमें है उन नीतिमानोंके सुन्दर मनोरूपी गृहमें श्रीरामका निवास है।

सहनशीलता व नीतिका उदय

शा० व्या० : 'सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी'की स्थिति रक्षकके अभावमें होती है। विप्र-धेनु आदिके रक्षणार्थ दो काम करने पड़ते हैं—एक तो उनके संपत्तिकी और स्वमण्डलमें विद्वान्, साधु-महात्माओंका रक्षण विहित है। दूसरा शत्रुओंके उत्पीड़नसे बचाना है।

'संकट सहहीं'का भाव यह है कि विप्रधेनु आदिके हितार्थ अवश्य कर्तव्य समझकर अपनेको संकटमें डालना। इन दोनों प्रकारकी कार्यसंपत्तिके लिए भारतीय राजनीतिका अभ्युदय हुआ है। नीतिके अन्तर्गत प्रथम कार्यको 'तन्त्र' नाम दिया है जिसमें स्व एवं राज्यप्रकृतिका रक्षण निर्दिष्ट है। दूसरा 'आवाप'के नामसे कहा जाता है। जिसमें शस्त्र उठाकर दुष्टशत्रुका दमन करना है। ये दोनों कार्य नीतिके नामसे तभी परिगृहीत माने जाते हैं जब प्रत्यक्ष आदि तीनों प्रमाणोंसे उन कार्योंकी सफलता निर्णीत हो देशकालशक्तिका समुचित समन्वय हो।[2] कभी-कभी नीतिके अन्तर्गत छल, कूटयुद्ध आदि भी कर्तव्य होते हैं जिनको विप्र सुर धेनुके हितमें करना पड़ता है। इन सब कार्योंको करनेमें प्राणसंकट भी सहना पड़ता है जो नीतिमानोंके लिए कीर्तिकर है।[3]

---

१. चित्रकूटमें श्रीरामने कहा है" सुनहु लखन भल भरत सरीसा विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा। (चौ. ८ दो. २३१)

२. प्रत्यक्षपरोक्षानुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथाशाक्यं उपायानुष्ठानलक्षण क्रिया नीतितंत्रः।

३. मित्रगोब्राह्मणार्थेषु सद्यः प्राणान् परित्यजेत्।

मित्रापेक्षा

नीतिके ऐसे कार्य विना मित्रसंपत्तिके हो नहीं सकते। इसलिए मित्रोंसे सब प्रकारके सुव्यवहार अपेक्षित होता है—उसमें 'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं'को अपनाना कर्तव्य हो जाता है। जैसा निम्नलिखित टिप्पणीमें उद्धृत है।[1]

जगलीका

'जगलीका'का भाव है कि अपने सुख और शरीरको हथेलीपर रखकर गोविप्रके रक्षणार्थं नीतिपालनकार्यमें सदा उत्साहसे उद्यत रहना शोभनीय एवं कीर्त्तिकर है। यह तभी होगा जबकि नीतिमान् जगन्मात्रको मिथ्या समझेगा। 'मनुनीका'का भाव है कि उक्तनीतिपालनमें दत्तचित्त रहनेसे उनका मन शुद्ध हो 'नीका' हो गया है जो रामनिवासके उपयुक्त है।

नियुक्ति

राजनीतिमें नीतिनिपुण नेताके लिए यह सिद्धान्त बताया गया है कि वह उन-उन व्यक्तियोंके अवगुणोंको न देखे बल्कि उनकी गुणोंके अनुरूप नियुक्ति राजकार्योंमें करके सदुपयोग करे। तभी स्वमण्डल देशमें सत्वगुण बढ़ता है, ऐसा होनेसे ही शास्त्रोंके आदेशपालनमें प्रवृत्ति एवं वेद-शास्त्रोंका सम्मान होता है।

निपुणता

निपुणताका अर्थ साहित्यशास्त्रके अनुसार शक्ति है। यथावसर उचित नीतिका प्रतिभात होना ही शक्ति है। नीतिके प्रत्येक विषयको आन्वीक्षिकीके माध्यमसे परिगणित करते हुए अध्ययन करनेवालेको 'संख्यावान्' कहा जाय तो भी वह शोभनीय होते हैं।

विप्रधेनुका महत्त्व

विप्र धेनुका महत्व विवेचनीय है। सृष्टिकालसे अभीतक परंपरया वेदशास्त्रोंकी सुरक्षा विप्रोंने सर्वस्वत्यागपूर्वक की है। नीतिमान् नेताके संरक्षणमें ऐसे विद्वान् उक्त आदर्शको स्थिर रखनेमें समर्थ होते हैं। सात्विक बुद्धिके निर्माणमें सात्विक गुणवाले गौदुग्धकी आवश्यकता बाल्यकालसे ही रहती है। अतः राजनीतिशास्त्र राजाओंको विप्र-धेनुकी सुरक्षामें प्रवृत्त कराता है।

संगति : गुणप्राप्ति प्रभुसे और दोष अपनेसे है सोचकर (११) उपासना करनेवाले आपके निवासपात्र हैं।

---

१. कार्यस्य हि गरीयस्त्वान्नीचानामपि कालवित्।
सतोपि दोषान् प्रच्छाद्य गुणानप्यसतो वदेत्॥
प्रायो मित्राणि कुर्वीत सर्वावस्थानि भूपतिः।
बहुमित्रो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं रिपून्॥ नी. सा.

चौ०–गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥३॥

भावार्थ : अपने गुणदोषोंकी ओर जिसकी यह दृष्टि रहती है कि गुण सब प्रभुके दिये हुए हैं और दोष सब अपने हैं। जिसको सब प्रकारसे एकमात्र प्रभुका ही आसरा रहता है।

शास्त्रानुसरणमें प्रभुका अनुग्रह

शा० व्या० : शास्त्रविधानोंकी यही सार्थकता है कि वे मानवको उन्नतिका मार्ग बताते हैं। शास्त्रविपरीत आचरण करनेवाले अपमानित और दुःखी होते हैं।[1] मनुष्यकी प्रवृत्तिधर्म और नीतिकी ओर नहीं होती, इसलिए शास्त्र उनको नीति-धर्मकी ओर प्रवृत्त कराता है। उन्नतिके साधन और मानप्राप्तिमें हेतु शास्त्रविधान हैं, शास्त्रमर्यादाके पालनमें जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है उसकी कारण प्रभुका गुण या शिक्षा है उसकी मर्यादाके अतिक्रमणमें आदेशको न मानने या गुणोंका अनादर करनेमें अपना दोष है ऐसा भाव जिसको बराबर बना रहता है वह रामनिवासका पात्र है।

'सब भाँति तुम्हार भरोसा'का निष्कर्ष यह है कि शास्त्रविधानके आचरणमें जो भी सुख-दुःख आवे, उनको मंगलमय समझनेका विश्वास रखना चाहिए।

रामभरोसकी पुनरुक्तिका परिहार

चौ० ४, दो० १२९में 'राम भरोस हृदय नहि दूजा'के बाद पुनः यहाँ 'तुम्हार भरोसा'की चर्चा करनेका तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि महर्षि प्रत्येक उपासना एवं नीतिकार्यमें 'रामः एव हितसाधनम्'की भावनाको अपरिहार्य समझते हैं।

संगति : उपर्युक्त उपासनाओंमें रामभक्तोंके प्रति प्रीति एवं सौहार्दका महत्त्व बता रहे हैं।

चौ०–रामभगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥४॥

भावार्थ : जिनको श्रीरामके भक्त अत्यन्त प्रिय लगते हैं उनके हृदयमें सीता-रामका वास हो।

रामभक्तोंका सत्सङ्ग

शा० व्या० : रामभक्तोंके संसर्गसे उपासकोंको साधनामें आनेवाली कठि-नाइयोंको दूर करनेमें सहायता मिलती है तथा साधनमें अग्रसर होनेका प्रोत्साहन मिलता है। रामभक्तोंके प्रति प्रियता रखनेसे उनके आचरणको देखकर उपासकोंको शास्त्रका तात्पर्यविषय अर्थ (मर्म) ज्ञात होता है। फलतः शास्त्रके आदेशोंका पालन करनेमें ही गुणवत्ता है, उसकी मर्यादाके बहिराआचरण करनेमें दोष है ऐसा

---

१. तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।
अवमानं च दौरात्म्यात् विस्मयं परमं ययुः ॥ मा० १०।३०

विश्वास होता है अथवा यों कहा जाय कि रामभक्तोंमें प्रीति रखनेसे वर्णास्तम धर्ममें आस्तिकता दृढ़तया ज्ञात होती है।[1]

संगति : नीति सिद्धान्तको बताकर अब मुनि परहितमें (१२) भक्तिसिद्धान्तोपासना बता रहे हैं।

चौ०—जाति पाँति धनु धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥५॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उरलाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥६॥

भावार्थ : जो उपासक जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रियजन, परिवार, घर आदि सब सुखदायकको छोड़कर राममें ही मन लगाता है, उसके हृदयमें हे रघुवीर ! आप निवास करें।

भक्तिसिद्धान्तानुयायिनी शरणागति

शा० व्या० : 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'। इस गीतोक्तिको ध्यानमें रखते हुए भक्तिसिद्धान्तमें जाति-पाँतिसे लेकर सदनसुखदायी तकके त्यागका भाव मननीय है।

साध्यभक्तिमें स्थित उपासकोंकी यहाँ चर्चा की जा रही है। विरक्त अध्यात्म महात्माओंके समान साध्यभक्तिमान् उपासक प्रभुमें तन्मय हो शरीर और तत्सम्बन्धी विषयोंको भूलते हैं तो उस अवस्थामें शास्त्रीयविधि-निषेधकी सीमामें वे परिगृहीत या अधिकृत नहीं माने जाते क्योंकि विषयोंकी आसक्तिसे हटकर भगवच्चिन्तनमें तन्मय या अध्यात्ममें एकाग्रहोना ही शास्त्रोंका उद्देश्य है।[2] जब भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्य सभी शरीरेन्द्रियव्यापार भूल जाते हैं और मनस् प्रभुमें ही एकाग्र होता है तो उस तन्मयताको स्थितिमें भगवत्साक्षात्कार होता रहता है। क्रियाएँ स्वयं शिथिल होती हैं।

तन्मयतामें भी धर्मप्रवृत्ति

इस बातको विशेषरूपसे ध्यानमें रखना है कि भगवदुपासकोंका शरीर साधनावस्थामें शास्त्रोंकी परतन्त्रतामें रहनेमें इतना अभ्यस्त हो चुका है कि साध्यभक्तिकी अवस्थामें पहुँचनेपर पूर्व संस्कारवश उनका शरीर सहजतः जाति आदिकी मर्यादाके उल्लंघनमें प्रायः कार्य करता ही नहीं। शरीरसम्बन्धी परिमितप्रमातृता समाप्त हो जानेसे जातिहीनतासे विषाद या उच्चताके सम्बन्धसे हर्षका भाव उनमें नहीं रहता। भगवत्सेवामें रहते यदि क्वचित् कदाचित् अनजानेमें उससे शास्त्रीय विधि-निषेधके बाहर कोई कार्य हो भी जाता है तो उसमें स्वतन्त्र कर्तृत्वाभिमान न

---

१. प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥

२. तावत्कर्माणि कुर्वीत ... मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।

रहनेसे वह दोषका भागी नहीं होता। ऐसे तन्मय भक्तकी साहजिक निष्कपट निष्काम मनोवृत्तिको देखकर प्रभु उसे अपराधी नही मानता।

जाति-पाँति, धर्म-कर्ममें बड़प्पनका भाव होनेसे मानापमान दोष आता है। भक्तमें ऐसे मानापमानका भाव तन्मयावस्थामें दोष नहीं है जैसा 'तृणादपि सुनीचेन…'[1] उक्तिसे स्पष्ट है।

सब तजिका अर्थ

'सब तजि'के अन्तर्गत जाति-पाँति आदिमें सुखदातृत्वभावके त्यागकी दृष्टिसे कहा गया है। इसलिए कवि जाति-पाँति आदिके अन्तमें 'सुखखाई'को 'सब तजि'से सम्बन्धित कर रहे हैं। विषयमें प्रीति रखनेवाले व्यक्ति सामान्यतया जाति, धन, परिवार आदिके सम्बन्धसे सुखानुभव करते हैं। भक्त जाति धन धर्म आदिके रहते हुए सुखदातृत्वेन उनको न पकड़कर सुख स्वरूप प्रभुमें ही लगाते हैं जैसा भरतजीने कहा है—'संपति सब रघुपति कै आही।'

'सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई'का उक्त समन्वय गीतोक्ति (सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज) तथा लक्ष्मणकी उक्ति (मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी)से प्रकट करते हुए साधकको स्थितिको समझकर उसका अर्थ मननीय है।

संगति : पूर्वमें चौ० ५-६में कहे विषयोंमें भोग या त्यागको अनुष्ठान व फलांश सम्बन्धमें सुखदातृत्वके भावको साधनोंसे हटाया वैसे ही फलतारतम्यसे सुख-तारतम्यको भी दूर करनेके लिए कवि (१३) उपासना समझा रहे हैं।

चौ०—सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।७।।
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा।।८।।

भावार्थ : जो उपासक स्वर्ग, नरक या मोक्षको समान समझते हैं इसलिए कि वे कहीं भी रहें सर्वत्र धनुर्धारी श्रीरामको ही देखते हैं। जो कर्मणा, वचसा एवं मनसा श्रीरामका सेवक है उसके हृदयमें राम वास करें।

कर्मफलके भोगमें सम-भाव

शा० व्या० : अन्तःकरणकी परिपक्व या अपरिपक्व अवस्थामें चाहे स्वर्ग हो या मोक्ष हो या नरक हो, किसी भी स्थितिमें श्रीरामके उपासक क्षोभ या प्रसन्नतासे रहित हो समान स्थितिमें रहते हैं 'किं बहुना' धनुर्बाणधारी श्रीरामको अपने रक्षकके रूपमें देखते रहते हैं। दैवीसम्पत्तिसम्पन्न उपासककी निर्भयताका परिचायक है। 'करम बचन मन राउर चेरा'से 'तन्मनस्काः तदालापाः तद्वि-चेष्टाः'का विशेष भाव दर्शाया है।

---

१. तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।

संगति : नीति एवं भक्तिकी प्रतिष्ठामें विविध उपासनाओंका वर्णन करके वाल्मीकि मुनि रामनिवास सम्बन्धी उपसंहार करते हुए अन्तिम निष्कर्ष (१४) उपासना बता रहे हैं।

दो०–जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥१३१॥

भावार्थ : जो कभी भी कुछ नहीं चाहता, केवल आपसे (रामसे) सहज प्रेम ही चाहता है, उसके मनस्में आप निवास करें—वही आपका अपना घर है।

'न चाहिअ'का भाव

शा० व्या० : फलकी आकांक्षा न रखते हुए धर्माचरण करनेवाले उपासकको नीति-धर्मकी उपासना निष्फल नहीं होती, अपितु उसके त्रिविध (उक्त सर्वविध) व्यापार—(कायिक, वाचिक, मानसिक) भगवद्भक्तिमें परिणत होकर रामनिवासके साधन बन अपने उपासकको लक्ष्यबिन्दु (निरुपाधिक आनन्द) तक पहुँचा देते हैं। जब भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त और कोई सांसारिक पदार्थ उपासकको इच्छाका उद्देश्य नहीं रह जाता तब काम्यकर्मके अनुरूप अदृष्टनिमित्तक जागतिक पदार्थोंका निर्माण वैसे उपासकोंके उद्देश्यसे नहीं होता तथा भगवत्प्रीत्यात्मक अनुष्ठानसे पूर्वजन्मके अदृष्टका क्षय हो जाता है। तथापि भगवत्सेवात्मक विशेष अदृष्टकी स्थिति रहनेसे न चाहनेपर भी ऐसे उपासकोंको विषयकी उपलब्धि होती है तो भी वे उदासीन ही रहते हैं जिसको 'न चाहिअ कबहुँ कछु'से व्यक्त किया है। ऐसी स्थितिमें उपासक भगवान्के प्रति सहज प्रेमके आश्रयमात्रका इच्छुक रहता है। प्रभु उसके हृदयमें निवास करके उपासकको आप्तकाम या पूर्णकाम बना देते हैं।

सम्पूर्णसिद्धान्तोंका यथावत् समर्थन

वाल्मीकि मुनिकी उक्तियोंमें कर्म, उपासना, ज्ञान, नीति, भक्ति, प्रेम आदि अनेकविध शास्त्रोक्ततत्त्व रामनिवासस्थानके रूपमें वर्णित किये गये हैं जैसा बा० का० चौ० ३ दो० १८५में कहा गया है 'जाके हृदयँ भगति जसि प्रीति। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती' से अधिकारिभेदसे सबकी व्यवस्था उपपन्न होनेसे उसमेंसे कोई भी विषय अग्राह्य, उपेक्ष्य, त्याज्य अथवा आलोचनीय नहीं है। शास्त्रोक्त विधानके अन्तर्गत जैसा है वैसा ही मीमांसोक्त देवता-द्रव्यभेदसे उनका वैजात्य मुनिने वर्णित किया है—अपनी ओरसे उपासकोंपर कोई दबाव नहीं डाला है।

'राउर निज गेहु'का भाव

सब उपासनाओंमें नीति-धर्म-भक्तिप्रयुक्त उपासना-भेदसे प्रभुका निवास है तथापि 'राउर निज गेहु' अर्थात् स्वयं अपनी इच्छासे होनेवाला प्रभुका निज निवास तो केवल प्रभुप्रेमके आकांक्षी निष्काम भक्तोंके हृदयमें ही है। विविध उपासनाओंसे उन्नत प्रेमकी स्थितिको 'सहज सनेहु' कहा है। इस दोहेमें अन्तिम उच्चतम

उपासना कही गयी है, जिसमें सब उपासनाओंका पर्यवसान है। इस उपासनामें जीवका अपना कर्तृत्व सर्वथा विलीन हो जाता है। फिर भी शरीरको अपनी अवधिपर्यन्त जीवित रहना ही है तथा जीवकी पृथक्कर्तृता समाप्त होनेपर, उसके द्वारा धर्मनीतिकी प्रतिष्ठा करानी है तो उनके रक्षणका भार प्रभु स्वयं लेते हैं जैसा श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्' इस उक्तिमें 'मदर्थे'का तात्पर्य प्रभुका इष्ट अर्थ अर्थात् वर्णाश्रम धर्म, नीति एवं भागवतधर्मकी निष्काम उपासना है। इस दृष्टिसे 'राउर निज गेहु'का भाव मननीय है।

संगति : श्रीरामके निवासस्थानको बतानेमें वाल्मीकि मुनिने जिन शास्त्रीय सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है उनको शिवजी 'एहि बिधि' कहकर वाल्मीकिसम्वादका उपसंहार कर रहे हैं।

चौ०–एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए। बचन सप्रेम राम मन भाए ॥१॥

भावार्थ : इस प्रकारसे मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजीने श्रीरामका निवास बताया। उनके प्रेमपूर्ण वचन श्रीरामको अपने अनुकूल अच्छे लगे।

'एहि बिधि'में शास्त्रसिद्धान्तोंका निरूपण

शा० व्या० : महर्षि वाल्मीकिजीने उपासनाकी विविधता बताते हुए भक्ति, नीति, सदाचार, लोकसंग्रह आदि शास्त्रसम्मत सिद्धान्तोंका निरूपण करते हुए उन सबका ध्येय रामनिवासकी योग्यता प्राप्त करनेमें बताया। 'एहि बिधि'से शिवजी स्पष्ट कर रहे हैं कि भरद्वाज ऋषि द्वारा श्रुतिमार्गका निर्देशन एवं मार्गवासियों द्वारा स्मृतिसम्मत 'सोधि सुगम मग'का अनुसरण रामनिवासके आकांक्षाकी पूर्तिमें सहायक है।

'राम मन भाए'का भाव

'राम मन भाए'से व्यक्त किया गया है कि प्रभुकी प्रसन्नता लाघवादि सत्तर्क—शोधित वेदमार्गकी प्रतिष्ठामें है और उस मार्गपर चलनेवालोंको निवास (नितरां वासः)की प्राप्ति वाल्मीकि मुनि द्वारा बताये विविध शास्त्रसम्मत विधानोंके पालनमें ही है। 'तेहि उर बसहु', 'तेहिके उर डेरा', 'बसहु तिनके मन' आदि उक्तियोंमें राम-निवासकी पुनरुक्तियोंका उद्देश्य यही है कि उपर्युक्त भक्ति, नीति, कर्मकाण्ड आदिमें जिन उपासकोंकी जैसी रुचि है, जहाँतक पहुँच है वहाँतक वे अपनेको अकृतार्थ न समझें क्योंकि पृथक्-पृथक् कार्यकारणभाव होते हुए भी भगवत्सान्निध्य निर्णीत है। वाल्मीकिजीने रामनिवासके जितने स्थान बताये हैं उनमें पहुँचनेके लिए प्रभुकी इच्छाको हेतु एवं प्रभुकी प्रसन्नताको ध्येय समझना चाहिए।

वाल्मीकि-संवादकी विशेष समीक्षा

१. प्रत्येक उपासनामें श्रीरामके निवासका उल्लेख करनेका तात्पर्य है कि

अपने-अपने स्थानमें वह उपासना प्रधान कर्म है, उसकी फलसिद्धि श्रीरामका प्रसाद है, यही पुरुषार्थसिद्धि है। शास्त्रसापेक्ष्यतामें वस्तुप्राप्तिकी अभिलाषा रखकर जो क्रिया होती है वह पुरुषार्थ कहा जायगा। इसी प्रकार मीमांसासिद्धान्तसे द्रव्यभेद-प्रयुक्त उपासनाकर्मके विविध प्रकार हैं, तत्तदुपासनाऽव्यहितोत्तर भगवत्कृपामें वह कारण है जिसको भागवतकारने पूर्वपरम्पराप्राप्ततया प्रमाण माना है यथा 'वह्वाचार्य विभेदेन भगवन् समुपासते'।

२. जिस उपासकको एक ही इन्द्रिय (श्रवण, नासिका या रसना) भगवत्सेवामें आसक्त है तो क्या अन्य इन्द्रियाँ विषयासक्त हैं? इस प्रश्नके समाधानमें कहना है कि तत्तदिन्द्रियकी उपासनाको प्रधान कर्म समझना चाहिए। अन्य इन्द्रियोंके व्यापार प्रधानइन्द्रियके कर्तव्यांशमें नियुक्त हो उस उस इन्द्रियकी उपासनामें अंगभूत हैं। अथवा एक इन्द्रियकी उपासनामें रत व्यक्ति इन्द्रियेतरके खिचावमें कभी पतित हो जाय तो जन्मान्तर में प्रभु उसको अपनी ओर खींचकर सेवकका कल्याण करते हैं।

३. श्रीरामको घटघटवासी मानते हुए भी रामनिवासके स्थानोंका विशेष निरूपण करनेका क्या उद्देश्य है? इसके उत्तरमें कहना है कि आत्मस्वरूपमें राम सब जीवों या पदार्थोंमें व्याप्त हैं पर साक्षिभावमें स्थित चैतन्य निर्गुण-निराकाररूपमें वह जीवको कुपथसे बचाता नहीं। किन्तु सगुण स्वरूपमें श्रीराम निवास करते हैं तो कुपथसे जीवका संरक्षण करनेका भार अपने ऊपर लेकर उसको मुक्तितक पहुँचा देते हैं।

४.वाल्मीकि मुनिकी रामनिवास-सम्बन्धी उक्तियोंमें कहीं केवल श्रीरामका, कहीं श्रीरामके साथ सीताका और कहीं श्रीराम, सीता, लक्ष्मण तीनोंका निवास कहा है, इसका बिशेष उद्देश्य क्या है? इसके उत्तरमें कहना है कि भगवत्सान्निध्यके कार्य-कारण-भावको पृथक्-पृथक् देवताभेदसे बताकर तदनुसार विविध उपासनाओंमें जैसा जहाँ आकांक्षित है, वैसो उपासनाका वहाँ वर्णन है।

ज्ञातव्य है कि मोमांसामतमें यह मान्य नहीं है कि किसी एक उपासनाको स्वीकार कर लेनेके बाद उपासनान्तरको स्वीकृति या गृहीत उपासनाका त्याग किया जाय। ऐसा परिग्रह 'सोधि सुगम मग'से संगत नहीं होगा। अथवा इसपर भी ध्यान रखना है कि श्रीरामके प्रश्न ('अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ')में सीता लक्ष्मण सहित निवासकी आकांक्षा है, अतः वाल्मकि द्वारा रामनिवासके निरूपणमें सर्वत्र तीनों मूर्तियोंके निवासकी अनुवृत्ति समझना होगा।

५. बिना धात्वर्थ-आश्रयके पदार्थ फलोपधायक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इस मीमांसावचनमें धात्वर्थ अनुवाद होते हुए भी 'जुहुयात्'का सार्थक्य 'होमाश्रितेन दध्ना इन्द्रियं भावयेत्'से है। अर्थात् दहीकी सत्ता सर्वत्र होने पर भी शास्त्रविधिसे होमके आश्रयसे ही दही इन्द्रिय-सम्पत्तिको

देनेवाला होगा, अहुतदधि फलोपधायक नही हो सकता। उसी प्रकार श्रीरामका निवास तो सर्वत्र है ही पर शास्त्रोक्त आश्रयविशेष जिसको निवास-धात्वर्थं कह सकते हैं, उसके बिना 'काननराजू' में 'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू' (चौ० ६ दो० ५३) का उपधायकत्व नही होगा। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे श्रीरामका निवाससम्बन्धी प्रश्न सार्थक तभी होगा जब बाल्मीकि जी आश्रय धात्वर्थंकी दृष्टिसे निवासका विधान बतावेंगे।

संगति : हृद्‌गत भगवत्सान्निध्यके आश्रय–आश्रयिभावमें भगवन्-निवासका निरूपण हो चुका है। अब दृश्य रूपमें रावणवध एवं शिष्टपरिपालनको ध्यानमें रखते हुए श्रीरामका आकांक्षित निवास बता रहे हैं जो नीति-धर्मके साथ वचन प्रामाण्यकी प्रतिष्ठाके अनुकूल है।

चौ०–कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक ॥२॥

भावार्थ : वाल्मीकि मुनिने कहा 'हे सूर्यवंशके नेता! सुनिये। समयके अनुसार सुख देने वाला आश्रम मैं बता रहा हूँ।'

'आश्रम कहउँ'का भाव

शा० व्या० : 'आश्रम कहउँ तथा 'समय सुखदायक'का भाव है कि श्रीरामके द्वादशवर्षावधि तक मुनिव्रतकी सम्पन्नतामें सीता और लक्ष्मणजीको सुख देनेवाला आश्रम है तथा अवतारकार्यमें उनकी सेवाका जो प्रयोजन हैं उसको पूर्ण करनेका समय भी आ गया हैं या बा० का० चौं० १ से ७ दोहा १८७ में आकाशवाणी द्वारा प्रभुके कहे वचनके कार्यान्वियनका समय आ गया हैं जिसमें गो-द्विज-महि-सुर-सन्तों आदि सबके लिए सुखदायक होगा। अथवा दो० ४१ में कैकेयीसे कहे प्रभुके वचन "मुनि गन मिलनु विसेषि वन सबहिं भाँति हित मोर। तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर"के अनुकूल समय है जो प्रभुको भी सुखदायक होगा। ध्यान रखना है कि त्रिकालदर्शी मुनिकी यह वाणी है। वह कभी निष्फल नहीं होगी।

संगति : उपर्युक्त-आश्रम 'समय सुखदायक'को स्पष्टरूपसे बतला रहे हैं।

चौ०–चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू ॥३॥

भावार्थ : चित्रकूट पहाड़ी पर आप निवास करें। वहाँ आपके अनुकूल सब प्रकारकी सुविधा होगी।

चित्रकूटके अर्थकी व्यावहारिक यथार्थता

शा० व्या० : चित्रकूटनिवासका भाव है कि वाल्मीकि मुनिद्वारा कही विविध उपासनाओंका समूह जहाँ चित्रित होगा व उक्त विविध उपासक जहाँ उपस्थित होंगे—ऐसा स्थान चित्रकूट है। 'सब भाँति सुपासू'का भाव है कि 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भांति मोर बड़ काजू'से सम्बन्धित प्रभुके अवतार-कार्यंकी सुविधाओंका प्रारम्भ जहाँसे होनेवाला है—ऐसा स्थान चित्रकूट है। मुनिका वचन

'करहु निवासू' मन्त्र श्रीरामके कृतक शास्त्रानुयायित्वका बीज एवं निवासके विधानमें उपधायक है।

'सब भाँति सुपासू'में विशेषतया समशीतोष्ण चित्रकूट गिरिकी स्थिति, मन्दाकिनी (गंगा) का सान्निध्य, ऋषि-मुनियोंका रक्षण, मुनिव्रतकी पूर्णता आदि कही गयी है।

संगति : प्रकृतमें 'चित्रकूट निवासू'का सुपासत्व बता रहे हैं—

चौ०–सैल सुहावन काननचारू। करि केहरि मृग बिहग बिहारू ॥४॥

भावार्थ : चित्रकूट गिरि शोभासे पूर्ण हैं, यहाँका जंगल बड़ा सुन्दर है, जिसमें हाथी शेर, मृग और पक्षियोंका विहार होता रहता है।

चित्रकूटका सेव्यत्व

शा० व्या० : 'सैल सुहावन'का भाव है कि चित्रकूट पर्वत तपस्वियोंके योग्य तपोभूमि है 'काननचारू'का भाव है कि वनप्रान्त सात्विकतासे पूर्ण है जहाँ एकान्त-निवास साध्य है। 'सुहावन चारु'से फल-फूलकी समृद्धि बताई है जो मुनियों तपस्वियोंको क्षुधा-पिपासाकी समस्यासे निर्विघ्न बचाती है। 'विहारू'से स्पष्ट किया गया है कि यहाँके वातावरणको मुनियोंने सुखमय बना रखा है अर्थात् उनके संस्कृतिरूप भाषाके प्रभावसे अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत अभिनीत होकर पशु पक्षियोंमें संक्रमित हो रहे हैं जिसमें हिंस्र पशु पक्षि वैरत्यागपूर्वक सानन्द विहार करते हैं। सुमन्त्रसे कहे सीताके वचनमें[1] जो वनकी कल्पना व्यक्त थी, उसी दृश्यका यहाँ वर्णन है। 'सब भाँति सुपासू'का विशद निर्वचन कवि आगे चौ० ५ दो० १३७ से दो० १३८ तक करेंगे।

चौ०–नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप बल आनी ॥५॥
सुर सरि धार नाउँ मन्दाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि ॥६॥

भावार्थ : चित्रकूट गिरिके पास पुराणोंमें वर्णित पवित्र मन्दाकिनी नदी है जिसको अत्रिमुनि की पत्नी अनसूयाने अपने तपोबलसे गंगाजीकी धाराको मन्दाकिनी नामसे लाया है। उसका सेवन सम्पूर्ण पातकों-उपपातकोंका नाश करनेवाला है।

चित्रकूटका महत्त्व

शा० व्या० : अत्रिपत्नी अनसूयाजीने गंगाजीको अपने पातिव्रत्य धर्मसे प्रसन्न करके पतिके प्रीत्यर्थ गंगाजीकी धाराको मन्दाकिनीके रूपमें अत्रिमुनिके आश्रमके निकट ही उतारा है। 'पातकपोतक डाकिनी'का भाव है कि तपस्वी मुनि स्वभावतः पाप करते नहीं, यदि जीवभावमें अज्ञातवश कुछ पाप हो भी जाते हैं तो भी मन्दा-

---

१. अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥ चौ० ७-८ दो० ९८
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥

किनीके स्नानसे वे तत्काल नष्ट हो जाते हैं। इसका उदाहरण लक्ष्मणजी हैं। भरतके प्रति लक्ष्मणके जीवभावमें कहे दुर्वचन का दोष और उसकी तत्काल निवृत्ति होना 'पातकपोतक डाकिनी'का प्रमाण है।

चौ०–अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं ॥७॥

भावार्थ : जहाँ (चित्रकूट स्थलमें) अत्रिप्रमुख अनेक मुनिश्रेष्ठ रहते हैं और योग साधना, जप तपस् करके शरीर का संयम करते हैं।

शा० व्या० : योगसूत्रके अनुसार योग साधना एवं जप तपस् आदिसे शरीरके संयमनमें उसका शोषण होता है।[1] जिसको 'तन कसहिं'से व्यक्त किया है। जिसका उद्देश्य चित्तवृत्तिका निरोध है। ऐसे तपस्वी मुनियोंमें वहाँ अत्रि मुनिवर प्रमुख हैं।

चौ०–चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिवरहू ॥८॥

भावार्थ : वाल्मीकि मुनि श्रीरामको चित्रकूट जानेकी प्रेरणा देते हुए सब उपासकोंका श्रम सफल करनेको कह रहे हैं जिससे चित्रकूटकी पर्वतश्रेष्ठताका गौरव श्रीरामके द्वारा प्रतिष्ठित हो।

मन्त्र-बीज

शा० व्या० : भरद्वाज ऋषिके वचन 'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू'। सफल सकल सुभ साधन साजू'। राम तुम्हहि अवलोकत आजू'के अनुसार चित्रकूटमें एकत्र होनेवाले 'करहिं जोग जप तप तन कसहीं'से युक्त मुनिवरोंका श्रम श्रीरामदर्शनसे सुफल होनेवाला है, अथवा 'सब कर'के अन्तर्गत वसिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम आदि सबका श्रम जिसका उद्देश्य शास्त्रप्रामाण्य एवं धर्म नीतिकी प्रतिष्ठा है, वह श्रीरामके द्वारा पूर्ण होगा। श्रमकी सफलता कर्मके उद्देश्य सिद्धिमें हैं अन्यथा श्रीमद्भागवतमें कहे 'श्रमस्तस्य श्रमफलः'के अनुसार उसका फल केवल श्रम ही होगा। धर्म-नीतिकी प्रतिष्ठामें श्रीरामका भी श्रम तब सफल होगा जब दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोंका पालन होगा अर्थात् ऋषि मुनियों सन्तोंकी सुरक्षा एवं राक्षसोंका विनाश होगा। इसके लिए वाल्मीकि मुनिका मन्त्र श्रीरामके द्वादश वर्षीय मुनिव्रतमें बीज रूपसे गुप्त रहेगा, उसका प्राकट्य आगे होगा।

'चलहु'से प्रयोगप्राशु भाव

'चलहु'से वाल्मीकि मुनिने प्रयोगविधिविशेष बताया अर्थात् प्रयोगप्राशु-भावकी विधि उपस्थापित किया जिसमें बिना विलम्ब किये यथाशीघ्र कार्य पूर्ण करना है अथवा अब मुनिसे विदा माँगने आदिसे कार्यमें विलम्ब नहीं करना है क्योंकि चलहुसे मुनि जिस मुहूर्तको अभिव्यक्त कर रहे हैं उसमें कालक्षेप होगा तो मुहूर्तकी प्रतिष्ठा

---

१. वैधक्लेशजनकं कर्म तपः।

नहीं होगी। अतः मुहूर्तकी फलोपधायकताको ध्यानमें रखकर एक क्षण भी विलम्ब न करके विदा आदि न माँगकर प्रभु मुहूर्त-पालनकी प्रतिष्ठा दिखावें। इसका कार्यान्वियन दो० १३२ में देखें। चलहुसे मुनिने चित्रकूट निवासकी प्रेरणा देकर अपना प्रतिभूत्व सिद्ध किया है अर्थात् मुनिकी प्रेरणाको हेतु मानकर चित्रकूटनिवास होता है तो कृतिसाध्यता, हितसाधनता एवं बलवदनिष्टाननुबन्धिता सिद्ध है जैसा कि 'समय सुखदायक' व 'तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू'से चित्रकूटनिवासकी सफलता असंदिग्ध है।

वाल्मीकिमुन्युक्त विध्यर्थ

प्रश्न : यदि श्रीरामका गौरव मुनिसे उत्कृष्ट है तो मुनिकी प्रेरणा क्या निकृष्ट मानी जायेगी? इसके समाधानमें कहना है कि 'चलहु करहु निवासू'से उस पक्षमें मुनिकी प्रार्थना ही मानी जायगी तो भी उस प्रयोगविधिमें कही कृतिसाध्यता आदिकी व्याप्ति असंदिग्ध है।

गौरवसे सम्मान

'अभिलक्ष्यं[1]......नीतिके वचनोंसे चित्रकूटनिवास सँगत है। चित्रकूट पूज्य और उपासनीय है फिर भी 'गौरव देहु' कहकर मुनिने श्रीरामको निरभिमानिता पूर्वक उत्साह-शीलसम्पन्न हानेको कहा है। 'देहु गौरव गिरिबरहू'की सार्थकता श्रीरामके चित्रकूट-निवाससे आगे स्पष्ट होगी—चौ० ५-८ दो० १३४ मुनियेंका मिलन, चौ० ६-८ दो० १३८ से चित्रकूटका पर्वतश्रेष्ठों द्वारा विपुल बड़ाईका गान, दो० २३५ में कहीं विवेक भुआलके अकंटक साम्राज्यकी स्थिति व भरतमिलनके अवसर पर बड़े-बड़े विशिष्ट ज्ञाति जनक, महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि की उपस्थिति, चौ० १ से ४ दो० २७९में कहे 'कामद भे गिरि राम प्रसादा, अवलोकत अपहरत विषादा' आदि से चित्रकूटका गौरव प्रकट किया है।

संगति : चित्रकूटमें प्रभुका प्रवेश क्रमसे समझा रहे हैं।

दो०—चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।
आइ नहाए सरितवर सिय समेत दोउ भाइ॥१३२॥

भावार्थ : महामुनि वाल्मीकिजीने चित्रकूटकी महिमाका वर्णन करते हुए उसको असीम बताया। तब सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंने वहाँ आकर नदियोंमें श्रेष्ठ मन्दाकिनीमें स्नान किया।

महत्ताका बीज

शा० व्या० : अमितका भाव है कि चित्रकूटके माहात्म्यको जितना कहा जाय

---

१. अभिलक्ष्यं स्थिरं पुण्यं सिद्धं सिद्धनिषेवितम्।
सेवेत सिद्धिमन्विच्छन् श्लाघ्यं विन्ध्यमिवेश्वरम्॥ नी० सा० ५

उतना थोड़ा है। विद्यावृद्ध या प्रभुका सम्बन्ध जिस स्थानको प्राप्त है उसकी फल-साधनताकी इयत्ता पूर्णरूपसे नहीं बतायी जा सकती। 'सरितवर'से मन्दाकिनीकी श्रेष्ठता अनसूयाके पातिव्रत्य एवं गंगाजीके सम्बन्धसे बतायी है। श्रेष्ठ कही जाननेवाली पञ्चमहानदियों तथा अन्य नदियों सिन्धुओं और तीर्थं नदियोंसे स्तुत्य मन्दाकिनीकी श्रेष्ठता-विशेषकी चौ० ४ व ५ दो० १३८ में भी कहा है।

स्नानकी प्रेरणा

'सिय समेत'से मन्दाकिनी-स्नानमें सीताके प्रेरणाकी प्रधानता दिखायी है। अनसूयाजीके पातिव्रत्यके सम्बन्धसे मन्दाकिनीकी महिमाको सुनकर सीताके उत्साहकी विशेषता दिखानेके लिए 'सिय समेत' कहा है। जिस प्रकार अनसूयाके साहित्यसे अत्रिमुनिको मन्दाकिनीमें स्नान करनेका सुयोग मिला उसी प्रकार सीताके साहित्यसे 'दोउ भाइ'को मन्दाकिनीस्नानका सुयोग कहा गया है। पूर्वोक्त चौ० ८ की व्याख्याके अनुसार 'आए नहाए'से बिना कालक्षेपके मुनिकी प्रेरणासे प्रवृत्त होना स्पष्ट किया गया है।

संगति : निवास-स्थानका निर्णय कर रहें हैं।

चौ०–रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥१॥

भावार्थ : मन्दाकिनीमें स्नान करके प्रभुने लक्ष्मणसे कहा कि यह घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरनेका जुगाड़ करो।

गोसाइंजीकी आर्षता

शा० व्या : प्रभुने जहाँ स्नान किया उसको भलघाटू कहा है। वह कौन सा मन्दाकिनीका घाट है? इसको समझनेके लिए 'अनूचानो यदभ्यूहति आर्षं तद् भवति'के अनुसार गो० तुलसीदासजीने जिसको रामघाट निश्चित कर दिया है उसीको प्रमाणित 'भलघाटू' मानना चाहिए। जैसे उद्धव द्वारा निर्दिष्ट व्रजस्थली कृष्णलीलाकी स्थली आज भी मानी जाती है। भलघाटूकी उक्त प्रमाणिकता बालकाण्ड मंगलाचरण ७में गोसाइँजीकी उक्ति 'क्वचिदन्यतोऽपि'में समझायी है।

संगति : भलघाटूसे प्रभुकी इच्छाका संकेत पाकर लक्ष्मणजी प्रभुके निवास-योग्य स्थानको देख रहे हैं।

चौ०–लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥२॥

भावार्थ : लक्ष्मणजीने देखा कि चित्रकूट पर्वतके चारों ओरसे घूमता हुआ नाला आ रहा है जो पयस्विनीके रूपमें आकर मन्दकिनीमें गिरता है वहाँ करारका रूप हो गया है।

दुर्गनिवास

शा० व्या० : कहनेका भाव हैं कि प्राकृतिक परिखासे घिरा चित्रकूट गिरि स्वाभाविक जलदुर्गके रूप में स्थित है।

संगति : दो० १३२में चित्रकूटकी 'महिमा अमित'से व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०–नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ॥३॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी ॥४॥

भावार्थ : पूर्वोक्त नालाको धनुष कहा है। मन्दकिनी नदी डोरी है, शम-दम-दान तीन बाण हैं। कलिके सब पाप ही अनेकों मृगया-पशु :हिंस्रजीव है जिनका सामना होनेपर अडिग रूपमें बैठा चित्रकूटरूप शिकारी निशाना नहीं चूकता।

शम आदिकी व्याख्या

शम = मनोनिग्रह सम है।

दम = बहिरिन्द्रिय-निग्रह दम है।

दान = देवताओंके उद्देश्यसे किया त्याग धर्मार्थं दान है। यह शम-दमके साथ किया दान निरभिमानिताका सूचक है जो लोक-शास्त्रवन्द्य है।[1]

मोहनिरासोपाय

चित्रकूटके आश्रममें रहनेवाले तपस्वीगण, बुद्धिमें व्यामोह उत्पन्न करनेवाले कलिकलुषका प्रक्षालन करते हुए सदसत्का विवेक जागृत रखते हैं। ये कलिकलुष हिंस्रपशु हैं जो बुद्धिको सन्देहमें डालकर जीवात्माको भ्रान्त कर देते हैं। अतएव वे वध्य हैं। उनके वधके हेतु शम-दम-दान ये तीन बाण कहे गये हैं।

'नदीपनच'का भाव है कि जैसे बाणोंको डोरीपर रखकर सन्धान किया जाता है वैसे ही मन्दकिनीके उपासनासे संबद्ध शम-दम-दान द्वारा कलिकलुषका नाश करना है। जिस प्रकार डोरीकी स्थिरता धनुषके आधारसे होती है उसी प्रकार अन्यान्य जलप्रवाहोंको लानेवाले पयस्विनी नालेसे सम्बन्धित मन्दाकिनीकी स्थिति है।

मुनि एवं वनका अन्योन्य रक्षण

'अचल अहेरी'का भाव है कि जैसे सावधान होकर एक जगह स्थित शिकारी-का निशाना अचूक होता है वैसे ही चित्रकूट कलिकलुषका नाश करनेमें अडिग है। सिंह-वनन्यायके सदृश मन्दाकिनीकी उपासनामें शम-दम-दानसे सम्पन्न तपस्वियोंके सम्पर्कसे चित्रकूट पापोंके विनाशमें सक्षम है। चित्रकूटके आश्रयमें रहनेवाले तपस्वी भी चित्रकूटके 'अचल अहेरी' द्वारा पापप्रक्षालनमें आश्वस्त हैं। कलिकलुषके अन्तर्गत राक्षस आदि हिंसारत प्राणियोंको समझना है।

चौ०–अस कहि लखन ठाउँ देखरावा। थलु बिलोकि रघुबर सुखु पावा ॥५॥

भावार्थ : ऐसा कहकर लक्ष्मणजीने उस स्थान (कामदगिरि)को दिखाया जिस स्थलको देखकर श्रीरघुनाथजी प्रसन्न हुए।

---

१. ये प्रियाणि च भाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरणा देवास्ते नरविग्रहाः। नी० स० ३

प्रभुका आकांक्षितस्थल

शा० व्या० : 'ठाउँ'से वही स्थान समझना चाहिए जो चौ० १ में 'ठाहर ठाटू' द्वारा प्रभुको आकांक्षित है। 'थलु बिलोकि'से मुनिव्रतके योग्य स्थानका प्रभु द्वारा प्रेक्षण समझना चाहिए। 'सुख पावा'से लक्ष्मणजीकी सेवाकी सार्थकता प्रकट है अर्थात् वही सेवाकार्य प्रशंसनीय है जिससे स्वामीको सुख पहुँचे।

'भल घाटू' 'ठाहर ठाटू' व 'थलु बिलोकि रघुबर सुखु पावा'की पुष्टि आगे वनवासियोंके कथनसे चौ० ४ से दो० १३६ के अन्तर्गत होगी। 'थलु'से कामदगिरि-विवक्षित हो सकता है, जैसा आगे चौ० १ दो० २७९ में 'कामद भे गिरि राम प्रसादा' अवलोकत अपहरत विषादा'से संकेतित है।

संगति : प्रभुकी अनुकूलताको देखकर देव निवासकी व्यवस्था कर रहे हैं।

चौ०–रमेउ राम मनु देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना ॥६॥
कोल किरात वेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए ॥७॥

भावार्थ : लक्ष्मणजीके दिखाये स्थलको देखकर श्रीरामका मनस् रम रहा है ऐसा जानकर देवगण देवताओंके शिल्पज्ञप्रधान विश्वकर्माके साथ चित्रकूटकी ओर चले। वे सब कोलकिरातके वेषमें पहुँचे। उन्होंने सुन्दर पत्ते और तिनकोंका घर 'पर्णशाला'का निर्माण कर दिया।

प्रभुका अभिप्रायवेत्तृत्व

शा० व्या० : शरीरस्थ इन्द्रियोंमें तत्तद्देवताका वास है जैसा प्रभुके विराट् स्वरूपमें दर्शाया गया है। अतः देवता प्रभु रामके मनस्की बात जान गये और प्रसन्नतामें मुनिव्रतके योग्य पर्णशालाका निर्माण विश्वकर्माकी प्रधानतामें कर दिया।

सेवाभावकी जागृति

लोकोपकारार्थं धर्मतः प्रवृत्त व्यक्तिमें सबका स्नेह और आदरका भाव रहता है। उसी भावमें देवता भी नीतिपालक श्रीरामके सहायक हो रहे हैं, यद्यपि सच्चे धर्मसापेक्ष व्यक्तिको कोई आकांक्षा नहीं है तो भी उसकी सहायतामें अपनेको कृतार्थ करनेके लिए सहायक वर्ग उपस्थित होता है। शास्त्रविधिके फलोपलब्धिमें ऐसा होना सहज घटना है। प्रभु राम मनुष्यरूपमें कार्य करनेके लिए आये हैं। अतः देव भी प्रच्छन्न कोलकिरातोंके वेषमें आये हैं क्योंकि वनप्रान्तमें कोलकिरातोंका वास है। वनमें कोलकिरातों आटविकोंको बसाने और उसके मध्यमें तपस्वियों मुनियोंके निवासकी उपादेयताका राजनीतिकदृष्टिसे विवेचन गुह-प्रसंगमें किया गया है।

चौ०–बरनि न जाइ मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला ॥

भावार्थ : एक सुन्दर छोटी और एक बड़ी पर्णशालाका निर्माण हुआ। वे दोनों इतनी सुन्दर हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता।

पर्णशालाकी अलौकिकता

बालकाण्ड चौ० ८ दो० ३०६ में जिस प्रकार सीताजी द्वारा प्रवृत्त ऋद्धि-सिद्धिके किये बारातके स्वागतमें पहुनईका कार्य है उसी प्रकार यहाँ देवों अथवा साकेतवासी सेवकों द्वारा पर्णशालाके निर्माणका कार्य हुआ है। लघु कुटी प्रभुके पूजन समाधि आदिके लिए अथवा सीताके अन्तर्निवासके लिए है। बड़ी शाला अभ्यागत ऋषि-मुनियों आदिसे भेंटके लिए है। 'विसाला'से उसकी विशालताकी अलौकिकता स्पष्ट है अर्थात् चाहे जितने लोग आ जायँ, सब उसमें समा सकते हैं।

संगति : दो० ६५ में सीताकी उक्ति 'नाथ साथ सुरसदनसम परनसाल सुख-मूल'के अनुसार इस मञ्जु ललित पर्णकुटीमें प्रभुको निवास सुखकर है जो अग्रिम दोहेमें रति-कामदेवकी उपमासे ध्वनित है।

दो०—लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
सोह मदनु मुनि वेष जनु रतिरितुराज समेत ॥१३३॥

भावार्थ : सीता लक्ष्मणके साथ प्रभु देवनिर्मित सुन्दर वासस्थान पर्णशालामें ऐसे विराजमान हुए मानो रति और वसन्त ऋतुके सहित कामदेव मुनिवेषमें शोभायमान हो।

प्रभुवेषकी अद्भुतता

शा० व्या० : रुचिरसे यह बताया है कि प्रभुकी रुचिके अनुकूल तीनों मूर्त्तियोंके सौन्दर्यके अनुरूप पर्णशालाकी शोभा है। 'मदनु रति रितुराजु समेत'की उपमासे व्यक्त है कि वनवासमें भी तीनोंके सौन्दर्यमें कोई विघात दृष्टिगोचर नहीं है। मुनिवेषसे ब्रह्मचर्यव्रतमें कामविकारका अभाव दिखाया है। जिस प्रकार कामदेवका सहायक बसन्त है, उसी प्रकार सहायक रूपमें लक्ष्मणजी प्रभुकी सेवामें उपस्थित हैं। 'तापस वेष विसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी' कैकेयीके इस वचनके अनुसार मुनिवेषमें प्रभुका पर्णकुटीमें निवास है जिसकी संगति आगे 'एहि बिधि बसहिं' चौ० ४ दो० १३७ से स्पष्ट होगी।

संगति : गृह निर्माणके अनन्तर वास्तुशान्ति प्रतिष्ठा आदिका विधान शास्त्र-निर्दिष्ट है। वही कार्यक्रम आगे वर्णित हो रहा है जो उदासीभावके अनुरूप है।

चौ०—अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला ॥१॥
राम प्रनामु कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥२॥

भावार्थ : प्रभुके पर्णशालामें प्रवेश करनेके अवसरपर देवता, नाग, किन्नर और दिक्पाल आये। श्रीरामने उन सबको नमस्कार किया। वे भी रामदर्शन पाकर प्रसन्न हुए।

वास्तुप्रतिष्ठाका संकेत

शा० व्या० : यद्यपि वास्तुप्रतिष्ठाकी यहाँ चर्चा नहीं की गयी है तो भी

धर्मनिर्णयके अनुसार पर्णशाला-निर्माणके प्रस्तुत प्रसङ्गमें उक्त कल्पना अशोभनीय नहीं मानी जा सकती। 'तेहि काला'से गृहप्रवेशका समय अथवा अवतार-कार्यके प्रारम्भका समय समझना है। वास्तुशान्ति-कार्यमें जिस प्रकार ब्राह्मणों आदिका आगमन होता है उसी प्रकार देवादिका आना कहा गया है। 'मुदित लहि लोचन लाहू'से रामदर्शनप्राप्तिसे देवादिकोंको वैसी ही मान्यता है जैसी ब्राह्मणोंकी दान-दक्षिणासे होती है। 'राम प्रनामु कीन्ह'से मर्यादानुसार श्रीरामने सबका स्वागत किया। 'सब काहू'का भाव है कि एक ही साथ सबको नमस्कार करनेपर भी सबको अलग-अलग प्रणाम करनेका भान हो गया।

'तेहिकाला'से उपरोक्त वास्तुप्रतिष्ठा-कार्यको परोक्षमें ध्वनित करनेका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि दण्डकारण्यस्थित लंकापति रावणके चरोंको श्रीरामके धर्मतः वनवासके उद्देश्यकी सूचना न मिले जिससे भविष्यत् कालीन कार्यका पता न चले, केवल इतना ही प्रकट हो कि पिताकी आज्ञासे राज्यसे निष्कासित श्रीराम वनमें निवास करने आये हैं। अर्थात् एक सामान्यमनुष्यके चरित्र लक्षित हों। पित्राज्ञा-परिपालन धर्मत्वेन कोई प्रसिद्धि नहीं रखता, इसलिए खरदूषण आदि रावणके चरोंको श्रीरामके वनवासमें उपेक्षाको दृष्टि रही। इसका फल होगा कि चित्रकूट-निवासमें श्रीरामका द्वादशवर्षीय मुनिव्रत निर्विघ्न पूरा होगा।

अंगकी न्यूनतामें नित्यकर्मकी पूर्णता

ज्ञातव्य है कि पित्राज्ञापरिपालन प्रधानभूत नित्यधर्मको पूर्ण करनेमें वास्तु-प्रतिष्ठासम्बन्धी होमादि अंगभूतधर्मकी न्यूनता कारणविशेषसे हो भी जाय तो भी मुख्य धर्मके अनुष्ठानसे वह पूर्ण मानी जायगी। इस प्रकारका धर्मानुष्ठान तत्कालीन अगस्त्य सुतीक्ष्ण आदि वनवासी मुनि करते थे अर्थात् त्रेतायुगीयधर्म, तपस्, होमादिको संक्षिप्त करके भगवन्नामका कीर्तन करते हुए शम दमादि अनुपेक्ष्य मुख्यधर्मका पालन करते थे। प्रभुके चित्रकूट-निवाससे जैसे-जैसे राक्षसोंका आतंक दूर होता गया वैसे-वैसे त्रेतायुगका तत्कालीन धर्म, याग, तपस् आदि प्रचारित हो गया जैसा आगे दो० १३४ में कहा जायगा। यद्यपि दिक्पालोंको गणना अमर नाग आदि स्वर्गस्थ देवोंके अन्तर्गत है, तो भी 'ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय'के अनुसार उनकी श्रेष्ठता दिखानेके लिए दिक्पालोंका पृथक् उल्लेख किया है।

देवोंकी तुष्टि-पुष्टि

'मुदित देव लहि लोचन लाहू'से देवताओंकी प्रसन्नता इस अर्थमें भी समझनी होगी कि सुमन्त्रद्वारा राजाज्ञाका विकल्प[1] प्रस्तुत करनेपर भी पिताके वचनप्रमाणके पालनमें श्रीरामको दृढ़प्रतिज्ञ देखकर देवहित कार्यके सफल होनेकी आशामें देव प्रसन्न हैं।

---

१. दो० ९४ चौ० ६

संगति : रामराज्माभिषेकमें विघ्न उपस्थापित्त करनेका प्रयोजन यहाँ देवताओं द्वारा स्पष्ट हो रहा है।

चौ०—बरषि सुमन कह देव समाजू। नाथ! सनाथ भए हम आजू ॥३॥

भावार्थ : प्रभुके ऊपर फूल बरसाते हुए देवताओंने प्रार्थना करते हुए कहा। हे नाथ! आजसे हम लोग सनाथ अर्थात् सुरक्षित हो गये।

देवोंकी सनाथता

शा० व्या० : 'हम सनाथ भए'से देवताओंसहित त्रैलोक्यवासी समाज विवक्षित है जो रावणके भयसे मुक्त होकर श्रीरामके अवतार-कार्यसे सनाथ होगा।

प्रश्न हो सकता है कि यदि श्रीराम राज्याभिषिक्त हो जाते तो क्या देव सनाथ नहीं होते? इस प्रश्नके समाधानमें कहना है कि श्रीरामके राज्याभिषिक्त हो जानेपर उनमें मनुष्यत्वकी धारणा न बन पाती तो रावणवधमें अड़चन होती। लंकाकाण्ड चौ० ४ दो० २० में अंगदकी उक्ति 'जीतेहु लोकपाल सब राजा'से श्रीरामके राजा हो जानेपर रावणकी वरप्रदत्त समर्थताका हनन करना कठिन होता। पिताकी आज्ञापालनसे सत्यसन्धके वचनकी प्रामाणिकता दिखाते हुए वनवासमें श्रीरामने जो यथार्थ मनुष्यचरित्र उपस्थापित किया वही रावणवधका कारण है। रामचरित्रमें भक्तिके प्रतिष्ठापक शंकरजीके वचन 'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी'के अनुसार पित्राज्ञापालनधर्मका महत्त्व प्रकट करना ग्रन्थकारको इष्ट है। श्रीरामके मनुष्य-चरित्रमें पित्राज्ञापालनसे धर्मकी प्रतिष्ठा और राज्य-त्यागसे राजनीतिकी प्रतिष्ठा वनवासमें आरम्भ हो रही है, इस दृष्टिसे देवता 'सनाथ भए आजू' कह रहे हैं। विशेष विचार अ० दो० चौथेमें देखे।

चौ०—करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए ॥४॥

भावार्थ : देवताओंने प्रभुसे बिनती करते हुए अपना दुःख सुना दिया और प्रसन्न होकर अपने-अपने लोकनिवासको चले गये।

देवोंका दुःख

शा० व्या० : देवताओंका दुःख दुःसह वही है जो बालकाण्ड दोहा १८४में कहा गया है। 'सुनाए'से उसी दुःखका स्मरण कराना है। 'हरषित'से मनोरथपूर्तिकी सम्भावना व्यक्त है। 'निज-निज सदन'से वस्तुतः 'अमर नाग किन्नर दिसिपाला'का तत्तत् लोकस्थित वासस्थान है। यद्यपि पूर्व व्याख्यामें उनका तात्कालिक वास अयोध्या-मिथिलामें कहा गया है फिर भी वे दुःखी इसलिए हैं कि देवोंका भूतल-निवास देवजातिके अनुरूप नहीं है। अपने स्थानसे उद्वासित होनेपर अन्यत्र रहनेमें सुख नहीं होता जैसा अयोध्यासे दूर होनेपर श्रीरामकी स्थितिसे 'जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं'से दुःखकी कल्पना व्यक्त है।

दुःख निरासका आरम्भ

'आजू' कहनेका भाव है कि देवताओंके दुःखका अन्त जो कल्पनामें भी नहीं दिखायी देता था वह आज समझनेमें आ रहा है अथवा रावणके आतंककी दीर्घ-कालीन निरवधिकी तुलनामें चौदह वर्षको वनवास-अवधि इतनी अल्प मालूम हो रही है कि हर्षमें देवता 'आजू' कहकर रामावतारकार्यकी चरितार्थताका प्रारम्भ सूचित कर रहे हैं। जिसकी सूचना वाल्मीकि महर्षिने छन्द १२६में 'सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी'से दी है। कहनेका निष्कर्ष है कि बा० का० चौ० १ से ६ दो० १८७में कहे प्रभुके प्रतिज्ञातार्थका शुभारम्भ चित्रकूटवाससे हो रहा है जो देवताओंके हर्षित होनेका कारण है जिसकी पुष्टि देवगुरु बृहस्पति आगे चौ० १ दो० २२०में 'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी' कहकर करेंगे।

संगति : तपस्या आदि करनेवाले मुनियोंको युगधर्ममें प्रवृत्त कराना श्रीरामके प्रभुत्वका निर्णायक है जैसा अग्रिम ग्रन्थमें वर्णन किया जा रहा है।

चौ०–चित्रकूट रघुनन्दनु छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए ॥५॥

भावार्थ : रघुनन्दन श्रीराम चित्रकूटमें बस रहे हैं, ऐसा समाचार सुनकर मुनिगण वहाँ आने लगे।

मुनियोंका उत्साह

शा० व्या० : 'छाए'का भाव है कि श्रीरामके चित्रकूट-निवासकी बात तद्देश-वासियोंमें व्याप्त हो गयी। उनसे श्रीरामका रक्षणकार्य सुनकर राक्षसोंकी आतंक पीड़ासे अपना रक्षण होगा, ऐसा सोचकर मुनियोंमें उत्साह हुआ। एकान्तसेवी मननशील मुनियोंको अपना स्थान छोड़कर प्रभुके पास आनेका मनोरथ यही है कि त्रेतायुगके धर्मनीतिका प्रादुर्भाव होगा। कार्तिकमाहात्म्यमें नीतिका आरम्भ त्रेतायुगसे कहा गया है।

संगति : प्रभुके पास आनेवालोंमें प्रधानत्वात् मुनियोंका आगमन, तत्पश्चात् कोल भीलोंका और अन्तमें वहाँके पशु-पक्षी, वृक्ष आदिकोंका वर्णन किया जायगा।

चौ०–आवत देखि मुदित मुनिवृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल चंदा ॥६॥
मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं ॥७॥

भावार्थ : मुनियोंको आते देखकर रघुवंशरूप आकाश चन्द्रमाके समान सुशोभित श्रीरामने उनको प्रणाम किया। मुनिगण रघुवर श्रीरामको हृदयसे आलिङ्गन करते हैं और अपनी वाणीको सफल बनानेके लिए आशीर्वाद देते हैं।

मुनिकी श्रेष्ठता

शा० व्या० : मुनियोंके मुदित होनेका भाव पूर्वोक्त व्याख्यामें स्पष्ट है। 'उर लेहीं'से मुनियोंकी महत्ता दिखायी है। मुनियोंकी श्रेष्ठता देवताओंसे बढ़कर मानी गयी है क्योंकि वे एकाग्र भूमिकामें रहकर सीधे परमात्मा तक पहुँचनेकी योग्यता

रखते हैं। प्रभु सर्वसमर्थ हैं कार्यसिद्धिकी पूर्णतामें उनके आशीर्वादकी आकांक्षा है, ऐसा समझकर मुनिगण आशीर्वाद देनेमें अपनो वाणीकी सफलता मानते हैं।

मुनियोंका ध्येय

परमात्माके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व मुनियोंकी दृष्टिमें है ही नहीं। वही ध्येय तत्त्व श्रीरामके रूपमें उपस्थित है जिसको 'रघुबरहि लाइ उर लेहीं'से व्यक्त किया गया है।

संगति : ध्यानमें वनवासी श्रीरामके साथ सीता और लक्ष्मण भी ध्येय हैं। अतः श्रीरामसे मिलनेके साथ ही उन दोनोंके दर्शनका उल्लेख किया जा रहा है।

चौ०—सिय सौमित्र राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं ॥८॥

भावार्थ : सीता, लक्ष्मण, श्रीराम तीनोंके स्वरूपकी शोभा देखकर मुनियोंने अपने समस्त साधनोंकी सफलता समझा।

तीनों मूर्तियोंकी छवि

शा० व्या० : 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर वंस उदारा' (चौ० २ दो० १८७ बा० का० के) अनुसार प्रभुके अवतार-कार्यमें प्रयोजक सीता लक्ष्मणके साथ रघुवर रामकी छबिका दर्शन कहा गया है। 'छबि'के भावमें अलौकिक सौन्दर्यके अतिरिक्त सीताका पातिव्रत्य-गुण तथा दोनों भाइयोंकी पितृभक्ति, धर्ममें प्रीति, सात्विकता, धृति आदि गुण व्यक्त हैं। निर्विकारत्तासे युक्त तीनों मूर्तियोंका सौन्दर्य मुनियोंके लिए आस्वाद्य है। चौ० ५ से ७ दो० १०७में भरद्वाज मुनिके उद्गारके अनुरूप ही इन मुनियोंकी उक्तिका गत प्रभुके दर्शनकी सिद्धि है। साधनकी सफलताकी दृष्टिसे जो कुछ देय या प्राप्तव्य है उसमें कुछ भी अवशिष्ट नहीं है।

संगति : समागत मुनियोंको प्रभु आश्वासनपूर्वक लौटा रहे हैं।

दो०—जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किये मुनिवृन्द।
करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछन्द ॥१३४॥

भावार्थ : समागत मुनियोंका यथायोग्य सम्मान करके प्रभुने उनको विदा किया। आश्रममें आकर वे स्वच्छन्द होकर योग, जप, यज्ञ, तपस् आदि करने लगे।

मुनियोंमें निर्भयता

शा० व्या० : मुनि वृन्दमें मुनि, परमुनि, परात्पर मुनि आदिके भेदसे मुनियोंकी उपस्थिति दिखायी। 'सुछन्द'का भाव है कि आतंकरहित हो स्वतन्त्रतापूर्वक युगधर्मका पालन करना अर्थात् प्रभुको रक्षक पाकर उनको छत्रछायामें जप, तपस्, यज्ञादिका अनुष्ठान करनेमें अब मुनियोंका राक्षसोंका भय नहीं रहा।

प्रभुके द्वारा सन्मान-कार्यमें सीतालक्ष्मणका अंगत्व

'सनमानि प्रभु'से मुनियोंका सत्कार करनेमें सीता लक्ष्मणका अंगत्व किस प्रकार है, इसको मीमांसा-सिद्धान्तके अनुसार समझना है।

पूजन आदि कर्मोंसे लेकर यज्ञतक यजमानकी प्रधानता है। उसमें अङ्गभूत अन्य व्यक्तियोंकी पृथक् प्रधानता या उनकी पृथक् फलाधिकारिता नहीं मानी जाती। अङ्गोंके व्यापारजन्य तत्तत् अपूर्वोंकी उत्पत्ति होनेपर ही यजमानका 'परमापूर्व' सम्पन्न माना जाता है। यजमानके सफल कर्ममें अङ्गोंका इस प्रकार योगदान समझना चाहिये। जिस प्रकार सत्यनारायणके पूजनमें सामग्री आदिके संचयमें तथा नमस्कारादि कृत्योंमें परिवारके सब सदस्य भाग लेते हैं, पर पूजनकृत्य यजमान ही करता है। उसी प्रकार यहाँ 'सनमानि प्रभु'से मुनियोंके सत्कार-पूजनमें यजमान रूपमें श्रीरामकी प्रधानता है, सहकारितया सीता और लक्ष्मणजी उसमें अङ्गभूत हैं। जहाँ जहाँ पृथक् नमस्कारका उल्लेख है जैसे विवाहके अवसरपर परशुरामजीको श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंका नमस्कार करना (चौ० ६ दो० २६९ बा० का०) वहाँ अलग प्रधानता समझनी होगी क्योंकि विवाह-कृत्यमें दोनोंकी अलग अलग प्रधानता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सीता और लक्ष्मणजीका पृथक् कर्तृत्व वहीं है जहाँ श्रीरामकी प्रधानता अदृश्य है, उदाहरणार्थ श्रीराम और लक्ष्मणको अनुपस्थितिमें यति (रावण)के सत्कारमें सीताका बाहर आना एवं श्रीरामको ध्यानस्थ दशामें लक्ष्मण द्वारा नारदजीका सत्कार (चौ० ७-८ दो० ४१ अरण्यकाण्ड)। यह भी स्मरणीय है कि भरद्वाज और वाल्मीकिमुनिको नमस्कार करनेमें श्रीरामकी प्रधानता होनेसे सीता और लक्ष्मणका उल्लेख नहीं किया गया।

वनवासात्मक कर्ममें श्रीरामकी प्रधानता है, सीता और लक्ष्मणजी अङ्गभूत हैं। अतः उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार मुनियोंका आशीर्वाद श्रीरामको है, पर अंगत्व होनेसे वह आशीर्वाद सीता और लक्ष्मणजीके लिए भी माना जायगा। इस सन्दर्भमें यह प्रश्न उठ सकता है कि दो० ११०-१११ के अन्तर्गत तापस प्रसङ्गमें तापसने श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको अलग-अलग नमस्कार क्यों किया ? इसके उत्तरमें कहना है कि तापसकी दृष्टि इन मुनियोंसे भिन्न है। श्रीरामकी प्रधानता होते हुए भी तापस दोनोंका पृथक् कर्तृत्व देखता है अर्थात् सीताकी पतिसेवा और लक्ष्मणकी भ्रातृसेवामें (स्वामी-सेवकभाव)। राजकीय विधिमें इस प्रकारका पृथक् कर्तृत्वप्रयुक्त सत्कारका नियम दानकल्पना-प्रकरणमें देखा जाता है।

संगति : प्रधानोंके अन्तर्गत मुनियोंका आगमन वर्णन करनेके बाद अप्रधानोंका आना हो रहा है।

चौ०—यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई ॥१॥

भावार्थ : चित्रकूटमें प्रभुके निवासकी खबर जब वनवासी कोलकिरातोंको लगी तो उनको ऐसी प्रसन्नता हुई मानो नवों निधियाँ ही घर में आ गयी हों।

प्रभुके आगमनकी त्रेता-धर्मकी प्रवृत्तिसे अनुमिति

शा० व्या० : 'यह सुधि पाइ'का भाव है कि प्रभुकी पर्णकुटीमें मुनियोंका आना-जाना देखकर वनवासी कोलकिरातोंको प्रभुके आनेकी खबर लगी। अथवा त्रेता धर्मके अनुष्ठानमें 'करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछंद'में मुनियोंकी तत्परता देखकर देवरूप कोलभीलोंको[1] सुधि हो गयी कि रामावतार हो गया, उससे वे हर्षित हो गये। 'जुगुति पहिचाने'का यह भी एक प्रकार है। मुनि, महात्मा, विद्वान् महापुरुष जिनकी परमात्मरूपमें वन्दना करें, उनका जन-साधारण भी सम्मान करते हैं यथा—'अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितम्'।

ऋषि मुनियों द्वारा श्रीरामका वन्दन एवं आशीर्वाद सुनकर व देखकर कोल किरातोंका पूर्वजन्मकृत संस्कार जो कथाओंके श्रवणसे अंकुरित था वह उद्बुद्ध हो गया। ऋषिमुनियोंने कथाप्रवचन आदिमें उनसे कहा होगा कि राक्षसोंके आतंकसे त्रेतायुगीन धर्म, तपस्, याग आदि करनेमें वे असमर्थ हैं, प्रभु आकर उनकी रक्षा करेंगे तो पुनः वे त्रेताधर्ममें सुप्रतिष्ठित होंगे। अभी युगधर्ममें मुनियोंको प्रवृत्त देखकर कोल-किरातोंको श्रीरामके प्रभुत्वका अनुमान हो गया। अपने बीच प्रभुको पाकर वन-वासियों (आदिवासियों)को ऐसी प्रसन्नता हुई मानो एक महान् रत्न उनको घरमें ही प्राप्त हो गया हो।

'हरषे नवनिधि घर आईं'का स्वरूप आगे चौ० ४ दोहा १३५ से वर्णित होगा।

संगति : वनवासियोंके हर्षका प्राकट्य वनसम्पत्ति (कन्द मूल फल आदि)के भेटसे हो रहा है।

चौ०–कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना ॥२॥

भावार्थ : वनवासी पत्तेके दोनोंमें कंद-मूल-फलोंको भरकर (भेंटके लिए) जा रहे हैं मानों अति दरिद्र सोनाको लूटने जा रहे हों।

वनवासियोंमें संस्कृति

शा० व्या० : रिक्तपणि होकर महात्माओंके पास नहीं जाना चाहिए, ऐसी शिक्षासे ये वनवासी संस्कृत हैं। अतः श्रीरामके दर्शनार्थ जाते हुए वे दोनोंमें कन्द मूल फल भरकर भेटके लिए ले जा रहे हैं।

सुवर्ण लूटनेका भाव

सुवर्णको लूटनेमें जो चाव दरिद्रोंको होता है वैसा ही उत्साह रामदर्शनार्थी कोलभीलोंको है। 'चले रंक जनु लूटन सोना'में उनका लोभ बताना उद्देश्य नही है, बल्कि सुवर्णके प्रति आकर्षण एवं आदरभाव प्रकट है जैसा उत्तरकाण्डकी समाप्तिमें

---

१. कोल किरात वेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए ॥ (चौ० ७ दो० १३३)

कविने 'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम' कहकर रामप्रियताकी कामना की है।

संगति : रामदर्शनार्थियोंकी प्रीतिमें होनेवाले औत्सुक्यका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहि पूँछहि मग जाता ॥३॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥४॥

भावार्थ : लौटते हुए वनवासियोंमें जिन्होंने दोनों भाइयोंका दर्शन किया था उनसे मार्गमें जाते हुए दूसरे दर्शनार्थी पूछते हैं। वे कहते हैं, ये सुनते हैं। इस प्रकार प्रभुके सौन्दर्यको कहते सुनते दर्शनार्थीयोंने आश्रममें पहुँचकर रघुनाथजीका दर्शन किया।

देव-दर्शनार्थियोंमें प्रीति

शा० व्या : 'कहत सुनत'से देवदर्शनका क्रम बताया गया है। अर्थात् प्रभु-दर्शनके निमित्त चलते समय प्रभुचर्चा करते हुए जाना चाहिए। दर्शन प्राप्त करके लौटनेवालोंसे उसका महात्म्य पूछना प्रभुप्रीतिमें प्रेरणादायक है। 'अपर'से व्यक्त किया गया है कि दूसरे साथी प्रभुप्रीतिसे वंचित न रह जायँ, इसलिए 'रघुबीर निकाई'का वर्णन करते लौटते हैं।

गुणोंकी पूज्यता

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न वयः"के अनुसार प्राप्तदर्शन-जन, रघुबीरकी प्रशंसा स्नेहभावमें कर रहे हैं। यद्यपि रघुराई राज्यलक्ष्मीसे दूर हैं, तो भी श्रीरामकी दयालुता स्निग्धता आदि गुणोंसे उनका सौन्दर्य स्नेहभावका आकर्षण करनेवाला है—यही श्रीरामका पारमार्थिक स्वरूप है।

चौ०–करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे ॥५॥

भावार्थ : प्रभुके सामने (कंदमूल फलसे भरा दोना) भेंट रखकर नमस्कार करते हैं। अत्यन्त प्रेममें भरकर प्रभुका दर्शन करते हैं।

शा० व्या० : यह प्रभुप्रीतिके संस्कारका उदय है।

संगति : वनवासियोंके अनुरागका अनुभाव वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥६॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥७॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥८॥

भावार्थ : प्रभुको देखकर वनवासियोंको ऐसा अनुराग हुआ कि वे स्तब्ध दशामें चित्रके समान जहाँके तहाँ खड़े रह गये, शरीरमें रोमांच और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगा। श्रीरामने उनको प्रेम-मग्न जानकर प्रिय वचन द्वारा उन सबका सम्मान किया। वे प्रभुको बारम्बार नमस्कार करके हाथोंको जोड़कर विनयपूर्ण वाणीमें बोलते हैं।

प्रीतिका अनुभाव

शा० व्या० : चित्तके द्रवीभावमें प्रकट होनेवाले प्रेमके चिह्न रोमपुलक, अश्रुजल, गद्गद वाणी आदि चित्रकूटवासी कोलभीलोंमें प्रभुके दर्शनमें व्यक्त हो रहा है। 'जोहारि बहोरि बहोरी'से उनके कायिक-वाचिक व्यापारमें स्नेहभाव व्यक्त है। 'स्नेह मगन सब जाने' व 'सकल सनमाने'से श्रीरामका प्रभुत्व प्रकट है अर्थात् प्रत्येकको जात्यादिप्रयुक्त ऊँच-नीचका भाव रहते हुए भी अपने सम्मानमें कमी प्रतीत नहीं हुई।

'छन्दानुवर्तिनां लोके कः परः प्रियवादिनां' के अनुसार 'प्रिय-वचन'का प्रभाव समझना चाहिए।

संगति : वनवासियोंके विनम्र निवेदनमें 'बचन बिनीत' स्पष्ट हो रहा है।

दो०—अब हम नाथ ! सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय ॥१३५॥

भावार्थ : हे नाथ ! प्रभुके चरणोंका दर्शन करके हम सब अब सनाथ हो गये। हे कोशलके ईश्वर ! आपका आगमन हमारे भाग्य से हुआ है।

कोसलेशके आगमनका हेतु-भाग्य

शा० व्या० : दृष्ट रीतिसे कोशलके राजाका इतनी दूर आना व दर्शन देना इन आदिवासियोंको अपने भाग्यका ही परिचायक मालूम होता है क्योंकि मृगयाके बहाने वनमें आनेके लिए निकटवर्ती शृङ्गबेरका क्षेत्र ही उनके लिए पर्याप्त था। इस भावसे 'सनाथ'का तात्पर्य कोसलरायका सान्निध्य कहा जा सकता है अथवा 'सनाथ'का भाव है कि राक्षसोंके आतंककी पीड़ा कोसलनाथके पास जाकर सुनाना इन आदिवासियोंके लिए सम्भव नहीं था और न तो अपना दुःख किसी दूसरेसे निवेदन करनेमें भी वे समर्थ थे। 'काननराजू'के निमित्तसे रक्षकके रूपमें आज स्वयं राजपुत्र श्रीराम उनके सामने उपस्थित हैं, यह उनका भाग्य है।

'नयेन जाग्रत्यनिशं नरेश्वरे सुखं स्वपन्तीह निराधयः प्रजाः'के अनुसार कोसलरायके आगमनसे अपनेको सनाथ कहना ठीक ही है।

कोल-भीलके धर्म (विशेष वक्तव्य)

केवटप्रसङ्गमें कहा गया है कि जिस प्रकार शूद्रधर्मका पालन करते हुए स्वधर्ममें स्थित केवटको प्रभुने दर्शन देकर कृतार्थ किया उसी प्रकार शास्त्रसम्मत चौर्यधर्मका पालन करनेवाले इन आटविक आदिवासियों पर प्रभुने अनुग्रह किया है। 'एहि प्रतिपालउँ, कछु अउर कबारू'से जिस प्रकार केवटने नौका जीविका धर्म पर अपना स्वाभिमान व्यक्त किया उसी प्रकार ये आदिवासी भी 'यह हमारि अति बड़ सेवकाई। लेंहि न बासन बासन चोराई' (चो० ३ दो० २५१) कहकर

अपने चौर्यधर्मं पर प्रीति व्यक्त करेंगे। 'भाग हमारे'से स्वधर्मपालनके परिणाम स्वरूप भाग्योदय कहा जायेगा। जिसको छन्द २५१से स्पष्ट किया गया है।

चौ० ३ दो० १३४में देवताओंने देवरूपमें 'नाथ सनाथ भए हम आजू' कहा था, उसी की पुष्टि यहाँ कोलकिरात-वेषमें लौकिक रीतिसे स्वधर्मके अनुकूल सनाथता दिखा कर किया है, ऐसा कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

संगति : जिस प्रकार दो० ११३के अन्तर्गत, प्रभुत्वप्रतिपादक व्याप्तियोंका वर्णन है उसी प्रकार यहाँ प्रभुत्वसूचक व्याप्तियाँ कही जा रही हैं।

चौ०–धन्य भूमि बन पन्थ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥१॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥२॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥३॥

भावार्थ : बनवासी कह रहे हैं 'हे नाथ! जहाँ जहाँ आपने चरण रखा वे सब वन, मार्ग, पहाड़, भूमि आदि धन्य हो गये। वनमें विचरनेवाले पशु पक्षी धन्य हैं जिनका जीवन आपका दर्शन करके सफल हो गया। हम सब परिवार सहित नेत्र भरकर आपका दर्शन पाकर धन्य हो गये।

कोल भीलके वेषमें देव

शा० व्या० : बालकाण्ड (चौ० ३ दो० १८८)में 'बनचर देह धरी छिति माहीं' तथा अयोध्याकाण्ड (चौ० ७ दो० १३३) 'कोल किरात वेष सब आए'से स्पष्ट होता है कि वनवासी कोल भील तथा वनचर पशु पक्षी देवलोकसे आए जीव हैं। प्रभुके चरणस्पर्शसे दण्डकारण्यस्थित 'भूमि बन पंथ पहारा'की अशुचिता चली गयी, यही उनका धन्य होना है। अतः वे चौ० १ से ८ दो० ११३ में कहे प्रशंसाके पात्र हो गये। वनचारी पशु-पक्षी आदि जीव प्रभुके अंश है। अपने अंशीसे मिलनेके लिए वे लालायित हो रहे थे। अतः 'सफल जनम भए तुम्हहि निहारी' हो गये, अर्थात् प्रभुके सगुण रूपको देखकर कृतार्थ हो गये। उनका परिवार भी कृतार्थ है। सन्त महात्मा प्रायः सुलभ नहीं होते। जहाँ सुलभ होते है वहाँके जीवोंका जीवन सार्थक हो जाता है। यद्यपि सन्त स्वार्थकी अपेक्षा नहीं रखते और न तो अपना मनोरथ पूर्ण करनेके लिए किसीके पास जाते हैं तथापि दैवात् या कारणवश कहीं जाते हैं तो वहाँके वासियोंका अहोभाग्य है। सत्संगके प्रभावसे संस्कृत व्यक्तियोंका आकर्षण होनेमें सन्तोंका सान्निध्य उद्दीपनका काम करता है।

संगति : ये वनवासी हृष्ट रीतिसे चित्रकूट-वासकी अनुकूलता व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०–कीन्ह बासु भल ठाँउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥४॥

भावार्थ : आपने विचार करके अच्छे स्थानपर निवास किया है। यहाँ सब ऋतुओंमें आप सुख पूर्वक रहेंगे।

वाल्मीकी-मन्त्रणाकी सफलता

शा० व्या० : चौ० ५ दो० १३३ में 'थलु विलोकि रघुबर सुखु पावा'का स्पष्टीकरण 'भल ठाउँ' व 'सुखारी'से किया गया है। विचारीका भाव है कि वाल्मीकि महर्षिसे मन्त्रणा करके उनके निर्देशके अनुसार 'भल ठाउँ'का विचार करके प्रभुने चित्रकूटको निवास स्थल बनाया है।

संगति : बिना प्रार्थनाके प्रभु यहाँ स्वयं रक्षकरूपमें आये हैं। इसके प्रत्युपकारमें आदिवासी अपनी सहायताकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं, जो प्रभुके कहे 'काननराजू' की सार्थकताका द्योतक है।

चौ०–हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई ॥५॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा ॥६॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निर्झर जल ठाउँ देखाउब ॥७॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता ॥८॥

भावार्थ : हमलोग आपकी सब प्रकारसे सेवा करेंगे, हाथी, शेर, चीता सर्प, आदिसे रक्षा करेंगे। हे प्रभो! यहाँका बीहड़ वन और पहाड़ोंकी कन्दरा खोह सब हमारा पग-पग देखा हुआ है, वहाँ आपको शिकार खेलावेंगे और तालाबों-झरनों आदि जलस्थानोंकी रम्यता दिखावेंगे। परिवार सहित हम आपके सेवकरूपमें उपस्थित हैं। हमको आज्ञा देनेमें आप संकोच मत करियेगा।

काननराजूकी सार्थकता भारतीय नीतिका आदर्श

शा० व्या० : दोहा ६२-६३ के अन्तर्गत प्रभुने सीतासे वनके दुःखोंका वर्णन करते हुए जो भय दिखाया था उसका निरास वनवासियोंकी प्रत्युपकारक उक्तियोंसे हो रहा है, जो सीताके वचनका 'प्रभुसंग मोहिको चितवनिहारा'से संगत है। पित्राज्ञापालन, सात्विकता, निर्विकारता, धनुर्धरत्व (रक्षण) आदिसे सम्पन्न राजाको पाकर जनता उसकी सेवामें सहर्ष तत्पर रहती है। यही भारतीय राजनीतिका आदर्श है। वनवासी कोलभीलोंको भृत्य वर्ग न मानकर उनकी सेवा लेनेमें संकोच हो सकता है। इस संकोचको दूर करनेको प्रार्थना करते हुए वे अपनेको सेवकरूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्वमें कहे 'हम सब धन्य सहित परिवारा'से परिवारकी अनुकूलता स्पष्ट है। इसलिए यहाँ 'हम सेवक परिवार समेता' कहा है।

संगति : रामप्रीतिमें भरकर शिवजी उमाको वेद-सिद्धान्त और भक्तिका सम्बन्ध सुना रहे हैं।

दो०–बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥१३६॥

भावार्थ : वेदोंके वचन और मुनियोंके मनसे भी जो प्रभु अगम्य हैं वे

प्रभु करुणामें भरकर किरातोंके वचनोंको ऐसे प्रेमसे सुन रहे हैं जैसे पिता अपने बच्चेकी बात्त सुनते हैं।

ब्रह्मस्वरूप ईश्वरकी करुणा

शा० व्या० : ब्रह्म निर्धर्मक है। वेद 'नेति-नेति' द्वारा सांसारिकोंसे उसका वैधर्म्य बताता है या व्यतिरेकसे ईश्वरकी सत्ताको समझाता है। वेद निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। सीधे ईश्वरको बताना उसके लिए ब्रह्मकी वंचना करना है। वेदवचनसे ब्रह्मको अगम्य कहा है। वेदका कर्मकाण्ड भक्तिका पोषक है अन्यथा कर्मकाण्डमात्रसे सगुण ब्रह्म भी गम्य नहीं हो सकता।

कर्म एवं भक्तिका उपकार्योपकारकभाव

भगवत्प्राप्तिके लिए शास्त्रसिद्धान्त मननीय है। पहले वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठानसे मनस्को संस्कृत करना है। संस्कृत मनस्की परिपक्वावस्थामें भक्तिका उदय होता है। ध्यातव्य है कि मनस्की यह अवस्था किसीको एतत् जन्मप्रसूत है, किसीको पूर्व-जन्मसुकृत प्राप्त है। अतः निर्णय यह है कि प्रथमतः वेदोंका श्रवण करे, उसके बाद तर्क द्वारा वेदार्थका मनन करे, तब जाकर मनस्में निःशंकता एवं विश्वस्तता होती है। उक्त विषय उ० का० में चौ० १२ से १४ दो० १२० से स्पष्ट किया गया है।

'वेद वचन मुनि मन अगम'का भाव

'मुनि मन अगम'का भाव है कि एकाग्र, तन्मय, और संस्कृत मनस्वाले मुनिको ईश्वर, मनोमय मूर्तिके रूपमें दृष्टिगोचर हो सकता है। जब शंका उपस्थित होती है तब मुनि अन्वीक्षा करते हैं और तर्कसे शंकाका समाधान करते हैं। ऐसा करते हुए भी मनस्की अपरिपक्वतासे क्वचित् पूर्वजन्मकी विषय-वासना उद्‌बुद्ध हो जाय तो वह योगभ्रष्ट भी हो सकता है। अतः भागवतधर्मकी यथावत् स्थिति होनेतक शास्त्रचिन्तन करने वाले मुनियोंको सगुण ईश्वर अगम्य है। यहाँ यह भी समझना होगा कि वेदवचनके तात्पर्यको न समझते हुए शास्त्रको भगवद्दर्शनमें अन्यथासिद्ध मानकर उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं बल्कि भगवत् प्रीतिकी अवस्थामें मनस्को लानेके लिए शास्त्रको उपयोगी मानना इष्ट है।

वनवासियोंका सुकृत

प्रश्न : वनवासी किरातोंका क्या सुकृत है? जिससे वे प्रभुके करुणापात्र बन गये हैं।

उत्तर : इसके समाधानमें शास्त्र-सिद्धान्त मननीय है। या तो ये साकेतवासी प्रभुके सेवक हैं, अथवा देवलोकसे आये शास्त्रसुसंस्कृत जीव हैं, अथवा योगभ्रष्ट जीव हैं, जिनका पूर्व संस्कृत मनस्का संस्कार ऋषि-मुनियोंके संसर्गमें उनके उपदेशों द्वारा उद्‌बुद्ध हो जागृत हो गया है, अथवा शास्त्रविहित राजनीतिसम्मत अपने स्वधर्म (चौर्यकर्म)का यथावत् पालन करते हुए रागद्वेषविहीन होकर मुनियोंको

रक्षा करते आये हैं। शमदमादि साधनोंसे सम्पन्न तर्ककुशल श्रद्धेय मुनियोंने उनकी शास्त्रानुयायितासे प्रसन्न होकर वनवासियोंके दुष्टसंसर्गसे बचाकर, शङ्काओं एवं विपरीत भावनाओंको दूर कर उनके हृदयमें शुद्ध प्रीतिका उदय करा दिया जैसा आगेकी चौ० में 'रामहि केवल प्रेम पिआरा'से स्पष्ट है। उदाहरणके लिए सदन कसाई, सुदामामाली आदि स्वधर्मनिष्ठ भक्तोंका भागवतमें चरित्र है। यहाँ ध्यान रखनेकी विशेष बात यह है कि मुनियोंकी अपेक्षया इन वचचरोंको थोड़े समय और कम परिश्रममें भगवत्प्रीतिकी प्राप्ति हुई है। इसमें मुख्य कारण शास्त्र-संस्कृत मनस्पर सत्सङ्गका प्रभाव है।

धर्मनिष्ठापर प्रीति

'जिमि पितु बालक बैन'का भाव है कि जिस प्रकार बालककी टूटी-फूटी तोतली भाषासे प्रसन्न होकर पिता उसका अभिप्राय समझ लेते हैं उसी प्रकार प्रभु जंगली असभ्य कहे जानेवाले उन वनचरोंकी बातें सुनकर प्रसन्न हैं, उनके अभिप्राय (सेवाभाव)को समझ रहे हैं।[1] बालककी उपमासे वनचरोंकी सेवाभावमें परतन्त्रता स्पष्ट की है। 'पितु'से प्रभुकी करूणा, प्रीति एवं संरक्षण व्यक्त है।

चौ०—रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननि हारा ॥१॥

भावार्थ : प्रभु रामको विशुद्ध प्रेम ही प्यारा है अर्थात् वे शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं। इस तत्त्वको समझनेवाले जिज्ञासु इसको अच्छी तरह जान लें।

भगवत्प्रीतिकी प्राप्तिके लिए शास्त्रोंका उपयोग

शा० व्या० : इस जन्ममें या अग्रिम जन्ममें भगवत्प्रीतिका अनुयायी बनाकर ही शास्त्र विश्राम लेते हैं, इसको जाननेवाले ही 'जाननिहारा' हैं। अथवा निष्कपट प्रेम तभी होगा जब सभी कार्य भगवत्प्रीत्यर्थं या 'नारायणाय' भावमें होगा। शास्त्राहित संस्कारसे सुसम्पन्न योगी जबतक अपनी कर्तृता (स्वतन्त्रता)को छोड़कर अन्तःकरणमें शुद्ध प्रीतिका भाव नहीं लाते तबतक वे प्रभुको प्रिय नहीं होते जिसको 'रामहि केवल प्रेम पिआरा'से व्यक्त किया है। इस तत्त्वको जाननेवाले ही 'जाननिहारा' हैं। अतः शुद्ध प्रीतिभाव रखनेवाले इन कोलभीलोंको प्रभुके प्रति प्रीतिमान् देखकर मुनियोंको उनसे असूया नहीं है, न वनवासियोंमें कोई शास्त्र-विरोध दिखायी पड़ता है, इसको 'जान लेउ'से व्यक्त किया है। शास्त्रधर्माचरणसे जिसकी बुद्धिका परिपाक हो गया है उसको जाननिहारा समझना चाहिए। ऐसे प्रीतिमान् भक्त भगवान्की उपलब्धि होनेमें शास्त्रको अन्यथासिद्ध मानकर ठुकराते नहीं, बल्कि अनुजीवियोंको शास्त्रमार्गसे ही भगवत्-प्रीतिमें आनेके लिए प्रेरणा देते हैं।

---

१. चौ० ५ से ८, दो० १३६ में 'हम सब भाँति करब सेवकाई' आदि उक्तियाँ वनचरोंकी स्वधर्मपालनात्मक सेवावृत्तिकी परिचायिका है।

संगति : प्रेम रखनेवालोंपर श्रीरामकी प्रसन्नता दिखा रहे हैं।

चौ०–राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परितोषे ॥२॥

भावार्थ : श्रीरामने उन सब वनचरोंको सन्तुष्ट किया और अपने मृदु बचनसे उनके प्रेमको समृद्ध किया।

प्रीतिमान् वनचरोंपर श्रीरामका अनुग्रह

शा० व्या० : जिस प्रकारके वचनोंसे प्रेमका परिपोषण हो वैसा मृदुवचन श्रीरामने वनवासियोंको कहा। जैसे दोहा ११२में पथवासियोंको 'कहि विनीत मृदुबैन'से ज्योतिष-शास्त्रके प्रामाण्यस्थापनार्थ सन्तुष्ट करके लौटा दिया, वैसे ही इन वनचरोंको पिताके वचन-प्रमाणके पालनमें गंगाजीके वचन तथा मुनियोंके आशीर्वादसे वनके भयकी निवृत्ति कराकर लौटाया है।

तोष एवं पोष

'तोषे और प्रेम परितोषे'में सन्तोषका मूल यही है कि भगवत् प्रीति प्राप्त हो जानेपर वे जहाँ भी रहेंगे उनके सब कार्य भगवत् प्रीत्यर्थ होते रहेंगे अर्थात्—

'कायेनवाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धयात्मनावाऽनुसृतस्वभावात्।
करोतियद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

के अनुसार स्थितिमें रहेंगे। निष्कर्ष यह है कि शास्त्रादेशको मानकर स्वधर्ममें एकनिष्ठ रहनेवाले उपासकोंको शास्त्र भागवत्-धर्मकी उपलब्धि कराकर सन्तुष्ट कर देता है। 'सकल तोषे'से श्रीरामका प्रभुत्व सूचित है।

चौ०–बिदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए ॥३॥

भावार्थ : प्रभुने सबको सन्तुष्ट करके विदा कर दिया। वे भी नमस्कार करके प्रभुका गुणगान कहते सुनते घरको लौट आये।

श्रीरामकी निरपेक्षता

शा० व्या० : स्पष्ट है कि इन वनचरोंसे कोई सेवा या सुविधा प्राप्त करनेमें श्रीराम निरपेक्ष हैं। इस प्रकार राजनीतिमें कही 'विष्टि'के उपयोगमें श्रीरामकी उदासीनता स्पष्ट है। प्रभुके कार्यमें जिनका विनियोग नहीं है उनको स्वधर्ममें प्रवृत्त रहकर घरमें रहना ही इष्ट है। इसी प्रकारकी शिक्षा देकर श्रीरामने अपने कार्यमें जहाँतक गुहकी सेवा इष्ट थी उतना कार्य हो जानेपर गुहको लौटा दिया जैसा दोहा १११ की व्याख्यामें कहा गया है।

चर्चा विषय

'प्रभुगुन कहत सुनत घर आए'में चर्चाका विषय उसी प्रकारका समझना चाहिए जैसा बालसखाओंके सम्बन्धमें 'फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई'के प्रसंगमें चौ० ४ से ६ दोहा २४ में वर्णित है।

संगति : कैकेयीके वचन 'तापस वेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी'के अनुसार वनवासकी इतिकर्तव्यताको 'एहिविधि'से स्पष्ट किया है।

चौ०–एहि बिधि सिय समेत दोउ भाई। बसहि बिपिन सुर मुनि सुखदाई ॥४॥

भावार्थ : इस प्रकार सीताजीके साथ दोनों भाई वनवास करते हुए सुर-मुनियोंको सुख दे रहे हैं।

प्रभुका व्रतनिर्वाह

शा० व्या० : जिस प्रकार वाल्मीकि मुनि द्वारा निर्दिष्ट वनवाससेति विधिको अपनाते हुए एवं प्रभुने चित्रकूट-निवासमें शमदमादिसे युक्त हो मुनिव्रतका निर्वाह करते हुए साधनचतुष्टयसंपत्तिके साथ उदासीनतामें रहते वनवास किया उसको कवि 'एहि विधि'के अन्तर्गत वर्णन करते प्रभुका सुखदातृत्व प्रकट करेंगे।

संगति : प्रभुके वनवासका प्रकार 'एहि विधि'से आरम्भ करके कवि इस प्रसंगको चौ० ३ दो० १४२में समाप्त करेंगे।

पार्वतीके प्रश्न 'बन बस कीन्हे चरित अपारा' (चौ० ७ दो० ११० बा० का०) के अन्तर्गत शिवजी प्रभुकी वनवासविधि सुना रहे हैं।

चौ०–जब ते आइ रहे रघुनायकु। तब ते भयउ बनु मंगलदायकु ॥५॥

भावार्थ : जबसे रघुनाथजी चित्रकूटमें आकर रहने लगे तबसे वह वन मंगल देनेवाला हो गया।

वनवासविधि

शा० व्या० : चौ० ५ दो० १२५में वाल्मीकि मुनिका कहा प्रभुका मंगलमूर्तित्व तथा चौ० २ दो० १३२में कहा प्रभुके आश्रमका सुखदायकत्व प्रभुके चित्रकूट-निवाससे कवि प्रकट कर रहें हैं।

संगति : रामनिवाससे वनचरोंमें चौर्य, उत्कोच आदिका अवरुद्ध होना, पशुओंमें हिंसाभाव समाप्त होना, प्रकृतिकी प्रसन्नतामें वन, नदी, नद, पर्वत आदिकी विशेष सुषमा, वनस्पति वृक्षादिका फूलना फलना आदि मंगलोंका वर्णन आगे हो रहा है।

चौ०–फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना ॥६॥
सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाए। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए ॥७॥
गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी ॥८॥

भावार्थ : अनेक प्रकारके पेड़ फूल फल रहे हैं, उनपर चढ़ी बेललताएँ ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानो श्रेष्ठ मण्डप सजा हो। ये वृक्ष कल्पतरुके समान स्वाभाविक सुशोभित हो रहे हैं मानो नन्दनवन[1] (स्वर्गलोकका देववन)को छोड़कर

---

१. पुराणोंमें नन्दनवन, चैत्ररथ, बिभ्राजक और सर्वतोभद्र—ये चार देववन प्रसिद्ध हैं। ये वन सुमेरु पर्वतके तटवर्ती क्षेत्र मेरुमन्दर, मन्दर, सुपार्श्व और कुमुदमें स्थित हैं।

यहाँ आ गये हों। भौरोंकी पंक्तियाँ गुञ्जार करती हुई शोभाको अधिक बढ़ा रही हैं। शीतल मन्द सुगन्ध तीनों प्रकारकी हवा सुखदायिनी रूपमें बह रही है।

वनराज्यमें मंगल

शा० व्या० : कृषिशास्त्रके अनुसार शमदमादि संपत्तिसे युक्त स्नेहशीलवान् व्यक्तिके स्नेहमय संसर्गसे वनस्पति प्रसन्न हो जाती है, जो 'जब ते आइ रहे रघुनायक'से स्पष्ट किया है। फल फूलसे सम्पन्न चित्रकूटके वनकी शोभा भौरोंके गुञ्जन और पक्षियोंके कलरवसे ध्वनित हो रही है जिसका परिचय अयोध्यावासी भरतसमाजको चित्रकूट आनेपर होगा। 'सुरतरु'से स्पष्ट किया है कि उतने बड़े अयोध्या-मिथिलावासी समाजको जितनी भी फल फूलकी आवश्यकता होगी, सबकी पूर्ति इन वृक्षोंसे होनेमें कोई कमी नहीं होगी—यही इनकी सुरतरु-सरिसता है। 'सुभायँ'का भाव है कि ऋतुओंका ऐसा परिष्कार हुआ जिससे सब प्रकारके पेड़ फल-फूलसे सुशोभित हो हो गये हैं। अग्रिम दोहे चौ० ३ के अनुसार 'बिबुध बन परिहरि आए'से इन वृक्षोंका कल्पतरुत्व समन्वित है।

दो०-नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चितचोर ॥१३७॥

भावार्थ : नीलकण्ठ, कोयल, सुग्गा, चातक, चकवा, पपीहा आदि पक्षी तरह-तरहकी बोली बोल रहे हैं जो कानोंको सुख देती हैं और मनस्‌को चुरा लेती हैं।

चित्तचोर

शा० व्या० : पक्षियोंके कलरवसे उनकी प्रसन्नता व्यक्त होती है जो श्रवण-सुखद होनेके अतिरिक्त मंगलसूचक भी मानी जाती है। 'चितचोर से प्रभुके सान्निध्यका आकर्षण भी सूचित है।

चौ०—करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिहरहिं सब संगा ॥१॥
फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगवृंद बिसेषी ॥२॥

भावार्थ : हाथी, शेर, बन्दर, जंगली सुअर, हरिण आदि पशु—सब एक साथ वैरभावको छोड़कर घूमते हैं। वे शिकारके लिए घूमते श्रीरामकी सुन्दरताको देखते हैं। उनमें विशेष करके हरिणोंका समुदाय तो और भी प्रसन्न हो रहा है।

प्रभुका दयाभाव

शा० व्या० : क्षत्रिय जात्युचित मृगयाके अभ्यासमें धनुर्धारी श्रीरामको घूमते हुए देखकर भी मृगपशु भयभीत नहीं हैं क्योंकि मुनिव्रत, अहिंसाव्रत, क्षात्रधर्म (रक्षण)में स्थित वनराज्यकी व्यवस्थामें तत्पर श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर वे प्रसन्न हो आपसके वैरको त्यागकर मित्रता-भावमें आ गये हैं। हरिणोंकी विशेष प्रसन्नता श्रीरामके विशिष्ट हिरणके समान नेत्रोंको देखकर है।

संगति : प्रभुके प्रसादसे आयी विशेषताको पशु पक्षी वनस्पति आदिमें देखकर गण्यमान्य वन, पर्वत, नदी आदि तथा देवता भी उनकी प्रशंसा कर रहे हैं।

चौ०–बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं। देखि रामबनु सकल सिहाहीं ॥३॥
सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥४॥
सब सर सिन्धु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना ॥५॥
उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मन्दर मेरु सकल सुरबासू ॥६॥
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते ॥७॥
बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥८॥

भावार्थ : जगत्में जितने देवताओंके वन हैं वे श्रीरामके चित्रकूटस्थवनकी शोभाको देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं। गंगा, सरस्वती, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि पुण्यमयी माने जानेवाली नदियाँ और जितने भी ताल, नदी, नद, समुद्र आदि हैं, सब मन्दाकिनी नदीकी प्रशंसा करते हैं। उदयगिरि, अस्ताचल, कैलाश, मन्दाराचल, मेरु पर्वत जहाँ सब देवताओंका वास है, हिमालय आदि जितने भी पर्वत हैं, वे सब चित्रकूट पहाड़का यशस् गाते हैं। विन्ध्याचलका पर्वत मनस्में इतना प्रसन्न है कि वह सुख उसके मनस्में समा नहीं रहा है क्योंकि बिना प्रयास इतना बड़प्पन प्राप्त हुआ है।

चित्रकूटकी महत्ता

शा० व्या० : नीतिसिद्धान्तके अनुसार आत्मगुणसम्पन्न नीतिमान् सन्त महात्मा जहाँ रहते हैं वहाँ सब प्रकारका मंगल होता है। उनकी संस्कृतमयीचेष्टात्मक भाषाके प्रभावसे वहाँके पशुपक्षियोंमें मैत्री-भाव, प्रकृतिकी प्रसन्नतासे वृक्षोंका फूलना-फलना, स्थानीय नदी पर्वत आदिकी रमणीयता फलित होती हैं। वे जिसको भी अपना लेते हैं उसकी महत्ता बढ़ जाती है। बड़ोंकी छत्रछायामें छोटोंकी भी प्रशंसा हो जाती है। श्रीरामके चित्रकूट-निवाससे वहाँ यही हुआ जैसा उपरोक्त चौपाइयोंमें कहा है। द्रव्य-प्रकृतिहीन होनेपर भी आत्मगुण सम्पन्न श्रीरामकी श्रीसम्पन्नता उनके सान्निध्यसे चित्रकूटके चर-अचर जीवोंमें दिखायी पड़ रही है।

संगति : "दूरे सन्तोऽपि मानवाः प्रिया भवन्ति लोकस्य"के अनुसार सभी स्तुति कर रहे हैं।

दो०–चित्रकूटके विहग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुण्यपुञ्ज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति ॥१३८॥

भावार्थ : चित्रकूटके पक्षी, पशु, वृक्ष, लता, तृण आदिकी जितनी जातियाँ हैं उन सबको देवगण निरन्तर धन्य और पुण्यपुञ्ज कहकर प्रशंसा करते हैं।

धन्यताका नाद

शा० व्या० : 'दिन राति'का भाव है कि देवता उनको सदाके लिए धन्य मानते हैं जिस प्रकार देवोंने चौ० ८ दो० १०१में केवटके पुण्य का गान किया।

संगति : पारमर्थिक सुखके अधिकारी चित्रकूटके मानव ही नहीं, समस्त अचर जीव भी हैं।

चौ०–नयनवन्त रघुबरहिं बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी ॥१॥
परसि चरन रज अचर सुखारी। भए परमपदके अधिकारी ॥२॥

भावार्थ : नेत्रवाले जीव (पशु पक्षी मानव) रघुनाथ श्रीरामजीको देखकर शोकरहित हो सफलजन्म हो गये। अचर जीव (नदी, पर्वत, भूमि, वृक्ष आदि) प्रभुके चरणरजस्पर्शसे सुखी हो परमपदके योग्य बन गये।

जीवोंकी सफलता

शा० व्या० : वेदान्तमें चर-अचर सबको जीव माना गया है। पूर्वोक्त दो० १३८ से स्पष्ट है कि पूर्वजन्मके सुकृतसे पशु-पक्षी तथा अचर वृक्षादि पुण्यपुञ्ज होकर चित्रकूटमें बैठे थे। उनकी पुण्यपुञ्जता प्रभुके चरणरजस्के स्पर्शसे पूर्ण हो गयी। 'नयनवन्त'से मुख्यतया मानव विवक्षित हैं। मनुष्य-जन्मका फल भगवत्प्राप्ति ही है। इस फलको पाकर वनचरोंका जीवन सार्थक हो गया।

नीतिमान्का रक्षकत्व

सिद्धान्तरूपमें वक्तव्य है कि सन्त महात्माओंका दर्शन-स्पर्श पाकर चर-अचर दोनोंका उद्धार होता है। शिवजी नीतिके मूल सिद्धान्तको यहाँ प्रकट कर रहे हैं। नीतिमान् महात्मा-भक्तोंका सम्बन्ध जिनको प्राप्त हो जाता है वे इहलोक में धन्य होकर पारमार्थिक सुखके अधिकारी बन जाते हैं। सन्तोंमें ऐसा गुण है जिसके संक्रमणसे जीव शोकसे निर्मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानवृद्ध महात्मा अपने चरित्रसे इन्द्रियोंको 'नय'की ओर ले जाकर क्रियाशीलताकी शिक्षा देते हैं। सन्तोंके चरण-धूलिके स्पर्शसे उनके अन्तर्वर्ती तेजस्की किरणें उपलब्ध होती हैं जो उपासकोंको निर्दुष्ट बनाकर विनय, प्रतिभा आदि गुणोंसे सम्पन्न बनाती हैं जिससे मदमानका सहज ही नाश हो जाता है। फलतः दर्शन-स्पर्शन करनेवाले परमपदप्राप्तिके अधिकारी बनते हैं।

शोकसे पार होनेका उपाय

उपर्युक्त रामचरितमें यही दर्शाया गया है। 'होहिं बिसोकी'में शोककी व्याख्या 'प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशसहिष्णुत्व लक्षण द्वेषवासना शोकः'के अनुसार महामहिम श्रीराम अपने चरित्रसे समझाते हैं कि 'पुत्र कलत्र'आदिपर राग रखनेका परिणाम दुःख है। इनपर प्रीति न रखकर कर्तव्य-पथमें दृढ़ रहनेसे जीवन सुखमय होता है। रामचरित्रसे विशेषतया विनयकी शिक्षा मिलती है।

संगति : पञ्चमहाभूतोंके गुणोंसे चित्रकूटका वातावरण श्रीरामके सान्निध्यसे समृद्ध हो मंगलमय हो रहा है जिसका वर्णन कवि कर रहे हैं।

चौ०—सो बनु सैलु सुभाँय सुहावन। मंगलमय अतिपावनपावन ॥३॥
महिमा कहिअ कवन बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥४॥

भावार्थ : चित्रकूटका वन और पहाड़ ऐसा स्वाभाविक शोभायमान हो रहा है जो मंगलसे पूर्ण और पवित्रतमोंको भी पवित्र करनेवाला है उसकी महिमाको किस प्रकार कहा जाय? सुखके समुद्र प्रभुने जहाँ स्वयं निवास किया है (उसकी महिमा नहीं कही जा सकती)।

अशुचिताका नाश सन्तोंके द्वारा

शा० व्या० : 'सुभाय'का भाव है कि चित्रकूटके वन-पर्वत पञ्चमहाभूतकी प्रसन्नतासे स्वाभाविक सौन्दर्यसे पूर्ण हैं। 'पावन पावन'का भाव है कि जो स्वयं शुचि होते हुए दूसरोंको शुचि बनानेका सामर्थ्य रखता है। ऐसे शुचिको भी बनाने वाला 'अतिपावनपावन' है। स्नानार्थियोंके मलको अपने जलमें लेनेवाली अन्य नदियोंको शुचि बनानेवाली गंगा 'पावन पावन' है और गंगामें आयी अशुचिताको सन्तमहात्मा अपने स्नानसे दूर करते हैं, यह 'अति पावन पावनता' कही जायगी। कहनेका निष्कर्ष है कि अशुचिकी अशुचिता शुचिके पास जाती है और शुचि उस अशुचिताको पावन-पावन सन्तको समर्पण कर देता है, सन्त उस अशुचिताको पावनके भी परम पावन प्रभुमें निमग्न कराकर उसे भस्म करते हैं।

पावन-पावनत्व

चित्रकूट ऋषि-मुनियोंसे सेव्य होनेसे पवित्र स्थल तो था ही, अब प्रभु श्रीरामके समाश्रयसे 'पावन पावन' हो गया। उसमें निवास करनेसे पावन ऋषि-मुनि भी अपनेको पवित्र मान रहे हैं, यही चित्रकूटका 'अति पावनपावनत्व' है। यह विशेषता अन्तिम चौपाईयोंकी व्याख्यामें सुस्पष्ट है।

चित्रकूटकी महिमाकी अवर्णनीयता

सुखस्वरूप जहाँ स्वयं निवास करें उसके अद्भुतांशका क्या वर्णन किया जाय? सन्त-महात्मा बुलानेसे जल्दी आते नहीं। यदि किसी विधिसे आ जायँ तो उस विधिका वर्णन हो सकता है। चित्रकूटमें प्रभु स्वयं आकर निवास कर रहे हैं तो किसी विधिका वर्णन नहीं हो सकता, इसलिए प्रभुनिवाससे युक्त चित्रकूटकी महिमाको 'कहिअ कवन बिधि'से अवर्णनीय कहा है।

संगति : स्वयं आकर चित्रकूटमें प्रभुके निवास करनेसे उनकी महिमाको कवि थोड़ा सा स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई ॥५॥

भावार्थ : क्षीरसागर और अयोध्याको छोड़कर जहाँ प्रभु श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजीके साथ आकर निवास करते हैं उस चित्रकूटकी महिमा कैसे गायी जाय।

चित्रकूटका उत्कर्ष—क्षीरसागर और अवधसे अधिक

शा० व्या० : बालकाण्ड चौ० २ दो० १८५में देवताओंने 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई'से प्रभुका निवास क्षीरसिन्धुमें कहा है। लक्ष्मीका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है। जहाँ साक्षात् लक्ष्मी प्रभुकी सेवामें निरन्तर लगी रहती है उस क्षीरसागरको छोड़कर देवताओंकी प्रार्थना पर प्रभुने 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर वंस उदारा' (चौ० २ दो० १८९ बा. का.)के अनुसार सूर्यवंशमें मनुष्यरूपमें अवतार लिया। चौ० १ से ३ दो० १६ (बा० का०)में कविने अवधकी पावनताकी वन्दना की है। अवधके राजा दशरथ और उनकी पुनीता रानियोंका प्रभुपादमें प्रेम चौ० ९-८ दो० १८८में गाया है। उस अवध-राज्यका वैभव 'वह सुख सम्पति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा'से स्पष्ट है। ऐसे अवधराज्यके सुख-सम्पत्तिको भी छोड़कर स्वयं वनवास स्वीकार करके श्रीरामने (अंसन्ह सहित) सीता लक्ष्मणजीके साथ वनमें आकर चित्रकूटमें निवास किया। अतः चित्रकूटकी महिमा क्षीरसागर और अवधसे भी उत्कृष्ट हो गयी जिसकी उपपत्ति इस प्रकार है—

चित्रकूटमें अधिकत्वकी उपपत्ति

क्षीर सागर और अवधकी अपेक्षा ऋषिकुलाध्यवसित चित्रकूट-वनकी विशेषता अधिक है। दो० ४१में प्रभुकी उक्ति 'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर। तेहि महँ पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी तोर'के अनुसार ऋषि-मुनियोंके मिलन-सत्सङ्गसे विद्या-शम-सन्तोषजन्य जो सुख चित्रकूटवासमें प्राप्त है वह क्षीर सागर और अयोध्यामें नहीं है। उक्त सुखकी विशेषताके अतिरिक्त चित्रकूटवाससे 'हित मोर'से समन्वित प्रभुके अवतारकार्यका हित साधन सम्पन्न होगा, जैसे 'पितु आयसु'से वचनका प्रामाण्य सिद्ध होगा, 'संमत जननी'से 'देवहित' अर्थात् देवों द्वारा प्रेरित सरस्वतीने जो कार्य कैकेयीके माध्यमसे कराया है वह भी पूर्ण होगा। इस प्रयोजनोंकी विशेषताको ध्यानमें रखकर कविने 'पय पयोधि तजि अवध बिहाई' कहकर चित्रकूटकी महत्ता दर्शाते हुए पूर्वमें कहे 'मङ्गलमय अति पावन पावन' को स्पष्ट किया है।

संगति : चित्रकूटकी महिमाकी अवर्णनीयता कवि गा रहे हैं।

चौ०—कहि न सकहिं सुषमा जस कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन ॥६॥
सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मन्दर लेहीं ॥७॥

भावार्थ : यदि सौ हजार शेषनाग भी हो जायँ तो भी वे चित्रकूट वनकी शोभा नहीं गा सकते। उस शोभाका वर्णन कवि किस प्रकारसे कर सकते हैं। कहीं गढ़हैयाका कछुआ मन्दराचलको उठा सकता है ?

वर्णनके भेदकी अपूर्णता

शा० व्या० : जैसे 'चन्द्रालोक' ग्रन्थमें व्यंजनाके अनेक प्रकार बताये गये हैं,

वैसे ही 'बरनि कहौं विधि केही'से यह भाव व्यक्त होता है कि व्यंजनाकी सब विधियोंसे चित्रकूटवनकी शोभाको वर्णन किया जाय तो भी वह न्यून ही होगा। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-इन तीन अवस्थाओंमें शिवजी सुषुप्तिके अधिष्ठातृ देवता हैं। कवि (शिवजी) कह रहे हैं कि इस आंशिक अवस्थामें रहते हुए वे उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, अथवा 'मैं'से ग्रन्थकार अपनेको ग्राम्यागिरा'का सामान्य कवि कहकर वर्णन करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे हैं जिसको 'डाबर कमठ कि मन्दर लेहीं'के दृष्टान्तसे कहा है।

'वह सुख सम्पति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा'से स्पष्ट है कि अवधकी महिमा शेषनाग वर्णन नहीं कर सकते तो 'पय पयोधि तजि अवध बिहाई'से कही चित्रकूटकी श्रेष्ठतर महिमाको हजारों शेषनाग द्वारा वर्णन न कर सकना युक्तियुक्त कहा जायगा।

संगति : वनकी महत्ता गा कर तीनोंका वनवास शोकरहित सम्पन्न होकर चित्रकूटमें शोभाके रूपमें किस प्रकार प्रतिफलित हुआ यह समझा रहे हैं। प्रथमतः दोहा ७२के अन्तर्गत लक्ष्मणजीकी उक्तियोंकी वास्तविकता उनकी कृतिसे दिखा रहे हैं।

चौ०—सेवहिं लखनु करम मन बानी। जाइ न सीलु सनेहु बखानी ॥८॥

दो०—छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बन्धु मातु पितु गेहु ॥१३९॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी प्रभुकी सेवा कर्म मन एवं वचनसे करते हैं। उनका शील-स्नेह कहा नहीं जा सकता। निरन्तर सीतारामके चरणों देखते हुए और उन दोनोंका प्रेम अपने प्रति जानकर लक्ष्मणजी सेवाभावमें ऐसे तल्लीन हैं कि स्वप्नमें भी भाई, माता, पिता एवं घरकी याद नहीं करते।

शील-स्नेह

शा० व्या० : जिस गुणकी प्रशंसा महात्मा-साधु मुक्तकंठसे करें वही 'शील' माना गया है।[1] स्नेह चित्तकी स्निग्ध वृत्ति है। 'जानि आपु पर नेहु'का भाव है कि ममताम्पन्न चित्तवृत्तिके द्रवीभावमें स्वामीके प्रति भय या शंका न हो अथवा सेवा करते हुए दुःखका अनुभव न होकर सुखका भान रहे तथा सेवकके हृदयमें स्वामीके प्रति 'अयं (ममः) हितसाधनं हितं च'का भाव निरन्तर बना रहे। लक्ष्मणजोमें उपर्युक्त गुणोंको 'सीलु सनेहु'से व्यक्त किया है।

सुमित्राके उपदेशकी सार्थकता

माता सुमित्राके उपदेशकी[2] सार्थकता 'सेवहिं लखनु करम मन बानी'से

---

१. साद्भि-संभावनीयनाहेतु गुंणः शीलम्
२. सकल प्रकार विकार बिहाई। मनक्रम बचन करेहु सेवकाई।

स्पष्ट हो रही है। लक्ष्मणजीके वचन 'जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई। मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी'से समन्वित माता सुमित्राके उपदेश 'तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही'का कार्यान्वयन उक्त दोहेमें लक्ष्मणजीकी सेवामें पूर्ण है।

सेवाका स्वरूप

सेवाका वास्तविक स्वरूप यही है कि सेवक सेवामें इतना आनन्दित हो जाय कि सेवाके आलंबनको छोड़कर दूसरे किसी भी सांसारिककी ममताप्रयुक्त सम्बन्धसे याद ही न करे। सीतारामकी सेवामें लक्ष्मणजीकी तन्मयताको उक्त दोहेके उत्तरार्धमें स्फुट किया है।

मौलका सान्निध्य

नीतिसिद्धान्तके अनुसार मौल बन्धु ही स्वामीके विपत्ति-संपत्तिमें चिरकाल तक सहायक बने रहनेमें स्थिर होता है।[1] स्वामीकी पूर्ण प्रीतिको लखकर शुचि सेवकके हृदयमें धैर्यका उदय होता है। लक्ष्मणजीके हृदयमें ऐसा धैर्य शिशुपनसे स्वभावतः ही है—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी"। उसीको कविने 'लखि जानि आपु पर नेह'से स्फुट किया है।

संगति : अंगांगि-भावमें संघटन अभेद्य होता है। अर्थशास्त्रोक्त स्वामी-सेवक भावको प्रकाशित करते हुए सेवककी वृत्तिका वर्णन पहले किया है। सेवकके प्रति स्वामीकी वृत्ति बादमें कही जायगी। इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें कवि लक्ष्मणकी सेवावृत्ति दर्शाकर आगे सीताका सेवाभाव दिखा रहे हैं।

चौ०–राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ॥१॥
छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी ॥२॥
नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ॥३॥

भावार्थ : अपने नगर, घर और सगे-संबंधियोंकी यादको भूलकर सीताजी श्रीरामके साथ सुखपूर्वक रहती हैं। अपने प्रेमीका चन्द्रमुख निरन्तर देखते ऐसी प्रसन्न रहती हैं मानो चकोरी चन्द्रमाको देखकर प्रसन्न हो। पतिका प्रेम नित्य बढ़ते देखकर और ज्यादा हर्षित हैं मानो दिनमें चकवी चकवाका साथ पाकर हर्षमें भरी हो।

सीताके रतिभावमें चकोरी-कोकीका दृष्टान्त

शा० व्या० : अङ्गाङ्गिभावमें स्वमिसेवक प्रयुक्त प्रीति सीता और लक्ष्मणमें समान है पर रतिभावप्रयुक्त प्रीति सीतामें विशेष है, जिसको कवि यहाँ 'चकोर-कुमारी और कोकी'की उपमासे व्यक्त कर रहे हैं। चकवीको रात्रिमें चकवासे

---

1. मौलाश्चदीर्घकालत्वम् क्षयव्ययमहिष्णवः।

बिछोह हो जाता है। अतः वह दिनमें चकवाका साथ पाकर प्रसन्न रहती है। चकोरीका प्रेमी चन्द्रमा है जो दिनमें दिखायी नहीं देता, अतः वह रात्रिमें प्रसन्न रहती है। कोकी या चकोरीके समान सीताकी प्रीतिके उत्कर्षमें व्यवधान नहीं है, इसको 'छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी'से स्पष्ट करते हुए सीताके प्रीतिजन्य सुखका नैरन्तर्य दिखाया है। घरमें पतिके श्रीमुखको देखनेका नैरन्तर्य नहीं था, वह यहाँ सुलभ है, यही सुखकी अधिकता है। इसमें कालके अतिरिक्त परिजन गृहका भी व्यवधान नहीं है। अयोध्यामें पतिसे कहे सम्वादमें (चौ० ८ दो० ६४ से दो० ६९ तक) सीताके पतिप्रेमकी निरुपाधिकता अप्रकट रह जाती तो रसिकोंके लिए आस्वाद्य न हो पाती इसलिए वनवासमें पतिका सान्निध्य अबाधरूपमें प्राप्त होनेपर कवि सीताके सेवाप्रयुक्त रतिसुखके अमित आनन्द वर्णन कर रहे हैं।

प्रीतिमें अकृत्रिमभाव

सेवामें धैर्यके उदयके विषयमें जैसा पूर्वमें लक्ष्मणजीके बारेमें कहा गया है उसी प्रकार सीताका सेवाप्रयुक्त धैर्य वृद्धिगत है। प्रीतिमें जुगुप्सा, आलस्य और त्रास नहीं रहता। पातिव्रत्यधर्मकी प्रशंसनीय प्रीतिमें एकनिष्ठाका मूलकारण निष्कपट विश्वास्यता है जो नीतिमें सन्धिका आदर्श माना जाता है। पातिव्रत्य-सहचरित प्रीतिमें निराकांक्ष सेवाभाव रहनेसे सोपाधिकत्त्व (कृत्रिमता) नहीं है। सेवामें तत्पर रहना सेवककी मर्यादा है। और सेवकके प्रति स्नेहवान् रहना स्वामीकी मर्यादा है। इस प्रकार दोनों अपनी-अपनी मर्यादामें रहते कोई आकांक्षा नहीं रखते तो दोनोंकी स्वतन्त्रतामें बाधा नहीं है और साथ ही दोनों अपनेको स्वतन्त्र भी नहीं समझते। यही निरुपाधिक प्रीतिका लक्षण है जिसको कवि दो० १४१ के अन्तर्गत चौपाइयोंमें स्वामी श्रीरामकी प्रीति और सेवक सीता व लक्ष्मणजीके सेवकत्वप्रयुक्त प्रीतिमें स्पष्ट करेंगे।

सीताके 'पुर परिजन गृह'का सम्बन्ध अयोध्या एवं मिथिला दोनोंसे विवक्षित समझना संगत होगा, जैसा कि दो० ९७ से ९८ तक सुमन्त्रसे कहे सन्देशमें सीताने पितृगृह और श्वशुरगृह दोनोंका उल्लेख किया है।

संगति : दो० ६५ से ६७ तक सीताने जो पतिप्रेमयुक्तवचन कहे थे उसकी यथार्थता कवि यहाँ दिखा रहे हैं।

चौ०—सियमनु रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ॥४॥
परनकुटी प्रिय प्रियतमसंगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा ॥५॥
सास-ससुरसम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअसम कंद मूल फर ॥६॥
नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयनसयसम सुखदाई ॥७॥

भावार्थ : रामचरणोंकी प्रीतिमें सीताका मनस् लगा है। सैकड़ों अवधके समान वन सीताको प्रिय लग रहा है। प्रियतम पतिके साथ पर्णकुटी अत्यन्त प्रिय लगती है। और यहाँके मृगपक्षी परिवारके समान प्रिय लगते हैं। मुनिगण और मुनि-

पत्नियां श्वशुर-सासके समान लगते हैं। कंदमूल-फलका भोजन अमृतके समान लगता है। कुसपातकी शैया पतिके साथ रहनेसे सैकड़ों कामदेवकी सेजके समान सुख देनेवाली लगती हैं।

धर्मानुबद्ध प्रीतिमें कामनाका अभाव

शा० व्या० : धर्मकी शुचितामें आबद्ध प्रेम कामुकताकी ओर नहीं ले जाता। एसी शुचितासे सम्पन्न पति-पत्नी एकत्र निवास करते हुए भी विषयभोगके आकांक्षी नहीं होते, फिर सीताराम तो शुद्ध प्रेमके प्रतीक हैं, उनके प्रीतिजन्य सुखके बारेमें क्या कहा जाय ?

भोगमें तृष्णाकी वृद्धि शुचितामें तृष्णाशून्यता

विषयभोगके बारेमें कुछ विद्वानोंका कहना है कि अतिरंजित भोगसे विषय-अभिलाषा समाप्त हो जाती है। पूछना यह है कि क्या भविष्यत्में भी विषयतृष्णा नहीं रहेगी ? इसके उत्तरमें कहना है कि विषयशून्यता या इन्द्रिय-शैथिल्य या 'भोगे रोगभयं'के अनुसार रोगग्रस्तता हो सकती है, विषय तृष्णाका अभाव नहीं कहा जा सकता। शास्त्रोंमें तृष्णाको मर्यादित करनेके लिए धर्मविधानकी उपयोगिता मानी गयी है। विषय सर्वथा परित्याज्य नहीं हैं, अपितु प्रभुके आदेश (शास्त्रविधानों)से अनुशासित होकर मर्यादित भोग ग्राह्य हैं इसको प्रतिपत्ति कहा गया है। धर्मविधानके अन्तर्गत शुचिताके अभ्याससे विषयोंके प्रति घृणाका भाव (जगुप्सा) उदित होता है। घृणा बीभत्सका स्थायिभाव माना गया है। बीभत्सके रहते घृणित पदार्थ या विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही सिद्धान्त भारतीयराजनीतिका प्राण है जिसको अपनाये विना अर्थशुचिता असम्भव है।

सीता स्त्रीप्रकृति है, पतिके सात्विकता-प्रभासे आच्छादिता है। उसको पतिके विपरीत कार्य करनेमें घृणा है। कर्तव्यनिष्ठामें पतिके प्रति विश्वास है। पातिव्रत्य-धर्ममें नियन्त्रित होनेसे उसमें अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष-अभिनिवेशात्मक क्लेशका अभाव है जो सुमन्त्रसे कहे सीताके वचन ('नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरे')से स्पष्ट है। सिद्धान्तसमन्वित उक्त निर्णयमें तर्ककी पद्धति इस प्रकार होगी—'सीतायाः हृदि यदि द्वेषः स्यात् तर्हि सा सिंहान् दृष्ट्वा बिभीयात्। पूज्येषु—पूज्यत्वबुद्धिमती न स्यात् तर्हि मुनितत्स्त्रियः प्रति आदृता न स्यात्। आत्मीयत्वेन सा सर्वत्र प्रीतिमती न स्यात् तर्हि कुरंगादिषु तथाविधा बुद्धि स्तस्यान्नोदीयात्। विषयेषु सा यदि तृष्णालुः स्यात् तर्हि पर्णशय्याया विरज्येत। सा यदि भूमिगृहादावनुरक्ता स्यात् तर्हि पर्णकुटीं दृष्ट्वा अन्यमनस्का भवेत्'।

राजनीतिक जीवनके आदर्शको दृष्टिमें रखते कहना है कि उक्त विवेचन सीता और लक्ष्मणजीके लिए ही पर्याप्त न मानकर प्रभुके अनुगामी उपासकमात्रके लिए उनका चरित्र अनुकरणीय है।

संगति : पतिसेवामें तत्परा सीताजीको कोई कामना नहीं है, इसकी पुष्टि आगे कर रहे हैं।

चौ०—लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक विषय विलासू ॥८॥

भावार्थ : जिसकी कृपाकटाक्षसे लोकपाल हो जाते हैं, उस सीताको क्या विषयविलास (भोगैश्वर्य) मोहित करसकता है ?

लक्ष्मण और सीताजीके चरित्रका संक्रमण

शा० व्या० : गंगाजीके अपौरुषेय वचनोंसे[1] सीताजोकी योग्यता प्रमाणित है। पातिव्रत्य धर्ममें परायणा सीताकी निष्कामता पूर्वोक्त चौपाइयोंमें 'रामसंग सिय रहति सुखारी' आदिसे सेवाकी यथार्थता स्पष्ट की है। चित्रकूट यात्रामें (चौ० ३ दो० १८९ से चौ० ४ दो० २०० तक) भरतजी भी सीता और लक्ष्मणजीके कामना-निरपेक्ष सेवाकी सराहना करते हुए अपनेमें ग्लानिका अनुभव करेंगे और भरद्वाज ऋषिद्वारा प्रदत्त दिव्य भोगसामग्रियोंके प्रति निरपेक्ष रहनेमें सेवकके धैर्यका आदर्श उपस्थापित करेंगे।

भगवद्-उपासकोंको विषयोंके अल्पांश सुखका भी अनुभव नहीं होता। इसमें विषयोंके प्रति राग या द्वेष नहीं है। बल्कि विषयोंको उपेक्षित करते रहने से उनके विलासका आकर्षण नहीं है। जैसा भरतचरित्रकी फलश्रुति गाते हुए कविने 'अवसि होइ भवरसविरति'से स्पष्ट किया है।

इच्छाकी प्रतिबन्धक या विनाशक सिद्धि है अर्थात् इच्छित पदार्थ प्राप्त होते ही फिर उसकी इच्छा नही रहती, अपितु वैषयिक कामना रखनेवालेको विषयसंसर्ग होनेपर तात्कालिक सुखकी प्राप्ति होती है पर अनानन्दतापादक आवरण होते ही वह फिर विषयसंसर्गकी कामना करता है।

संगति : प्रभुके उपासकोंको कोई पदार्थ अलभ्य या दुर्लभ नहीं है। अतः उनकी दृष्टिमें सब पदार्थ सिद्ध ही हैं। विषयोंके प्रति उनकी सहज उदासीनता रहती है जैसा आगे कवि कह रहे हैं।

दो०—सुमिरत रामहि तजहि जन तृन सम विषयबिलासु।
रामप्रिया जगजननि सिय कछु न आचरजु तासु ॥१४०॥

भावार्थ : श्रीरामका भजन स्मरण करते हुए प्रभुके उपासक भोगविलासको तिनकेके समान तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं (क्योंकि अन्तःकरणमें विषयकी कामना है हो नहीं)। सीताजी प्रभुकी प्रिया हैं और जगतकी जननी हैं जैसा 'उद्भवस्थिति

---

१. सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तब प्रभाव जगबिदित न केही ? ॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे ॥
—चौ० ३-४ दो० १०३

संहारकारिणीं'के अनुसार सीताका स्वरूप बताया है। अतः उनके जागतिकविषय-विलासके त्यागमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

विषयकी वांछा न होनेकी उपपत्ति

शा० व्या० : विषयोपलब्धि पश्वादियोनियोंमें सहज साध्य है। अतः विषयोंके लिए प्रयत्न करना मानवके लिए पुरुषार्थ नहीं माना जाता, किंबहुना उससे परस्परमें कटुता उत्पन्न होती है। इसीलिए अर्थशास्त्रने उसी अर्थके उपार्जनका निर्देश किया है जो 'निरामिष' हो अर्थात् जिसको दूसरे लोभकी दृष्टिसे न देखें। अतः नीतिमान् भगवदुपासक आन्तरिक दोषोंके निरासपर ध्यान रखते गुणोंके अर्जनमें उतना ही अनामिष अर्थ ध्येय समझते हैं जितना भागवतधर्मके अन्तर्गत सेव्य है। अतः भगवदुपासक गुणोंके अभ्युदयके लिए प्रभुको प्रसन्नताको ही उद्दिष्ट मानकर सेवा करते हैं।

उपासकोंमें दोषशंकासमाधान

भगवदुपासक विरागी होते हैं, निष्काम कर्ममें श्रद्धा रखते हैं तो उनको अपनी स्वतन्त्र इच्छा होती ही नहीं ऐसे महात्माओंको यदि कदाचित् कोई इच्छा हो जाय तो क्या उनके सत्वगुणमें दोष या विकृति मानी जायगी ?

इसके समाधानमें कहना है कि सन्त-माहात्माओंकी इच्छाका उदय लोक-कल्याणार्थ देखा जाता है। अर्थात् दया-करुणा द्वारा सांसारिक जीवोंको एक सूत्रमें बांधकर उनको भक्तिपंथ-नीतिपंथमें लानेके लिए है। यह कार्य ईश्वर कभी अपने द्वारा करते हैं कभी भक्तों द्वारा करवाते हैं। जब कोई कार्य भक्तोंके द्वारा कराना होता है तब उनके गुणोंके अनुरूप चेष्टाकी प्रवृत्ति कराकर उस साधुमें विकृति उत्पन्न कराते हैं जैसे सती, नारद, प्रतापभानु आदिमें। सन्तोंकी इच्छा या विकृति ईश्वर द्वारा संचालित होनेसे तत्प्रयुक्तदोषके परिमार्जनमें शास्त्रोक्त प्रथम कल्पको दण्डरूपमें स्वीकार करके वे भक्त पुनः स्व-स्वरूपमें स्थिर हो जाते हैं—चाहे उसी जन्ममें हो या दूसरे जन्ममें।

उपरोक्त कार्यको शम्भुप्रिया सतीने 'मातु भवानी'के रूपमें व्यतिरेक द्वारा यह दिखाया कि स्वामीका अप्रिय करनेसे क्या गति होती है ? रामप्रिया सीताजीके रूपमें 'जगज्जननी'ने (अन्वय द्वारा) अपने आचरणसे स्वामीका प्रिय करते हुए धर्मार्थकामरूपफलोत्पत्ति दिखाकर जगत्का उपकार किया है।

लोकपका विचार

'लोकप होहिं बिलोकत जासू'के 'बिलोकत'के अन्तर्गत 'वि'की यह विशेषता सूचित की है कि यदि सीताजी किसीको लोकपाल बनानेकी इच्छा करे तो प्रभु द्वारा वह इच्छा सञ्चालित होनेसे (पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार) विफल नहीं हो सकती जैसा हनुमानजीको वर देनेकी ('अजर अमर गुणनिधि होहू' चौ० ३ दो० १७

सुन्दरकाण्ड) यह सीताकी इच्छा सफल है। यह विशेषता सीतामें ही पर्याप्त न मानकर सभी पतिव्रताओं एवं सन्त-महात्माओंमें समझनी चाहिए। 'तर्जाहि जन तृनसम विषय बिलासु'से रामप्रियत्वका परिचय कहा गया है। नीतिशास्त्रसम्मत मतसे कहना होगा कि 'तर्जाहि विषय बिलासु'का अर्थ विषयत्याग नहीं, विषय-तत्परताका त्याग है।

संगति : अग्रिम ग्रन्थमें कवि स्वामि-सेवकभावकी पूर्णता श्रीरामके स्वामि-भावमें तथा सीता और लक्ष्मणजीके सेवकभावमें स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०–सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ॥१॥

भावार्थ : सीता और लक्ष्मणजीका सेवकरूपमें जिस प्रकार सुख प्राप्त हो उसी प्रकार रघुनाथ रामजी स्वामिरूपमें करते और कहते हैं।

जेहि विधि

शा० व्या० : 'जेहि बिधि'का भाव है कि जिस प्रकार कल्पवृक्षका कल्पवृक्षत्व मर्यादित इच्छामें फलीभूत होता है[1] उसी प्रकार सेवकोंके मर्यादित भावकी विधिको 'सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं'के अन्तर्गत कहा है। सेवकोंकी अभिरुचि यही होती है कि स्वामी प्रसन्न रहे। अर्थशास्त्रमें स्वाम्यनुजीविवृत्तप्रकरणमें स्वामीका (द्रव्य प्रकृतिहीन होनेपर भी) कल्पवृक्षत्व 'यथाभिलषितसम्पादनात्'से स्पष्ट किया है।[2] सीता और लक्ष्मणकी अभिरुचिको पूर्ण करनेमें स्वामी श्रीरामका कल्पवृक्षत्व 'सोई करहिं सोइ कहहीं'से व्यक्त किया है। 'करहिं'से प्रभुका सेवकोंको बाह्यरूपसे खान-पान, निवास आदिका सुख प्राप्त कराना और 'कहहीं'से, पुरातन कथा कहानी द्वारा आन्तरिक सुखोपलब्धि कराना है।

संगति : करहि और कहहिको अग्रिम चौपाईमें कवि स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०–कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुख मानी ॥२॥

भावार्थ : पुराणकी कथाएँ और इतिहासकी कहानियाँ प्रभु कहते हैं और सीता एवं लक्ष्मणजी उनको सुननेमें अत्यन्त सुख मानते हैं।

पुरातनकथा

शा० व्या० : 'पुरातन कथा'से पुराणकथाएँ विवक्षित हैं। इन कथाओंमें सम्पूर्ण तत्त्वोंका विवेचन रहता है[3] जैसा 'करम धरम इतिहास अनेका। करइ

---

१. ज्ञातव्य है कि अपरिमित अनर्गल इच्छा होनेपर कल्पवृक्षका कल्पवृक्षत्व (फलदायकत्व) लुप्त हो जाता है।

२. कल्पवृक्षोपमं नृपम्।

३. श्रीमद्भागवतमें पुराणके दस लक्षण कहे गये हैं–'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।' दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।

निरूपन बिरति बिवेका। उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित अचरज बखानी' आदिसे व्यक्त है। अतः ग्रन्थकारने मानसमें सभी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियोंमें पुराणकथाओंका आश्रय लेनेका उल्लेख किया है। ऐतिहासिक इतिवृत्तको 'कहानी' कहा गया है। पुराणकथाएँ सैद्धान्तिक गवेषणासे पूर्ण होनेसे आख्यायिकामात्र नहीं हैं। इनमें पक्ष-प्रतिपक्ष उपस्थापित करते हुए कथाके माध्यमसे शास्त्रीय सिद्धान्तके निर्णयमें सत्-असत्का विचार करते हुए परामर्श करना, व्याप्त्यादिमें दोष-राहित्य देखकर अन्यय-व्यतिरेक द्वारा निर्णय करना उदाहरण द्वारा, उपनय या निगमन कराना, अन्तमें यथार्थ बोध कराना पुराणकथाओंका उद्देश्य है। कथा वही है जिसमें जिज्ञासु उक्त रीतिसे वस्तुतत्त्वको समझते हुए अनुष्ठानतः अभिनिविष्ट होकर श्रवणमें प्रवृत्त हो। प्रभुके द्वारा कही कथाके श्रवणके अधिकारी सीता एवं लक्ष्मणजीकी उपर्युक्त पात्रताको 'अति सुख मानी'से स्पष्ट किया है। कथामें होनेवाले तत्त्व-विवेचनका परिचय कविने अरण्यकाण्डके राम लक्ष्मण-सम्वादमें दिया है।

न्यायशास्त्रमें सन्त-महात्माओंकी वादप्रणालीको भी कथा कहा गया है क्योंकि वे असूयारहित हो यथार्थतत्त्वका प्रकाशन करते हैं। इससे सिद्ध है कि जहाँ असूया एवं प्रत्यभिनिवेश रहता है वहाँ होनेवाला वाद 'कथा' नहीं कहा जा सकता।

कथाके विषयमें उपर्युक्त विवेचनको ध्यानमें रखकर कथाओंमें वर्णित महापुरुषोंका शील, स्नेह, तर्क, भागवत धर्म कैसा था? किन-किन गुणोंसे उन्होंने कैसा-कैसा लाभ उठाया? वे कैसे कीर्तिभाक् हुए? विश्वको उनकी क्या देन है? आदि मननीय हैं। पुराणकथाओंके पात्रोंमें 'न प्रमाद्येत् न स्खलेत्' किस प्रकार सार्थक हुआ, इसका विस्तृत वर्णन है।

संगति : प्रभुके स्मरणमें हेतु सेवकोंका 'शील, स्नेह, सेवकाई' है, और कैसा-कौसल्योक्ति पालन प्रभुने किया इसको कवि स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०–जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं ॥३॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरतसनेहु सीलु सेवकाई ॥४॥
कृपासिन्धु प्रभु होहिं दुखारी। धीरज धरहिं कुसमउ बिचारी ॥५॥

भावार्थ : श्रीराम जब-जब अयोध्याका स्मरण करते हैं तब-तब उनके आँखोंमें अश्रु आजाता है। अयोध्याकी याद करते हुए माता, पिता, परिजन और भाइयोंके स्मरणमें विशेषरूपसे भरतके स्नेह शील और सेवकाईका ध्यान करके कृपालु प्रभु दुःखी हो जाते हैं, पर कुसमय समझकर धैर्य धारण करते हैं।

अवधचिन्तनका तात्पर्य

शा० व्या० : संसारमें प्रायः देखा जाता है कि प्रवासमें स्नेह कम हो जाता है। पर श्रीरामका स्नेह अयोध्यावासियोंके प्रति बना हुआ है, यही प्रभुकी कृपासिन्धुता है। चौ० ५ दो० ८५ में प्रभुका सङ्ग छुटनेपर लौटते हुए अयोध्यावासियोंके सम्बन्धमें कहा गया है 'सीलु सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमञ्जस भे रघुराई' अर्थात्

बलात् पुरवासियोंको छोड़नेमें प्रभुके असमञ्जसका कारण उन लोगोंका 'शील स्नेह' है। उसीको कवि यहाँ 'अवध सुधि करहीं बारि बिलोचन भरहीं'से दिखा रहे हैं।

उपेक्षामें अवधकी दण्डयता

वनवासमें प्रभुके उदासीभावसे अयोध्याका सम्बन्धविच्छेद होना चाहिए, ऐसा माननेमें प्रभुकी कृपासिन्धुतामें दोष आता है क्योंकि प्रभुकी उपेक्षासे अवधपुरी प्रकारान्तरसे दण्ड्या कही जायगी।

कालिकव्याप्ति

अयोध्याका चिन्तन प्रभुको प्रायः होता रहा जिसमें प्रभुका सजलनयन होना कहा गया है। अतः 'जब जब और तब तब'की व्याप्तिका सम्बन्ध चतुर्दशवर्षावधि-पर्यन्त समझना असंगत नहीं होगा।

चिन्तनीय भक्त

अयोध्याके चिन्तनमें अनुपेक्षणीय, प्रभुके स्मरणके पात्र माता, पिता, परिजन, भाई हैं। उनमें भी विशेष भरत हैं। अरण्यवासमें भी शील स्नेहसे पूर्ण अयोध्या-वासियोंके अभावप्रतियोगतया स्मरणमें हेतु प्रभुके चित्तका द्रवीभाव है जिसको 'कृपासिन्धु'से व्यक्त किया है।

कौशल्याका निर्देशपालन

माता कौशल्याके वचन ('सुरति बिसरि जनि जाइ। अवधि अम्बु प्रिय परिजन मीना') आदिका गौरव प्रभुने 'सुधि करहीं' या 'सुमिरि'में दिखाया है। किंबहुना 'सबहिं जिअत जेहि भेंटहु आई'से बद्ध होकर प्रभु उक्त स्मरणसे अयोध्यावासियोंका प्राणरक्षण करते हुए चौदह वर्षकी अवधि बीतते ही अयोध्यामें लौटनेको बाध्य होंगे। अतः माता कौशल्याके उक्त वचनप्रमाणकी रक्षा करते हुए प्रभुने उसे कैकेयीके कहे 'उदासी'का अपवाद इष्ट समझा है।

स्मृतिविषय

ज्ञातव्य है कि 'सुमिरि मातु पितु परिजन भाई'में प्रभुके स्मृतिका आलम्बन मातृत्व, पितृत्व, बन्धुत्व आदि नहीं है, बल्कि स्नेहवत्व शीलवत्व एवं सेवकत्व है। 'द्वयोरेकं' न्यायसे स्मृतिका विषय 'मात्रादयः शीलस्नेहवन्तः' है। निष्कर्ष यह है कि सभी शीलस्नेहवान् सेवक प्रभुके स्मरणके विषय हैं।

कृपासिन्धुका दुखारी होना

'दुखारी'का भाव है कि शील स्नेहसे पूर्ण अयोध्यावासियोंके लिए प्रभुका करुणार्द्र होना, यही प्रभुका कृपासिन्धुत्व है। साहित्यशास्त्रका कहना है कि उत्तम-प्रकृतिके व्यक्तिको शोक आदि विकार अति प्रौढ़ होते हैं, पर विवेकके बलपर वे

उनको क्षीण करते हैं। अपने वियोगमें अवधको दुःखी बनानेमें श्रीरामका शील स्नेह ही कारण हो रहा है। शीलको भग्न करना नहीं है, अतः अपने स्मरणसे अयोध्या पर कृपाकी वर्षा कर रहे हैं।

कुसमयका विचार

कृपासिन्धु श्रीरामके दुखारी होनेका कारण है कि पृथ्वी पर अवतीर्ण होनेपर अपने सेवकवृन्दको (अयोध्यावासी परिकरोंको) दर्शन देनेमें इस समय असमर्थ हैं, इसका कारण कुसमय है।

कुसमयसे प्रतिभातघटनाका संकेत

सत्यसन्ध पिताके वचन 'नाहि त मोर मरनु परिनामा' (चौ० ७ दो० ८२) के अनुसार सुमन्त्रसे तीनों मूर्तियोंके, विशेषकर सीताके (चौ० ६ दो० ८२) न लौटनेका समाचार सुनते ही पिताकी अवस्था गम्भीर हो जायगी और मृत्यु अपरिहार्य होगा। अतः 'कुसमय'के अनुमानका प्रकार होगा 'अयं कुसमयः पितुः स्वर्गगमन सम्बन्धित्वात्। मम पिता न जीवितः प्राथम्येन अश्रुधारायाः पतनप्राग्भावप्रतियोगि-कत्वकत्वे सति समुन्त्रद्वारा अप्रत्यावर्तनीय वनवासश्रवणोत्तरं निराशत्वे सति सत्यसंघ-शीलत्वात्'।

प्रश्न—पिताके मृत्युका उक्त अनुमान कहाँ तक ससामयिक है? जबकि उक्त कुसमयसे सम्बन्धित घटना (राजाकी मृत्यु) भरद्वाज आश्रमसे चित्रकूट पहुँचने तक बीच-मार्गमें ही घटित हुई होगी?

उत्तरमें कहना है कि यात्राके समय मार्गमें अमंगलका विचार उचित न समझकर कविने उसको चित्रकूट निवासमें सुस्थिर होनेपर प्रकट किया है। वैशेषिक-भाष्यमें प्रातिभज्ञान-निरूपणके प्रकरणमें कहा गया है कि आत्मसम्बन्धी स्नेही जनोंके बारेमें पवित्रात्माओंकी प्रतिभामें मर्मस्पर्शी घटनाएं प्रतिभात होती हैं। अतः श्रीरामके स्मरणमें प्रतिभात पिताका दिवंगत होना 'कुसमय'से स्फुट किया गया है। इसको ध्यानमें रखते हुए पूर्वोक्त चौ० ३में 'बारि बिलोचन भरहीं'से केवल सजलनयन कहा गया क्योंकि मृत शरीरके रहते अश्रुपात होना धर्मनिर्णयके विरुद्ध हैं।

कुसमय विचारी'का विशेष भाव

'सुमिरि भरत सनेहु सीलु सेवकाई'से सम्बन्धित प्रभुके दुखारी होनेमें कुसमयका विचार क्या हो सकता है? इसके उत्तरमें कहना है कि अयोध्यामें लौटनेपर भरतके सामने जो दुर्दृश्य और कठिन समस्याएँ उपस्थित होंगी वह कुसमय है। इसीको कौसल्याजी (चौ० ५ दो० १६५में) 'कुसमउ' कहेंगी। भरतजी (चौ० ७ दो० १८१में) 'अदिनु मोर' कहेंगे। तथा भरद्वाज आश्रममें दिव्य भोगोंके प्रलोभनको देखकर (चौ० १ दो० १५३में) 'कुअवसर' कहेंगे। और अन्तमें चित्रकूट पहूँचने पर श्रीरामको लौटानेमें (चौ० ५ दो० २५३में) 'कुसमउ' कहेंगे।

प्रभुके 'धीरजु धरहिं'का भाव

प्रभुके धैर्यका तात्कालिक उद्देश्य भक्त भरतकी बुद्धिको स्थिर बनाकर उचित विचारका प्रकाश देना है। जिससे वह कुसमय (राजाकी मृत्यु) और कुअवसर (समस्याओंके उपस्थित होनेके समय) पर कर्तव्यच्युत न होकर सुमन्त्र द्वारा कहे प्रभुके सन्देश ('नीति न तजिअ राजहैदु पाए') (चौ० ३ दो० १५२)का यथावत् पालन कर सकें। 'यं उन्निनीषति तं साधुकर्म कारयति'का यही समन्वय है। इस प्रकार भरतके 'सनेहु सीलु सेवकाई'को प्रकट कराकर भक्तके द्वारा भयरोग-निवारण करते हुए भक्तिकी स्थापना[1] एवं 'भवरसविरति'को दर्शाना है। इस कार्यमें भक्तके सामने जो कुसमय अर्थात् विपरीत स्थिति आवेगी जिनका सङ्केत ऊपर किया गया है, उसमें भक्तकी रक्षा करना प्रभुके धैर्यका प्रयोजन है। इससे श्रीरामका प्रभुत्व एवं उनकी सर्वज्ञता प्रकट की है।

संगति : स्वामीके दुःखमें सेवकका दुःखी होना दिखा रहे हैं।

चौ०–लखि सिय लखनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं ॥६॥

भावार्थ : स्वामी श्रीरामको दुखारी देखकर सीता और लक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं जैसे किसी पुरुषकी छाया उसके शरीरकी गतिका अनुगमन करती है।

सेवाकी पूर्णता

शा० व्या० : स्वामीके सुखमें सुखी व दुःखमें दुःखी होना सेवाधर्मकी पूर्णता है। 'अनुसर परिछाहीं'से प्रतियोगी-अनुयोगीमें बिम्बप्रतिबिम्बभावको प्रकट करते हुए पारस्परिक प्रीतिकी समानता या एकरसता दिखायी है। 'बारि बिलोचन भरहीं'से स्वामीको दुखारी देखकर सेवक लक्ष्मण और सीताजी दुखी हैं।

संगति : सेवकोंके दुःखका अनुभव करके प्रभु उनको सुखी करनेका उपाय करते हैं।

चौ०–प्रिया बन्धु गति लखि रघुनन्दनु। धीर कृपाल भगत उर चन्दनु ॥७॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता ॥८॥

भावार्थ : धैर्यवान् कृपालु भक्तोंके हृदयको चन्दनके समान शीतलताप्रदान करनेवाले रघुनाथजी प्रिया सीता और भाई लक्ष्मणजीकी व्याकुलताको देखकर कुछ पवित्र (पुराण) कथाओंको कहते हैं जिनको सुनकर सीता और लक्ष्मणजी सुखका अनुभव करते हैं।

सेवकत्व परीक्षा

शा० व्या० : 'लखि गति'से नीतिसिद्धान्तानुसार स्वामि-सेवकभावमें सेवकोंकी

---

1. भरद्वाजका वचन 'राम भगतिरससिद्धि हित भा यह समउ गनेसु' (दो० २०८)।
'भरत दरस मेटा भव रागू' (चौ० २ दो० २१९)।
'अवसि होइ भव रस बिरति' (सो० ३२६)।

परीक्षा विवक्षित है। अर्थात् प्रभुने सूक्ष्मरीतिसे समझलिया कि दोनों सेवक क्षय-व्यय-सहिष्णु, अनुरागी, सद्वृत्त, शक्तिसम्पन्न-पौरुष एवं बुद्धिसे युक्त हैं।'[1] अतः नितिमार्ग पर चलनेमें दोनोंकी ओरसे कोई विरोध नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि दोनोंको सेवकत्वकी परीक्षामें उत्तीर्ण जाना।

कथासे दुःखपरिहार

'भगत उर चन्दनु'का भाव है कि जिस प्रकार चन्दनका लेप शरीरमें तत्काल व्याप्त होकर शीतलताप्रदान करता है उसी प्रकार दोनों सेवकोंकी व्याकुलताको दूर करने हेतु उनको पवित्र कथाओंके श्रवणसे सुखी बनाया। यह प्रभुकी कृपालुता है।

कुसमयके स्मरणसे स्वयं दुखारी होते हुए भी प्रभु धीर हैं। पुनीतता वही है जो स्वयं पुनीत होते हुए दूसरोंको पुनीत करे। प्रस्तुत प्रसङ्गमें पुराणकथाओंकी पुनीतता यही है कि वह सेव्य और सेवक दोनोंको मनस्की स्थिरता प्रदान कर रही है। 'कथा पुनीता'से ध्वनित है कि सर्वज्ञ श्रीराम पिताको दिबंगत जानकर पवित्र कथारूपी गंगामें स्वयंको एवं सेवकोंको निमज्जन कराकर परोक्षरूपेण शुद्ध कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि प्रतिभादर्शनसे पिताका मरण जानकर भी शास्त्रदृष्टिसे अशौच नहीं है। चित्रकूटमें भरत मिलनके समय जब गुरु वसिष्ठ द्वारा पिताका मरण सुनेंगे तब शुद्धिहेतु तत्सम्बन्धी कर्म प्रभु करेंगे (दो० २४७)।

पूर्वोक्त चौ० २ वी व्याख्यामें कहे कथाके महत्त्वको ध्यानमें रखते हुए स्मरण रखना है कि कवि यहाँ हम लोगोंको संसारयात्रामें दुःख और विपत्तिका प्रसङ्ग आनेपर उनके प्रतीकारका उपाय कथाओंके आश्रयसे किस प्रकार किया जाता है? बता रहे हैं।

संगति : पुनीत कथाओंके कथन श्रवणसे तीनोंके विषादरहित स्थितिको कवि बता रहे हैं।

दो०–रामु लखनु सीतासहित सोहत परननिकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सचीजयन्तसमेत ॥१४१॥

भावार्थ : श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी पर्णशालामें निवास करते ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे इन्द्र अमरावतीमें अपनी इन्द्राणी शची और पुत्र जयन्तके साथ रहते हैं।

अमरावतीका साधर्म्य एवं प्रभुप्रसाद

शा० व्या० : दोहेके उत्तरार्धमें कहे इन्द्रका अमरावतीमें शची जयन्तके साथ निवास करनेका साधर्म्य पर्णकुटीमें प्रभुके सीता लक्ष्मणजीके निवाससे जिस अंशमें कविको अभीष्ट है, उसका विवेचन ध्यातव्य है।

---

१. नी० ज० सं०१६-२८।

दो० १३३में 'सोह मदन मुनिवेष जनु रति रितुराज समेत'से तीनों मूर्तियोंकी शारीरिक दृष्टिसे वैयक्तिक शोभाका वर्णन किया गया यहाँ रक्षककी दृष्टिसे उनकी शोभा दिखा रहे हैं। एक तरफ अमरपुरीमें इन्द्रके इन्द्रियसुखका दृश्य है, दूसरी ओर चित्रकूटमें प्रभुके नैतिक सुखका दृश्य है।

चित्रकूटमें प्रभुके निवासार्थ पर्णकुटीका निर्माण देवोंने किया है। (चौ० ६से ८ दो० १३३) अतः उसकी उपमा अमरावतीसे दी है। जैसे अमरावतीका शास्ता इन्द्र है उसी प्रकार 'कानन राजू'में राक्षसोंकी बाधा दूर करनेमें श्रीराम तत्पर हैं। हैं। इन्द्रकी सभामें हजार ऋषियोंके बैठनेसे उसको सहस्राक्ष कहा जाता है वैसे ही श्रीरामके सान्निध्यमें मुनि मण्डली स्थित है। इन्द्रपत्नी शचीकी उपमा सीताजीसे पवित्रताकी दृष्टिसे समझनी चाहिए। लक्ष्मणजीकी उपमा जयन्तसे देनेका इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार सीताजीको चोंच मारना जयन्तका सुविचारित कार्य नहीं है उसी प्रकार भरतके प्रति लक्ष्मणकी चेष्टा (चौ० ७-८ दो० २३०) अनुचित सिद्ध होगी। जयन्त प्रभुकी शरणमें आकर बचा। लक्ष्मणजी पहलेसे ही प्रभुकी शरणमें रहनेसे सम्मानित होकर रहेंगे। देवोंका रक्षक देखकर जिस प्रकार देवता और ऋषि सुखी होते हैं उसी प्रकार रक्षक प्रभुको पाकर वहाँके (देवरूप) वासी कोल किरात और ऋषि-मुनि प्रसन्न हैं।

संगति : सेव्य-सेवकभावकी उपादेयताको आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥१॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ॥२॥

भावार्थ : जैसे पलक आँखोंकी पुतलीकी रक्षासे स्वतः तत्पर रहती है उसी प्रकार प्रभु सीता और लक्ष्मणजीकी देखभाल रखते हैं। लक्ष्मणजी सीता श्रीरामकी सेवा करनेमें ऐसे तल्लीन रहते हैं जैसे अज्ञानी व्यक्ति शरीरकी सेवामें लगा रहता है।

सेवककी सेवामें दक्षता

शा० व्या० : जैसे पलक पुतलीकी रक्षामें सतत प्रवृत्त रहती है वैसे ही प्रभु एक क्षणके लिए भी सीता और लक्ष्मणजीको नहीं छोड़ते। जैसे अज्ञ व्यक्ति अपनेको शरीर मानकर दिनरात उसीके सुखका ध्यान रखते हुए शरीरकी सेवामें ही लगा रहता है वैसे ही सीता और लक्ष्मणजी श्रीरामको ही अपना शरीर मानकर तादात्म्यभावमें सेवा करते हैं। सेवकमें अनुरागकी सीमा अज्ञानी व्यक्तिको शरीरके परतन्त्र होनेमें हित-अहितका ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार सीता और लक्ष्मणजीने अपनी स्वतन्त्रताको भूलकर प्रभुके शरीरकी सेवामें परतन्त्र हो हित-अहितको न देखते हुए अपनेको समर्पित कर दिया है। यही सेवकभावकी परमोच्च स्थिति है। ऐसे सेवकोंके रक्षणका पूर्णभार लेनेवाले स्वामी श्रीराम हैं। दोनों सेवकोंकी रागावस्थाका वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ उनकी अनुरागावस्था दिखायी गयी है जो वनवासमें उत्तरोत्तर मननीय होती रहेगी।

उपरोक्त सेव्यसेवकभावमें नोतिशास्त्रके आत्मरक्षितकप्रकरणमें कहा सिद्धान्त स्मरणीय है जिसके अनुसार राजा रक्षक है, इसीलिए प्रजा और सेवक भी उसका पोषण करते हैं।

संगति : चौ० ४ दो० १३९में 'एहि बिधि सिय समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुरमुनि सुखदाई'के अनुसार वनवासकी इतिकर्तव्यामें मुनिव्रतका पालन करते हुए श्रीरामके वनवासका प्रकार बताकर कवि उस प्रसंगको अब 'एहि बिधि बसहिं प्रभु'से समास कर रहे हैं।

चौ०—एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापसहितकारी ॥३॥

भावार्थ : इस प्रकार प्रभु सुखपूर्वक वनमें वास करते हैं और पशु, पक्षी, देवताओं, तपस्वियों आदिका हित साधन करते हैं।

प्रभुका हितकारित्व

शा० व्या० : 'हितकारी'का भाव है कि जिस परिमाणमें अपना उपनिवेश बनाकर रावणने मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका उच्छेद किया है एवं देवोंका यज्ञभाग छीनकर उनको स्थानच्युत करके पीड़ित किया है, उसी परिमाणमें सब विपत्तियाँ प्रभुके वनवाससे दूर हो रही हैं।[1] प्रभुके हितकर्तृत्वकी व्यापकता यही है कि सेवक-प्रवृत्तिके अन्तर्गत सभी मानव-ज्ञानी या अल्पज्ञ एवं अज्ञानो पशु-पक्षी आदि सबका हित प्रभुने किया है या करेंगे। अल्पज्ञोंमें गुह, केवट शबरी आदिसे लेकर कोल किराततक हैं। ज्ञानियोंमें मुनियोंसे लेकर भरद्वाज, वाल्मोकि आदि महर्षि हैं।

तपःशक्तिका जागरण

पित्राज्ञापरिपालनधर्मको सामने रखकर वनवासमें मुनिव्रतको धारण करके प्रभु तपस्की पूर्णता दिखावेंगे। तपस्की स्थापना करना अवतारका उद्दिष्ट कार्य है। क्योंकि राक्षसोंके आतंकसे वह विलुप्तप्राय हो गया था। प्रभुने तपःशक्तिका पुनः जागरण किया है।

उपर्युक्त तत्त्वोंको ध्यानमें रखते हुए कवि प्रभुके वनवासके उद्देश्यको 'खग मृग सुर तापस हितकारी'से व्यक्त कर रहे हैं जो प्रभुके 'सुखारी' होनेका कारण है।

संगति : रामवनवासके प्रकरणको यहाँ समाप्त करके कवि अयोध्याकी घट-नाओंका वर्णन करनेका उपक्रम कर रहे हैं।

चौ०—कहेउँ राम बनगमन सुहावा। सुनहु सुमन्त्र अवध जिमि आवा ॥४॥

---

१. परसि चरन रज अचर सुखारी। भए परम पदके अधिकारी ॥ (चौ० १, दो० १३८)
नयनवंत रघुबरहिं बिलोकी। पाइ जनमफल होहिं बिसोकी ॥ (चौ० २, दो० १३८)
करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछन्द (दो० १३४)

भावार्थ : कवि कहते हैं कि श्रीरामके सुहावने वनगमनका वर्णन किया। अब सुमन्त्र जिस प्रकार लौटकर अयोध्यामें आये वह वृत्तान्त पाठक सुनें।

वनगमन सुहावाका भाव

शा० व्या० : जो भला हो और अच्छा लगे वही सुहावा है। भक्तों और सेवकोंकी दृष्टिमें प्रभुको सुखदायी हो वही सुहावना है। वनगमनसे होनेवाला 'खग मृग सुर तापस हितकारी'में प्रभु सुखारी हैं जैसा पूर्वोक्त चौपाई में कहा है। इसलिए कवि वनगमन प्रसंगको 'सुहाबा' कह रहे हैं। वनवासमें वनवासियों, पशु-पक्षियों, तपस्वी मुनि, सिद्ध तथा सेवक सीता एवं लक्ष्मणजीकी अनुरागावस्थाको प्रकट करनेवाला प्रभुका चरित्र है इसलिए 'सुहाबा' है।

संगति : एकसम्बन्धिज्ञानम् 'अपरसम्बन्धिस्मारकम्'—इस उक्तिके अनुसार वनगमनप्रसंगमें सन्तमिलनमें होनेवाली प्रीतिका वर्णन सुनाया गया। दूसरी ओर सन्तवियोगमें होनेवाले दुःखकी अवस्थाका स्मरण कराते हुए सुमन्त्रके अयोध्यामें लौटनेका प्रसंग उपस्थापित किया जा रहा है। जो चौ० २ दो० १००में कहे 'बरबस राम सुमन्त्र पठाए'से सम्बन्धित है।

चौ०–फिरेउ निषादु प्रभुहिं पहुँचाई। सचिवसहित रथ देखेसि आई ॥५॥

भावार्थ : प्रभुको (विश्राम स्थानतक) पहुँचाकर गुह लौटा तो उसने मन्त्री सुमन्त्रको रथके साथ वहीं पड़ा देखा।

'फिरेउ निषादु'के सम्बन्धमें विशेष वक्तव्य

शा० व्या० : सुमन्त्रको बिदा करके गंगापार होनेके बाद 'प्रथमातिक्रमे मानाभावात् लाघवात्'के अनुसार कहा गया है कि प्रभुका प्रथम वासस्थल चौ० १ दो० १०५में कहा 'विपटतर वासू' है। 'प्रभुहि पहुँचाई'से स्पष्ट किया गया है कि यहाँतक प्रभुको पहुँचाकर गुह लौटा और सुमन्त्रके पास आया। फिर प्रभुकी सेवामें उसी स्थानपर पहुँच गया।

चौ० ३ दो० ९९में 'भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी'से दो० ९९ तक सुमन्त्र और घोड़ोंकी जो विकल दशा हुई वह प्रभुसे छिपी नहीं रही। अतः 'बरबस राम सुमन्त्रु पाठाए'में सुमन्त्रको अयोध्या लौटाना जितना आवश्यक है उतना ही सुमन्त्र और घोड़ोंकी रक्षा करना भी है। सुमन्त्रको 'बरबस' अर्थात् बलपूर्वक इसलिए लौटाना पड़ा कि दो० ८१में सुमन्त्रसे कहे राजाके बचन 'फिरेहु गएँ दिन चारि'के अनुसार अपने जीवनका अवलम्ब चार दिनतक ही रखनेका राजाका संकल्प है। अतः उसी अवधिके भीतर ही सुमन्त्रको लौटकर श्रीरामका सन्देश राजाको सुनाना आवश्यक है। निषाद भी उत्तम सेवक होनेसे प्रभुके मनोभावको जानता है, वह राजाका मित्र होनेसे उनके मन्त्रीकी विपद्ग्रस्त अवस्थामें रक्षा और सहायता करना अपना कर्तव्य समझता है। इसलिए कहना है कि 'तेहि दिन भयउ विटपतर बासू।

लखन सखा सब कीन्ह सुपासू।' (चौ० १ दो० १०५)के अनुसार प्रभुके गंगापारमें 'विटपतर बासू'की पूर्ण व्यवस्था करके गुह सुमन्त्रके पास आया, जिसको 'फिरेउ निषादु'से यहाँ स्पष्ट किया है। 'भयउ'से ध्वनित होता है कि उस दिन प्रभुको वहाँ निवास करनेके लिए बाध्य होना पड़ा जिसका उद्देश्य ऊपर कहा गया है।

गंगापार हो जानेके बाद 'तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू'से प्रभुने जब गुहको लौट जानेको कहा तो गुहने प्रभुसे प्रार्थना की, उसमें गुहके तीन प्रस्ताव विशेष उल्लेखनीय हैं (चौ० ४से ६ दो० १०४)।

१. 'नाथ साथ रहि पंथु देखाई'
२. 'करि दिन चार चरन सेवकाई'
३. 'परनकुटी मैं करबि सुहाई'

गुहका पहला प्रस्ताव भरद्वाज आश्रम तक पहुँचनेमें स्वीकृत हुआ। दूसरे प्रस्तावमें चार दिनकी सेवकाई इस प्रकार स्वीकृत मानी जायगी—पहले दिन शृंग-वेरपुरमें, दूसरे दिन 'विटपतर वासू'में, तीसरे दिन भरद्वाज आश्रममें और चौथे दिन गुहकी बिदाई तक। तीसरे प्रस्तावके सम्बन्धमें कहा जा चुका है कि धर्मको छोड़कर अन्य किसीकी सहायता लेना प्रभुको इष्ट नहीं है, अतः 'परनकुटी करबका प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। फिर भी सेवककी इच्छा ('सुहाई'की सार्थकता) भरत समाजको चित्रकूटमें प्रभुकी पर्णकुटीमें पहुँचानेसे सिद्ध हुई।

चौ० २ दो० १०४में 'सुनत सूख मुखु भा उर दाहू'से यह भी स्पष्ट है कि मन्त्री और घोड़ोंकी विकलता देखकर गुहके हृदयमें जो विषादकी चोट है उससे गुहका सहज स्नेह देखकर प्रभुने गुहको साथ रखा। प्रभुके इस मनोभावको लखकर 'संग लीन्ह गुइ हृदय हुलासू'से गुहकी प्रसन्नता व्यक्त है। अतः 'गुह ज्ञाति बोलि सब लीन्हे। करि परितोष बिदा तब कीन्हे'में गुहने अपने साथियोंको परितोषपूर्वक सुमन्त्रकी देखभालके लिए भेजा होगा, जो दो० १४३ में 'बोलि सुसवेक'से स्पष्ट होता है।

संगति : सुमन्त्र और घोड़ोंको प्रभु जिस विकल दशामें छोड़कर आये थे गुहने उसी दशामें उनको पड़े हुए पाया।

चौ०—मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयउ बिषादू ॥६॥

भावार्थ : गुहने सुमन्त्रको मूर्छित दशामें देखा तो इतना दुःखी हुआ कि कहा नहीं जा सकता।

शा० व्या० : सात्त्विक प्रकृतिके व्यक्ति दूसरेके दुःखको देखकर अपना दुःख भूल जाते हैं और उसीके दुःखका अनुभव करते हैं। सुमन्त्रकी विकल दशा देकखर गुह पहले ही विषादगस्त था। इस समय मन्त्रीको उसी दशामें देखकर 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी'के अनुसार सुमन्त्रके दुःखका संक्रमण गुहमें हो रहा है।

संगति : चौ० ५ दो० ९९ में कहे 'राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतल छाती'के परिणामस्वरूप सुमन्त्रकी दशाका वर्णन किया जा रहा है।

चौ०—राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल व्याकुल भारी ॥७॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं ॥८॥

भावार्थ : श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजीका नाम पुकार पुकार कर मन्त्री अत्यन्त व्याकुल हो मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। घोड़े दक्षिण दिशाको (जिस ओर श्रीराम गये थे) देख देखकर हिनहिनाते हैं मानों बिना पंखके पक्षी व्याकुल होते हों।

मन्त्री व घोड़ोंकी प्रीतिका द्योतन

शा० व्या० : मूर्छावस्थामें भी श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजीका स्मरण एवं नामोच्चारण सुमन्त्रके आन्तरिक प्रीतिका द्योतक है। उसी प्रकार घोड़ोंका हिनहिनाना मानो उनकी पशुभाषामें नामोच्चारण है जो रामविरहमें उनकी प्रीतिकी व्यथाको प्रकट कर रहा है। (यदि उनके हिनहिनानेमें वैस्वर्य है तो उसको अयोध्यामें होनेवाले अमंगलका सूचक भी माना जायगा)। 'बिनु पंख बिहग अकुलाहीं'के दृष्टान्तसे घोड़ोंकी दृष्ट विवशता यही है कि बीचमें नदी होनेसे वे उस पार श्रीरामजीके पास नहीं जा सकते, यद्यपि 'देखि दखिन दिसि'से उनकी दृष्टि दक्षिणकी ओर प्रभुके 'विटप तरवासू'की ओर ही लगी है।

दो०—नहि तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि ॥१४२॥

भावार्थ : घोड़े न तो घास खाते हैं न पानी पीते हैं, केवल नेत्रोंसे आँसू गिरा रहे हैं। (यह पशुओंकी आन्तरिक व्यथाके लक्षण हैं) जिन निषादोंको मन्त्रीके पास छोड़ दिया गया था वे सब रामजीके उन घोड़ोंकी दशा देखकर स्वयं व्याकुल हो गये।

भाषाकी व्याप्ति

शा० व्या० : दो० ९९ में 'हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाही'से कही घोड़ोंकी विकल दशाको यहाँ कवि स्पष्ट कर रहे हैं। साहित्यसिद्धान्तके अनुसार संस्कृति भी भाषाका काम करती है क्योंकि संस्कृत भाषाके समान उसके अर्थका संकेत पूर्वपरम्परासे चला आ रहा है। यदि संस्कृतिको अभिनयरूपमें प्रकट किया जाय तो उसके द्वारा बोधकी पर्याप्ति मानव तक ही सीमित न होकर पशु पक्षी तक होती है। श्रीरामका चरित्र शुद्ध संस्कृतिसे अभिन्न है। उसके फलस्वरूप पशु-घोड़े भी भाषित विषयका अवगाहन करके अर्थात् श्रीरामके विरहकी व्यथाका अनुभव करके छटपटा रहे हैं जिसकी अभिव्यक्ति उनके हिनहिनानेमें, चारा-पानीके त्याग एवं अश्रुपातसे हो रही है।

संगति : रामसेवकत्वजनितप्रतिभाका परिचय गुह द्वारा सुमन्त्रको दिये जानी-वाली सान्त्वनासे कवि करा रहे हैं। 'फिरेउ निषादु प्रभुहिं पहुँचाई'के उद्देश्यकी यथार्थता यहाँ स्पष्ट हो रही है।

चौ०–धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमन्त्र परिहरहु बिषादू ॥१॥

भावार्थ : निषादने जब धैर्य धारण किया तब सुमन्त्रसे बोला कि अब वे दुःखको छोड़ दें।

शा० व्या० : मूर्छित सुमन्त्र और विकल घोड़ोंके उपचारार्थ गुह वैद्यरूपमें उपस्थित होकर उनकी चिकित्साके लिए पहले अपनेमें धैर्य ला रहा है। जिससे पूर्व चौ० ६ में 'कहि न जाइ जस भयउ बिषादू'से विषादावस्थासे निकलकर कर्तव्य-परायणतामें श्रीरामसेवा कार्यका विवेक जागृत हो जाय। तभी उसका सान्त्वनारूप औषध कार्यकारी होगा।

'सुमन्त्र'के सम्बोधनसे विशेष तात्पर्य मन्त्रीके गुण-अनुराग, क्लेशसहिष्णुता शुचिता मैत्री दृढ़भक्ति आदिमें परिलक्षित हैं।

धैर्यधारणमें गुहका प्राथम्य व उपपत्ति

एक सी विषादावस्थामें गुह और सुमन्त्र दोनोंसे यदि पूछा जाय कि सुमन्त्रकी अपेक्षया गुहको पहले धैर्यधारण करना कैसे सुसाध्य हुआ तो कहना होगा कि सुमन्त्र राजाज्ञाके अधीन होनेसे जब चाहे तब वनवासकी दीर्घकालीन भ्रमणकी अवधिमें श्रीरामसे मिलनेमें स्वतन्त्र नहीं है। पर गुह राजसधर्मा वनका राजा है, वनमें भ्रमण करनेका उसको अभ्यास है अतः श्रीरामका पुनः दर्शन करनेका सुयोग उसको सुलभ हो सकता है। इसलिए श्रीरामके विरहसे होनेवाली व्याकुलतामें सुमन्त्रकी अधीरता अधिक है। किंबहुना प्रभुकी इच्छानुसार सुमन्त्रको धैर्य बँधाकर अयोध्या लौटानेके कार्यमें गुहको नियुक्त करना प्रभुको कृपा है।

संगति : प्रभुविरहके विषादमें चौ० ५ दो० ९९में प्रभुके द्वारा सुमन्त्रको जो प्रबोध कराया गया था। उसका अभिभव हो गया था, उसको जगानेका उपाय गुह कर रहा है।

चौ०–तुम्ह पंडित परमारथ ग्याता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता ॥२॥

भावार्थ : गुह सुमन्त्रसे कह रहा है 'आप पण्डित हैं, परमार्थके ज्ञाता हैं। इसलिए विधाताको (इस समय) विपरीत या वाम समझकर धैर्य धारण करें।

धैर्यकी पुनर्जागृति

शा० व्या० : ब्रह्मविषयिणी विद्या आत्मविद्या है। जिसको नीतिसिद्धान्तमें पारमार्थिक विद्या कहा है। इस विद्याका ज्ञाता ही पण्डित या परमार्थका ज्ञाता हो सकता है। वह तर्कविद्यासे युक्त है। गुह सुमन्त्रके यथार्थ पण्डित्य एवं परमार्थवेत्तृत्वसे परिचित हैं। इसलिए वह जानता है कि धैर्यकी स्थितिमें आनेपर सुमन्त्र प्रभुके

सन्देशको लेकर अयोध्यामें लौटनेमें तत्पर होंगे। जैसा राजाको सन्देश सुनाते हुए 'सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम पंडित ज्ञानी। (चौ० ३ दो० १५०)से स्पष्ट होगा।

निर्विकारिताकी साधिका विद्या

तर्कविद्याके अध्ययनसे वस्तुतत्त्वको जानकर सुख दुःखके साध्य-साधन-भावका परिचय होता है।[1] इस परिचयको प्राप्त करके साधक हर्ष शोकके प्रभावसे आक्रान्त नहीं होते। परिणाममें निर्विकारताकी स्थितिमें आकर धैर्यसम्पन्नताकी ओर बढ़ते हैं। इसी विचारधाराको जाननेके लिए 'धरहु धीर'की उक्तिका तात्पर्य है।

विधिकी विमुखतामें मन्त्रीका कर्त्तव्य

'लखि विमुख विधाता'में विचारका विषय ज्ञातव्य है। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी तीनोंमें सर्वगुणसम्पन्नता होते हुए पुरुषार्थकी न्यूनता नहीं है, तो भी तत्कालमें वनगमनका अप्रिय दृश्य देखना पड़ रहा है—यही विधिकी विमुखता है। इसको मेटना किसीके लिए सम्भव भी नहीं है। तब अपनी इच्छा पूर्ण न होनेसे स्नेहकी पराधीनतामें भी रामराज्योत्सव-भङ्ग या रामवनगमनका दुःख मन्त्रीके लिए अपरिहार्य है। किंबहुना सत्पुत्र श्रीरामके कर्तव्य एवं पित्राज्ञापालनरूप धर्मकी सराहना करते हुए मन्त्रीने अपने कर्तव्यकी ओर ध्यान देना उचित है, नहीं तो 'फिरेउ गये दिन चारि'में कहे राजाके आदेशका पालन न होनेका अपराध एवं 'बरबस राम सुमन्त्र पठाए'से प्रभुकी आज्ञाको अवहेलनाका दोष होगा जो भागवतधर्मके प्रतिकूल है। अर्थात् विधाताने जिस स्थितिमें रखनेको सोचा है उसीके अनुकूल अपनेको बनाये रखनेमें दुःखका अनुभव नहीं करना चाहिए।

सुमन्त्रनामकी सार्थकता

'सुमन्त्र' नामकी सार्थकता दिखाते हुए मन्त्रीने 'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई'में कहे राजाके निर्देशानुसार तीनोंके धीरताकी परीक्षा करके ही उनको आगे जाने दिया है और अपने कर्तव्यका निर्वाह किया है।

संगति : न्यायवेदन्तविद्याके सहयोगसे दुःख-सुखके साधनका विचार कर्तव्य है। तदनुबन्धिनी विविध कथाएँ हैं जिनको उदाहरणके रूपमें गुह सुमन्त्रको सुना रहा है।

चौ०—बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥३॥

भावार्थ : मधुरस्वरमें अनेक प्रकारकी कथाओंको कहते हुए गुहने मन्त्रीको रथमें बलपूर्वक लाकर बैठाया।

---

१. हर्षशोकौ व्युदस्यति। का० नी० स० २

कथाकी उपयोगिता

शा० व्या० : जो विषय शास्त्रों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं उनको कथाओंके माध्यमसे समझानेपर कार्यमें असम्भावना या विपरीतभावना समाप्त होती है और निगमनकी स्थिति प्राप्त होनेमें बल मिलता है। 'विविध कथा'से गुहने उसी प्रकारकी कथाओंका सहारा लिया होगा जिस प्रकारकी कथाओंको प्रभुने सुमन्त्रको प्रबोध करानेमें सुनाया होगा। (चौ० ३-४ दो० ९१)

संगति : स्नेहकी परवशतामें आक्रान्त सुमन्त्रकी दशा वैसी ही है जैसी माता कौशल्याकी श्रीरामके वनगमनके समय पुत्रको छोड़ते हुए थी।

चौ०—सोक बिकल रथु सकइ न हाँकी। रघुबरबिरह पीर उर बाँकी ॥४॥

भावार्थ : गुह द्वारा जबरदस्ती रथपर बैठानेपर भी सुमन्त्र शोकसे इतने शिथिल हो गये थे कि रथको चलानेमें वे असमर्थ रहे। उनके हृदयमें श्रीरामके बिरहकी तीव्र व्यथा हो रही थी।

लोकतन्त्रकी आधारशिला

शा० व्या० : विरहजन्य वेदनामें होनेवाली मन्त्रीकी विप्रलम्भात्मिका दशा रसिकोंके लिए आस्वाद्य है। अध्यात्मविद्यामें पूर्ण अधिकार रखते हुए भी स्वामीके प्रति मन्त्रीका ऐसा दृढ़ स्नेह नीतिमान् (राजा)के गुणका अनुमापक है जो भारतीय-राजनीतिसम्मत लोकतन्त्रकी आधारशिला है।

संगति : आत्मवान् स्वामीके स्नेहसे संस्कृत पशुओंकी प्रकृतिका दर्शन घोड़ोंकी विरहव्यथामें कवि करा रहे हैं। पशुओंकी स्वामिभक्तिका यह उदाहरण है।

चौ०—चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥५॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। रामबियोगि बिकल दुख तीछे ॥६॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥७॥
बाजि बिरहगति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँति ॥८॥

भावार्थ : (रथमें जोतनेके बाद) घोड़े रास्तेमें साजका बन्धन तुड़ानेकी चेष्टा करने लगे ; आगे बढ़नेसे रुक गये मानो जंगली पशु लाकर रथमें जोड़ दिये गये हों। रामवियोगके तीव्र दुःखमें व्याकुलतासे घोड़े एक तरफ लुढ़क कर अड़ जाते हैं, और पीछेकी ओर देखने लगते हैं। जो श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीका नाम लेकर पुकारता है उसकी ओर वे हितभावसे हिंकारकी ध्वनि करते हुए देखने लगते हैं। (अर्थात् तीनों मूर्तियोंसे मिलनेकी विनती करते हों)। घोड़ोंके विरह-व्यथाकी चेष्टाका कैसे वर्णन किया जाय ? उनकी दशा ऐसी है मानो साँप मणिके छूट जानेसे व्याकुल हो गया हो।

विरहक्लेश

शा० व्या० : विप्रलम्भदशामें वेदनाकी पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, इसलिए

चौ० ८ दो० १४२ में घोड़ोंकी विकलता दिखानेके बाद पुनः उसका वर्णन कर रहे हैं।

'हेरहिं पीछे'का भाव है कि जिस ओर सीता और लक्ष्मणजीके साथ प्रभु गये थे उसी ओर फिर-फिरकर घोड़े देखते हैं। रथमें जोतनेके बाद रास्तेमें चलनेपर किसीके मुखसे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीका नाम सुनते हैं तो उनको उससे कुछ आश्वासन मिलता है।

राजा द्वारा पशुओंका निरीक्षण

श्रीराम लक्ष्मणजीके साथ 'वैदेही'के नामसे परिचित होनेमें ऐसी कल्पनाकी जा सकती है कि ये घोड़े वे अयोध्यामें तीनोंकी सेवामें आते होंगे। अथवा देवदर्शनादि-कार्योंके लिए सीताजीकी सवारीमें विशेषतया काम आते होंगे। राजनीतिसिद्धान्तानुसार दुर्गद्वारमें खड़े घोड़े, हाथी आदि पशुओंका निरीक्षण पूर्वाह्न एवं अपराह्नमें राजा स्वयं करते हैं।[1] अतः उनका स्वामी श्रीरामसे स्वभावतः परिचय है।

स्वामीके बिना अंधत्व

'बिनु मनि फनिक बिकल'का भाव है कि सर्पमणि सर्पका प्रकाशक होता है। उसके बिना सर्प जड़वत् अन्धा हो जाता है। वैसे ही मणिसदृश स्वामी श्रीरामके बिना उनके घोड़ोंकी दशा है।

दो०—भयउ निषाद बिषादबस देखत सचिव-तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब दिए सारथी संग ॥१४३॥

भावार्थ : इस प्रकार मन्त्री सुमन्त्र और घोड़ोंकी उक्त दशा देखकर निषादराज विषादग्रस्त हो गया था। अतः चौ० १ में कहे 'धरि धीरजु'से गुहने धैर्य धारण किया—जिसका विशेष उद्देश्य मन्त्रीको धीरज बँधाकर घोड़ोंका समुचित उपचार करके अयोध्या जाने योग्य स्थितिमें लाना है। अतः सुमन्त्रीको रथपर बैठाकर घोड़ोंको रथमें जोतकर अपने चार विश्वस्त कुशल सेवकोंको सारथ्यकर्ममें सहायता देनेके लिए गुहने साथमें भेजा।

भक्तका सौहार्द

शा० व्या० : रथके आगे और पीछे सारथिकी अपेक्षा होनेसे घोड़ोंकी सुनियन्त्रित करनेके लिए 'सुसेवक चारि'का उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमें भक्तकी आकांक्षा 'तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम्'के अनुसार ही भक्त सुमन्त्रके प्रति प्रभुके सेवक गुहका सौहार्द प्रकट है।

संगति : चौ० ५ दो० १४२ में 'फिरेउ निषादु प्रभुहि पहुँचाई'से प्रभुको 'बिटप-तर बासू' तक पहुँचाकर गुहका सुमन्त्रके पास लौटना कहा गया था, उसके बीचके

---

१. पश्येन्नृपो हस्तिरथाश्वचर्यां सामूहिकं योधगणं पृथक् च। नी० सा० स० १६

वर्णनमें ग्रन्थका जो उच्छेद हुआ था उसको 'फिरेउ पहुँचाई'से जोड़कर ग्रन्थकी एक वाक्यता दिखाते हैं (यह ग्रन्थकारको कला सराहनीय है।)

चौ०–गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरहु बिषादु बरनि नहि जाई ॥१॥
चले अवध लेइ रथहि निषादा। होहिं छनहि छनमगन विषादा ॥२॥

भावार्थ : सारथि सुमन्त्रको मार्गपर पहुँचाकर गुह लौटा। उस समय सारथि और घोड़ोंकी विरहव्यथाका वर्णन करना सम्भव नहीं है। रथको लेकर चारों निषाद (सुसेवक चारि) अवधकी ओर चले, पर वे भी विषादग्रस्त होने लगे अथवा सारथि और घोड़े प्रतिक्षण विषादमें डूबते हुए चले।

विशेष वक्तव्य

शा० व्या० : 'लेइ रथहि'से स्पष्ट होता है कि 'छनहि छन मगन बिषादा'की अवस्थामें सारथि और घोड़े चलनेमें असमर्थ हैं, इसलिए चारों निषाद घोड़ोंको साधकर सारथ्यकर्ममें सहायता कर रहें हैं। इससे सुसेवक निषादोंकी अश्वकला प्रदर्शित है।

सन्तके विरहमें 'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं'के अनुसार स्नेहकी विरह-व्यथाका वर्णन कविके लिए अशक्य या अवेद्य है जिसको 'बरनि नहि जाई'से व्यक्त किया है।

मन्त्रीके विचार पर विशेष विचार

संगति : रामविरहमें व्याकुल दीनावस्थाको प्राप्त सुमन्त्रका सोच-विचार बड़े महत्त्वका है जिसका वर्णन कवि आगे करेंगे। इसमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी युक्तियाँ उनके बलाबलका विचार, परामर्श आदि करते हुए सुमन्त्रकी 'पण्डित परमारथ ज्ञाता'की योग्यता यथार्थता प्रदर्शित होगी। सुमन्त्रके सोचमें दो विषय हैं—एक अपने जीवनका अस्तित्व रखना, (पूर्व पक्ष) और दूसरा जीवनकी समाप्ति (उत्तर पक्ष) किन्तु वैसा न होना। इन पक्षोंके निरूपणमें जोवनसे अन्वयव्यतिरेक और प्रतिबन्धक तत्त्वोंको स्फुट किया जायगा।

चौ०–सोच सुमंत्र विकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना ॥३॥
रहहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ॥४॥
भए अजस अघभाजन प्राना। ....

भावार्थ : रामविरहके दुःखसे व्याकुल दीन सुमन्त्र सोच रहे हैं कि रघुवीर रामजीसे रहित जीवनको धिक्कार है। अन्तमें तो इस अधम शरीरको रहना नहीं है, तब रघुवीरसे बिछुड़ते ही शरीर छोड़कर क्यों न यशसूको प्राप्त कर लिया जाय? अभी तो प्राण पापका भागी बनकर अपयशसूका पात्र हो रहा है।

पूर्वपक्ष

शा० व्या० : 'धिग् जीवन'से भक्तोंके लिए श्रीरामका अदर्शन ही जीविता-

भावका कारण सिद्धान्तपक्षमें बताना है। पूर्वपक्षमें स्वामी श्रीरामसे अलग होकर जीवनको क्यों नहीं रखना? यह प्रश्न सुमन्त्रने उपास्थापित किया है जिसका निरास उत्तरपक्षमें इस प्रकार है—

उत्तरपक्ष

सेवक और स्वामी दोनोंकी आदर्शप्रीति सेव्य-सेवक-भाव (स्वामी और अनुजीवीकी प्रीति) पर आधारित है। आत्मगुणसे सम्पन्न स्वामीके धर्मार्थकामकी प्रवृत्तिमें निराकांक्ष रहते सेवक अनुवृत्त रहता है तथा अधर्म, अनर्थ एवं विद्वेषके प्रसंगसे बचाता रहता है। दासभावमें सेवककी सेवाको देखकर स्वामी आनन्दका अनुभव करता है। 'सोच बिकल दुख दोना'से स्वामीसे अलग होकर कार्य करनेमें सेवक सुमन्त्रका दुःख प्रकट है। 'अधम सरीरू'से स्वामीकी सेवासे वंचित शरीरको अधम कहा है। जब शरीरका विनाश होना निश्चित ही है तो प्रियतम प्रभुसे बिछुड़नेपर जीवित न रहनेमें ही भक्तिकी निष्ठा होती और लोकमें यशोभागी होता। स्वामीकी सेवासे विरत होकर जीना सेवकके लिए पाप है।

संगति : उत्तरपक्षमें सुमन्त्रका जो विचार कहा गया उसीका भाष्य कहा जा रहा है।

चौ०-.. कवन हेतु नहि करत पयाना ॥५॥
अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥६॥

भावार्थ : किस कारणसे प्राण शरीरको छोड़कर नहीं जा रहा है? बड़े दुःखकी बात है कि इस मूर्ख मनस्ने अवसर खो दिया। अभी भी हृदय दो टुकड़ोंमें नहीं फट जाता।

मनस्की मन्दता व कठोरता

शा० व्या० : प्रश्न—जब प्रभुसे रहित होनेपर वह पाप और अपयशस्का भागी हुआ है तो प्राण क्यों नहीं चला जाता?

उत्तर—इसके उत्तरमें सुमन्त्रका विचार है कि 'बरबस राम सुमन्त्र पठाए'के अनन्तर प्रभुको नौकापर बैठकर जाते देखा, रघुनाथजीसे बिछुड़नेका अवसर ही प्राणप्रयाणका अवसर था। मनस्की मूढ़ता यही है कि प्राणत्यागका ऐसा सुयोग आनेपर भी वह चूक गया। अथवा श्रीरामको वन जानेसे बलपूर्वक न रोकना ही मनस्की मन्दता है। उस चूकके लिए जो पछतावा हो रहा है उसको 'अहह'से व्यक्त किया है।

'अवसर चूका'की एकवाक्यता आगे चौ० १ दो० १५३में 'तेहि अवसर'की व्याख्यामें स्पष्ट किया जायगा। इसी प्रकार 'हृदय न होत दुइ टूका'की एकवाक्यता चौ० २ दो० १५३में 'कुलिस धरि छाती'से समझनी होगी।

उपरोक्त चौ० ३ दो० १४२में 'परेउ धरनितल व्याकुल भारी'से रामविरहका

जो बज्राघात लगा था उसके परिणाममें सुमन्त्र 'अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका' कह रहे हैं।

संगति : सुमन्त्रके पश्चात्तापका विशेष अनुभाव आगे व्यक्त किया जा रहा है।

चौ०—मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहुँ कृपन धनरासि गँवाई ॥७॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥८॥

भावार्थ : हाथ मलकर और सीर पीटकर सुमन्त्र पछता रहे हैं मानो कंजूस व्यक्ति अपना संचित धन खो जानेपर पछताता हो। श्रेष्ठ वीर कहा जानेवाला युद्धका साज बाँधकर लड़ाईके मैदानमें जाय और वहाँसे डरकर भागे, वैसा ही पछतावा सुमन्त्रको हो रहा है।

असफलतामें पश्चात्ताप

शा० व्या० : साहित्यमें हाथ मलना, सिर पीटना आदि पश्चात्तापका अनुभाव कहा गया है। वही सुमन्त्रके पश्चात्तापसे दिखाया गया है। 'कृपन धनरासि गँवाई'का भाव है कि श्रीरामरूपी धनके चले जानेपर सुमन्त्र ऐसा पछता रहे हैं जैसे कोई कृपण अपनी असावधानी या अकर्मण्यतासे संचित धनराशिके हाथसे निकल जानेपर दुःखी होकर पछताता है। दूसरे दृष्टान्तमें 'बिरिद बाँधि'का भाव है कि 'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा' तथा दो० ८१में कहे अनुसार राजाने सुमन्त्रको सर्वाधिकार-सम्पन्न करके तीनोंको लौटानेके लिए भेजा था। 'बीरु कहाई'का भाव है कि राजा सुमन्त्रको तीनोंको लौटानेकी योग्यतासे पूर्ण समझते थे। 'चलेउ समर'से उक्त योग्यतासे सम्पन्न होकर सुमन्त्रने रथको लेकर जाना है यही सुमन्त्रका 'सुभट' रूप है। 'चलेउ पराई'से योद्धाका युद्धमें पीठ दिखाकर भागना है अर्थात् सुमन्त्रका तीनोंको लौटानेमें असफल होकर लौटना है।

ज्ञातव्य है कि सुमन्त्र जीवित लौटनेके विचारमें प्रीतिके अभावका अनुमान करेंगे। जिसका समाधान उत्तरपक्षमें 'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी' (चौ० ४ दो० १४५)से होगा।

संगति : श्रीरामका विरह सुमन्त्रके अतिरिक्त अन्य लोगोंको भी है। पर परमार्थं ज्ञानी होते हुए, सुमन्त्रको जीवित रहनेमें अतिप्रौढ़ ग्लानि क्यों हो रही है ? उसका प्रकार विशेष कवि अग्रिम दोहेमें दिखा रहे हैं।

दो०—बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मदपान कर सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४४॥

भावार्थ : जैसे कोई वेदका ज्ञाता, विवेकी, लोकप्रतिष्ठित, साधु एवं उच्च-जाति ब्राह्मण धोखेसे मदिरापान कर ले तो उसको जैसा पश्चात्ताप होता है, वैसा ही मन्त्रीको शोक हो रहा है।

ग्लानिमें मदिरापायिविप्रका साधर्म्य

शा० व्या० : उक्त दृष्टान्तमें विप्र उपमान और सुमन्त्र उपमेय हैं। जात्या एवं व्यक्त्या दोनों पृथक् हैं पर साधारण धर्म—विवेकित्व, वेदवित्त्व साधुत्व, सुजातित्व[1] दोनोंमें समान है। 'वेदविद्'का भाव है कि जैसे विप्र वेदाध्यायी है वैसे ही सुमन्त्र पुराणादिके माध्यमसे वेदके ज्ञाता हैं। 'विवेकी'का भाव है कि वेदार्थको ठीक-ठीक समझकर कार्याकार्यके विवेचनकी शक्ति दोनोंमें है। 'सुजाति'का भाव है कि वेदप्रतिपादित चातुर्वर्ण्यके अन्तर्गत दोनों सांकर्यदोषसे रहित सुजाति हैं। 'संमत साधु'का भाव है कि वेदप्रमाणानुयायी होनेसे दोनों शोभनीय गुणोंसे सम्पन्न विनीत हैं। अतः साधुसम्मतिके पात्र हैं, अथवा दोनों लोकप्रतिष्ठित हैं। तथाकथित विप्र मदिरापान करनेका प्रमाद नहीं करेगा। यदि भूलसे या धोखेमें मदिरापान कदाचित् हो जायगा तो प्रायश्चित करेगा। उसी प्रकार तथोक्त गुणसम्पन्न सुमन्त्र स्वामीका विछोह नहीं होने देंगे। यदि उपेक्षया या प्रमादसे स्वामीसे अलग हो जायँ तो विप्रके पश्चात्तापके समान वे ग्लानि करेंगे हो। सुमन्त्र जैसे 'पण्डित परमारथग्याता'की रामरहित जीवनको रखनेमें उक्त ग्लानि 'जुगुति पहिचाने'के अन्तर्गत श्रीरामके प्रभुत्वकी सूचक युक्ति कही जायगी। इस दृष्टिसे सुमन्त्रकी ग्लानिके वर्णनका औचित्य समझते हुए प्रजाकी ग्लानिसे इसका पृथग्वर्णन शोभनीय है।

संगति : प्रभुके वियोगमें ज्ञान, विवेक आदि सम्पन्न सेवककी ग्लानिको दिखाकर अब कवि मीमांसम्मतप्रकृतिक प्रीतिपूर्ण पतिव्रता स्त्रीके प्रेमतत्त्वको दिखाकर उसके अतिदेशमें सुमन्त्रकी प्रीतिका प्राकट्य दिखा रहे हैं।

चौ०—जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥१॥
रहै करमबस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥२॥

भावार्थ : जैसे कोई परमसाध्वी कुलीना स्त्री, जो मनसा-वाचा-कर्मणा पतिको ही देवता माननेवाली हो, किसी कर्मके वश पतिको छोड़कर अलग रहे तो उसके हृदयमें जैसा तीव्र सन्ताप रहता है वैसा ही मनस्ताप श्रीरामको छोड़कर आनेमें सुमन्त्रको हो रहा है।

प्रतिव्रताकी प्रीतिका अतिदेश

शा० व्या० : पतिव्रताके उपरोक्त विशेषण 'कुलीन'से स्थायी प्रीति, 'साधु सयानी', 'विवेकी वेदवित् सम्मत साधु सुजाति' तथा 'पति देवता करम मन बानी'से विश्वासार्हता व्यक्त है। अनन्यप्रीति रखनेवाली पतिव्रताको पतिनिष्ठामें ही सम्पूर्ण मनोरथ एवं परमानन्दकी प्राप्तिका सुख होता है। यदि अपने किसी कर्म या विधिके कारण पतिव्रताको पतिसे अलग रहना पड़ता है तो प्रियतमके अभावका दुःख उसको जलाता रहता है, जैसा सीताने अशोकवाटिकामें अपना विरहोद्गार हनुमानजीके

---

१. सांकर्यहीन जातिकी शुद्धता ही 'सुजाति'से विवक्षित है।

सामने व्यक्त किया अथवा शिवजीने त्यक्ता होनेपर भी सतीके बारेमें 'हृदयँ सोच समुझत निज करनी। चिन्ता अमित जाइ नहिं बरनी' (चौ० १ दो० ५८ बा० का०) में कहा है। यद्यपि पतिव्रतामें इतनी शक्ति है कि वह प्रियतमके अभावको होने नहीं दे सकती, पर विधिके विधानके आगे वह अवशा हो जाती है। प्रभुके प्रति अनन्यप्रीतिके कारण रामविरहमें सुमन्त्र ऐसे ही सन्तापका अनुभव कर रहे हैं।[1]

संगति : सुमन्त्रके उक्त विरहजन्य दुःखमें उनका इन्द्रियगत सात्विक अनुभाव प्रकट कर रहे हैं।

चौ०-लोचन सजल डीठि भइ घोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी ॥३॥
सुखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ॥४॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी।..

भावार्थ : सुमन्त्रके नेत्रोंमें आँसू भर गया, आँखोंकी दृष्टि बन्द हो गयी, कानोंसे सुनाई नहीं पड़ता, विकलतामें बुद्धि स्तब्ध हो गयी, होंठ सूख गये, कण्ठ सूख गया, पर हृदयमें अवधिरूप कपाट प्राणोंको जाने नहीं देता। शरीर ऐसा विवर्ण हो गया कि देखा नहीं जाता (मृत्युके समयके चिह्न हैं)

सुमन्त्रकी समाधिदशा

शा० व्या० : 'धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्य मनसः'के अनुसार धारा-प्रवाहात्मक समाधिसदृश विरहजन्य चिन्ता सुमन्त्रके मनस्में व्याप्त हो गयी—जिसको असंप्रज्ञात समाधि कहा जायगा। इन्द्रियोंका नियम और विषयान्तरका प्रतिरोध स्वभावतः हो गया जैसे अश्रुपात, दिखायी न पड़ना, सुनायी न पड़ना, होठ सूखना, कण्ठावरोध हो जाना आदि। सुमन्त्रकी यह चिन्ता विप्रलम्भ भावमें रतिका पोषक होती हुयी मूर्छावस्थातक पहुँचा रही है[2]

देवीकी मरणशङ्काका समाधान

शिवजीसे रामकथा सुनते हुए सुमन्त्रकी चिन्तासन्न अवस्थाका वर्णन सुनकर सुमन्त्रके मरणकी सम्भावनामें पार्वतीका चिन्ता-भाव देखकर उसकी सान्त्वनाके लिए शिवजी बीचमें ही 'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी' बोल गए अर्थात् राजाके वचन 'सुबस बसिहि फिरि अवध सुनाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई'के अनुसार चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर प्रभुका मिलन होगा—यह आशा सुमन्त्रको मृत्युसे बचानेमें कपाटका काम कर रही है जिससे सुमन्त्रका प्राण नहीं जायगा। सुमन्त्रका

---

१. अयोध्या लौटकर राजाके सामने कही सुमन्त्रकी उक्ति स्मरणीय है—
'जनम मरन सब सुख भोगा। हानि लाभु प्रियमिलन बियोगा ॥
काल करम बस होंहि गोसाईं।
(चौ० ५-६ दो० १५०)।

२. चौ० ४ दो० १८३में 'सोक बिकल रघु सकइ न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी'से सुमन्त्रकी मूर्छावस्था स्पष्ट है।

प्राणान्त नहीं होगा, ऐसा पार्वतीको आश्वस्त करके शिवजी आगे सुमन्त्रकी मरणसन्न अवस्थाको 'बिबरन भयउ न जाइ निहारि'से व्यक्त कर रहे हैं।

संगति : सुमन्त्रकी ग्लानिमें होनेवाले विचारोंको कवि प्रकट कर रहे हैं।

.... मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥५॥

चौ०—हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पन्थ सोच जिमि पापी ॥६॥

भावार्थ : माता-पिताको मारनेसे जो पाप प्रयुक्त ग्लानि होती है वैसी ही ग्लानि सुमन्त्रके मनस्में पूर्ण रूपसे व्याप्त हो गयी मानो कोई पापी यमपुरके मार्गके चिन्तनमें शोकमग्न हो।

पूज्योंके अनादरमें ग्लानि हानि

शा० व्या : त्रेतायुगमें कोई वर्णाश्रमसमाजी यदि माता-पिताको पीड़ित या ताड़ित करता था तो उसकी मरणासन्न अवस्था हो जाती थी और माता पिताको मारनेवाले पापीको तत्काल हानि-ग्लानिका अनुभव होता था और यमपुरीकी यातनाका स्मरण होने लगता था। वेदप्रामाण्यकी सापेक्षतामें त्रयोके अधीन वर्णाश्रम समाजको नियन्त्रित रखनेमें परलोकभावना कार्यकारिणी है। पाप करनेमें ऐसा भाव प्रत्येक वर्णाश्रमीके हृदयमें जागुत होना ही भारतीय राजनीतिको इष्ट है। यही तात्कालिक राजशासनका प्रभाव यहाँ दिखाया गया है। 'विपुल मन व्यापो'से सुमन्त्रके हानि ग्लानिका विस्तृत विचार आगे चौ० ४ दो० १५३ तक 'हानि ग्लानि सोच बस भयउ'से कहकर समाप्त करेंगे। हानिमें मुख्यतया राजाकी मृत्यु है। ग्लानिकी विपुलता सुमन्त्रके पश्चात्ताप, माताओंके दुःख, प्रजाके दुःख आदिमें व्यक्त है।

संगति : उत्तर पक्षमें उठाये गये अपने जीवनके अस्तित्वके अभावका विचार पूर्ण करके उसीके उपोद्घोलनमें सुमन्त्र अब जीवित रहनेमें अपना सोच विचार प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—बचनु न आव हृदयँ पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई ॥७॥
रामरहित रथ देखहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥८॥

भावार्थ : सुमन्त्रसे कुछ बोलते नहीं बनता है, हृदयमें पश्चात्ताप हो रहा है। वे सोच रहे हैं कि अवधमें लौटकर श्रीरामसे रहित रथको जो देखेगा वह केवल मुझको देखकर संकुचित हो जायगा।

जीवित रहनेमें सुमन्त्रके ताप

शा० व्या० : मरणासन्न अवस्थामें सुमन्त्रको जो ग्लानि हो रही है उसमें वह कुछ भी बोल नहीं पा रहे हैं। भीतरसे उनको यही प्रश्चात्ताप हो रहा है कि अयोध्यामें जाकर वे अपना मुँह कैसे दिखावें? क्योंकि श्रीरामके रथको देखते ही जो जो पासमें आवेंगे वे तीनों मूर्तियोंसे शून्य रथको देखकर मेरा मुँह देखनेमें सङ्कोच करेंगे।

संगति : 'अवध काह मैं देखब जाई'की कल्पनामें सुमन्त्र सोच रहे हैं कि अयोध्यामें पहुँचनेपर क्या-क्या होगा ?

दो०–धाइ पूछिहहिं मोहि जब बिकल नगर नर नारि ॥
उतरु देब मैं सबहिं तब हृदयँ बज्रु बैठारि ॥१४५॥

भावार्थ : श्रीरामजीके रथको देखकर दौड़कर आनेवाले आयोध्यावासी नर-नारी विकल होकर श्रीरामरहित रथ लानेके बारेमें पूछेंगे तो वज्रकी तरह हृदयको कड़ा करके ही मैं उनको उत्तर दे सकूँगा अथवा मेरे उत्तरसे उनको वज्राघातके समान दुःख होगा ।

सुमन्त्रकी विदारप्रणाली

शा० व्या० : रथको लेकर व्ययोध्यामें पहुँचनेमें सुमन्त्रकी विचारप्रणाली इस प्रकार है—'रामरहितं रथं न यामि अत्र किम् औचित्यं ? मां दृष्ट्वा सर्वे दीन भावं प्राप्नुयुः । अहमपि दीन भावं प्राप्स्यामि' । विरहव्याकुल अयोध्याके नरनारियोंके प्रश्नके उत्तरमें सुमन्त्रकी विचार प्रणाली इस प्रकार है 'रामं बने प्रेषयित्वा अहं आगमम्' 'इदं वचन कठोरं स्यात् अयोध्यावासिनां श्रवणे तेषुवज्राधातः स्यात्' ।

चौ०–पुछिहहिं दीन दुखित सब माता । कहब काह मैं तिन्हहि विधाता ॥१॥
पूछिहि जबहिं लखन महतारी । कहिहउँ कवन सन्देस सुखारी ॥२॥
रामजननि जब आइहि धाई । सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई ॥३॥
पूँछत उतरु देव मैं तेही । गे बनु राम लखनु बैदेही ॥४॥

:भावार्थ : दुःखिनी दीना सब माताएँ जब पूछेंगी तो हे विधात ! मैं उनको क्या कहूँगा ? जब लक्ष्मणजीकी माता पूछेंगी तो मैं उसको क्या सुखदायक सन्देश सुनाऊँगा ? जैसे हालकी बिआयी गौ अपने बछड़ेके लिए आकुल होकर दौड़ती है, ऐसे ही श्रीरामकी माता जब दौड़कर पूछेंगी तो मैं 'श्रीराम लक्ष्मण और सीताजी वनमें चले गये' कहकर उत्तर दूँगा तो उनकी क्या सहन होगा ?

शा० व्या० : पूर्वोक्त सुमन्त्रकी विचार प्रणालीका क्रम चल रहा है 'पुत्र-वत्सलाः मातरः पृच्छेयुः तत्र अनुत्तरं दोषः स्यात् उत्तरमपि न सम्भाव्यते । उत्तरदाने बज्रत्वं आपद्येत । रामविरहेणौजं क्षयात् दैन्येन अतिदैर्बल्यं उद्भवेत्' ।

मताका अर्थ

'सब माता'से यहाँ राजा दशरथकी अन्य सब रानियाँ समझनी चाहिए क्योंकि श्रीराम और लक्ष्क्षणकी माताओंका पृथक् उल्लेख किया गया है । 'सब माता'की एकवाक्यता चौ० १ दो० १४८में 'सब रानी'से स्पष्ट होती है ।

माताका उल्लेख क्रम

सुमन्त्रके विचारमें माताओंमें सर्वप्रथम 'लखन महतारी'का उल्लेख करनेमें कवि सुमित्रा माताकी गूढ़ भक्तिको प्रकाशित करना चाहते हैं । 'पूछिहि जबहिं

लखन महतारी'से सुमित्रा माताकी तीव्र आकांक्षा पूछनेकी यह है कि 'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपतिभगतु जासु सुत होई'की भावनामें उसने अपने पुत्र लक्ष्मणजीको रामसेवामें लगे रहनेका जो उपदेश छन्द ७५में दिया था उसका पालन लक्ष्मणजीने किस प्रकार किया है समझना है इसके अतिरिक्त और क्या सुखदायक सन्देश लक्ष्मणजीकी माताके लिए हो सकता है ?

'रामजननीके पूछनेके उत्तरमें' गे बनु राम लखन बदेही'से तीनोंके नामका उल्लेख करके कवि माता कौशल्याके सुमतित्व एवं समस्नेहको प्रकट कर रहे हैं। नत्रगमनमें लक्ष्मणजीके सेवकत्वसे सुमित्राका सुख और पित्राज्ञापालन धर्ममें तत्पर श्रीराम एवं पतिका अनुगमन करनेवाली सीताजीका पातिव्रत्य कौशल्या माताका सन्तोष और धैर्य व्यक्त किया गया है।

चौ०—जोइ पूँछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब यहु सुख लेबा ॥५॥

भावार्थ : जो जो पूछेगा उस उसको उत्तर देना पड़ेगा। अयोध्यामें लौटकर अब क्या यही सुख लेना बदा है ?

विधातासे प्रश्न

शा० व्या० : उत्तर न देना या मिथ्याभाषण-दोनोंमें दोष है। इसलिए सुमन्त्रने चौ० १में 'कहब काह मैं तिन्हहि विधाता'में विधातासे प्रश्न किया है कि अयोध्यामें जीवित लौटकर उक्त प्रकारसे सबको उत्तर देनेमें ही क्या जीवित रहनेका सुख है ? सुमन्त्रके जीवित रहनेका उत्तर विधाताकी ओरसे वही समझना चाहिए जो शिवजीने 'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी'से सुनाया है।

चौ०—पूँछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना ॥६॥
देहउँ उतरु कौन मुहु लाई। आयउँ कुसल कुँअर पहुँचाई ॥७॥

भावार्थ : राजा दशरथका जीवन तो श्रीरामजीकी उपस्थितिके अधीन है। रामविरहजन्य दुःखसे दीन राजा जब पूछेंगे तो मैं कौन सा मुँह लेकर उत्तर दूँगा ? 'राजकुमारको कुशलपूर्वक वनमें पहुँचाकर आ गया हूँ' ऐसा कहना क्या ठीक हो सकता है ?

संगति : सबसे बड़ी चिन्ता राजाको उत्तर देने में है, इसका विचार सुमन्त्र कर रहे हैं।

चौ०—सुनत लखन सिय राम सन्देसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ॥८॥

भावार्थ : उत्तरमें मेरे द्वारा श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीका सन्देश सुनते ही राजा अपना शरीर तिनकेके समान छोड़ देंगे।

सन्देशके सुननेमें नामक्रमका प्रयोजन

शा० व्या० : वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादामें पुत्रका कोई कड़ा शब्द अथवा उच्चारणमें कठोरता या मर्यादातीत जोरसे बोलना पिताके दुःखका कारण होता है।

लक्ष्मणजीके 'कटु बानी'का सङ्केतमात्र पिता दशरथको दुःखद होगा, इसकी कल्पना करते हुए सुमन्त्रको तीनोंके सन्देश सुनानेमें लक्ष्मणजीका नाम प्रथम याद आ गया इसलिए 'लखन सिय राम सन्देसू' में 'लखन'का प्रथम उल्लेख कविने किया है।

दो०--हृदय न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥१४६॥

भावार्थ : कीचड़-पानीके मिलनमें जैसे कीचड़ अपने प्रियतम पानीसे अलग हो जानेपर फट जाती है (उसकी जमीहुई तहमें दरार पड़ जाती है) वैसे ही अपने प्रियतम रघुनाथजीसे बिछुड़नेपर मेरा हृदय नहीं फटा। मालूम होता है कि विधाताने यह यातना (कष्ट) सहनेको ही मुझको ऐसा (कठोर) शरीर दिया है।

यातनाका जन्मदाता शरीर

शा० व्या० : सुमन्त्रके उक्त विचारकी एकवाक्यता चौ० २से ५ दो० १५३में द्रष्टव्य होगी। जैसे जलके सान्निध्यसे पंकको स्थिति सुदृढ़ बनी रहती है वैसे ही प्रीतिके अधिष्ठान श्रीरामके सान्निध्यमें अयोध्यामें शरीरमें सुखको स्थिति बनी रही। स्वर्गसुख भोगनेवाला शरीर जैसे क्षीणपुण्य होनेपर यमपुरीमें यातनाशरीर धारण करता है वैसे ही विधाताने सुमन्त्रके शरीरको रघुनाथजीके सान्निध्यसे छुड़ाकर रामविरहका दुःख स्वयं भोगने तथा राजा, रानियों, माताओं, परिजनों, प्रजा आदिको रामवन-गमनका सन्देश सुनाकर अति दुःखी बनानेके हेतु यह दूसरा यातना-शरीर दिया है। चौ० ६ दोहा १४५में 'हानि गलानि बिपुल मन व्यापी। 'जमपुर पन्थ सोच जिमि पापी'के अनुसार सुमन्त्र उक्त यातना-शरीरकी कल्पना कर रहे हैं।

संगति : चौ० ३ दोहा १४४में 'सोच सुमन्त्र बिकल दुख दीना'से सुमन्त्रके आन्तरिक विचारोंमें उनका पछतावा कविने यहाँतक गाया, उसका उपसंहार 'एहि बिधि'से करते हुए अब आगेका प्रसङ्ग कहा जा रहा है।

चौ०--एहि बिधि करत पन्थ पछितावा। तमसातीर तुरत रथ आवा॥१॥

भावार्थ : इस प्रकार रास्तेमें पछतावा करते हुए सुमन्त्रका रथ अतिशीघ्र तमसा नदीके किनारे पहुँच गया।

सुमन्त्रके विचारका उपसंहार

शा० व्या० : 'तुरत'से स्पष्ट होता है कि रथ बिना रुके तमसा नदीतक आ गया। सोचविचारमें मग्न हो जानेपर समयका भान नहीं रहता, इसलिए सुमन्त्रको पता नहीं चला कि कब रथ तमसातीरपर पहुँच गया। यहाँ गुहके अनुचरोंकी अश्वकलाका परिचय ज्ञात होता है। उन्होंने बिगड़े हुए घोड़ोंको सुधार कर बहुत जल्दी पहुँचा दिया। मूढ भूमिकामें पशुओंके स्वभावकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि सवारीमें जोतनेके बाद लौटकर निवासस्थलकी ओर जानेमें घोड़े मोहमें भूल गये और त्वरित गतिसे चले आये। स्मरण रखना है कि सुमन्त्रके पछतावामें मुख्य बाते रामरहित रथको लेकर आना है।

संगति : चौ० १से दो० १४३में गुहके वचनसे प्राप्त धैर्यकी स्थिति सुमन्त्रके आग्रिम चरित्रमें प्रदर्शित की जा रही है जिसमें सुमन्त्रकी सत्यता, मन्त्रिता, बुद्धिमत्ता, धृतिमत्ता, कर्तव्य-परायणता और रामभक्ति प्रकट होती है ।

चौ०–बिदा किए करि बिनय निषादा । फिरे पाँय परि बिकलबिषादा ॥२॥

भावार्थ : सुमन्त्रने विनयपूर्वक निषादोंको बिदा किया । वे निषाद (साथ छोड़नेमें) दुःखसे व्याकुल होते हुए सुमन्त्रके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गये ।

धैर्यमें सुमन्त्रको कर्त्तव्यका स्मरण

शा० व्या० : धैर्यवान् होते ही सुमन्त्रको राजाके आदेश 'फिरेउ गए दिन चारि'का स्मरण हुआ और अपने कर्तव्यका भान हुआ 'करि विनय'से निषादोंके सारथ्यकर्ममें सहायताकी कृतज्ञताका प्रकाशन विवक्षित है । 'फिरे पाँव परि'से राजमन्त्रीके प्रति यथोचित आदर भावके अतिरिक्त निषादोंका सन्तोष भी व्यक्त है कि सुमन्त्र अब स्वस्थ होकर रथको आगे ले जानेमें समर्थ हैं ।

निषादसेवकोंकी आज्ञाकारिता

निषादराज द्वारा नियुक्त चारों निषाद सारथ्यकर्ममें सुमन्त्रकी सहायता करनेमें अपना कर्तव्य पूरा करके लौटे तो पहले सुमन्त्र और घोड़ोंकी विकल दशाको देखकर दोहा १४२ में कहे 'व्याकुल भए निषाद सब'के अनुसार उनकी जो विकलता कही गयी थी, उसके संक्रमणका प्रभाव उनके लौटनेकी स्थितिमें दिखाया गया है । दोहा १४३ में 'बोलि सुसेवक चारि तब दिए सारथी संग'में कहा निषादोंका सुसेवकत्व यहाँ प्रकट किया गया है अर्थात् अपने स्वामीकी आज्ञापालनमें विषादकी स्थिति होते हुए भी उनके कर्तव्यमें चूक नहीं हुई ।

चौ०–पैठत नगर सचिव सकुचाई । जनु मारेसि गुर बाँभन गाई ॥३॥

भावार्थ : अयोध्यानगरीमें प्रवेश करनेमें सुमन्त्रीको ऐसा संकोच हो रहा है मानो उन्हींने गुरु या ब्राह्मणके गायकी हत्याकी हो ।

चौ० ५-६ दो० १४५ की एकवाक्यता

शा० व्या० : रघुनाथजीको छोड़कर आनेमें सुमन्त्रके रामविरहजन्य दुःखके सीमाकी कल्पना 'जनु मारेसि गुर बाँभन गाई'से की जा सकती है । चौ० ५-६ दो० १४५में पाप करनेवालेको ग्लानिका उल्लेख किया गया है, उसका शेषांश नगरप्रवेश-के अवसरपर कहा जा रहा है । जिसका तात्पर्य है कि ऐसे पापियोंको नगरमें प्रवेश करनेका निषेध है ।

वर्णाश्रमसमाजकी पापसे सहज निवृत्ति

अयोध्या पवित्र नगरी है जहाँ मदिरापानसे निवृत्ति, पूज्योंका आदर, विनयकी शिक्षा, गुरुओंमें विवेकवृत्ति, ब्राह्मणोंमें सत्यप्रवृत्ति, मंगलतमा गोकी पूजा

दूध घृतकी प्रचुरता, यज्ञोंका अनुष्ठान, अर्थशास्त्रोक्त दैवोपनिपातका अभाव आदि है। उसमें उक्त पापीको प्रवेश करते हुए स्वयंको कैसी ग्लानि होती थी, इसको सुमन्त्रके सोचके माध्यमसे स्पष्ट किया है।

जहाँ धर्मशास्त्रके सिद्धान्तमें स्थिर वर्णाश्रमी जनता है वहाँ राजदण्डके बिना गुरु, ब्राह्मण, गौकी हत्या करनेवाले महापातकीको प्रकाशदण्डके रूपमें नगरप्रवेशका निषेध या अपना मुँह दिखानेमें ग्लानिका अनुभव कठोर नहीं मालूम होता है। धर्मराज्यमें नगर या गाँवमें उक्त अपराधोंको प्रोत्साहन नहीं मिलता, किं बहुना वर्णाश्रमीसमाजको राजदण्डके बिना ऐसे अपराधसे निवृत्त होनेमें स्वयं सुखानुभूति होती है इसको निम्नलिखित उदाहरणसे समझा जा सकता है।

जैसे नागरिक व्यक्ति नग्न होकर बाहर निकलनेमें स्वयं हीनताका अनुभव करता है। वस्त्रपरिधान करके उज्ज्वलमुख होकर बाहर निकलनेमें शोभा समझता है—इसमें राजशास्त्रका कोई प्रश्न नहीं है। पागलोंकी बात छोड़ दी जाय, अन्य कोई नागरिक नग्न होकर निकले तो उसकी नग्नताकी चर्चा समाजमें होने लगती है। वैसे ही उक्त अपराध या पापकी धारणा वर्णाश्रम समाजमें वैसी ही है जिसका फल था कि समाजमें उक्त पापोंके प्रति सहज ही प्रवृत्ति नहीं होती ।

चौ०—बैठि बिटपतर दिवसु गँवावा। साँझसमय तब अवसरुपावा ॥४॥
अवधप्रवेसु कीन्ह अँधिआरे। पैठ भवन रथु राखि दुआरे ॥५॥

भावार्थ : अयोध्यापुरीमें प्रवेश करने पर सुमन्त्रने पेड़के नीचे रुककर दिन बिताया। सायंकाल होनेपर आगे बढ़नेका मौका पाया। अँधेरा हो जानेपर पुरीके भीतर प्रवेश किया। फिर वे रथको द्वारपर रखकर राजभवनमें घुसे।

रात्रिमें सुमन्त्रप्रवेश व अवसरुपावाका भाव

शा० व्या० : जब तक राज्याधिकारीके उपस्थितिकी व्यवस्था न हो तबतक राजाकी मृत्युको गोपनीय रखना राजनीतिसम्मत हैं। सुमन्त्र बुद्धिमान् मन्त्री है, अतः राजाकी मृत्युसे शासकके अभावमें होनेवाली दुर्व्यवस्थापर उनको ध्यान है। चौ० ८ दो० १४६ में 'सुनत लखन सिय राम सन्देसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू'से सुमन्त्र अनुमान कर चुके हैं कि राजा सन्देश सुनते ही प्राणत्याग कर देंगे। दिनमें राजाकी मृत्यु घटित होनेसे उसकी खबर छिपी रहना सम्भव नहीं होगा, इसलिए रात्रिमें राजप्रसादमें जाना उचित होगा—यही 'अवसर पावा'का भाव है।

'अँधिआरे'से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि 'आए अवध भरे परितापा। विषम वियोग न जाइ बखाना'की स्थितिमें बैठे पुरवासियोंने राजाकी पीड़ासे आक्रान्त हो घरमें दिया भी न जलाया हो। इसलिए नगरमें अँधेरा और सूनसान देखकर सुमन्त्रने प्रवेश करनेका अवसर समझा। राजाके आदेशानुसार सुमन्त्रको चौथे दिन अवश्य लौटना है। 'अवसर पावा'का यह भी तात्पर्य है कि यह चौथा दिन ही है।

सब राज्याधिकारी सुमन्त्रसे परिचित हैं, अतः बिना रोक टोकके उसका रथ राजभवन तक पहुँचना युक्ति संगत है। 'पैठ भवन'से कैकेयीका महल समझना चाहिए क्योंकि सुमन्त्रके चलते समय राजा वहीं थे।

संगति : रथकी आवाज सुनकर कुछ नगरवासियोंको रथके आनेकी आहट लगी।

चौ०—जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूप द्वार रथु देखन आए॥६॥
रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे॥७॥

भावार्थ : जिन जिनको रथके आनेकी खबर लगी, वे वे राजद्वारपर रथको देखनेके लिए पहुँच गये। श्रीरामके रथको उन्होंने पहिचान लिया। घोड़ोंको व्याकुल देखा, उनके शरीरसे पसीना ऐसा चू रहा था मानों तापसे ओले गलकर पानी बहा रहें हों।

कतिपयोंके पूछताछकी उपपत्ति

शा० व्या० : पहले कहा जा चुका है कि पुरवासी शोकमग्न थे। 'जिन्ह जिन्ह'से स्पष्ट किया गया है कि कुछ लोगोंको ही रथके आनेकी खबर लागी। उनसे कुछ और लोगोंको पता लगा। इसलिए कुछ लोग ही राजद्वारपर रथको देखने आये।' 'रथु पहिचानि'का भाव है कि जनता श्रीरामके रथके साथ कुछ दूरतक गयी थी, इसलिए उस रथको पहचानती थी अथवा राजद्वार पर कई रथ खड़े होंगे,[1] उनमें इस रथके घोड़ोंको हांफते और पसीनेसे तर देखकर उन्होंने पहचान लिया कि यही रथ अभी आया है। अनुमानप्राणाली इसको इस प्रकार कही जायगा' 'अयं रथः रामस्य, शरीरशैथिल्यातिशयस्वेदयुक्ताश्व सम्बन्धित्वात्'।

अश्वोंकी शिथिलता

'बैठि बिटपतर दिवसु गँवावा'से स्पष्ट होचुका है कि पेड़के नीचे विश्राम मिल गया फिर भी घोड़े थोड़ी दूर चलनेमें विकल हो गये हैं, इसका कारण, तृन चरहिं न पिअहिं जल नाचत लोचन बारि' (दो० १४२) है। अत्यन्त विकलतामें थोड़ी दूर चलना ही पहाड़ हो जाता है, पैर जल्दी उठते नहीं। और यह भी है कि नगरमें प्रवेश करते समय अश्वकलामें निपुण निषादोंकी सहायता घोड़ोंको नहीं मिली अतः उनकी विकलदशा होना स्वाभाविक है।

संगति : कविने जिस क्रमसे श्रीरामके संयोगमें राजा, माता, परिजन पुरजन आदिकी प्रीतिका वर्णन किया था, उसके विलोम क्रमसे रामविरहमें प्रजा परिजन, माता और अन्तमें राजाका विषाद कहेंगे।

चौ०—नगर नारिनर व्याकुल कैसे। निघटत नीर मीनगन जैसे॥८॥

---

१. राजद्वारपर हरसमय हाथी, घोड़े, रथ आदिके तैयार रखनेका विधान है।

भावार्थ : अयोध्यावासी स्त्री-पुरुष ऐसे व्याकुल हैं मानो जल घट जाने पर मछलियाँ विकल होती हों।

प्रजाका संकटमय जीवन

शा० व्या० : जलका सङ्ग न पाकर तड़पते हुए जिस प्रकार मछलियाँ किसी तरह कण्ठमें रहे जलसे थोड़े समयके लिए जीवन बनाए रखती हैं उसी प्रका श्रीरामके आनेकी आशामें प्रजा प्राणरक्षण कर रही थी।

दो०–सचिव आगमनु सुनत सबु बिकल भयउ रनिबास।
भवनु भयंकरु लाग तेहि मानहु प्रेतनिवास ॥१४९॥

भावार्थ : सुमन्त्रका आना सुनकर पूरा रनिवास व्याकुल हो गया। सुमन्त्रको वह महल ऐसा भयंकर मालूम होने लगा मानो उसमें प्रेतका वास हो।

रानियोंकी व्याकुलता

शा० व्या० : 'सचिव आगमनु सुनी'से स्पष्ट होता है कि रानियोंको मालूम हो गया कि सुमन्त्र श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीके विना अकेले लौटकर आये हैं। यही सब रानियोंकी व्याकुलताका कारण है। 'मानहुँ प्रेत निवास'का भाव है कि राजाके जीवनके बा मेें सन्देह होनेसे सुमन्त्रको अशुभका आभास हो रहा है।

संगति : कैकेयीके महलमें राजाको न देखकर सुमन्त्रके हृदयमें 'प्रेत निवासु'की भयंकरता व्याप्त हो रही है।

चौ०–अति आरति पूँछहिं सब रानी। उतरु न आँव बिकल भइ बानी ॥१॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृपु तेहि तेहि बूझा ॥२॥

भावार्थ : ('सब रानी'से कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा तीनोंको छोड़कर राजाकी अन्य सब रानियाँ विवक्षित हैं) अत्यन्त आर्त्ताएँ होकर सब रानियाँ श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके बारेमें पूँछ रही हैं, पर सुमन्त्रकी वाणी व्याकुलतामें अवरुद्ध हो गयी है इसलिए कुछ बोलकर वे उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। राजाको वहाँ न पाकर घबराहटमें उनको कुछ भी सुनाई या दिखाई नहीं पड़ रहा है। जो भी सामने आता है उससे केवल यही पूँछ रहे हैं कि राजा कहाँ हैं?

सुमन्त्रकी विकलतामें प्रतिबन्धकता

शा० व्या० : 'मानहुँ प्रेत निवासु'को भयंकरतामें सुमन्त्राका जो त्रास बढ़ा, उसमें उनकी एकमात्र जिज्ञासा 'कहहु कहाँ नृपति' है? जो स्वविषयान्यज्ञानका प्रतिबन्ध करती हुई 'सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा'की दशामें लाकर कामिनी जिज्ञासा जैसी स्थितिमें राजाको देखना चाहती है।

'उतरु न आव'में बिकल भइ बानी'से वही उत्तर ध्वनित है जो सुमन्त्रने अपने सोच-विचारमें चौ०४ दो० १४६में 'पूँछत उतरु देब मैं तेही। गे बनु राम लखन

वैदेही'से प्रकट किया है। उत्तर न देनेका यह भी अभिप्राय है कि राजाके सामने उत्तर प्रकाशित करना कविको इष्ट है।

संगति : राजा कहाँ हैं, इसको जाननेकी इतनी तीव्र व्याकुलता सुमन्त्रको इसलिए है कि उनको भय हो रहा है कि चौ० ८ दो० १४६ में कल्पित अनुमानके अनुसार कहीं राजाका शरीर सन्देश सुनानेके पहले ही तो नहीं छूट गया ?

चौ०–दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृहँ गइँ लवाई ॥३॥

भावार्थ : दासियोंने मन्त्रीकी ऐसी विकलता देखी तो वे तुरन्त उनको कौसल्याके महलमें ले गयीं।

शा० व्या० : ग्रन्थकारने यहाँ स्पष्ट किया है कि सुमन्त्रको रथ लेकर जानेकी आज्ञा देनेके बाद राजा दशरथ कौसल्याके भवनमें चले गये होंगे।

चौ०–जाइ सुमन्त्र दीख कस राजा। अमिअरहित जनु चंदु बिराजा ॥४॥

भावार्थ : सुमन्त्रने कौसल्याके महलमें जाकर राजाको देखा तो राजा ऐसे दिखलाई पड़े कि मानो अमृतविहीन चन्द्रमा शोभाहीन हो गया हो।

राजाके अन्तिम समयका ध्यान

शा० व्या० : चन्द्रमाकी शोभा उसकी अमृत वृष्टिसे हैं जो वनस्पतियों को जीवन दान करती हैं, उसी प्रकार राजा अपने स्नेहसे प्रजाको अह्लादित रखते हैं। कान्तिहीन राजाको 'अमिअरहित चन्दु'के समान देखना अन्तिमकालका सूचक है।

चौ०–आसन-सयन-विभूषन-हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना ॥५॥

भावार्थ : राजोचित अलंकारोंसे रहित, राजसिंहासन एवं पलङ्गको छोड़कर राजा एकदम मलिन दशामें जमीनपर पड़े हैं।

शा० व्या० : 'निपट मलीना'का भाव है कि 'आसन-सयन-विभूषन-हीना'से जैसी मलिनता बाहर दिखायी पड़ रही है वैसी ही मनस्‌की भी मलिनता है क्योंकि राजा शीघ्र ही शरीर और प्राणका त्याग करनेवाले हैं।

चौ०–लेइ उसासु सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खसेउ जजाती ॥६॥

भावार्थ : ऊर्ध्वश्वांस लेते हुए राजा ऐसा शोक व्यक्त कर रहे हैं मानो स्वर्गसे गिरते हुए राजा ययातिकी दशा हो।

ययातिका साधर्म्य

शा० व्या० : तत्कालमें 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति'के अनुसार राजा ययातिका स्वर्गसुखसे वञ्चित हो पुण्य क्षीण होनेपर जैसे सुरलोकसे पतन हुआ उसी प्रकार यहाँ 'आसन-सयन-विभूषन-हीना'से राजा दशरथका पुण्यभोगसे वञ्चित होना और 'परेउ भूमितल' पतन होना ययातिके दृष्टान्तसे दिखाया गया है।

प्रभुप्राप्तिमें पुण्यपुञ्ज सहायक है

मत्स्यपुराणके अनुसार ययाति राजाकी भगवत्प्राप्तिको ध्यान रखते हुए निम्न-लिखित सिद्धान्त स्मरणीय है।

भक्तिसिद्धान्तमें राजा दशरथके लिए यह कहना कि श्रीरामकी प्राप्तिके बाद उनका पुण्य समाप्त हो गया, अशोभनीय है। दो० ७७ की व्याख्यामें स्पष्ट किया गया है कि राजाका पुण्यपुञ्ज ही उनको श्रीरामके प्रभुत्वका प्रबोध करानेमें सहायक हुआ है। भक्तिके प्रभावसे उपासकोंके बहुतसे पाप कट जाते हैं। जो पाप बच जाते हैं वे भी उनके सच्चरित्रमय जीवनमें सूक्ष्मदण्डका प्रदर्शनमात्र कराकर शान्त हो जाते हैं। न्यायालयके विधानमें भी ऐसी व्यवस्था देखी जाती है कि आदर्शमय जीवन व्यतीत करनेवालेसे यदि कोई अपराध हो भी जाय तो उसको दण्डित करनेका क्रम सूक्ष्म या नहींके बराबर रहता है। उदाहरणार्थ 'सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी' (किष्किन्धाकाण्ड चौ० ४ दो० १८)से रामकाजको भूलनेका दण्ड सुग्रीवको 'भय देखाई लै आवहु' कहा गया है। राजा दशरथका वर्तमान दशामें राज्य-सुखभोगसे हीन दिखायी पड़ना उनके पुण्यका क्षय है जो रामविरहसन्तापात्मक दण्डके रूपमें परिणत हो रहा है जो अन्तसमयमें श्रीरामनामका उच्चारण करते हुए प्रभुकी स्मृतिमें देहत्याग करायेगा—सम्पूर्ण धर्मोंकी विश्रान्ति इसीमें है।

चौ०—लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥७॥

भावार्थ : हृदयमें प्रत्येक श्वासोच्छ्वासमें क्षण-क्षणपर उनको रामविरहका शोक हो रहा है मानो (सूर्य द्वारा) दग्धपंख होनेपर सम्पाति भूमिपर पड़ा हो।

शा० व्या० : सूर्यके तापसे अपने पंखोंकी दग्धताका कष्ट होनेपर भी सम्पातीने अपने भाई जटायुकी रक्षा करते हुए पतनका दुःख सहा। उसी प्रकार रामविरह-सन्ताप सहते हुए धर्मकी प्रतिष्ठामें राजा आसनविभूषणहीन होकर भूमिपात सह रहे हैं। जिस प्रकार पंखहीन हो भूमिपतनके दुःखको सहनेमें 'तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता'का आश्वासन मुनिसे सम्पातीको मिला, उसी प्रकार धर्म राजाको इस विरहावस्थामें रामनामका स्मरण कराते हुए सद्गतिमें ले जायगा।

चौ०—राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही ॥८॥

भावार्थ : (भूमिपर पड़े राजा) प्रभुके विशेष स्नेहपात्र हैं। जिससे श्रीरामका नाम और उनके अंगभूत लक्ष्मण सीताजीका नामोच्चारण कर रहे हैं।

कीर्तनविधि

शा० व्या० : स्मरण रखना है कि वनवासी श्रीरामके साथमें तीनों मूर्तियोंका ध्यान व कीर्तन करनेकी विधि कही गयी है। अतः राजा श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजीका नामोच्चारण कर रहे हैं।

संगति : सुमन्त्रकी सात्विकताका परिचय आगे दिया जा रहा है जिसमें

उनकी 'सुनइ न श्रवन नयन नहि सूझा'की दशा समाप्त होकर राजाको सन्देश सुनानेकी धीरता आ रही है।

दो०-देखि सचिवँ जय जीव कहि कीन्हेउ दण्ड प्रनामु।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति कहु सुमन्त्र कहँ रामु ॥१४८॥

भावार्थ : राजाको देखकर सुमन्त्रने 'जयजीव' कहकर उनको दण्डवत् नमस्कार किया। सुमन्त्रकी बोली सुनते ही व्याकुल हो राजा उठे और पूछने लगे कि श्रीराम कहाँ हैं ?

सन्देशशुश्रूषा

शा० व्या० : श्रीरामके सम्बन्धमें सन्देश सुननेकी व्यग्रतामें राजाके मुखसे 'कहँ रामु' पूछनेमें राम नामोच्चारण होता जा रहा है।

चौ०-भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई ॥१॥

भावार्थ : सुमन्त्रको हृदयसे लगानेमें राजाको कुछ सन्तोष मिला मानो डूबतेको तिनकेका सहारा मिला हो।

राजाको आश्वासन

शा० व्या० : इस समय सुमन्त्रका आलिंगन करनेमें राजाका विशेष स्नेह श्रीरामके सम्बन्धसे है। 'बूड़त'से ध्वनित है कि राजा कालप्रवाहमें डूबनेवाले हैं। 'कछु अधार'से स्पष्ट है कि सुमन्त्रसे मिलना राजाके जीवनका अल्पकालिक आधार है।

चौ०-सहित सनेह निकट बैठारी। पूँछत राउ नयन भरि बारी ॥२॥
रामकुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथु लखनु बैदेही ? ॥३॥

भावार्थ : बड़े प्रेमसे सुमन्त्रको पासमें बैठाकर आँखोंमें आँसू भरकर राजा पूछ रहे हैं 'हे स्नेहिन् सखे' ! श्रीरामकी कुशलता बताओ। रघुनाथ श्री रामजी लक्ष्मणजी और सीताजी कहाँ हैं ?

सुमन्त्रसे राजप्रश्न

शा० व्या० : 'राम कुसल कहु'से व्यक्त हो रहा है कि राजाको कैकेयीके वरदानके वचनानुसार श्रीरामके आनेकी आशा नहीं है। फिर भी सुमन्त्रको दिये आदेशमें उनके लौटनेकी सम्भावनामें 'कहँ रघुनाथु लखनु बैदेही' पूछ रहे हैं। 'सखा सनेही'का भाव है कि सुमन्त्र राजाको प्रिय सेवक हैं, हितसाधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हैं। 'सनेही'का अन्वय 'रघुनाथु लखनु बैदेही'के साथ करनेसे तीनोंके प्रति राजाका अनुराग व्यक्त है। जैसा उपरोक्त चौ० ८की व्याख्यामें कहा गया है, राजाके स्नेहका विशेष केन्द्र श्रीराम हैं, इसलिए रामनामोच्चारणमें श्रीरामको कुशलका स्मरण करते लक्ष्मण और सीताजीका स्मरण किया है।

चौ०—आने फेरि कि बनहि सिधाए। सुनत सचिव लोचन जल छाए ॥४॥
सोकबिकल पुनि पूँछ नरेसू। कहु सिय राम लखन सन्देसू ॥५॥

भावार्थ : राजा पूछ रहे हैं उनको लौटाकर लाये या वे वनमें चल गये ? इतना सुनते ही मन्त्रीके आँखोंमें आँसू आ गया (जिसको देखकर राजा समझ गये कि वे तीनों नहीं आये हैं)। इस शोकमें राजा व्याकुल होकर फिर पूछ रहे हैं कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मणका समाचार सुनाओ।

सुमन्त्रको विषादका पुनरावेग

शा० व्या० : दो० १४५ से १४६ तक सुमन्त्रके मनोभावमें उत्तर देनेकी जो असमर्थता कही गयी है, उसका चित्रण कवि यहाँ राजाके प्रश्नका उत्तर देनेमें 'लोचन जल छाए'से कह रहे हैं। उत्तरमें सुमन्त्रके अश्रुजल द्वारा प्रकट विषादका अनुभाव देखकर राजाको अनुमान हो गया कि तीनों वनमें चले गये। अतः पुनः प्रश्न करते हुए उनका सन्देश पूछ रहे हैं।

सन्देशपदार्थ

सन्देशका अर्थ समाचार, हाल या किसीके उद्देश्यसे कहा वक्तव्य है। सन्देश सुनानेमें सीताके नामका प्रथम उल्लेख राजाकी उक्ति 'फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा' (चौ० ६ दो० ८२)से समन्वित है।

चौ०—राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥६॥
राउ सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरष हराँसू ॥७॥

भावार्थ : राजा श्रीरामके रूप, गुण, शील और स्वभावका बारम्बार स्मरण करते हुए शोक करते हैं। श्रीरामको राजा होनेकी बात सुनाकर वनवास दिया गया तो भी उसे सुनकर उनके मनस्में कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं हुआ।

श्रीरामका 'रूप गुनसील सुभाउ'

शा० व्या० : बा० का० चौ० ६ दो० १०८में 'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा'से श्रीरामका विशेष सुखदातृत्व प्रकट है। अतः राजा दशरथके जन्मान्तरीय (पूर्वजन्ममें मनुशरीर सम्बन्धी) संस्कारमें 'सुत विषयक तव पद रति होऊ'के अनुसार परमस्नेही पुत्र श्रीरामके प्रति प्रभुभावमें मनस्की द्रवीभूत स्थितिको 'सुमिरि सुमिरि' द्वारा व्यक्त किया गया है जो गुरु वसिष्ठको इष्ट है जैसा दो० ४की व्याख्यामें कहा गया है।

रूप, गुण, शील, स्वभावका पर्यवसान श्रीरामने अपने जीवनमें करके दिखाया है जो राजाकी उक्ति 'भए राम सब बिधि सब लायक' (चौ० १ दो० ३)में व्यक्त है।

'राउ सुनाइ'का भाव है कि गुरुजीके वचन 'भूप सजेउ अभिषेकसमाजू चाहत देन तुम्हहि जुबराजू' (चौ० २ दो० १०)के अनुसार राज्यपद देनेकी घोषणा करनेके

बाद कैकेयी माता द्वारा वनवास सुनकर बिना कोई आपत्ति उठाए विषाद आदि विकारोंको प्रकट न करना—यह हर्षविषादरहित स्थिति श्रीरामके उच्चतम धैर्य एवं शीलकी द्योतिका है। सत्यसंध पिताके वरदानात्मक वचन 'थाती राखि न मागिहु काऊ' (चौ० २ दो० २८)को प्रमाण मानकर दो० ४१में सहर्ष वनवास स्वीकार करनेमें 'राम रूप गुन सील सुभाऊ' प्रकाशित है।

चौ०—सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना ॥८॥

भावार्थ : ऐसा रूप, गुण, शील, स्वभावसे युक्त पुत्रके बिछुड़नेपर मेरा प्राण नहीं चला गया तो मेरे समान बड़ा पापी कौन होगा ?

जीवनधारणमें राजा दशरथके वचनकी प्रामाणिकताका विचार

शा० व्या० : चौ० १ से ३ दो० ३३ में कहे अपने वचनको याद करके 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'की प्रतिज्ञाका निर्वाह न करनेमें राजा अपनेको 'बड़ पापी' कह रहे हैं। श्रीरामका वियोग होते ही प्राण चला जाना चाहिए था, प्राणका न जाना उसको दण्ड है। दण्ड्यपर दण्डका प्रयोग न करना राजाका अपराध या पाप है। सत्यसन्धके लिए वचन-भङ्ग करना बड़ा पाप है। अन्धशापके सम्बन्धसे भी राजाका पाप स्मरणीय है। जिसके वचनकी सत्यताको प्रमाण मानकर श्रीराम वनमें चले गये उसके वचनकी प्रामाणिकता प्राणत्याग न करनेसे कैसे सुरक्षित रहेगी ? वनवासकी सफलतामें राजाके वचनप्रमाणकी प्रमेयसिद्धि जो चौ० ३ से ५ दो० ३५ में कही गयी है, कैसे स्थिर रहेगी ? अतः सिद्धान्तकी दृष्टिसे कहना है कि 'बड़ पापी'के पश्चात्तापमें इस समय श्रीरामस्नेह उतना कारण नहीं है जितना उक्त सत्यसन्धताके अप्रामाणिकताकी शङ्का। सत्यसन्ध पिताके वचनप्रमाणपर विश्वास रखकर ही श्रीरामने लंकाकाण्डमें 'जौ जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहि ओहू' कहकर लक्ष्मणजीके जीवित होनेमें विश्वास प्रकट किया है। अतः सत्यवचनके प्रामाण्यकी प्रतिष्ठाके लिए राजा दशरथ शरीरका त्याग नहीं करते तो कलङ्कित होते हैं। चौ० २ दो० ३६ में 'सो सब्रु मोर पाप परिनामू'से रामराज्यमें कैकेयी द्वारा उपस्थापित विघ्नको राजाने अपने पापका फल बताया। अतः उपर्युक्त विचारोंके अनुसार प्राणत्याग न करनेमें राजा अपनेको 'बड़ पापी' कह रहे हैं।

दो०—सखा रामु सिय लखनु जहँ तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहित चाहत चलन अब प्रान कहउँ सति भाउ ॥१४९॥

भावार्थ : राजा सुमन्त्रसे कह रहे हैं कि हे सखे ! जहाँ श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजी हैं वहाँ मुझको तुरन्त पहुँचा दो।' नहीं तो मैं सत्यभावसे कहता हूँ कि अब प्राण जाना ही चाहता है।

श्रीरामके सान्निध्य एवं विरहमें अन्वय-व्यतिरेकका विचार

शा० व्या० : चौ० २-३ दो० ३३ में 'जीवनु राम दरस आधीना' व 'जीवनु

मोर राम बिनु नाहीं'से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा जो वचनका प्रामाण्य उपस्थापित किया, उसमें श्रीरामको लौटानेका प्रयत्न विफल होनेसे 'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती' व्यर्थ सिद्ध हुआ। अब व्यतिरेकको सिद्ध करनेके लिए 'तहाँ मोहि पहुँचाउ' कह रहे हैं, अन्यथा राजाका वचन निर्णायक होकर वनवासमें तीनोंके लिए प्रमेयत्वसाधक नहीं होगा। इस अर्थको ध्यानमें रखते हुए 'सति भाउ'से यह व्यक्त किया है कि अयोध्यावासियोंको जीवित रखनेमें चौदह वर्षकी अवधि सहायक हो सकती है पर राजाके लिए केवल चार दिनकी अवधि है, वह भी सन्देश सुननेकी आशामें, विशेषतया 'फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा'से सीताका लौटना सुननेके लिए। ऐसा न होनेपर एक क्षण भी जीवित रहना राजा अपनी सत्यसंधताको दूषित करना मानते हैं।

संगति : रामसन्देश सुननेकी अतिव्यग्रतामें राजा बोल रहे हैं।

चौ०–पुनि पुनि पूँछत मन्त्रिहि राऊ। प्रियतम सुअनसन्देस सुनाऊ॥१॥
करहि सखा सोई बेगि उपाऊ। रामु-लखनु-सिय-नयन देखाऊ॥२॥

भावार्थ : राजा मन्त्रीसे बार-बार पूछ रहे हैं। परमप्रिय पुत्र श्रीरामका सन्देश सुनानेको कह रहे हैं सखा सुमन्त्रसे अतिशीघ्र उपाय करनेको कह रहे हैं जिससे श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीको आँखोंसे देख लें।

'पुनि पुनि पूँछत' तथा 'प्रियतम'का भाव

शा० व्या० : 'पुनि पुनि पूँछत'में राजाको सन्देश सुननेकी अत्युत्कट व्यग्रता दर्शायी है। 'बेगि'से अन्तकालका संकेत है, इसलिए देर नहीं करनी है। 'प्रियतम' सम्बोधन मन्त्रीके लिए माना जाय तो उसका भाव होगा कि राजा इस समय सुमन्त्रको द्रव्यप्रकृति या राजत्वके भावको त्यागकर सखा समझकर आदेशके रूपमें नहीं, मित्रके रूपमें प्रार्थना कर रहे हैं कि वे राजाके हितसाधनका शीघ्र उपाय करें।

प्रश्न—प्रियतम वही माना जायगा जो अन्तकालमें प्रभुदर्शनमें सहायक हो। तो सुमन्त्रके लिए 'प्रियतम' सम्बोधन क्या सार्थक हुआ?

उत्तर : इसके उत्तरमें कहना है कि उपासकमें चिन्ता, एकाग्रता, प्रीति आदि अपेक्षित सामग्री उपस्थित है तो उनके हृदयमें गुरु, सन्त या महात्माका सन्देश सुनते ही प्रभुमूर्तिके दर्शनका योग स्थिर होनेमें देर नहीं है जैसे राजा परीक्षितिको शुकदेवजीसे कथा सुनते मनोमयी प्रभुमूर्तिका प्रत्यक्ष हुआ अथवा गोपियोंको उद्धवसे कृष्णसन्देश सुननेपर प्रभुमूर्तिके स्थायित्वकी प्रतीति हुई। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः'में भी यही सिद्धान्त समझना है।

बालकाण्डमें विश्वामित्रसे कहे राजाके वचन 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं'से श्रीरामके लिए 'प्रियतम सुअन'की उक्ति संगत है।

संगति : राजाकी इस नाजुक अवस्थामें सुमन्त्रके धैर्यकी परीक्षा हो रही है।

चौ०—सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी ॥३॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधु समाज सदा तुम्ह सेवा ॥४॥

भावार्थ : धैर्य धारण करके मृदु वाणीमें मन्त्री सुमन्त्र कह रहे हैं हे महाराज! आप तो पण्डित, ज्ञानी, वीर, धैर्यवान्, धर्मधुरन्धर और देवताके समान हैं। आपने हमेशा साधुमण्डलकी सेवा की है।

राजा दशरथको धैर्य बंधानेका उपाय

शा० व्या० : 'करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ'के प्रत्युत्तरमें अपने कर्तव्यको स्मरण करके सुमन्त्रको धैर्य हुआ। जिस प्रकार गुहकी उक्ति 'तुम्ह पण्डित परमारथ ग्याता। धरहु धीर लखि विमुख विधाता' से मन्त्रीको कर्तव्यका बोध हुआ उसी प्रकार सुमन्त्र राजाको आश्वासन देनेका उपाय कर रहे हैं।

राजा दशरथके लिए 'देवा' सम्बोधनकी सार्थकता यही है कि रावणके आतंकसे बचनेके लिए देवोंने अयोध्यामें शरण लिया है। 'वीर'से वीरता प्रसिद्ध है। वीरमें उत्साह रहता है। इस कठिन परिस्थितिपर विजय पानेके लिए सुमन्त्र राजाको उत्साहित कर रहे हैं। 'पण्डित ग्यानी'का भाव है कि ब्रह्मविषयिणी प्रज्ञासे वे पूर्ण हैं। श्रीरामको ब्रह्मस्वरूपमें देखनेकी सामग्री उनको प्राप्त है। उसमें प्रतिबन्धक राम-विरहजन्य शोकको दूर करनेमें राजाको समर्थ होना है। शास्त्रोंमें उल्लिखित तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके राजाने साधु-महात्माओंकी सेवाद्वारा प्रभुको परितुष्ट किया है। साधुओंकी सेवा करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया है। साधुओं द्वारा प्राप्त विद्याको चरितार्थ करनेका अवसर उपस्थित है। 'धुरन्धर'से राजाकी धर्मशीलता एवं पुण्य-पुंजता दिखायी है जैसा बा० का० चौ० १ से ३ दो० २९४में वसिष्ठ मुनिके वचनसे सिद्ध है।

ज्ञातव्य है कि साधु सत्त्वप्रधान होते हैं, दैवीगुणोंसे सम्पन्न और विद्वान् होते हैं। ऋजुता उनका स्वभाव होता है। वे कभी प्रतारक नहीं होते।

संगति : पाण्डित्य, ज्ञान, वीरत्व, धीरत्व, धर्मशीलता, साधुसेवा आदिका फल विवेक-विचारमें है जैसा आगे बता रहे हैं।

चौ०—जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रियमिलन-वियोगा ॥५॥
काल-करमबस होंहि गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं ॥६॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥७॥
धीरज धरहु बिबेकु बिचारी। छाड़िअ सोच सकल हितकारी ॥८॥

भावार्थ : जन्म-मरण, सुख-दुःख-भोग, हानि-लाभ, प्रियका मिलन-वियोग आदि सब काल-कर्मके अधीन होते रहते हैं जैसे रात और दिनका क्रम कालके शक्तिसे बाध्य होकर चलता रहता है। जो मूर्ख हैं वे सुखमें हर्ष मनाते हैं और दुःखमें रोते हैं। जो धीर हैं वे सुख-दुःख दोनोंको समान समझकर समस्थितिमें रहते हैं।

ऐसा विवेक समझकर हे गोसाइं ? (जितेन्द्रिय), आप धैर्य धारण करें। आप सबका हित करनेवाले हैं, इसलिए शोक छोड़ दीजिये।

कालकर्मसे घटित सुख-दुःख व शोक आदिके त्यागकी प्रार्थना

शा० व्या० : जन्म-मरण तथा उससे सम्बन्धित सुख-दुःखरूपभोग कर्मके अधीन है। इसमें हानि-लाभ, प्रियका मिलन-वियोग एकके बाद दूसरा आता-जाता रहता है जैसा गीतामें 'आगमापायिनोऽनित्याः' कहा है। कहनेका भाव यह है कि श्रीरामके वन-गमनसे होनवाली हानि एवं रामवियोगका दुःख, चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर लाभ एवं प्रियमिलनके सुखमें परिणत होगा क्योंकि काल कर्मके अधीन हानि-लाभ आदिकी गति होती रहती है। 'काल करम बस'का भाव है कि कर्मफल कालको पाकर प्रकट होता है। यहाँ अन्धशापसे होनेवाला कर्म-विधान राजाकी मृत्यु लानेवाला है। यह कर्म फलित होनेमें उस कालकी प्रतीक्षा कर रहा है जिस कालमें पुत्रवियोगमें राजाकी मृत्यु होनेसे शास्त्रप्रामाण्य (अन्धशापके विधान)की प्रतिष्ठा, वनवासकी सफलता (चौ० १ से ५ दो० ३६ राजाके वचनसे समन्वित), राममिलनकी आशामें अयोध्यावासियोंका जीवित रहना आदि घटित होगा। पुत्रके वियोगमें संतप्त होकर बुद्धिको निर्बल बनाकर धैर्य खोना उचित नहीं है क्योंकि मूर्ख ही सुखमें हर्षित और दुःखमें दुःखित होते हैं। 'गोसाइँ'से व्यक्त है कि राजा जितेन्द्रिय हैं, पण्डित ज्ञानी हैं, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ हैं। शास्त्रका कहना है कि यद्यपि जीव परतन्त्र है पर धैर्यमें कर्तव्यका निर्धारण करनेमें वह स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रताकी सफलता कठिन स्थितिमें धैर्य रखनेसे सिद्ध होगी। कर्तव्य-निर्वहणसे रहित होकर जीवन व्यतीत करनेवाले मूढ़ हैं जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, प्रियमिलन-वियोग आदिसे प्रभावित हो कर्तव्यच्युत होते हैं। इन सब बातोंका विचार करके राजा विवेकसे काम लेते हैं तो 'सकल हितकारी', जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, सम्भव होगा। अतः राजन् ? शोकका त्याग करें।

राजा दशरथकी मृत्युमें सकलहितकारित्व

राजनीतिक दृष्टिकोणसे वक्तव्य है कि वर्तमान स्थितिमें राजा दशरथकी मृत्यु एकमात्र सब समस्याओंके हल होनेका उपाय है। स्वमण्डलमें संघटन बनाये रखने एवं रामवनवाससे परमण्डलमें राक्षसोंके विनाशसे शान्ति-स्थापन होनेमें राजाकी मृत्यु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। 'सकल हितकारी'से विवक्षित है कि 'छाड़िय सोच'से राजा अपनी मृत्युका सोच छोड़ देंगे तो जिस प्रकार राजाने अपने जीवनकालमें देवता समेत सब प्रजाको सुखी रखा उसी प्रकार सकल विश्वको राजनीतिकी प्रतिष्ठा द्वारा सुखी बनानेमें राजाका शरीरत्याग हितकारी होगा। 'सकल हितकारी'के अन्तर्गत राजा दशरथका भी यह हित होगा कि अन्त समयमें रामसन्देश सुनते-सुनते प्रभुकी मनोमयी मूर्ति उनके हृदयमें स्थिरा हो जायगी।

संगति : सन्देश सुनानेके क्रममें राजाके आदेश 'फिरेउ गए दिन चारि'के अनुसार वनगमनके चार दिनका वृत्तान्त पहले सुना रहे हैं।

दो०–प्रथम बासु तमसा भयउ, दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपानु करि, सिय समेत दोउ बीर ॥१५०॥

भावार्थ : पहला निवास तमसाके तीरपर, दूसरा गंगातीरपर (शृंगबेरपुरके पास) हुआ जहाँ सीताके साथ दोनों वीर नहाकर जलपान करके रह गये जैसा चौ० ७ दो० ८७में 'सुचि जल पिअत मुदित मन भयऊ'से कहा गया है।

चौ०–केवट कीन्हि बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गवाँई ॥१॥
होत प्रात बट छीरु मगावा। जटा मुकुट निज सीस बनावा ॥२॥
रामसखाँ तब नाव मगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥३॥
लखन बान धनु धरे बनाई। आपु चढ़े प्रभु आयसु पाई ॥४॥

भावार्थ : गंगातीरपर पहुँचनेपर गुहने बहुत सेवा की। दूसरी रात्रि प्रभुने शृंगबेरपुरमें बितायी। प्रातःकाल होते ही प्रभुने वटका दूध मँगाकर अपने मस्तकमें बालोंको जटाका मुकुट बना दिया। सखा गुहने नाव मँगायी, उसपर प्रभु सीताजीको चढ़ाकर स्वयं चढ़ गये। अन्तमें लक्ष्मणजी प्रभुकी आज्ञासे धनुर्धरत्वात्मक व्रत लेकर चढ़े।

चार दिनका यात्राक्रम

शा० व्या० : दूसरे दिनका रात्रिनिवास पूर्वोक्त दोहेमें कहे 'सुरसरि तीर'पर कहाँ हुआ ? इसका समाधान यहाँ चौ० १में स्पष्ट कर रहे हैं। यह स्थान शृंगबेरपुरके निकट शिंशपावृक्षके नीचे है जो चौ० ४ दो ८९में कहा गया है।

केवट शब्दका अर्थ

केवट शब्दका प्रयोग निषाद (गुह)के लिए किया गया है। जिस प्रकार 'छत्रिन्' शब्दकी अर्थकल्पनामें 'छत्रिणो यान्ति' प्रयोगमें छत्री (छाताके भीतर चलनेवाले) और अछत्री (छाताके बाहर चलनेवाले) उभय-साधारण परिगणित होते हैं उसी प्रकार केवट शब्द नौकामालिक होनेसे मल्लाह और तदितर निषाद दोनोंके लिए समझना चाहिए।

चौ० १ दो० ८८से दो० ९० तक कही गुहकी सेवा और रक्षणकार्य सुमन्त्रने देखा था, उसीको 'केवट कीन्ह बहुत सेवकाई'से व्यक्त किया है। गुहराज राजा दशरथका मित्र है। अतः उसकी सेवा राजाके परितोषार्थ सुनायी है।

चौ० ३-४ दो० ९४में तीसरे दिन प्रातःकालका कार्यक्रम वर्णित किया गया है उसीको सुमन्त्रने चौ० २में यहाँ सुनाया है। चौ० २-३ दो० १००में सुमन्त्रको विदा करने और नावपर चढ़कर गंगा पार जानेका वर्णन है, उसीको सुमन्त्रने यहाँ

चौ० ३-४में सुनाया है। 'प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई'से स्त्रियोंको साथमें लेकर चलनेमें उनकी रक्षाकी व्यवस्था पहले करनी चाहिए—इस सदाचारके नियमको दर्शाया है।

सीताको दिये सन्देशका उत्तर

राजाके सन्देशको चौ० ६ से दो० ९६ तक सुनाते हुए सुमन्त्रने सीताको लौटानेकी जो प्रार्थनाकी थी उसका निर्णय प्रभुने शब्दशः न देकर अपनी कृतिसे दिया जिसको 'प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई'से सुमन्त्र व्यक्त कर रहे हैं। 'सोई रघुबरहि तुम्हहि करनीया' (चौ० ७ दो० ९६) कहने पर भी पतिप्रिया सीताको श्रीराम साथ में ले गये जिस प्रकार माता कौसल्या और पिता दशरथके समझाने पर भी सीताको साथमें ले जाना प्रभुने इष्ट समझा।

सौमित्रिका व्रतग्रहण

'लखन बान धनु धरे बनाई'से लक्ष्मणजीकी सेवाधर्ममें तत्परता दिखायी है अभीतक पिताकी आज्ञा यहाँ तक आनेमें प्रेरक थी। इसके बाद आगेका कार्य करनेमें श्रीरामकी आज्ञा लक्ष्मणजीके लिए प्रेरक होगी जैसाकि उनको कटूक्तिसे निवृत्त करने एवं मेघनादके वधार्थ प्रवृत्त करानेमें प्रभुकी आज्ञाका उल्लेख है। यहाँ पर उसका श्री गणेश है।

'आयसु पाइ'का अन्वय 'धनु धरे बनाइ'से भी समझना होगा अर्थात् प्रत्यंचाको ठीक बनाकर लक्ष्मणजीने धनुर्धरत्वका १४ वर्षके लिए श्रीरामकी आज्ञासे व्रत लिया है। उतने समयतक लक्ष्मणजी सतत धनुर्धर रहेंगे। उन्होंने इसी व्रतमें निद्रादिका वर्जन किया ऐसी कल्पनाको अवकाश है।

'नाव मगाइ'का स्पष्टीकरण

चौ० ३ दो० १००में 'मागी नाव न केवट आना'से श्रीरामका नाव माँगना कहा, यहाँ 'रामसखा तब नाव मगाई'से गुह द्वारा नावका मँगाना कहा जा रहा है। मालूम होता है कि नावकी व्यवस्था गुहने ही की है। चौ० २ दो० २०० में 'सुरसरि तीर आपु तब आए'से स्पष्ट होता है कि प्रभु गंगाके तटके पास आ गये, तब केवटसे नाव लानेको कहा होगा।

संगति : वनगमनके क्रमका समाचार सुनाकर अब सन्देश सुना रहे हैं।

चौ०—बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुरबचन धरि धीरा ॥५॥

भावार्थ : (चौ० ३-४ दो० ८-९में कही) सुमन्त्रकी व्याकुलताको रघुनाथजीने देखकर स्वयं धैर्य धारण करके मृदु वाणीमें मुझसे (सुमन्त्रसे) कहा।

सन्देशका काल

शा० व्या० : श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजीके नावपर चढ़नेका हाल सुनानेके बाद 'बोले मधुर वचन'से यह नहीं समझना चाहिए कि नाव पर चढ़नेके बाद ही

श्रीरामने सुमन्त्रको सन्देश दिया। ज्ञातव्य इतना ही है कि नावपर बैठने तक वन-गमनका वृत्तान्त सुनाया, उसके बाद सन्देश के सम्बन्धमें सुना रहे हैं।

संगति : चौ० ६ दो० ९९में 'जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हे'में प्रभुका उत्तर स्पष्ट नहीं किया था, उसका स्पष्टीकरण आगे कर रहे हैं।

चौ०–तात ! प्रनामु तातसन कहेहू। बार बार पदपंकज गहेहू ॥६॥
करबि पायँ परि बिनय बहोरी। तात करिअ जनि चिंता मोरी ॥७॥

भावार्थ : श्रीराम सुमन्त्रसे बोले 'हे तात ! बार बार पिताके चरणकमलका स्पर्श करके पिताश्रीसे कहना। उनके पैरों पर गिरकर प्रार्थना करना कि पिताश्री मेरी चिन्ता न करें।

सन्देश सुननेसे राजाको आश्वासन

शा० व्या० : दोहा ९५में श्रीरामने सुमन्त्रसे जो कहा था उसीका अनुवाद मन्त्रीने राजाको सुनाया है। दोहा ८१में 'सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि'से राजाने जो चिन्ता व्यक्त की थी, उसके निराकरणमें 'तात करिअ जनि चिन्ता[1] मोरी' कहा है। 'केवट कीन्हि बहुत सेवकाई'से अशन-शयनकी चिन्ताका निरास बताया। 'लखन बान धनु धरे बनाई'से रक्षणकी चिन्ता दूर करना उद्देश्य है।

संगति : दो० ८१ से चौ० ६ दो० ८२ तक राजाने श्रीराम, लक्ष्मण और विशेष करके सीताजीको लौटानेके लिए सुमन्त्रसे कहा था, उसके सम्बन्धमें श्रीरामका सन्देश सुना रहे हैं।

चौ०–बनमग मंगल कुशल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥८॥

भावार्थ : आपकी कृपा दया आत्मीयत्वभावना (अनुग्रह) और पुण्यसे मार्गमें एवं वनमें हमारा कुशलमंगल निश्चित है।

प्रमेयसिद्धिका कारण

शा० व्या० : 'पुण्य'से पिताकी सत्यसंधताका महान् पुण्य कहा। 'अनुग्रह'से पिताकी आत्मीयता दिखायी। वनवासमें 'तीनों'के प्रति पिताकी उपेक्षा नहीं है जो दो० ८१ में 'रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गए दिन चारि'की उक्तिसे स्पष्ट है। चौ० ३-४ दो० ३६में पिताकी उक्तियोंसे तीनोंके प्रति भविष्यत् कालीन मंगलकी सूचना 'कृपा'का द्योतक है। 'कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे'के भावको अनुमान प्रणालीसे इस प्रकार कहा जायगा 'वयं सर्वेऽपि त्वदीयपुण्यबलेन संयुक्ताः सफला भविष्यामः वयं दुखिनो न स्यांम आत्मीयत्वात् स्वसमवेतचिन्ताविषयत्वात्'।

---

१. चिन्ताकी व्याख्या भावप्रकाशनमें द्रष्टव्य है।

वचनप्रमाणकी पुष्टिका स्मरण

वनवासके प्रारम्भमें ही प्रभुने सत्यसंध पिताके वचनप्रमाणको प्रमेयसिद्धिका निर्णायक 'बन मग मंगल कुसल हमारे'से माना है। यह निर्णय एकमात्र सत्य वचनके प्रामाण्यसे वेद्य है, तर्क या प्रत्यक्षसे वेद्य नहीं हो सकता। लोकमें यह तभी संवेद्य होगा जब रावणवधके उपरान्त श्रीराम सीता और लक्ष्मणजीके साथ सकुशल लौटकर अयोध्यामें राजपदासीन होंगे एवं तीन लोकमें यशोगान होगा जिसकी पुष्टि गंगाजीके वचन प्रमाण (दो० १०३)से पूर्वमें सूचित है। तथा 'बनमग मंगल'में भरद्वाज ऋषि द्वारा निर्णीत 'सोधि सुगम मग', वनवासमें निवासयोग्य स्थानका महर्षि वाल्मीकि द्वारा 'मंगल कुसल हमारे' इत्यादि निर्णय पोषक हैं।

जैसा कि पिताके वचनप्रमाणके प्रति श्रीरामने उपरोक्त प्रमेयसिद्धिका विश्वास वनवासके प्रारम्भमें व्यक्त किया उसीको चौदह वर्षकी अवधिके अन्त होनेके समयमें लंकाकाण्डमें लक्ष्मणशक्तिके अवसर पर 'जौ जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू'से उक्त प्रमेयसिद्धिमें सुदृढ़ आस्था व्यक्त की है।

संगति : चौ० ६ दो० ८१की व्याख्यामें कहे गये आक्षेपोंका समाधान अग्रिम संदेशमें प्रकाशित हो रहा है।

छंद—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥
जननी सकल परितोषि परि परि पायँ करि बिनती घनी।
तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहिं कुसली रहहिं कोसल धनी॥१॥

भावार्थ : पिताश्रीके प्रति कहे सन्देशमें श्रीरामने कहा 'हे तात! आपकी कृपासे वन जाने में सब प्रकारके सुखको प्राप्त करूँगा। आज्ञाका पालन करके (चौदह वर्षकी अवधि बीतने पर) मैं कुशलपूर्वक आपके चरणोंका दर्शन करके पुनः लौटकर आऊँगा।'

सब माताओंकी यथोचित परितोष देकर उनके चरणोंमें बार बार प्रणाम करके भरपूर उनसे विनती करना कि वे वही उपाय करें जिससे कोसलेश कुशलपूर्वक रहें इस धर्मके सम्बन्धमें तुलसीदासजीका भी यही कहना है।

पिताको सन्देशान्तर सुनानेका प्रयोजन

शा० व्या० : प्रश्न हो सकता है कि केवल पिताके लिए कहे सन्देशको सुनानेके अतिरिक्त सुमन्त्रने गुरु, माता, परिजन, पुरजन और भरतके प्रति दिये सन्देश भी राजाको क्यों सुनाये? समाधानमें कहना है कि अन्य सन्देशोंको सुनानेका उद्देश्य यह है कि श्रीराम सत्यसन्ध पिताके वचनको प्रमाण मानकर परिवार एवं तत्सम्बन्धी इतरजनोंको भी प्रमाणकी अधीनतामें नियोजित करनेमें प्रमेयसिद्धि मानते हैं। इस सम्बन्धमें राजाको आश्वस्त करना ही सन्देशान्तर सुनानेका प्रयोजन है।

माताको सन्देश

काल-कर्मकी अधीनतामें रहते हुए भी पिताके अनुग्रह और पुण्यसे सभी कार्य सफल होंगे, पिताके प्रति कहे सन्देशमें पूर्वोक्त चौ० ७-८का निष्कर्ष सुनाकर उक्त छन्दकी पंक्ति २से माताओंको दिया सन्देश आरम्भ होता है।

'देखन पाय'की आलोचना

स्मरण रखना है कि श्रीरामने पितासे केवल इतना कहा था 'आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई' (चौ० ३ दो० ४६) तथा विदा माँगते समय भी 'पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमऊ कत कीजै' (चौ० ३ दो० ७७) कहा था। इसमें 'देखन पाय पुनि फिरि आइहौं' पिताके लिए नहीं कहा है। अतः दूसरी पंक्तिसे सन्देश माताके लिए है। अथवा यदि दूसरी पंक्ति भी पिताके लिए कही मानी जाय तो 'ईश्वराणां वचः सत्यं'के अनुसार 'कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं'की संगति श्रीमद्भागवतमें कहे श्रीकृष्णके वचन 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः'[1] के समान माननी होगी। अर्थात् जिस प्रकार गोपियोंके भक्तियोगमें पीड़ाको दूर करनेके लिए 'एष्यामः' कहकर उसकी सार्थकता उद्धव द्वारा ज्ञानयोगके समन्वयसे श्रीकृष्णका अभाव दूर करके स्थापित हुई उसी प्रकार प्रभु रामने लंकाकाण्डमें 'रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना' (चौ० ५ दो० १२२)से 'देखन पाय'की पूर्ति 'चितइ पितहि'से करके पिता दशरथके भक्तियोगमें विज्ञानकी न्यूनताको ('दीन्हेउ दृढ़ ग्याना') ज्ञानयोग देकर निरस्त किया 'पुनि फिरि आइहौं'के वचनकी पूर्ति अयोध्यामें लौटनेसे हुई।

मीमांसासिद्धान्तानुसार 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' इत्यादि क्रमसे समिधादि यागका क्रम कहा गया है अर्थात् अनुष्ठानमें शब्दक्रम नहीं बदला जाता। पर जहाँ अर्थक्रमका बाध हो जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूंपचति', उसमें शब्दक्रम परिवर्तनीय है। जहाँ अर्थक्रमका बाध नहीं है वहाँ शब्दक्रमके आधारपर अर्थ समझना होगा। इसलिए 'प्रति पालि आयसु कुसल'का अर्थ है कि आज्ञाका पालन पूर्ण करनेपर कुशल स्थितिमें 'लंकामें देखन पाय' संभाव्य होगा।

'प्रतिपालि आयसु'से पिताके सत्यवचन-प्रमाणपर श्रद्धा और 'कुशल'से प्रमेयसिद्धिमें विश्वास प्रकट किया है जिसको लंकाकाण्डमें पिताके समक्ष 'तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यो अजय निसाचर राऊ' (चौ० ३ दो० ११२)से व्यक्त किया है।

'प्रान जाइ बरु बचन न जाई'से स्पष्ट है कि रघुवंशी वचनके सत्यताकी रक्षा प्राणपनसे करते हैं। इसीका संकेत करते हुए 'कोसलधनी'से वचनके धनीका भाव व्यक्त है। राजाके सत्यवचनके प्रमाणकी सुरक्षामें माताओंका वही योगदान है

---

१. दशम स्कन्ध अ० ४५ श्लोक २३।

जो परिजन, प्रजा, भाई, गुरु आदिसे अपेक्षित है। इस दृष्टिसे माताओंको दिये सन्देशमें 'करेहु सोइ जतनु जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी' कहा है।

'कुसली रहहिं'का अर्थ आयुष्मान् करनेसे प्रभुके वचनमें असत्य होनेका दोष आता है। अतः 'परितोषि' व 'करेहु सोइ जतनु'का ध्वनितार्थ वहाँ तक करना होगा कि पिताकी मृत्युके बाद भी माताओंको ऐसा यत्न करना है जिससे राजाका वचन-प्रामाण्य स्थिर रहे।

जहाँ तर्कपूर्ण धर्मसम्बद्ध भक्तिमय राजनीतिक तत्त्व या सिद्धान्त बतलाना होता है वहाँ पूर्व चौपाइयोंमें निरूपित तत्त्वका अभ्यास (पुनरावृत्ति) करना ग्रन्थकारको इष्ट है। अतः छन्दके अन्तमें ग्रन्थकार अपने नामका उल्लेख करते हैं। यहाँ 'तुलसी'का उल्लेख इसी उद्देश्यसे है।

प्रसंगतया 'तुलसी' शब्दसे चातुर्मास्यके कार्तिक माहात्म्यमें उपवर्णित तुलसी विवाहकी विधिको स्मरण करते हुए यह वक्तव्य प्रयोजनीय मालूम होता है कि जिस प्रकार तुलसीके वृक्षको रोपकर सींचते हुए भक्तजन बड़े यत्नसे उसकी रक्षा करते हुए चातुर्मास्यकी समाप्तिपर कार्तिक शु० एकादशीको तुलसीको भगवदर्पण कर देते हैं उसी प्रकार पक्ष-विपक्षोंका विचारपूर्वक निराकरण करते हुए राजाके सत्यवचनके प्रामाण्यकी बड़े यत्नसे सुरक्षा करते हुए प्रमेयसिद्धिमें अपना योगदान प्रभुको समर्पित करना है इस भावसे तुलसीका स्मरण है।

संगति : गुरु, पुरजनोंऔर भरतके लिए श्राव्य सन्देश क्रमशः सुनाते हैं।

सो०—गुरसन कहब संदेसु बार बार पद पदुमु गहि।
करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥१५१॥

भावार्थ : गुरु (वसिष्ठजी)के चरणकमलोंको बारबार स्पर्श करके यह सन्देश कहना कि वे वही उपाय करें जिससे अवधके राजा मेरे बारेमें शोक न करें।

गुरुजीसे प्रार्थना

शा० व्या० : राजाके वचनप्रमाणकी प्रमेयसिद्धि जिसका निर्णय राजाने स्वयं चौ० ३-४ दो० ३८में सुनाया है, उसके सम्बन्धमें गुरुजी राजाको आश्वस्त कर दें। श्रीरामके कहनेका आशय है कि गुरुजी राजाको ऐसा उपदेश देकर समझा दें कि सत्यसान्ध पिताके वचनपालनमें तत्पर श्रीराम त्रैलोक्यविजयी हो सकुशल लौटेंगे ही अतः उनके सम्बन्धमें राजा किसी प्रकारका सोच न करें। 'सोइ उपदेस'का भाव यह भी है कि गुरुजी राजाके शोकको दूर करते हुए श्रीरामकी पुत्रत्वेन चिन्ता छुड़वा दें और प्रभुरूपमें स्मरण कराकर अन्तकालमें नामोच्चारणपूर्वक तन्मयताकी स्थितिको प्राप्त करा दें। 'जेहि न सोच मोहि'का यह भी भाव है कि पुत्र द्वारा विपरीत कार्य होनेपर ही पिताको जन्मान्तरमें शोक होता है, वैसे शोकका कोई कारण राजाके लिए नहीं है।

चौ०—पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी ॥१॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाहु सुखारी ॥२॥

भावार्थ : सब परिजन और पुरजनोंको नम्रतापूर्वक मेरी प्रार्थना सुनाना कि मेरा सर्वथा उपकारी वही होगा जो राजाको सुखी रखेगा।

पुरजनका बन्धुत्व और उनको सन्देश

शा० व्या० : 'ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च'के अनुसार राजाके अधीन परिजन पुरजनमें श्रीरामका बन्धुभाव है, 'निहोरी'से श्रीरामका विनीत व्यवहार दिखाया है। जैसे श्रीराम उनके प्रति हितभावना रखते हैं वैसे ही 'स बन्धुर्यो नु बध्नाति हितेष्वत्याहितादरः'के अनुसार वे भी श्रीरामके प्रति अपना हित-कारित्व दिखाना चाहते हैं तो जिस प्रकारसे राजा सुख-सन्तोषपूर्वक रहें वैसा कार्य करें। सुख-सन्तोष राजाको जिसमें होगा वह विषय माताओं एवं गुरुके सन्देशकी व्याख्यामें सुस्पष्ट किया गया है।

चौ०—कहब संदेसु भरतके आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ ॥३॥

भावार्थ : भरतजीके आनेपर उनको यह सन्देश कहना कि राजपद पानेपर वह नीति न छोड़े।

भरतको दिये सन्देशमें नीतिकी महिमा

शा० व्या० : 'नीति न तजिअ राजपदु पाए'से ध्वनित अर्थ है कि अयोध्यामें आनेपर पिताके वचनपालनात्मक धर्मके दबावमें राज्याधिष्ठित होनेमें आदेश एवं आग्रह होगा, पर वचनप्रमाणपालनरूप धर्मसे होनेवाली उत्तमलोकावाप्तिकी भावनासे ऊपर उठकर प्रत्यक्षानुमानसिद्धस्थायिप्रजानुरागसहित प्रजापालनोपलब्धिफलको बलवत्तर समझकर तदनुबन्धी धर्मका पालन करना श्रेयस्कर होगा अन्यथा नीतिके उच्छेदमें धर्मके साथ त्रयीका प्रामाण्य धराशायी होगा। इसलिए 'धर्म न तजिअ'न कहकर 'नीति न तजिअ' पर जोर है।

'नीति न तजिअ राजपदु पाए'में सर्वलोकहितकी दृष्टिसे यह नीतितत्त्व भी विवक्षित है कि राजा कैसा भी कृतविद्य हो, राजपद पानेपर वह रागके अधीन हो सकता है क्योंकि पार्थिवतामें औद्धत्यका होना अस्वाभाविक नहीं है।[1] राग-मान-मदान्धितामें शासक शास्त्रको ठुकराता है तो गर्तमें गिरता है जैसा लक्ष्मणजीने कहा है (चौ० ८ दो० २२८) विप्रत्वके समान राजत्व भी उतना ही पवित्र है, किञ्चित् अशुचिता होनेपर दोनों निर्माल्यवत् त्याज्य हो जाते हैं। इससे बचनेके लिए नीतिका अवलम्बन अपरिहार्य है।

---

१. इदं हि लोकव्यतिरेकवर्तिनो स्वभावतः—पार्थिवता समुद्धता। नी० स० १

प्रमाणकी स्थिरता

'राजपदु पाए'से पिताके वचनप्रमाणको तथा 'नीति न तजिअ'से प्रत्यक्षानुमानप्रमाणके प्रमाणत्वको कार्यान्वित करनेमें प्रत्यक्षानुमान परोक्षसिद्ध नीतिकी प्रेरणा दी है। स्मरण रखना चाहिए कि भरतजी प्रभुके सन्देशका अनुगमन करते चित्रकूट जायँगे, श्रीरामका सेवकत्व स्वीकार करके अयोध्यामें लौटकर प्रजापालन कार्य करते 'राजपदु पाए'को सार्थक करके चतुर्दशवर्षावधि पर्यन्त वे वचनकी प्रमाणताको स्थिर रखेंगे।

संगति : आगे चौ० ४-६ तक कहा सन्देश 'नीति न तजिअ'के अन्तर्गत समझना है।

चौ०—पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी ॥४॥

भावार्थ : मनसूसे, वचनसे और कर्मसे प्रजापालनमें तत्पर रहना। सब माताओंको समान मान कर उनकी सेवा करना।

माता कैकेयीके प्रति समताभावका भरतको सन्देश

शा० व्या० : 'मातु सकल सम जानी'में विशेष संकेत माता कैकेयीके प्रति आदरभाव रखता है। नीतिके अन्तर्गत कैकेयी माताकी भेदनीतिका उच्छेदन करते हुए भक्ति एवं नीति दोनोंका समुचित निर्वाह करना है क्योंकि कैकेयीका वरयाचनात्मक कार्य प्रभुके विधानमें सहायक होनेसे कैकेयी रामकार्यमें बाधिका नहीं मानी जायगी। तो भी दृष्ट रीतिसे माता कैकेयीको प्रभुकार्यमें बाधा पहुँचानेवाली समझ कर एक ओर नीतिनिपुण भरतजी उसकी अपेक्षाकृत दण्डात्मक भर्त्सना करेंगे, दूसरी ओर भक्तिपक्षसे 'सेएहु मातु सकल सम जानी'के आदेशको मानकर उसको सम्मानपूर्वक चित्रकूटयात्रामें साथ रखकर प्रभुके समक्ष उपस्थापित करेंगे।

नीतिधर्मकी प्रधानता

नीतिसिद्धान्तमें प्रजापालनात्मक मुख्य धर्मके अंगभूत वर्णाश्रम धर्म हैं। प्रधानधर्ममें बाधा होनेपर उसके अंगभूत धर्मोंका त्याग न्यायप्राप्त माना गया है। शास्त्रोपदिष्ट वर्णाश्रमधर्म प्रजापालनरूप मुख्यधर्ममें सहयोगी होते हुए ही अंगभूतधर्मके रूपमें ग्राह्य है। अतः नीतिका त्याग इष्ट नहीं है। 'करम मन बानी'का विनियोग नीत्याभासकी व्यावृत्तिके लिए कहा गया है।

'सेएहु मातु सकल सम जानी'के सम्बन्धमें सुमित्राके प्रति विशेष वक्तव्य

प्रश्न—श्रीराम एवं भरतने 'मातु सकल सम जानी'का व्यवहार माता सुमित्राके साथ किस प्रकारका किया ? इसको जाननेकी आकांक्षा स्वाभाविक है।

समाधानमें कहना है कि चौ० २ दो० ६९में 'रामु प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना'के अनुसार माता कौसल्याको दिये प्रभुके प्रबोधसे वहाँ उपस्थिता सुमित्रा माताको भी प्रबोध हो गया। वह श्रीरामको देव, आप्त एवं इष्ट मानकर प्रभुके प्रत्येक कार्यमें अपनी सम्मति रखती है, जैसा लक्ष्मणको दिये उपदेशमें दो० ७४ व सो० ७५के अन्तर्गत कहा गया है। सुमित्रा माताके इस विवेक-विज्ञानसे श्रीराम और भरतजी पूर्ण परिचित हैं। अतः सुमित्राके प्रति उनके विशेषव्यवहारका पृथक्तया उल्लेख ग्रन्थकारने नहीं किया है।

चौ०–ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई ॥५॥

भावार्थ : पिता, माता, स्वजनोंकी सेवा करते हुए भ्रातृभावके निर्वाहकी ओर भी ध्यान रखना।

भ्रातृत्वका निर्वाह

शा० व्या० : भरतके भ्रातृत्वपूर्ण व्यवहारमें पूर्ण विश्वास रखते हुए श्रीरामका कहना है कि माता, पिता, स्वजनोंकी सेवामें भाई (श्रीराम)का अनुकरण करते हुए भरतजी भ्रातृत्वका निर्वाह करें। 'ओर निबाहेहु भायप भाई'में प्रभुकी भरतसे कही उक्ति ('बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई' चौ० ६ दो० ३०६) भी स्मरणीय है। भ्रातृत्वके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत (स्क० ५ अ० ६ श्लो० ३१)में कही उक्ति चिन्तनीय है—'भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित्। स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते।'

चौ०–तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहिं करै न काऊ ॥६॥

भावार्थ : पिताश्रीको इस प्रकार रखना कि वे मेरे सम्बन्धमें कभी चिन्ता न करें।

पिता दशरथके सोचका मुख्य कारण, एवं पुनरुक्तिपरिहार

शा० व्या० : 'करि पितु मातु सुजन सेवकाई'में पिताकी सेवाके बारेमें कहनेके बाद यहाँ पुनः 'भाँति तेहि राखब राऊ' कहनेका तात्पर्य है कि पिताके वचन-प्रामाणयको सुरक्षित रखनेमें भरतको ऐसा आचरण करना है जिससे पिताके सत्यवचनके प्रमाणकी स्थिरतामें उन्हें परितोष हो। तभी श्रीरामके वनवासमें कुशलताविषयक चिन्ता मिटेगी यतः पिताके वचनप्रमाणकी यथार्थता स्थिर रहनेसे ही उसकी प्रमेयसिद्धि होगी।

संगति : लक्ष्मणजीके सन्देशके बारेमें सुना रहे हैं।

चौ०–लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ॥७॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखनलरिकाई ॥८॥

भावार्थ : लक्ष्मणजीने इतनेमें कुछ कठोर वचन कहे तो श्रीरामने उनको मना किया। फिर मुझसे विनती करते हुए बारम्बार अपनी सौगन्द दिलाकर प्रभुने कहा कि लक्ष्मणका लड़कपन पिताश्रीसे मत कहना।

शा० व्या० : लक्ष्मणजीके कटु वचन क्या हैं ? इसको चौ० ४ दो० ९६में 'पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी'की व्याख्यामें स्पष्ट किया गया है। लक्ष्मणजीके कटुवचनसे राजाको अपने वचनप्रमाणपर आघातकी शंका होगी तो उनको परितोष नहीं होगा। अतः सत्यसन्ध पिताके वचनको प्रमाण बनानेमें अंगभूत पारिवरिक व्यहारमें लक्ष्मणजीकी कटुवाणीको 'बड़ अनुचित' समझकर ही प्रभुने सुमन्त्रको राजासे सुनानेके लिए मना किया था जैसा चौ० ५ दो० ९६में 'सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सन्देसु कहिअ जनि जाई'से व्यक्त है।

शपथकी मर्यादामें यथार्थताका प्रकाशन

प्रश्न हो सकता है कि राजासे लक्ष्मणजीका सन्देश न कहनेके लिए प्रभुने सुमन्त्रको अपनी शपथ दिलायी थी तो भी सुमन्त्रने श्रीरामके वचनको ही राजाके आगे कैसे प्रकाशित किया ? इसके समाधानमें कहना है कि लक्ष्मणजीकी कटुवाणीका यथावत् शब्दशः प्रकाशन न करके केवल 'लखन लरिकाई' कहकर सुमन्त्रसे लक्ष्मणजीके शिशु-भावकी भक्तिको प्रकाशित करवाकर कविने विश्वस्त मन्त्रीकी, बुद्धिमत्ता नीतिकुशलता और राजभक्तिका परिचय दिया है। जो कि आगे व्यक्त किया जायगा। अभी वक्तव्य इतना ही है कि वस्तुस्थितिको छिपाकर सन्देश कहनेमें राजा एवं राजपुत्र (राम)के प्रति सुमन्त्रने प्रतारणा नहीं की है, साथ ही शपथकी मर्यादाका भी निर्वाह किया है।

बारबारका प्रयोजन

राजासे सुमन्त्रकी मैत्री एवं प्रीतिका सम्बन्ध जानते हुए श्रीराम समझते हैं कि सुमन्त्र कोई बात राजासे छिपा नहीं सकते—इस दृष्टिसे यहाँ 'बार-बार निज शपथ देवाई'से स्पष्ट होता है कि अपने सन्देशके अन्तमें प्रभुने सुमन्त्रको पुनः स्मरण कराया। यह कि शपथसे प्रभुका निषेधाशयविशेष मानकर मन्त्री लक्ष्मणजीके कटुवचनको यथावत् राजासे नहीं कहे। इसीको चौ० ४ दो० ९६में प्रभुके उक्त ('बड़ अनुचित')को सुमन्त्रने 'लखन लरिकाई' कहकर परिवर्तित किया है।'

लखन लरिकाईका भाव

नीतिशास्त्रके सिद्धान्तानुसार बालकवाक्य अर्थवान् हो, तभी वह स्वीकृत हो सकता है, अन्यथा नहीं। राजसेवकोंका कर्तव्य है कि वे असत्य, अनर्थ्य, अप्रिय अश्रद्धेय वचनोंको राजाके सामने न कहें। राजसेवक होते हुए भी नीतिगत औचित्यानौचित्यका विवेक न रखनेवाला बालक है। बालकाण्डमें परशुरामजीसे प्रभुने लक्ष्मणजीकी शिशुभावस्थितिको प्रकट करते हुए ऐसा ही आशय व्यक्त किया था—'जौ लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु, पितु, मातु, मोद मन भरहीं। करिअ कृपा शिशु सेवक जानी' (चौ० ३-४ दो० २७७)से स्फुट है। अतः सुमन्त्रने लक्ष्मणजीके शैशव शब्दोंको वचनप्रमाण्यकी स्थापनामें उपेक्षित कर उनको शिशुपनकी भक्तिको संकेतित किया है। 'लरिकाई'से यह भी स्पष्ट है कि उचित-अनुचितका विवेक न होते हुए भी बालक माता-पिता गुरुका अनुशासन माननेवाला होता है। लक्ष्मणजी

शिसु-सेवक होते हुए वह प्रभुके आदेशमें सदा रहते हैं। प्रभु भी अनन्यसेवक मानकर लक्ष्मणजीको यथार्थ कर्तव्यपालनमें स्थिर रखते हैं। फलतः जिस प्रकार परशुरामजीके कोपसे होनेवाले अहितसे लक्ष्मणजीकी रक्षा हुई उसी प्रकार लक्ष्मणजीको-शिशुभक्ति तथा दो० १५१ चौ० ४से भाईका धनुर्धरत्व व्रत सुनाकर पिताके असन्तोष और उससे होनेवाले अहितसे लक्ष्मणजीकी रक्षाकी तथा पिताको भी सन्तुष्ट किया।

लखन कहे कछु वचन कठोरा पर संक्षिप्त वक्तव्य

श्रीराम सत्यबचनपालनात्मक धर्मको अपनाते हुए राज्यत्याग कर वनमें जा रहे हैं, फलतः भरत हठात् राज्याधिकारी माने जायेंगे। जैसा श्रीराम द्वारा 'भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू (चौ० १ दो० ४२)से अनुमत एवं पिताके वचन 'देउँ भरत कहुँ राजु बजाइ' (चौ० ८ दो० ३१)से सम्मत है। बिना अपराधके श्रीरामके राज्यच्युति पर भरतको राजा मानना ही लक्ष्मणजीके असन्तोष एवं भरतजीके प्रति कटुवचनका मूल है। लक्ष्मणजी भरतजीके प्रति उक्तशंकाको बिना हेतुज्ञापनके उत्थापित करनेका आरम्भ कर ही रहे थे कि प्रभुने बीचमें रोक दिया, जो 'प्रभु बरजे'से कविने स्पष्ट किया है। भरत जैसे साधु सेवकके प्रति कटुताप्रकाशन करनेवाली वाणीको कविने 'कटु बानी' या 'बचन कठोरा कहा है। ज्ञातव्य हैं कि लक्ष्मणजीके 'कछु वचन कठोरा'का पूर्ण प्रकटीकरण चित्रकूटमें भरतागमनके अवसर पर राजाकी मृत्युके बाद करना कविको इष्ट है।

'वचन कठोरा'में लक्ष्मणजीका प्रतिज्ञावाक्य

पञ्चावयवात्मक न्यायप्रणालीके अनुसार लक्ष्मणजीकी 'कटु बानी' उनका प्रतिज्ञाका संकेत कहा जायगा। अन्य अवयवोंका स्फुटीकरण कवि आगे चित्रकूटमें दो० २२९ से २३० तकमें करेंगे। जबतक भरतजी उपस्थित नहीं होते एवं नीतिविरुद्ध अनुचित काम (युक्ति)का प्रकाशन नहीं करते तबतक लक्ष्मणजीकी 'कटु बानी' प्रतिज्ञा मात्र होनेसे 'इदं वाक्यं निरर्थकम्, अतएव अनुचितम् न्यायबहिर्भूतत्वात्' मानी जायेगी तथा 'भरतोपस्थित्यभावे सर्वांशे बाधितार्थकत्वात्' होनेसे भ्रमात्मक कही जायेगी।

संगति : सीताका सन्देश सुनाकर राजाको सन्तुष्ट कर रहे हैं।

दो०-कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिलसनेह।
थकितबचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥१५२॥

भावार्थ : प्रणाम करके सीता कुछ कहने चली तो वह पातिव्रत्यप्रयुक्त स्नेहके वश हो शिथिला हो गयी। उसकी वाणी रुक गयी, आँखोंमें आँसू आ गये और शरीर पुलकसे भर गया।

सीताके पातिव्रत्य-युक्तप्रेमका अनुभाव

शा० व्या० : अवहित्थाका अभाव होनेसे पतिव्रता अपने स्वाभाविक अनुभावों-को कथमपि रोक नहीं सकती, न छिपा सकती है। इसका समर्थन करते हुए अर्थ-

शास्त्रका कहना है कि पतिव्रताके चरित्रकी परीक्षा दुष्कर नहीं है। दो० ९८में पति-व्रता सीताके 'सुभायँ'को देखकर सुमन्त्र सीताकी उक्ति ('नहिं मग श्रमु भ्रमु दुःख मन मोरे। मोहि लगि सोचु करिअ जनु भोरे' चौ० २ दो० ९९) के प्रति आश्वस्त हो राजाके सामने सीताके अनुभावोंका वर्णन करके उस सुकुमारीके वनवासके कष्टोंके प्रति राजाकी चिन्ताको निरस्त कर रहे हैं। सुमन्त्र द्वारा सुनाये आदेशमें 'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया'के उत्तरमें सीताके उक्त अनुभावोंको सुनाकर मन्त्री चौ० ६ दो० ८२ में 'फिरइ त होइ प्रान अवलंबा'के सम्बन्धमें राजाका परितोष कर रहे हैं। अर्थात् सीताने पतिव्रत तत्त्वोंको दर्शाकर पतिके साथ वनवासमें रहनेका औचित्य किया है। इस प्रकार यहाँ कविने पतिव्रताके स्वाभाविक अनुभावोंकी यथार्थता एवं उसका महत्त्व दर्शाया है।

संगति : तीनोंका सन्देश सुनकर प्रभुका पारगमनात्मक चरित्र सुना रहे हैं।

चौ०—तेहि अवसर रघुबररुख पाइ। केवट पारहि नाव चलाई ॥१॥

भावार्थ : उसी समय रघुपति श्रीरामका संकेत पाकर केवटने नावको पारकी ओर बढ़ा दिया।

सुमन्त्रके कहे 'तेहि अवसर'का भाव

शा० व्या० : 'तेहि अवसर'से कवि मन्त्रीके कहे 'सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया'की प्रतिक्रियामें प्रभुद्वारा सीताके आन्तरिक प्रेमका प्रकाशन मन्त्रीके सामने कराना चाहते हैं, यही तेहि अवसर है जिससे वह सन्तुष्ट होकर राजाके सामने सीताके उक्त अनुभावोंका वर्णन करके राजाको आश्वस्त कर दें।

अथवा सुमन्त्रके सामने सीतासे कहे प्रभुके वचन 'फिरहु त सबकर मिटै खभारू'से अयोध्या लौटनेके बारेमें सीताजीको जो त्रास हो रहा था उससे तत्काल मुक्ति दिलानेके लिए 'रघुबररुख पाई'का संयोग सीताके लिए 'तेहि अवसर'से ध्वनित है।

अथवा चौ० ६ दो० १४४में अपने सोचमें कहे 'अहह मन्द मन अवसर चूका'को सुमन्त्र 'तेहि अवसर'से ध्वनित कर रहे हैं।

चौ०—रघुकुलतिलक चले एहि भाँती। देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती ॥२॥

भावार्थ : रघुकुलशिरोमणि श्रीराम इस प्रकार चले गये। मैं मात्र हृदयपर वज्र रखकर देखता रह गया।

रघुकुलतिलकका भाव

शा० व्या० : 'रघुकुल तिलक' कहनेका भाव है कि 'ससुर चक्कवइ कोसल-राऊ'से सीता द्वारा घोषित राजा दशरथका चक्रवर्तित्व, सत्यसंघ राजाके वचन-प्रमाणके पालनमें श्रीरामकी पूर्ण निष्ठा तथा अनुगत लक्ष्मणका सेवकत्व देखकर सुमन्त्रको विश्वास है कि श्रीराम धर्मनीतिश्री प्रतिष्ठासे त्रिलोकव्यापिनी कीर्तिका अर्जन करके रघुकुलको उजागर करेंगे।

एहि भाँतीका भाव

'एहि भाँती'से सुमन्त्रने राजाको सन्तोषप्रदान किया है कि राजाके सत्य-वचनकी प्रामाणिकतामें होनेवाली तीनोंकी प्रवृत्ति प्रमेयसिद्धिमें साधक होनेसे अब शंका नहीं है।

कुलिस धरिका तात्पर्य

प्रमाणकी स्थापनामें दृढ़व्रत सन्त-महात्माके वियोगमें सज्जनोंको मृत्युतुल्य दुःख होता है जिसको सुमन्त्रने 'कुलिस धरि छाती'से व्यक्त किया है। इस प्रकार (चौ० ६ दो० १४४में) सुमन्त्रके उद्गारमें कहे 'अहह मन्द मन अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका' की एकवाक्यता 'कुलिस धरि छाती'से स्पष्ट है।

चौ०—मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ रामसन्देसू ॥३॥

भावार्थ : मैं अपना कष्ट किस प्रकार कहूँ ? श्रीरामका सन्देश लेकर किसी प्रकार जीवित लौटा हूँ।

कलेसू

शा० व्या० : चौ० ३ दो० १४४से दो० १४६ तक 'सोच सुमन्त्र बिकल दुख दीना'से सुमन्त्रके दुःखका जो वर्णन किया गया है वही यहाँ 'कलेसू'से व्यक्त है। राग और अभिनिवेशके परिणाममें होनेवाला दुःख क्लेश कहा गया है। 'कलेसू'से राजाके सम्भावित मरणका क्लेश भी ध्वनित है।

लौटनेकी उपपत्ति

'जिअत फिरेउँ'का भाव है कि कर्तव्यनिष्ठामें राजाका आदेश पालन 'फिरेउ गए दिन चारि'को सार्थक करने एवं पिता, गुरु, माताओं, भरत आदिको श्रीरामका सन्देश सुनानेके लिए प्रभुकी प्रेरणासे (बरबस राम सुमन्त्र पठाए) सुमन्त्रका जीवित लौटना कर्तव्य है। 'जिअत फिरेउँ'का आधार 'जिउ न जाइ उर अवध कपाटी' है।

संगति : साहित्यसिद्धान्तके अनुसार विरहमें प्रियका स्मरण करते-करते वह स्मृति वियोगके परिणामको प्रकट करती है।

चौ०—अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ। हानि-गलानि-सोचबस भयऊ ॥४॥

भावार्थ : ऐसा वचन बोलते-बोलते मन्त्री चुप हो गये, हानि-ग्लानिमें मन्त्री शोकके वश हो गये।

मन्त्रीकी शोकस्थितिका उच्छलन

शा० व्या० : चौ० ६ दो० १४५में 'हानि गलानि विपुल मन व्यापी'की एक-वाक्यता 'हानि-गलानि-सोचबस भयऊ'से दिखाकर कवि सुमन्त्रके सोचके वर्णनका उपसंहार कर रहे हैं। 'हानि गलानि'का विशद विचार चौ० ६ दो० १४५में किया गया है।

संगति : उपर्युक्त सन्देशको सुननेके बाद राजाकी करुण अवस्थाको देखकर सुमन्त्र धीर होते हुए भी स्तब्ध रह गये। उनकी ओजोहीनता 'गलानि'से स्पष्ट है।

चौ०—सूतबचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥५॥

भावार्थ : सुमन्त्रके वचनोंको सुनते-सुनते राजा जमीनपर गिर पड़े, उनके हृदयमें तीव्र सन्ताप होने लगा।

राजाकी शोकवृद्धि

संगति : सीताके लौटनेकी आशा समाप्त होते ही 'नतरु निपट अवलम्ब विहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना' (चौ० ८ दो० ९६)के अनुसार चौ० १ दो० ४९की व्याख्यामें निरूपित उत्तेजकके अभावके साथ शापविहित पुत्राभाव राजाको मरणासन्न स्थितिमें ले जा रहा है।

चौ०—तलफत विषम मोह मन मापा। माजा मनहुँ मीन कहुँ व्यापा ॥६॥

भावार्थ : तड़पते हुए राजाके मानसमें घोर मोहान्धकार छा गया, मानो मछली वर्षाके प्रथम जलके फेनके तापसे पीड़ित हो।

अन्तकालीन मोहान्धकार

शा० व्या० : जैसे मृत्युकालप्रयुक्त त्रिदोषजन्य विषमस्थितिमें जीव किसी उपचारके योग्य नहीं रह जाता, उसी प्रकार रामविरहकी वेदनामें तड़फते हुए अचेतनकी अवस्थामें अन्तकालका मोहान्धकार राजाके हृदयमें व्याप्त हो गया, जिसमें कर्तव्य-निर्धारणरूप कोई उपचार सम्भाव्य नहीं है। यह विषममोह राजाको प्रथम बार हुआ है जो राजाके जीवरूप मछलीको माजाकी तरह कष्ट दे रहा है।

संगति : राजविलापके अनन्तर रानियोंके विलापका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—करि विलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी ॥७॥

भावार्थ : राजाके दुःखको देखती हुई सब रानियाँ रोने लगीं। ऐसी भारी विपत्ति आ गयी कि कहा नहीं जा सकता।

विलाप

शा० व्या० : विलापकी व्याख्या है 'विलापःस्यादात्मदुःखोद्भावनातत्परं वचः'। 'सब रानी'से कौसल्याके महलमें सुमित्रासहित रानियाँ उपस्थिता हैं जिनमें कैकेयी नहीं है। राजाकी महामृत्युका अनुमान करके आत्मदुःख प्रकट करनेवाली वाणीका उच्चार रानियोंका विलाप है। 'महाविपत्ति'का स्वरूप राजाकी आसन्न मृत्युका भय, पुत्रोंका अभाव, राज्याधिकारीके अभावमें सम्भावित अराजकता आदि हैं। 'किमि जाइ बखानी'का भाव है कि ऐसी विपत्ति पहले कभी नहीं देखी गयी।

चौ०—सुनि विलाप दुःखहू दुःख लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा ॥८॥

भावार्थ : उन रानियोंका जो विलाप हुआ उसको सुनकर दुःखको दुःख लगे और धैर्यका भी धैर्य भाग जाय, ऐसी अवस्था हो गयी।

दुःखको दुःखकी उपपत्ति

शा० व्या० : वेदान्त व प्रत्यभिज्ञादर्शनमें जड़ कुछ भी नहीं है, तमोगुणके आधिक्यसे पदार्थ जड़वत् प्रतीत होते हैं अर्थात् ईश्वर ही सब रूपोंमें अवतीर्ण है। अतः दुःख भी ईश्वरका ही शरीर है। उसको दुःखका निर्माण मृत्युके संसर्गसे हुआ है। जैसे प्रस्तुत प्रसङ्गमें अधर्मका संसर्ग न होते हुए भी (धुर्मधुरीण राजा दशरथ सत्यसंध हैं, उनकी रानियाँ पुनीता हैं) सरस्वती द्वारा प्रेरित कार्यके फलस्वरूप अन्तकालीन दुःखका स्पर्श दुःखको हो रहा है यही 'दुखहू दुख लागा'का भाव है। अथवा मृत्यु ही दुःख है जो अत्यन्त धीरतासे स्वकार्यका साधन करता है। परन्तु सती नारियोंके करुण विलापको सुनकर उसको भी दुःख हो रहा है, उसका भी धैर्य छूट रहा है, अर्थात् अवतीर्ण प्रभुकी उपस्थितिमें भी सत्यसन्ध पिताको शापप्रयुक्त वचनप्रमाणसे प्रमित पुत्राभावकी परिधिमें ले जानेका कार्य मृत्युको करना पड़ रहा है। अथवा त्रेतायुगमें पतिव्रताने विधवा होना युगधर्मके विपरीत जानकर सती रानियोंके विलापका संक्रमण साधु-महात्माओंके अन्तःकरणमें व्याप्त हुआ अर्थात् जिनको दुःखका स्पर्श नहीं है, उनको दुःख होना, दुःखने दुःखी होना एवं धीरजका धैर्य खोना है। अथवा 'दुःखहू दुःख लागा, धीरजहू कर धीरजु भागा'का सरलार्थ है कि रामवनगमनसे सब लोग पहले ही दुःखी थे, राजाकी मृत्युका सूचक रानियोंका विलाप उनको और दुःखी बना रहा है, धैर्य रखनेवालोंका भी धैर्य भग रहा है। दुःख-पर-दुःख पड़ते रहनेसे धीरतावानोंका भी धैर्य खो जाता है।

संगति : रनिवासमें होनेवाला विलाप सम्पूर्ण अवधमें कैसे फैल गया ? इसको आगे बता रहे हैं।

> दो०—भयउ कोलाहलु अवध अति सुनि नृप राउर सोरु।
> बिपुलबिहगबन परेउ जिमि मानहु कुलिस कठोरु ॥१५३॥

भावार्थ : राजाके महलमें होनेवाले हल्लाको सुनकर पूरे अवधमें कोलाहल मच गया, मानो रात्रिकी स्तब्धतामें पक्षि-बहुल वनमें घोर वज्रपात होनेसे सब पक्षी चौंककर चिल्लाने लगे हों।

अवधकी शोकाकुल दशामें राजा एवं प्रजाके हृदयकी एकरूपता

शा० व्या० : जैसे वनमें रात्रिकालमें पक्षी निस्तब्ध बैठे रहते हैं उसी प्रकार रामविरहमें शोकातुर अवधवासी समाधिस्थकी दशामें बैठे थे। वनप्रान्तमें कदाचित् बिजली गिरनेकी घोर कड़कड़ाहट होती है तो सब पक्षी एक साथ चौंककर शोर मचाने लगते हैं। रात्रिकी निस्तब्धतामें राजाकी आसन्न मृत्युरूप वज्रपातका सूचक रानियोंका विलाप सुनकर पूरे अवधवासी एकाएक चौंककर जागृत हो गये। राजा और प्रजाके आत्मसम्बन्धको स्फुट करनेके लिए कविने उक्त पक्षियोंके दृष्टान्तसे एकात्मभावसम्पन्न हृदयतन्त्रीके सञ्चालनकी स्वाभाविक प्रक्रियाको यहाँ दर्शाया है।

महान् शूर त्यागी सत्यसन्ध राजा सत्यवचन-प्रामाण्यकी रक्षामें प्राणोत्सर्ग

करने जा रहे हैं। ऐसे राजाकी अन्तःस्थितिका संक्रमण रानियोंमें हुआ। राजा और प्रजाके बीच एकसूत्रात्मकताका सम्बन्ध होनेसे रानियोंके विलापका संक्रमण अवधवासियोंमें हुआ, उनकी हृदयतन्त्रीको तत्काल एकसमान आवाजमें सञ्चालित करनेमें भी समर्थ हुआ। पूर्ण सात्त्विकतामें ही एकात्मभावसम्पन्न व्यक्तिओंमें भावकी एकरूपताका संक्रमण होना सहज सम्भव है, तृष्णा या रजोगुणमें यह सम्भव नहीं है।

चौ०–प्रान कण्ठगत भयउ भुआलू। मनिबिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥१॥
इन्द्री सकल बिकल भईं भारी। जनु सर सरसिजबनु बिनु बारी ॥२॥

भावार्थ : राजाका प्राण कण्ठतक आगया। उनकी व्याकुलता मणिके बिना सर्पकी तरह हो गयी। सब इन्द्रियोंमें भारी बिकलता व्याप्त हो गयी, मानो तालाबमें कमलोंका समूह बिना पानीके कुम्हला गया हो। कहनेका भाव है कि जलाशयरूप शरीरमें कमलसदृश विकसित इन्द्रियाँ प्राणप्रयाणकालमें निस्तेजस्क होने लगीं।

जन्मान्तरीयवरयाचनका कार्यान्वयन

शा० व्या० : श्रीरामरूप जलकी सरसतासे राजा दशरथ कमलसदृश प्रफुल्लित रहते थे। इस समय रामविरहमें जलके संयोगके अभावमें वे कमलसदृश सूख गये हैं मणि और सर्पके दृष्टान्तमें वैधर्म्य यह है कि मणिधरमें विषका संयोग है, रामरूप मणिको धारण करनेवाले पितामें मात्र स्नेहकी प्रधानता है। दोनोंका साधर्म्य,यह है कि एक दूसरेको छोड़ नहीं सकते। पर विधिका विधान धर्मपालनमें एक दूसरेको छोड़नेके लिए बाध्य कर रहा है।

पूर्वजन्ममें मनु-तनुमें माँगे वर 'मनि बिनु फनि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना'के अनुसार जीवनके अन्तमें दोनों अवस्थाएँ घटित हो रही हैं जो राजा दशरथके जीवनान्तकी द्योतिका हैं। उनके अभावमें राजाके पूर्वजीवनमें श्रीरामकी अनुपस्थिति 'मनि बिनु फनि'को अवस्था होनेपर भी वह राजाकी मृत्युका कारण नहीं हुई।

संगति : कौसल्या महारानीको राजाकी मृत्युका सम्भव दिखायी देने लगा।

चौ०–कौसल्या नृप दीख मलीना। रबिकुलरबि अँथयउ जियँ जाना ॥३॥

भावार्थ : कौसल्याने राजाको म्लान (निस्तेजस्कता) देखा तो मनस्‌में सम्भव कर लिया कि सूर्यवंशका सूर्य अस्त होनेवाला है।

मृत्युका चिह्न

शा० व्या० : इन्द्रियोंकी निस्तेजस्कता और मुखके तेजस्‌का परिवर्तित होना अन्तकालका सूचक है।

संगति : 'जियँ जाना'से स्पष्ट किया गया है कि कौसल्याने अपने विवेकसे

समझ लिया है कि राजाका रोग वैद्यके उपचारसे जानेवाला नहीं है। अतः सेवाके लिए अपने उपचारका अवसर उपस्थित है, उसमें जो चिकित्सा कौसल्याके वशमें है वह औषधि राजाके सामने उपस्थापित कर रही है, जिसका प्रयोग राजाके अधीन है।

चौ०—उर धरि धीर राममहतारी। बोली बचन समय अनुहारी ॥४॥

भावार्थ : ऐसी विकट स्थितिमें भी श्रीरामकी माता कौसल्याजी धैर्य धारण करके समयके अनुकूल बोलने लगीं।

पतिके अन्त समयमें पतिव्रताका पूर्ण विवेक

शा० व्या० : 'राममहतारी'से कौसल्या माताका गौरव दिखया है अर्थात् पतिकी अत्युत्कट संकटावस्थामें भी पतिव्रता कौसल्या जन्मान्तरीय विवेक (बा० का० दो० १५०)के बलपर धैर्य धारण करनेमें समर्था है। 'समय अनुहारी' वचनका भाव है कि श्रीरामका अभाव और राजाका अन्तसमय उपस्थित है।

संगति : दोनों अवस्थाओंके उपयुक्त चिकित्सा व्यक्त करनेवाली वाणीमें कौसल्याजी बोल रही हैं।

चौ०—नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। रामबियोग पयोधि अपारू ॥५॥
करनधार तुम्ह अवधजहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ॥६॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू ॥७॥

भावार्थ : कौसल्याजी बोल रही हैं 'हे नाथ ! खूब विचार करके मानसमें इस बातको समझिये कि रामवियोगरूप अपार समुद्रमें अवधरूप जहाजके आप ही कर्णधार (चालक) हैं। इस जहाजपर समस्त प्रियजन यात्री समाजके समान चढ़ा है। यदि आप (सङ्कटकालमें) धैर्य रखते हैं तो पार लगेगा, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा।

विकलतामें भी राजाका पाण्डित्य

शा० व्या० : इन्द्रियोंकी विकलतामें भी राजा दशरथ साधारण जीवोंकी तरह अचेत नहीं हैं। अपने पाण्डित्य एवं ज्ञानको उन्होंने रामप्रेममें समाविष्ट कर लिया है। विवेकवती कौसल्या राजाकी इस स्थितिको जानती है, इसलिए 'समुझि मन करिअ बिचारू' सुना रही है अर्थात् राजा विद्याओंके प्रसङ्गसे आन्वीक्षिकीद्वारा यथार्थ निर्णय करनेमें कुशल हैं, धर्मात्मा हैं, सत्वगुणसे सम्पन्न हैं अतः उनकी विद्वत्ताका स्मरण करा रही है। विशेष विवरण 'तनु परिहरि'में द्रष्टव्य है। 'नाथ'के सम्बोधन करनेका विशेष भाव है कि लालन-पालन, दान-मानके माध्यमसे रानियों, परिजनोंको प्रसन्न रखनेके साथ राजा स्वयंको प्रसन्न रखनेमें समर्थ हुए हैं।

'पाइअ पारू'का निष्कर्ष एवं प्रार्थना

धर्ममार्गके पथिक भ्रमणशील होकर निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिए नीतिमान् साधुकी शरण लेते हैं। प्रस्तुतमें अवधवासी समाजने रामराज्याभिषेकोत्सवरूप सुखकी

प्राप्तिके निमित्त राजा दशरथका नेतृत्व (कर्णधारत्व) स्वीकार किया है। इस प्रकार यह अवधरूपी जहाज राजाके नेतृत्वमें बढ़ रहा था, पर बीचमें रामवियोगरूपी समुद्रमें मँडराने लगा। धैर्यके अभावमें रामवियोगरूपी समुद्र अपार मालूम हो रहा है पर चौदह वर्षकी अवधिका अवलम्ब लेनेसे 'पाइअ पारू' सम्भव हो सकता है। जहाजको पार लगाने अथवा अपने स्थानपर लानेमें कर्णधारको धैर्य रखना अपेक्षित है, नहीं तो सबसमाजके साथ जहाजके डूबनेका भय है। अतः कौसल्याजी राजासे 'धीरज धरिअ'की प्रार्थना कर रही हैं जिससे रामविरहकालकी अवधि बितानेमें राजा शोकसमुद्रसे स्वयं पार हों सब समाजको भी उबार लें।

अवधजहाजके कर्णधार

इस समय अवधराज्य जगत्का आधार था क्योंकि जगत्के साधु, शासकगण और देव अयोध्याका आश्रय लिए हुए थे, इसलिए यहाँ अवध'से जगत् विवक्षित समझना चाहिए।

यहाँ विशेष वक्तव्य है कि अवधरूपी जहाजके कर्णधार भविष्यत्में भरत होंगे। १४ वर्षकी अवधि तक रामविरहसागरमें इस जहाजको योग्य रीतिसे चलाते हुए अपने नाम (विस्व भरण पोषण कर जोई')को सार्थक करते भरतजी इस जहाजको डूबनेसे बचावेंगे। स्मरण रखना चाहिए कि कर्णधार और पथिकसमाज दोनोंके जीवनरक्षणका एकमात्र अवलम्ब राममिलनकी अवधि है जैसा कि उत्तरकण्डमें 'राम विरहसागर महँ भरत मगन मन होत' कहा है। तत्कालमें तो राजा ही कर्णधार हैं।

चौ०–जौ जियँ धरिअ विनय पिअ मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी ॥८॥

भावार्थ : हे प्रियतम ! यदि आप मेरी प्रार्थना हृदयसे माने तो श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी पुनः मिलेंगे।

रामविरहरोगकी चिकित्सा और उसकी अस्वीकृति

शा० व्या० : रामविरहरूप रोगकी व्यथासे बचनेके लिए एकमात्र औषधि धैर्य है। उस धैर्यका फल होगा कि श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी फिर मिलेंगे यह तभी सम्भव है जब राजा कौसल्याजीकी प्रार्थनाको हृदयसे स्वीकार करें। ध्यातव्य है कि 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहि ते नर न घनेरे'की तरह कौसल्याजीकी उक्ति नहीं है। किन्तु नीतिसिद्धान्तके अनुसार स्वयं धैर्य धारण करती हुई कौसल्याजी तीनोंके पुनः मिलनकी आशारूप औषधिका सेवन करनेमें तत्परा हो रही हैं। उसी उपचारसे पतिका उपचार करनेमें वह उद्यता हैं। फिर भी सत्यवचनका पालन, अन्धशापका विधान राजाके लिए उक्त उपचारकी स्वीकृतिमें बाधक हो रहा है। इसका परिणाम शुभ होगा अर्थात् वचनप्रमाणकी प्रमेयसिद्धि स्वरूपमें श्रीराम प्रभृति तीनोंका त्रैलोक्य-विजयके साथ अयोध्यामें सकुशल लौटना सम्भव होगा। 'पिअ' सम्बोधनसे कौसल्याजीकी वाणीकी मधुरता एवं कान्तके प्रति रतिभाव सूचित है।

संगति : शिवजी कह रहे हैं कि कौसल्याजीके वचनोंका इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि राजा थोड़ी देरके लिए धैर्यकी स्थितिमें आ गये।

दो०—प्रियाबचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत लोचन बारि॥१५४॥

भावार्थ : प्रिया रानी कौसल्याके मधुर वचनोंको सुनकर राजा आंख खोलकर देखने लगे मानो मलिनदशामें बिना पानीके तड़फती मछली कण्ठ एवं आँखोंमें रहनेवाले जलांशसे अपनेको सींचती हुई जीवित रखनेका प्रयास करती हो।

मीनसदृश राजाकी दशा

पानीसे बाहर होनेपर मछलीके कन्ठमें जबतक जल रहता है तब तक वह छटपटाती हुई जीवित रहती है। यही स्थिति राजाकी है जो पूर्वमें 'प्रान कण्ठगत भयउ भुआलू'से कहा गया है। कौसल्याजीके 'मृदु बचन'में विशेष मृदुता 'रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी'की है जिसको सुनकर राजाको चैतनता प्राप्त हुई है।

प्राणसे मानमें अधिक प्रियता

शास्त्रकारोंका कहना है कि विषय तो आते जाते रहते हैं पर प्राणका आना जीवके अधीन नहीं है। इसी हेतुसे नीतिशास्त्र प्राणापदका अवसर आनेपर विजिगीषुको प्राण बचानेके लिए उपहात्मक विधिका अविलम्ब ग्रहण करनेको कहते हैं। किन्तु राजा दशरथके आन्तरमें यह विचार चल रहा है कि प्राण प्रिय है या मानप्राप्ति ? इस समय राजासोच रहे हैं कि प्राणसे अधिक प्रिय मान है जो सत्यवचनकी रक्षामें सदाके लिए अमर होगा, अतः मृत्यु ही ठीक है।

संगति : कौसल्याजीके उपचार-वचनमें कहे रामजी-लक्ष्मणजी-सीताजीके नामको औषधरूपमें स्वीकार करके राजा तीनोंके नामोच्चारणमें अपनी प्रीति लगा रहे हैं।

चौ०—धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कहु सुमन्त्र कहँ रामु कृपालू ?॥१॥
कहाँ लखनु ? कहँ रामु सनेही ?। कहँ प्रिय पुत्रवधू बैदेही ?॥२॥

भावार्थ : बड़ी कठिनांईसे धैर्य रखकर राजा उठकर बैठे और सुमन्त्रसे बोले बताओ, कृपालु श्रीराम कहाँ हैं ? लक्ष्मण कहाँ हैं ? स्नेही राम कहाँ हैं ? और प्यारी पुत्रवधू सीता कहाँ है ?

रामस्नेहका फल

शा० व्या० : 'रामु कृपालु'का भाव है कि प्रभु जिसके ऊपर कृपा करते हैं उसीको अन्तिम घड़ीमें भगवन्नामके श्रवण या कीर्तनका सौभाग्य प्राप्त होता है जैसा किष्किन्धा काण्डमें 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं'से स्पष्ट है।

श्रीरामके प्रति अत्यन्त स्नेह होनेसे 'रामु सनेही' कहा है। चौ० १-२ दो०

१२४में कविने वनवासी रामके ध्यान विधिका जो निरूपण किया है।[१] उसके अनुसार कौसल्याजी जी द्वारा मन्त्रणोपदिष्ट श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजीका नामोच्चारण करते राजा तीनों मूर्तियोंका ध्यान कर रहे हैं। इस ध्यानमें सुमन्त्र द्वारा उपस्थापित श्रीरामजी लक्ष्मणजी और सीताजी हैं[२] राजाके वचनप्रमाणप्रयुक्त आज्ञापालनात्मक धर्ममें तत्पर पुत्र श्रीरामके प्रति अत्यन्त प्रेम प्रकट है। 'लखन कहे कछु वचन कठोरा' सुनकर लक्ष्मणजीके प्रति हुए औद्धत्य भावको हटाकर शास्ता श्रीरामके प्रति उनके सेवकत्वमें राजाको परितोष हो रहा है। सुमन्त्रसे कही उक्ति ('फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा')के अनुसार प्राण-प्रयाणके कालमें विदेहकी अवस्था होनेसे 'वैदेही' रूपमें सीताजीका स्मरण राजा कर रहे हैं। 'प्रिय पुत्र वधू'से पतोहू सीताजीके प्रति राजाकी प्रियता बालकाण्डमें कहे 'वधू लरकिनीपर घर आई। राखेहु पलक नयनकी नाईं'से स्पष्ट है।

संगति : राजाके विलापका उपसंहार सुना रहे हैं विलपतसे।

चौ०–बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती ॥३॥

भावार्थ : इस प्रकार व्याकुल होकर राजा अनेक प्रकारका विलाप करने लगे। वह रात जल्दी बीतती नहीं मालूम देती थी मानो युगान्तके समान लम्बी हो गयी हो।

विरहमें चिन्तन

शा० व्या० : सन्तापप्रयुक्त विकलतामें रात बिताना बहुत कष्टदायक प्रतीत होत है। 'बहु भांती'से श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजीके सम्बन्धमें राजाका विलाप कहा गया है जैसा पूर्वोक्त चौपाईकी व्याख्यामें निरूपित है। सन्तके वियोगमें सज्जनोंकी विकलता' बिछुरत एक प्रान हर लेहीं'के समान होती है। वैसो ही विकलता राजाको श्रीरामविरहमें हो रही है। विकलताकी दशामें ज्ञानी अपना समय कथाश्रवण, सत्‌चिन्तन आदिमें बिताते हैं।

ज्ञातव्य है कि युगके आदिअन्तमें सन्ध्या एवं सन्ध्यांश होते है। इनके बीचका जो काल होता है, उसको कालवेत्ताओंने युग कहा है। प्रत्येक युगमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं, उसके हिसाबसे शत वर्षका काल सन्ध्या और सन्ध्यांशमें होता है। 'जुग सरिस सिराति न राती'का भाव है कि दशरथयुग समाप्त हो रहा है, इसलिए राजा दशरथको यह रात युगान्त सन्ध्यांशके समान लम्बी मालूम हो रही है।

संगति : उतनेमें राजाको अन्धशापका जो मृत्युका कारण है स्मरण हो रहा है।

चौ०–तापस-अंधसाप सुधि आई। कौसल्याहि सब कथा सुनाई ॥४॥

---

१. अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सिय राम बटाऊ ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥

२. सुत विषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥

भावार्थ : रामविरहकी विकलतामें विलाप करते हुए राजाको अन्धे तापस (श्रवणकुमारके पिता) के शापकी बात याद आ गयी। उसके सम्बन्धका सब वृत्तान्त कौसल्याको सुनाया।

अन्तकालमें शापकी स्मृति क्यों ?

शा० व्या० : 'प्रश्न : सुधि आई'से ऐसा मालूम होता है कि राजा दशरथ अन्धशापकी बात भूल गये थे अथवा अभीतक उक्त शापके बारेमें किसीको नहीं बताया था। ऐसा क्यों ?

उत्तर : शापका विधान होते हुए भी राजा दशरथ सत्यसंकल्प हैं। यदि चाहें तो भीष्म पितामहकी तरह इच्छामृत्युके अधिकारी हो सकते हैं जैसा राजाकी उक्ति ('सो तनु राखि करब मैं काहा')से ध्वनित है वैसा नहीं किया। उसकी उपपत्ति आगे पुरुषार्थकी दुर्बलतामें देखे। अभी कहना इतना ही है कि उक्त शाप पुत्रजन्मके पहलेका है। अतः पुत्रके न रहते उसकी सार्थकताको भूल जाना अस्वाभाविक नहीं है। रामजन्मके बाद राजा पुत्रस्नेहमें इतने आनन्दित हो गये कि शापको भूल गये। अन्त समयमें शापकी कथा सुनानेका प्रयोजन इस दृष्टिसे भी मननीय है कि पुण्यात्मा सत्यसंध होते हुए भी कैकेयीके वरदानसे पुत्रके अभावमें होनेवाली मृत्यु सज्जनोंके मनस्में क्षोभका कारण हो सकती है तो उसका उपशमन हो जाय। 'साप सुधि आई'से यह भी स्फुट है कि राजा दशरथ अपनी मृत्युका संयोग जान गये।

कौसल्याको शाप सुनानेकी उपपत्ति

प्रश्न : अन्धशापकी कथा इस समय कौसल्याको ही क्यों सुनायी ?

उत्तर : इस प्रश्नके समाधानमें कहना है कि राजाका वरदान धर्मसम्बद्ध है पर रामराज्याभिषेकके अवसरपर ही कैकेयीकी वरयाचना एवं पुत्रविरहमें पतिकी मृत्यु कौसल्याके मानसमें क्षोभ उत्पन्न कर सकता है, उससे निवृत्त करानेके लिए राजाने विशेष करके कौसल्याजीको शापकी कथा सुनाकर परितोष दिया है। इस प्रकार कैकेयी द्वारा 'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका'से किये आक्षेपका समाधान कौसल्याको अपने जन्मान्तरीय विवेकके बलपर पूर्णरूपसे हो गया जिसको कौसल्याजीने चित्रकूटमें जनकरानी सुनयनाजीके समक्ष प्रतिध्वनित किया है 'कौसल्या कह दोसु न काहू' आदि (चौ० ३ से ७ दो० २८२)।

बालकाण्ड चौ० ४ दो० २९४में कही उक्ति ('तस पुनीत कौसल्या देवी'से) कविने यह दर्शाया है कि सब रानियाँ पुनीता हैं पर कौसल्या विशेष पुनीता है। अतः अन्तकालमें कौसल्याका राजाके पास होना उनके पुण्यात्मत्वके लिए इष्ट कहा जायगा।

चौ०—भयउ बिकल बरनत इतिहासा। रामरहित धिग जीवन आसा ॥५॥
सो तनु राखि करब मैं काहा ?। जेंहि न प्रेमपन मोर निबाहा ॥६॥

भावार्थ : अन्धशापका इतिहास सुनाते हुए राजा विकल हो गये मनस्में सोचने लगे कि श्रीरामसे अलग होकर जीना धिक्कृत है। जिस शरीरसे मैं अपने प्रेम प्रण[1] को न निबाह सकूँ उस शरीरको रखकर मैं क्या करूँगा ?

कौसल्याका औषध, औषध नहीं है

शा० व्या० : अन्धशापकी कथाका वर्णन रामवियोगजनित विकलताको उद्दीप्त कर रहा है अर्थात् पुत्रवियोगमें जानेकी स्थितिमें है। स्मरण रखना चाहिए कि सत्यवचनके प्रामाण्यका जो प्रसंग राजाके साथ है वह कौसल्या, सुमन्त्र, प्रजा आदिके साथ नहीं है। अत: वे सब राममिलनकी आशामें चौदह वर्षकी अवधिपर्यन्त धैर्यपूर्वक जीवित रह सकते हैं। पर अपने वचन 'जीवनु राम दरस अधीना' 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'की सत्यता व प्रमाणताको स्थापित न करना और श्रीरामके बिना जीवनको रखना राजा धिक्कृत समझते हैं।

पुरुषार्थकी दुर्बलता

'सो तनु'से संकेत है कि वह शरीर जो मनुजन्ममें, 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना'के अनुसार माँगा था, उस शरीरको दशरथजन्ममें पाकर विश्वामित्रसे कहा था 'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं'। उसको स्मरण करके राजा जीवनको नहीं रखना चाहते। दैवकी प्रबलतासे पुरुषार्थ कैसे हीन हो जाता है, उसका यह उदाहरण है।

उपरोक्त चौपाइयोंमें राजाके चिन्तित विचारकी प्रशंसा कौसल्याजीकी उक्ति 'जिए मरे भल भूपति जाना' तथा गुरु वसिष्ठकी उक्ति 'भूप धरमव्रतु सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा'से आगे स्पष्ट होगी।

संगति : कौसल्याजीके कथनमें अपने इष्ट मन्त्र रामनामका अवलंबन लेते हुए तीनों मूर्तियोंका स्मरण करके राजा शरीर छोड़ेंगे।

चौ०—हा रघुनन्दन ! प्रान पिरीते !। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते ॥७॥
हा जानकी लखन ! हा रघुबर !। हा पितु हित चित चातक जलधर ! ॥८॥

भावार्थ : 'हे प्राणप्यारे रघुनन्दन श्रीराम ! तुम्हारे बिना जीवित रहते बहुत दिन बीत गये। हे जनकनन्दिनि सीते ! हे लक्ष्मण ! हे रघुवर राम !'। जिस प्रकार चातकके रटन्तका एकमात्र केन्द्रबिन्दु बादलका स्वातिबिन्दु है उसी प्रकार पिता दशरथके एकमात्र चिन्तनका आधार श्रीराम हैं।

राजाका मनोयोग

शा० व्या० : चौ० ६ से ८ दो० २ की व्याख्यानुसार राजाको अपनी मृत्युका

---

१. पूर्वजन्ममें मनुशरीरमें माँगे वर (चौ० ५-६ दो० १५१ बा० का०)से समन्वित राजाकी उक्ति (चौ० १ से ३ दो० ३३)में राजाका 'प्रेमपन' स्पष्ट है।

अनुमान जबसे हुआ तभीसे उनका मनोयोग श्रीरामकी ओर होने लगा। कैकेयीके वरदानसे उसके योगमें तीव्रता आती गयी। अन्तमें श्रीरामके वनगमनसे राजाकी प्रीति श्रीरामके साथ सीता-लक्ष्मणजीमें केन्द्रित होती गयी। अन्तकालमें वे केवल राम राम चिन्तनमें रह गये।

जीवके लिए प्राणकी प्रियता स्वाभाविक है, सर्वावस्थामें उसका रक्षण कर्तव्य है जैसा वेदान्तसूत्रिमें कहा है—'सर्वान्नानुमतिः प्राणात्यये'। इस सम्बन्धमें श्रीमद्-भागवतकी उक्ति भी स्मरणीय है 'स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्यर्थे प्राणसंकटे। गोब्राह्मण हितार्थे चेन्नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्'। उक्त वचनोंको सार्थक करनेमें अब राजाकी रुचि नहीं रही। जन्मान्तरमें किये पूर्वसंकल्पके अनुसार प्राणसे बढ़कर प्रीति पुत्र श्रीराममें है, इसलिए 'सुतविषयक तव पद रति होऊ'से पुत्रभावजनित प्रीति श्रीराममें प्रकट करते हुए 'हा रघुनन्दन प्रान पिरीते'का उद्गार हो रहा है। विवेक-प्रचुर सत्यसन्धताका फल है कि राजाको अन्तिम समयमें नामस्मरण हो रहा है।

विप्रलंभमें एकक्षण भी युगके समान मालूम होता है। इस दशामें राजा दशरथका उद्गार 'तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते' प्रीतिरसिकोंके लिए आस्वाद्य है।

'हा जानकी लखन हा रघुबर'से तीनों मूर्तियोंका चिन्तन भक्तोंके लिए वनवासी श्रीरामके ध्यानमें अनुष्ठेय है जैसा अरण्यकाण्डमें सुतीक्ष्ण, अत्रि, अगस्त्य-प्रभृति भक्तोंके चरित्रसे स्फुट है।

जिस प्रकार चातक अपने जीवनाधार स्वातिबिन्दुकी आशामें श्याममेघके प्रति दृष्टियोग लगाकर 'पिय पिय'की रट लगाता है उसी प्रकार जलधररूप श्रीरामकी श्यामलमूर्तिका ध्यान करते हुए राजा रघुनन्दन श्रीरघुवरके सम्बन्धसे राम-रामका नामोच्चारण कर रहे हैं।

दो०—राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबरबिरह राउ गयउ सुरधाम ॥१५५॥

भावार्थ : राम राम कहकर फिर एकबार राम कहा और अन्तमें राम राम राम कहकर अपना शरीर छोड़कर राजा स्वर्गलोकको चले गये।

वचनप्रमाणकी प्रतिष्ठामें कीर्तन

शा० व्या० : 'रामरहित धिग जीवन आसा'के विचारको सार्थक करते हुए सत्यवचनकी प्रतिष्ठाको पूर्ण करके अपने अन्तःकरणकी सम्पूर्ण विजातीय धाराको समाप्त करके राम नाममें प्राणोंको पूर्ण रूपसे स्थिर करते हुए राजा दशरथ मृत्युका आलिंगन कर रहे हैं। 'तनु परिहरि'से बोधपूर्वक शरीर त्याग द्वारा राजाका पुरुषार्थ प्रकट है। छह बार राम नामके उच्चारणसे अनुमान हो सकता है कि मृत्यु होनेमें अभी छह श्वाँस बाकी है। अथवा भीतर-बाहर श्वाँस लेने-निकलनेके साथ राम नामका उच्चारण करते अन्तिम श्वाँसके साथ एकबार राम नाम लेकर शरीर छोड़ दिया।

जीवनका लाभ

'जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं'के अनुसार राजा दशरथ अन्तिम श्वांसका उपयोग भगवन्नामोचारणमें कर रहे हैं—यही जीवनका परम लाभ है। अथवा 'हा जानकी लखन हा रघुबर'के स्मरणका विनियोग 'राम राम कहि राम कहि'से तथा 'जानकी लखन' दोनों मूर्तियोंको एक मूर्ति राममें समाविष्ट करके अपना ध्यान एकमात्र श्रीराममें केन्द्रित कर दिया।

'रघुबर बिरह'से शापके विधानसे पुत्रविरहमें होनेवाली मृत्युका योग एवं 'सुत विषइक तव पद रति होऊ'में कहे राजाके संकल्पकी सार्थकता स्पष्ट है। 'तनु परिहरि'से राजाके बोधपूर्वक शरीरत्यागमें ज्ञान एवं विवेककी स्थिति दिखायी है।

'सुरधाम'से प्रभुका साकेतलोक समझा जा सकता है जैसा लंकाकाण्डमें 'दसरथ हरषि गए सुरधामा'से संकेतित है। चौ० ८ दोहा ३१ (अरण्यकाण्ड) में प्रभुने जटायु गीधसे 'जाहु मम धामा' कहा है, वही यहाँ 'सुरधाम'से विवक्षित है जिसकी पुष्टि अरण्यकाण्डके दोहा ३१से सुस्पष्ट है।

कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय धर्मशास्त्र करता है। फलकी उपलब्धिमें भक्ति-शास्त्रका अपना स्वतन्त्र अधिकार है। प्रभुके प्रति पूर्ण तन्मयता होनेपर धर्माधर्मका फल प्रभुप्राप्तिके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। वह तन्मयता चाहे कामसे, या द्वेषसे, या भयसे हो जैसे गोपियोंकी, शिशुपालकी, कंसकी।

राजा दशरथके 'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'का निर्णय नीतिविरुद्ध समझकर प्रभुने उसको 'विमल बंस यह अनुचित एकू' ठहराया। राजाका उक्त कार्य नीतिशास्त्र विरोधी होनेपर भी श्रीरामके प्रति उनकी तन्मयतामें साधक होनेसे भक्तिशास्त्रके मतमें सद्गतिमें बाधक नहीं है।

दोहा ४की व्याख्यामें गुरु वसिष्ठ द्वारा राजाके कार्यका समर्थन करनेमें राजाके मनोयोगको बनानेकी जो चर्चा की गयी है, उसकी सार्थकता 'प्रान प्रानके जीवके जीव सुखके सुख राम'की पूर्ण अनुभूतिमें राजाके शरीरत्यागसे प्रकट है। सत्य एवं धर्मका आश्रय लेनेवालेको अन्त समयमें धर्म सहायक हो मोहको हटाकर स्मृति-धारणाको बनाते हुए भगवन्नामोच्चारणका संयोग उपलब्ध कराता है। उसका यह उदाहरण है।

संगति : शिवजी उसीको स्फुट कर रहे हैं।

चौ०–जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा ॥१॥
जिअत रामबिधुबदन निहारा। रामबिरह करि मरनु सँवारा ॥२॥

भावार्थ : शिवजी कह रहे हैं कि जीने और मरनेका सच्चा फल तो राजा दशरथने पाया। उनका उज्ज्वल यशस् अनेक लोकोंमें छा रहा है। जीते हुए उन्होंने श्रीरामके मुखचन्द्रको देखते रहनेका सुख लिया और रामविरह होते ही मृत्युको प्राप्त किया।

यशस्‌का विस्तार और प्रायश्चित्त

शा० व्या० : राजा दशरथके जीवन-मरणसे कवि मानव-जीवनका सार्थक्य समझा रहे हैं। सत्यसंधतामें किसी प्रकार भी आँच न ले आते अपने आदर्शमय चरित्रके द्वारा भगवत्प्रीतिको बनाते हुए राजाने यशश्शरीरका विस्तार अनेक लोकोंमें कर दिया। शास्त्रकारोंने अन्तिम कालमें भगवन्नामोच्चारणको प्रायश्चित्तके रूपमें कहा है जिससे संसृतिहेतु सब पाप-पुण्यसे निवृत्त होकर भगवद्धाममें पहुँचनेका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जैसा कि चौ० ५-७ दो० १६१में गुरु वसिष्ठके वचनसे 'अंड अनेक अमल जसु छावा'से स्पष्टीकरण होता है। 'अमल जसु छावा'से आत्मोपकारि-गुणोंका प्रकाश स्पष्ट किया है।

संगति : 'नाहि त बूढ़िहि सब परिवारु' उक्तिकी प्रामाणिकता दिखला रहे हैं।

चौ०—सोकबिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बलु तेज बखानी ॥३॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा ॥४॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहिं पुरवासी ॥५॥

भावार्थ : राजाका रूप, बल, शील और तेजस्‌का वर्णन करके सब रानियाँ उनकी मृत्युके शोकमें व्याकुला होकर रो रही हैं। अनेक प्रकारका विलाप करते जमीनपर बारम्बार लोटती हैं। दास और दासियाँ भी व्याकुला होकर विलाप करती हैं। अयोध्यापुरीके रहनेवाले घर-घरमें रो रहे हैं।

अन्तःपुरका विलाप

शा० व्या० : शोकमें व्याकुल रानियोंसे लेकर दास-दासी एवं पुरवासी तक सब राजाके गुणोंका बखान करते हुए रो रहे हैं। इस प्रकार कौसल्याकी उक्ति 'नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू'के अनुसार सब समाज शोकसमुद्रमें डूब गया है। 'भूमितल परहिं', बिलपहिं, रुदन करहिं' आदिसे शोकका अनुभाव प्रकट है। 'अनेक प्रकारा'से राजाके रूप, बल, शील, तेजस्‌से इतर अन्य गुणोंका बखान कहा गया है। 'घर घर रुदन करहिं'से प्रत्येक नागरिकका शोक कहा गया है। यह कहा जा चुका है कि देवगण भी अयोध्यामें वास करते थे, वे भी शोकविकल हैं।

प्रश्न—'सब रोवहिं रानी'की उक्तिमें संशय हो सकता है कि रानियोंमें कैकेयी और दास-दासियोंमें मन्थरा शोकविकला हैं कि नहीं ?

उत्तर—इस संशयको कविने अपनी वर्णनशैलीकी कुशलतासे दूर किया है अर्थात् 'शोकविकल सब'से जो शोकसे व्याकुल हैं वे ही इस विलापमें सम्मिलित हैं। कौसल्याजीकी उक्ति 'चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू'से भी स्पष्ट है कि अवधरूपी जहाजमें जो प्रिय पथिक समाज चढ़ा था, वह कर्णधारके विनाशसे शोकसमुद्रमें डूब गया है। अथवा मीमांसामतानुसार उद्देश्यविशेषण विवक्षित नहीं होता, उदाहरणार्थ 'यस्याभयं हविरार्तिमार्छेत्', इस वचनमें हविर्गत उभयत्व विवक्षित नहीं है। तदनुसार 'शोक बिकल सब'में 'सर्व'गत यावत्त्व विवक्षित नहीं है अर्थात् शोककी

विकलतामें सम्मिलित लोग, इतना ही इष्ट है न कि अवधके प्राणिमात्र जैसे कैकेयी मन्थरा आदि। राजा दशरथके सम्बन्धसे 'रूप, सील बलु तेज'की व्याख्या निम्नप्रकार है—

रूप—सुलक्षणोंसे युक्त शरीर जो आश्रयार्थियोंके लिए दर्शनयोग्य है।

शील—ऐसे गुण जो राजप्रकृति और सन्तोंके लिए आकर्षणका केन्द्रबिन्दु है।

तेजस्—कोश-दण्डके तेजके साथ सत्यशीलताप्रयुक्तकान्ति जो वृद्धावस्थामें भी अक्षुण्ण और अनभिभूत है।

बल—उपर्युक्त तेजस्के प्रभावसे सामने आनेवाले व्यक्ति नतमस्तक होते हैं।

चौ०-अँथयउ आजु भानुकूलभानू। धरमअवधि गुन रूपनिधानू ॥६॥

भावार्थ : सूर्यकुलका सूर्य आज अस्त हो गया। राजा धर्मकी अवधि (सीमा) थे, गुण और रूपके भण्डार थे।

सूर्यकुलका अस्त

शा० व्या० : 'रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचनु न जाई' का निर्वाह करनेमें सत्यसन्ध राजा धर्मपालनकी चरम सीमा तक पहुँचे थे। धर्मात्मा राजाके रक्षकभावमें पुरवासी निश्चिन्त होकर धर्माचरणमें लगे थे। अब धर्मकी मर्यादारूपी तट राजाका शरीर न रहनेसे धर्म किस स्थितिमें जायगा, नहीं कहा जा सकता। राजाका शरीर आश्रितोपकारिगुणोंका भण्डार था। सूर्यके अस्त होनेसे जिस प्रकार अन्धकार छा जाता है उसी प्रकार राजाकी मृत्युसे धर्मकी मर्यादाका लोप होनेका भय है।

'भानुकुलभानू'से यह भी स्फुट किया है कि सूर्यकुलको उजागर करनेवाले श्रीराम जैसे प्रभुतासम्पन्न पुत्रको राजा दशरथने जन्म दिया है।

संगति : विलापमें राजाकी मृत्युका कारण सोचते हुए पुरवासी कैकेयीको दोष दे रहे हैं।

चौ०-गारी सकल कैकेईहि देहीं। नयनविहीन कीन्ह जग जेहीं ॥७॥

भावार्थ : राजा दशरथके अभावमें कैकेयीने संसारको नेत्रहीन बना दिया, ऐसा समझकर कैकेयीको सब पुरवासी गाली दे रहे हैं।

राजाकी मृत्युसे सम्भावित अराजक स्थिति

शा० व्या० : रामवनगमनके अवसर पर दो० ४९के अन्तर्गत पुरवासियोंके उद्गारमें 'जहँ तहँ देहिं कैकेइहि गारी। निज कर नयन काढ़ि चह दीखा' कहा गया था। पुरवासियोंको पुनः उसका स्मरण हो रहा है। चौ० ५ दो० ३६में राजाने कैकेयीसे कहे वचन 'तोर कलंक'की एकावाक्यता 'गारी देहीं'से स्पष्ट हो रही है।

चौ० ६ दोहा १५४ में 'अवध जहाजू'की व्याख्यामें जगत्का आधार अवध कहा गया है, उसी अर्थमें पुरवासी राजा दशरथकी मृत्युको जगत्से सम्बन्धित करते हुए 'नयन विहीन कीन्ह जग' कह रहे हैं। वरयाचनासे कैकेयीने तो अपनेको ही

नेत्रविहीना किया था, राजाकी मृत्युसे अब जगत् ही नेत्रहीन हो गया अर्थात् उत्तम शासक नेताके अभावमें विश्व नेतृत्वहीन होकर अन्धेके समान शास्त्रबोधितलघु मार्गके निर्णयमें असफल होता है, देशमें मात्स्यन्याय, चौर्य आदि बढ़ता है, धर्मकृत्य विलुप्त होते हैं, देवसंस्थाएँ विनष्ट होती हैं। अयोध्यामें शासन करते हुए राजा दशरथ जगदन्तर्वर्ती महात्मा साधुओंके विश्वासपात्र थे। जगत्में सज्जनोंपर विपत्ति आती थी तो वे अवधराजके भरोसे आश्वस्त रहते थे। इस दृष्टिसे कौसल्याजीकी उक्ति ('करनधार तुम्ह अवध जहाजू') उचित ठहरती है। फलतः कैकेयी प्रकाशदण्डकी अधिकारिणी नीतिशास्त्रके अनुसार हो गयी।

संगति : भारतीय राजशास्त्रमें प्रकृतिव्यसन एवं मन्त्रविकल्प प्रकरणके निर्देशानुसार राजप्रासादमें व्यसनकी कठिन परिस्थिति आनेपर मन्त्रिपरिषद् व्यवस्था करती है। अतः मन्त्रिस्थानीय वसिष्ठ जाबालि आदि मुनि उपस्थित हो रहे हैं जिनको महामुनि ज्ञानी कहकर उत्तरमन्त्रिपरिषदका संकेत किया गया है।

चौ०—एहि बिधि बिलपत रैन बिहानी। आए सकल महामुनि ग्यानी ॥८॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकारसे सभी वर्गोंके विलाप करते करते रात बीत गयी। तब प्रातःकाल होते ही स्थानीय महामुनि शोक-उपशमनार्थं राजप्रासादमें आये।

मुनि ज्ञानीका तात्पर्य

शा० व्या० : महामुनि वह है जो ठीक परामर्श करनेमें समर्थ है। 'ज्ञानी' कहनेका भाव है कि वे राजाके मरणका कारण जानते हैं और रामवनवासका औचित्य समझते हैं। उनके आनेका उद्देश्य सबका शोकनिवारण एवं राज्यरक्षणकी व्यवस्था है।

संगति : महामुनियोंमें वसिष्ठजीका प्रमुख स्थान है, इसलिए उनका नाम ले रहे हैं। पूर्वमें चौ० ७ की व्याख्यामें उत्तम शासकके अभावमें जो स्थिति कही गयी है उसको यहाँ 'समय सम' कहकर आगे शोकनिवारण कह रहे हैं।

दो०—तब वसिष्ठ मुनि समयसम कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहि कर निजबिग्यानप्रकास ॥१५६॥

भावार्थ : तब वसिष्ठ मुनिने राजाकी मृत्युसे उत्पन्न स्थितिके अनुरूप इतिहासोंका वर्णन करके उसमें अपने विज्ञानका पुट देकर सबका शोक दूर किया।

इतिहासका तात्पर्य

शा० व्या० : इतिहाससे पुराणकथोंमें कहे इतिहास विवक्षित हैं। वर्तमान परिस्थितिके अनुरूप इतिहासोंको सुनाकर वसिष्ठ मुनिने तर्क द्वारा सबको प्रबोध कराया।

विज्ञानका स्वरूप

'निज बिग्यान'का भाव है कि जिस विज्ञानका अनुभव करके मुनिने अपना शोकनिवारण किया है उसीका प्रकाशन सबके सामने किया। अथवा 'आए सकल

महामुनि ग्यानी'से सब मुनियोंने समझाया पर सबका शोक वसिष्ठजीके 'निज बिग्यान'से ही दूर हुआ अथवा कवि (शिवजी)का भाव-स्वभाव-वेदनात्मक जो निज विज्ञान है, उसीको वसिष्ठ मुनिने प्रकाशित किया है जिसमें विशेष बल इस बातपर दिया होगा कि राजा दशरथके सत्यवचनके प्रामाण्यकी सुरक्षामें अन्त:पुरवासी तथा समस्त प्रजाका सहयोग अपेक्षित है क्योंकि वचन-प्रमाणकी प्रमेयसिद्धि (श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीका सकुशल लौटना) सबके सम्मिलित योगदानका फल कही जायगी।

दु:ख-सुख-साधन तत्त्वका अन्वेषण करना विज्ञान है जो हर्ष-शोकके उपशमनमें समर्थ है। आत्मविज्ञान (पदार्थस्वभावविज्ञान)को ही निज विज्ञान कहा है। अर्थशास्त्रकारोंने उक्त विज्ञानको आन्वीक्षिकीका स्वरूप बताया है।

'शोक नेवारेउ'से सबको रोनेसे रोकना भी है क्योंकि मृतदेहके रहते अश्रुपात धर्मशास्त्रके विरुद्ध है।

सत्यवचनकी प्रतिष्ठामें दूसरा चरण

संगति : सत्यवचनकी प्रामाणिकतामें राजा दशरथने प्राणोत्सर्ग द्वारा जिस प्रकार प्रथम चरणको पूरा किया उसी प्रकार राजाके वचनके अनुसार 'अवसि दूत मैं पठइअ प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई'का दूसरा चरण आरम्भ हो रहा है।

चौ०—तेल नावँ भरि नृपतनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा ॥१॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥२॥
एतनेइ कहेहु भरतसन जाई। गुर बोलाइ पठयउ दोउ भाई ॥३॥

भावार्थ : नौकामें तेल भरकर उसमें राजाका मृतदेह रखा गया। फिर दूतोंको बुलाकर गुरु वसिष्ठजीने इस प्रकार कहा—'बहुत वेगसे दौड़कर भरतजीके पास जाओ। पर राजाकी मृत्युका समाचार कहीं भी किसीसे मत कहना। भरतसे केवल इतना कहना कि गुरुजीने बुलाया है, दोनों भाइयोंको तुरन्त बुलउवा[1] भेजा है।'

मृतदेहकी रक्षा

शा० व्या० : दाहक्रियाके अधिकारीके आनेतक मृत देहको सुरक्षित रखना धर्मशास्त्रके विधानके अन्तर्गत है। अत: मृतदेहकी प्राकृतिक विकारसे सुरक्षा करनेके लिए उसे तेलमें रखा गया। मृतदेहसे सम्बन्धित प्रसंगको यहाँ समाप्त करके 'बहुरि'से कवि दूसरा प्रसंग उपस्थापित कर रहे हैं।

भरतको बुलानेमें मन्त्रणा

भरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयोंको बुलाने एवं श्रीरामको राजाकी मृत्युका समाचार न देनेमें गुरु वसिष्ठका गूढ़ मन्त्रित्व प्रकट है। राजा दशरथके वचनकी सत्यताको प्रमाणित करनेमें एक ओर भरतको राज्य लेनेको कहना है, दूसरी ओर कैकेयीके

१. परिमितार्थः त्वयैतावद्वाच्यमिति। का० ज० स० १३।

वरदानके अनुसार चौदह वर्ष-व्यापी वनवासमें श्रीरामके उदासीभावमें कोई विक्षेप नहीं होने देना है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मुनिव्रतका संकल्प लेनेके बाद व्रतारम्भ हो जानेपर श्रीरामका लौटना असम्भव है।

राज्याधिकारीकी अनुपस्थितिमें राजाकी मृत्युकी साधिकारिक घोषणा राजनीतिमें इष्ट नहीं मानी जाती जैसा मन्त्री वसिष्ठजी द्वारा दूतोंको दी गयी आज्ञासे स्पष्ट है। श्रीरामके मुनिव्रतमें रहनेसे पिताश्रीकी अन्त्येष्टि भरतको करनी है। सत्यवचनकी प्रतिष्ठा एवं धर्मकी प्रतिष्ठामें नीतिविरोधी तत्त्वोंके निरासका उपाय सोचते हुए गुरु वसिष्ठजी भरतजीको शीघ्र बुलाना आवश्यक समझते हैं।

कैकेय-देशवासियोंको सूचना न देनेमें औचित्य

प्रश्न : पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहारकी दृष्टिसे भरतके ननिहालवालोंको राजाकी मृत्युकी सूचना न देना कहाँतक उचित कहा जायगा ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि राज्यकी आन्तरिक स्थिति देखते हुए ऐसा करना उचित था। 'गारी सकल कैकइहि देहीं'से जनताका क्षोभ प्रकट हो रहा था। कैकेय देशके राजाकी उपस्थिति होनेपर भरतके राज्याधिकारी बननेमें वह क्षोभ और भड़क सकता है। ऐसी स्थितिमें भरतके ननिहालवालोंकी ओरसे कैकेयीका पक्ष लेकर कोई अशोभनीय घटना घटित न हो, इसलिए उनको राजाकी मृत्युकी सूचना न देना समयोचित था।

चौ०—सुनि मुनि आयसु धावन धाए। चले बेगि बर बाजि लजाए ॥४॥

भावार्थ : मुनि वसिष्ठकी आज्ञा सुनकर दूत ऐसे वेगसे दौड़े कि उनकी गति देखकर तेज चलनेवाले घोड़े भी लजा जायँ।

दूतोंमें वेगातिशय व गति

शा० व्या० : 'बर बाजि लजाए'का भाव है कि नीतिमान् शुचि गुरु वसिष्ठजीके आदेशके तेजस्से आविष्ट हो वे धावन दूत 'चले बेग'से गतिमान् होकर जा रहे हैं जिस प्रकार 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना'से प्रभुके आदेशके तेजस्से हनुमान्का समुद्रलंघन करना कहा गया है। भारतीय राजनीतिकी सफलता इसीमें है कि तेजोधिष्ठित व्यक्ति ही राजपदासीन हो या उसकी मर्यादामें प्रजामात्रकी रक्षाके लिए गुरु या मन्त्री तेजस्वी हो।[1]

राजनीतिशास्त्रमें धावन-क्रियासे सन्देश या पत्र पहुँचानेका प्रकार कहा गया है। जहाँ अश्व आदिका उपयोग भी विलंबका कारण समझा जाता है वहाँ सन्देशको दूरस्थ देशमें तत्काल पहुँचानेके लिए विशेष प्रकारके धूम आदिसे संकेत भेजनेका विधान है। एक स्थानसे किया जानेवाला संकेत आगे रहनेवाला धावन

---

१. ब्रह्मक्षत्रंच रक्षतः मा० ।

समझकर वहाँसे उसी प्रकारका संकेत अगले धावनतक पहुँचाता है। इस प्रकार वह संकेत अन्तमें गन्तव्य स्थानतक पहुँच जाता है। ये धावन अर्थशास्त्रमें कहे 'जंघकरिक' दूत जैसे हो सकते हैं। वह प्रकार यहाँ इष्ट नहीं है किन्तु गुरुके तेजस्से ही दूतोंमें गति प्राप्त है। यह पुरोहितका प्रभाव है।

चौ०–अनरथु अवध अरंभेउ जब ते। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब ते ॥५॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥६॥

भावार्थ : रामराज्यसम्बन्धिनी अनर्थदायक घटनाएँ जबसे अयोध्यामें आरम्भ हुईं तभीसे भरतजीको अपशकुन होने लगे। रातमें उनको भयानक स्वप्न दिखायी देता था। जागनेपर भरतजी उन स्वप्नोंके बारेमें अनेक प्रकारकी कल्पना कर रहे थे।

अनर्थका भाव

शा० व्या० : 'अनरथु'से मन्थराका छल एवं कैकेयीके मतिफेरमें वरकी याचना समझनी चाहिए। 'कुसगुन'से रामवनवास एवं पिताकी मृत्युका संकेत है। 'भयानक सपना'से राजाकी मृत्युसे घटित माताओंका वैधव्य तथा परिजन पुरजनोंकी शोकावस्था कही गयी है।

सम्भवका प्रसङ्ग व कोटिकल्पना

'करहि कटु कोटि कलपना' और 'भयानक सपना'से सम्बन्धित 'कुसगुन' और उससे जिस-जिस कोटिकी सम्भावनाएँ हो सकती हैं, उन-उन कोटियोंकी कल्पना भरत कर रहे हैं—'कोटिकलपना'का यही तात्पर्य है। शुचिभूत मनस्की कल्पना सम्भव प्रमाण है। अनर्थावह अपशकुनसे अयोध्यामें होनेवाली दुर्घटनाओंका आभास भरतजीके मानसमें हो रहा है जिसमें सन्देह और कल्पना जागृत हो रही है। सन्देह यही है कि जहाँ शुचिभूत पिता और श्रीराम बैठे हैं वहाँ अनर्थकी सम्भावना कैसे ? 'कटु'से सन्देह और 'कल्पना'से सम्भावनाएँ विवक्षित हैं।

अशुभ सूचनाओंमें सम्भव-प्रमाण

ज्ञातव्य है कि यहाँ सम्भव-प्रमाणका विचार हो रहा है। शास्त्रमें अपशकुन तथा दुःस्वप्न अनर्थके निर्णयमें हेतु कहे गये हैं। स्वप्न-प्रकरणमें स्वप्नका कारण धातुवैषम्य, चिन्तन, जन्मान्तरीय पाप-पुण्यसे होनेवाले भावी फलकी सूचना आदि कहा है। भरतजी उक्त दोषोंसे रहित हैं अतः उनके शुचिभूत मनस्की कल्पनाएँ सम्भव-प्रमाणके अन्तर्गत हैं।

संगति : अशुभकी कल्पनासे तत्परिहारार्थं दान आदि कर्म भरतजीके द्वारा हो रहा है।

चौ०–विप्र जेवाइ देहिं दिन दाना। सिवअभिषेक करहिं बिधि नाना ॥७॥
मागहिं हृदय महेस मनाई। कुसल-मातु-पितु - परिजन - भाई ॥८॥

भावार्थ : भरतजी प्रत्येक दिन ब्राह्मणभोजन, दान, शिव-अभिषेक आदि बहुत

प्रकारसे शान्तिका उपाय शास्त्रोक्त विधिसे कर रहे हैं और मनस्में शिवजीसे प्रार्थना करते हुए माता, पिता, परिजन और भाइयोंकी कुशलता मना रहे हैं।

धर्मका उद्देश्य

शा० व्या० : धार्मिक कृत्योंका उद्देश्य शास्त्रोंमे भगवत्प्रीति कहा है। धर्मको द्वार कहकर भक्तिसिद्धान्तमें उसको भक्ति माना है, अर्थात् धर्मके द्वारा प्रभु-शरणागति इष्ट है। इसी भावको भरतके उपरोक्त धार्मिक कृत्योंमें 'महेस मनाई'से स्पष्ट किया है। स्मरणीय है कि रघुकुलके इष्टदेव शिव हैं।

व्ययकी व्यवस्था

ब्राह्मण-भोजन, दानादि धार्मिक कृत्योंमें होनेवाला व्यय भरतजीने क्या कैकयराजकी सहायतासे किया होगा ?"

उत्तर : इसके उत्तरमें कहना है कि भरतजीने ये सब धर्मकृत्य अपने कोषसे किया है। इस समय भरतके स्वाधीन कोषमें राजकुमारके लिए मिलनेवाली अर्थशास्त्रोक्त वृत्ति, अथवा अपने पिता अयोध्यापतिके द्वारा नियुक्त विशेष व्यवस्था, अथवा अभ्यागतके स्वागतार्थं कैकयराजसे मिला धन है।

प्रार्थनाकी सार्थकता

प्रश्न : यहाँ विचारणीय है कि भरतजीकी प्रार्थना ('कुसल मातु पितु परिजन भाई') कैसे सार्थक हुई ? क्योंकि भक्तकी प्रार्थना अव्यर्थ होती है।

उत्तर : उत्तरमें कहना है कि अपशकुन द्वारा भरतको जिस अनर्थकी कल्पना हुई वह भूतकालीन दुर्घटनाओंकी सूचिका हैं, उन घटनाओंको परिवर्तित करना उद्देश्य नहीं माना जा सकता बल्कि जिस स्थितिमें माता, पिता, परिजन, भाई हैं, उसमें उनका कुशल वांछित है। उस कुशलका रूप यही समझना होगा कि पिता साकेतवासी होकर उत्तम गतिको प्राप्त हैं, सीता और लक्ष्मणजीके साथ श्रीराम चित्रकूटमें स्थिर हैं, माताएँ धैर्यमें बैठी हैं, परिजन पुरजन तीनों मूर्तियोंके सकुशल लौटनेकी भावनामें स्थिर हैं। माताओंकी कुशलतामें कैकेयीकी भी कुशलता सम्मिलित है। कैकेयीकी कुशलताका स्वरूप यही है कि भरतजीकी भर्त्सनाके बाद दैवविधान (सरस्वतीकी माया)से प्रेरित उसकी मति अपने पूर्व-शुचि स्वरूपमें स्थिरा होकर वह पूर्ववत् प्रभुकी स्नेहपात्रा बनी रहेगी।

भाइयोंकी कुशलतामें भरतजीकी भी कुशलता अङ्गभूत है। अर्थात् अयोध्यामें आनेपर भरतजीको मोह नहीं होगा, विद्याका प्रकाश रहेगा, राजाके सत्यवचनके प्रामाण्य-स्थापनामें रुचि होगी अन्तमें भरतजी प्रभुकी कृपापात्रताके पूर्ण अधिकारी होंगे।

परिजन पुरजनकी कुशलता यही है कि प्रभुकी इच्छाके अनुकूल वे चौदह वर्षकी अवधिपर्यन्त भरतजीका नेतृत्व सहर्ष स्वीकार करके प्रभुके स्मरणमें सुस्थिर

रहेंगे। इस प्रकार भरतजीकी प्रार्थना ('महेस मनाई'में 'कुसल मातु पितु परिजन भाई')की अव्यर्थता सिद्ध होती है। इसमें शिवजीकी कृपाका स्वरूप यही है कि श्रीरामकी वन्दना 'सम्भु चरन सिरनाइ' (दो० ८५) एवं भरतकी प्रार्थना 'महेस मनाई'के फलकी एकरूपताको शिवजीने भक्तोंके लिए आस्वाद्य बनाया है।

संगति : गुरुकी आज्ञा सुनकर गणेशवन्दनाके बाद भरतजी अयोध्याकी ओर चले।

दो०—एहि बिधि सोचत भरतमन धावनु पहुँचे आइ।
गुर-अनुसासनश्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ॥१५७॥

भावार्थ : भरतजी इस प्रकार अनेक सम्भावनाओंको मनस्में सोच रहे थे कि इतनेमें उक्त धावन (दूत) आ पहुँचें। उनके द्वारा गुरुजीकी आज्ञा स्वयं कानोंसे सुनकर भरतजी गणेशजीका स्मरण करके तत्काल चल दिये।

अनुशासनपालन

शा० व्या : 'श्रवन सुनि'से स्पष्ट किया गया है कि गुरुजीकी आज्ञा 'नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू' 'कहेहु भरत सन जाई'का पालन पूर्ण अनुशासित रूपमें हुआ है अर्थात् दूतों द्वारा सीधे भरतको सन्देश दिया गया। भरतजीने स्वयं अपने कानोंसे सन्देशको सुना।[१] अनुशासनके अन्तर्गत भरतजी बिना किसीके अनुमोदनादि क्रियाके चलनेके लिए बाध्य हैं।

बिना अनुमतिके भरतका गमन

प्रश्न: भरतजीके चलनेके अवसरपर नानासे बिदा माँगनेका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ननिहालमें रहते भरतजीका नानासे बिना कुछ कहे या बिदा माँगे चलना भी अनुचित मालुम होता है।

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि भरतजीके उपरोक्त धार्मिक कृत्योंकी खबर कैकयराजको होगी ही। भरतजीने नानासे पहले ही कह रखा होगा कि अपशकुनसे उत्पन्न व्यसन स्थितिमें अयोध्यासे सूचना मिलते ही दे तुरन्त चल देंगे। इस स्थितिसे भरतके शिष्टाचारमें च्युतिका परिहार हो जाता है।

भरतजीके 'गनेसु मनाइ'का फल भरद्वाज मुनि द्वारा दो० २०८ में 'राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समय गनेसु'से प्रकाशित होगा।

चौ०—चले समीरबेग हय हाँके। नांघत सरित सैल बन बाँके॥१॥

---

१. पूर्वोक्त चौ० ४की व्याख्यामें जिस धावन-विधिकी चर्चाकी गयी है उसको 'पहुँचे आइ, श्रवन सुनि'से सम्बन्धित करनेपर ऐसी कल्पना भी की जा सकती है कि जिस प्रकार वर्तमानमें तार-टेलीफोन-सिग्नल आदि द्वारा संकेत भेजने और पानेकी यान्त्रिक क्रिया है उसी प्रकार धावन-क्रियासे भरतके कानोंमें गुरुका सन्देश सुनायी पड़ा होगा।

भावार्थ : घोड़ोंको वायुवेगसे हाँककर रास्तेमें नदी, पर्वत और वनोंको पार करते हुए भरत व शत्रुघ्नजी दोनों भाई चले।

गुरुका तेजस्

शा० व्या० : पूर्वोक्त चौ० ४में 'धावत धाए'की व्याख्यामें तेजस्वीके संदेशके बलपर चलनेकी बात कही गयी है। उसके अनुसार यह कहना भी संगत होगा कि गुरुजीके संदेशको शिरोधार्य कर चलनेमें दोनों भाइयोंको 'नांघत सरित सैल बन बाँके'में भी गुरुजीका तेजस् ही गतिमान् कर रहा है।

अथवा 'नांघत'से यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि राज्यकी ओरसे सड़क-पुल आदिकी व्यवस्था नहीं होगी। 'चले वेग'की क्रियाको दर्शानेके लिए 'नांघत' कहा गया है। अथवा नीतिपालक शास्त्रानुगामी उपासकके लिए प्रकृति प्रसन्ना होकर मार्ग प्रशस्त कर देती है। भरतजीकी इस योग्यताको कविने 'बाँके' विशेषणसे स्पष्ट किया है। चित्रकूट यात्रामें भरतजीके प्रकृतिकी प्रसन्नता 'देखि दसा सुर बरसहिं फूला भइ मृदु महि मंगल मूला। किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात' आदिसे सुस्पष्ट होगी। भारतीय राजनीतिके उक्त सिद्धान्तकी उपपत्ति वर्तमान वैज्ञानिक युगके विज्ञानके नियम या उसका गणित काम नहीं कर सकते।

चौ०—हृदयँ सोच बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जियँ जाउँ उड़ाई॥२॥

भावार्थ : भरतजीके हृदयमें बड़ा भारी सोच हो रहा है, कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। मनस्में ऐसा आ रहा है कि उड़कर पहुँच जायँ।

चित्तमें अरमणीयता

शा० व्या० : 'कछु न सोहाई'का भाव है कि 'सरित सैल बन'की रमणीयता एवं सौन्दर्यमें चित्त रमता नहीं क्योंकि अपशकुनकी कल्पनासे भरतजीके मनस्में सोच व्याप्त है, उसमें भी 'बड़ सोच' यह है कि राजाकी या श्रीरामकी आज्ञा न होकर गुरुजीकी आज्ञा होनेसे कोई बड़ी दुर्घटना सम्भावित है।

'जाउँ उड़ाई'का भाव है कि अयोध्या पहुँचनेकी आतुरतामें 'समीर बेग हय हांके'से सन्तुष्ट न होकर विलम्बका अनुभव भरतजी कर रहे हैं और उड़कर शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना चाहते हैं।

यहाँ भरतजीकी गुरुभक्ति एवं आदेशपालनकी तत्परतासे उनकी नीतिनिपुणता दिखायी है।

चौ०—एक निमेष बरषसम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई॥३॥

भावार्थ : भरतजीको एक क्षण वर्षके समान प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार भरतजी अयोध्याके निकट पहुँच गये।

शा० व्या० : चित्तकी व्याकुलतामें थोड़ा समय भी युगसम मालूम होता है। घोड़े वायुवेगसे चल रहे हैं, फिर भी भरतजीको देर होती लग रही है।

एहि विधिका निष्कर्ष

'एहि विधि'का भाव है कि जिस द्रुत विधिसे धावन द्वारा भरतजीको सन्देश सुनाया गया उसी विधिसे भरतजी आये अथवा गुरुजीके सन्देशमें जिस विधिका निर्देश था उसी विधिका अवलम्बन करते भरतजी आये।

संगति : पूर्वोक्त चौ० १की व्याख्यामें प्रकृतिकी प्रसन्नताका उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार यहाँ शास्त्रानुयायी नीतिपालक भरतजीको 'बड़ सोच'में प्रकृति पशु-पक्षियों आदिके माध्यमसे शोककी सूचना देनेवाले अपशकुनका दर्शन करा रही है।

चौ०–असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥४॥
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरतमन सूला ॥५॥

भावार्थ : अयोध्यानगरीमें प्रवेश करते हुए भरतजीको अपशकुनकी सूचना मिल रही है। कौओंके झुण्ड निकृष्ट स्थानोंपर वैस्वर्यमें काँव-काँवकी रट लगा रहे हैं। दूसरा अपशकुन गदहों और सिआरोंके वैस्वर्यसे हो रहा है। इनको सुनकर भरतजीके मनस्‌में तीव्र वेदना हो रही है।

राजाका अमंगल सूचन व दैवप्रातिकूल्य

शा० व्या० : पहले अपशकुनसे अमङ्गलकारक दुर्घटनाका अनुमान और दूसरेसे स्नेहके स्थानमें शूलदायक प्रसङ्ग सुननेका अनुमान दिखाया गया है।

पशु-पक्षियोंको आसपासमें होनेवाले अमङ्गल, मृत्यु, भय आदिका अनुमान सहज होता है। कौओंकी रटन्तसे प्रकट हो रहा है कि वे काकबलीकी याचनामें चिल्ला रहे हैं। ऐसे अपशकुन भरतजीको अभीतक देखने सुननेको नहीं मिले थे। फिर भी शास्त्रोंका अध्ययन होनेसे पशु-पक्षियोंका वैस्वर्य सुनकर उनको अमंगलका अनुमान होते देर न लगी।

'होइ मन सूला'से भरतके शुचिभूत मनस्‌की वेदनासे दैवप्रातिकूल्य भी प्रकट किया गया है।

संगति : हेय पशुपक्षियों द्वारा नगरके बाह्य भागमें होनेवाले अपशकुनकी पुष्टि अब पालतू या नगरके आश्रित पशु-सक्षियों द्वारा एवं नगरकी प्राकृतिक शोभके ह्राससे दिखा रहे हैं।

चौ०–श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा ॥६॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। रामबियोग कुरोग बिगोए ॥७॥

भावार्थ : अयोध्या नगरके तालाब, नदी, वन, बाग आदि शोभाहीन दिखायी पड़ रहे हैं। नगरमें एक प्रकारका विशेष भय लग रहा है। श्रीरामवियोग रूपी कुरोगसे ग्रस्त पशु-पक्षी ऐसे दुर्बल हो गये हैं कि देखनेमें कष्ट मालूम होता है।

संस्कृतिका संक्रमण

शा० व्या० : नीतिमान् राजाके शील-स्नेहमय संस्कृतिका संक्रमण प्रकृति एवं

पशु-पक्षियोंमें भी होता है। जैसे राजा दशरथ तथा श्रीरामके स्नेहपूर्ण संस्कृतिके आकर्षणमें प्रसन्न होकर जहाँ प्रकृति पञ्चमहाभूतोंके गुणोंको समुल्लसित करती थी वहाँ उनके अभावमें अब श्रीहीन दृश्य उपस्थापित कर रही है। सर-सरिताकी श्रीहीनतामें स्नेहरसका सूखना जलके अभावसे समझना चाहिए। अत्यधिक स्नेहरस जलमें है, वह जीवोंके लिए आप्यायन है, ओजस्विताको बनानेवाला है, तेजस्विताका संभार निर्मित करता है।

रामवियोगकी अनन्यथासिद्धता

'रामवियोग कुरोग बिगोए'से राजाके वियोगको अन्यथासिद्ध बताते हुए रामवियोगको अनन्यथासिद्ध दिखाना उद्देश्य है अर्थात् राजा दशरथके वियोगसे होने-वाली पशु-पक्षियोंकी म्लानता श्रीरामके रहनेसे दूर हो सकती थी, पर रामवियोगसे तज्जन्यम्लानताका सांघातिक प्रभाव पड़ा है जिसकी प्रतीति भरतजीको आन्तरिक दृष्टिसे हो रही है जो 'जाहि न जोए'से स्पष्ट है।

शास्त्रोक्त निमित्तके ज्ञानमें पक्षियोंमें कौआ क्षेमकरी कोयल आदि, पशुओंमें मृग, गौ, हाथी, घोड़े, सिआर आदिका विशेष उल्लेख है। इसलिए शकुन-अपशकुनके विचारमें उनका सामान्यतः वर्णन सर्वत्र किया गया है।

संगति : पशु-पक्षियोंमें स्नेहका अभाव एवं बाग-उद्यानों, जलाशयों आदिकी प्राकृतिकसौन्दर्यहीनता दिखानेके बाद नर-नारियोंकी म्लानता दिखा रहे हैं।

चौ०—नगर-नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपतिहारी ॥८॥

भावार्थ : अयोध्याके स्त्री-पुरुष एकदम दुःखमें भरे दिखायी पड़ रहे हैं मानों सभीने एक साथ अपनी-अपनी सम्पत्ति गवाँ दी हो।

नारीका प्रथम उल्लेख

शा० व्या० : साहित्यशास्त्रके नियमसे शोकके प्रसंगमें पहले नारियोंका वर्णन किया जाता है इसलिए 'नारि नर'से पहले 'नारी'का नाम उल्लिखित है।

'निपट दुखारीका भाव है कि रामवनगमनसे वे दुःखी थे ही, राजाकी मृत्युसे और दुःखी हो गये। रामवियोगमें स्नेहके अभावमें मलिन हैं ही, रक्षकके अभावमें कर्तव्यहीनकी दशामें बैठे हैं।

धन(श्रीराम)का अपहरण

अर्थ (धन) बहिश्चर प्राण माना जाता है। उसके अभावमें मनुष्य निष्फल-व्यवहार हो जाता है। अर्थकी आकांक्षा सबको रहती है। 'सबन्हि सब संपति हारी'का भाव है कि श्रीराम सम्पूर्ण जनताके स्नेहमय धन थे। वनमें जाते हुए श्रीरामका अनुगमन करनेमें वे उसी धनके आकांक्षी थे, पर उस धनको खोकर अयोध्या लौटनेमें सब एक समान दुःखी हैं।

संगति : अयोध्यावासियोंकी स्तब्धता एवं मूढ़तासे प्रतिकूलता अथवा शोककी स्थितिका अनुमान भरतजीको हो रहा है।

दो०—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गँवहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुशल पूँछि न सकहिं भय विषाद मन माहिं ॥१५८॥

भावार्थ : अभी कुछ नगरवासी भरतको मिलते तो हैं पर राजपुत्रकी सामान्य वन्दना करके चले जाते हैं, बोलते कुछ नहीं। ऐसी अनहोनी घटनाको देखकर भरतजीके मनस्में आशंकात्मक भय बढ़ता जा रहा है और विषाद उत्पन्न हो रहा है जिसमें भरतजी उनसे कुशल भी नहीं पूछ पाते।

चौ०—हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥

भावार्थ : अयोध्यापुरीके वणिक्पथमें दुकानें बन्द हैं, काम-काज कुछ नहीं हो रहा है। सर्वत्र शून्यता दिखायी पड़ती है, सब लोग शोकाग्निसे संतप्त हैं। कवि प्रजापीड़नात्मक इस संतापाग्निको उत्प्रेक्षासे दशों दिशाओंमें लगी दावाग्नि कह रहे हैं।

संगति : मालूम होता है कि एकमात्रा कैकेयी इस समय इतनी सजग है कि उसने आयोजन बनाकर रखा है कि भरतजीके आते ही उसको तत्काल सूचना मिले। अतःपुरमें प्रवेश करनेके बाद राजप्रासादके भीतर आनेपर भरतजीका स्वागत सर्वप्रथम कैकेयी द्वारा कहा जा रहा है।

चौ०—आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रविकुलजलरुह चंदिनि ॥२॥

भावार्थ : अपने पुत्र भरतको आते सुनकर कैकेयी प्रसन्ना हुई, उसका हर्ष सूर्यके प्रकाशमें खिलनेवाले कमलको मुरझानेवाले चन्द्रमाकी चाँदनीके समान है अर्थात् कैकेयीके हर्षमें प्रकट प्रफुल्लता भरतजीको दुःखदायिनी है।

धर्मनिरपेक्ष राजतन्त्र

शा० व्या० : राजाकी मृत्यु सामने देखते हुए भी अपनी मनोरथसिद्धिमें कैकेयीका हर्षित होना धर्मनिरपेक्ष राजतन्त्रका रूप है जिसमें बाजारबन्दी, प्रजाके आत्मशोक आदिकी उपेक्षा है। इसके विपरीत श्रीरामजी और भरतजी अर्थकामुकताको दूर रखकर लोकोपासनात्मक धर्मतन्त्रके माध्यमसे प्रजाका स्थायी विश्वास बनाना ही प्रजानुरागका ध्येय समझते हैं। भारतीय राजनीति प्रजातन्त्रपर पूर्ण ध्यान रखते हुए धर्मके अनुशासनमें रहनेपर बल देती है अर्थात् धर्मके बलपर ही प्रजातन्त्रकी नींव सुदृढ़ रह सकती है।

रविकुल जलरुहसे विमलवंशमें उत्पन्न भरतजीकी उपमा कमलसे देनेका भाव यह है कि स्वच्छ मनस्वाले भरतजी काम या प्रलोभनके स्पर्शसे रहित हैं।

राज्य-प्राप्तिकी कल्पनामें अपने पुत्र नीतिमान् भरतजीके स्वागतमें अग्रसर होना कैकेयीकी भ्रान्ति है जो 'रविकुल जलरुह चन्दिनि'से स्पष्ट किया गया है। कैकय-

नन्दिनि' कहनेका भाव है कि कैकयराजने जिस उद्देश्यसे अपनी कन्या अवधराजको दी थी उस उद्देश्यकी पूर्तिको कैकेयी अपने चरित्रसे दिखाकर कैकयराजको प्रसन्न करनेवाली बन रही है। अतः राजाकी मृत्यु कैकेयीके लिए आपाद्य नहीं है क्योंकि पुत्र भरतजीके लिए राज्यप्राप्तिरूप महान् फल प्राप्त करनेमें पतिकी मृत्यु एवं वैधव्य उसके लिए नान्तरीयक दुःख है जैसा चौ० ६ दो० ३४ की व्याख्यामें कहा गया है। लोकमें पतिका मरण पत्नीके लिए दुःखप्रद है पर राजकीय प्रसंगोंमें इसके विपरीत देखा जाता है। कैकेयीकी कल्पना है कि राज्यपद स्वायत्त करनेके बाद कोष, सेना और प्रजाको खुश करना सहज है। 'हरषी'से कैकेयीके उक्त विचार विवक्षित हैं।

संगति : पूर्व चौपाईमें 'हरषी'के अनुभावोंको' वक्ष्माण चौपाईमें कैकेयीकी क्रियाओंसे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेहि भेटि भवन लेइ आई ॥३॥

भावार्थ : कैकेयी आरती सजाकर प्रसन्ना होती हुई स्वागतार्थ वेगसे चली और दरवाजेपर पुत्रका आलिंगन करके उसको अपने महलमें ले आयी।

भरतका प्रथमतया गुरुजीसे न मिलना

शा० व्या० : गुरुजीके सन्देशपर भरतको बुलाया गया है। अयोध्यामें आनेपर प्रथमतः उनको गुरुजीसे मिलना चाहिए था। पर स्वार्थान्धतामें अपनी स्वार्थसिद्धमें सहायक समझकर कैकेयीने अपने पुत्रका आना सुनकर राजप्रासादके दरवाजेपर ही एकाएक भरतको छेंक लिया। गुरुजीसे मिलनेके बाद भरतजी माताके पास आते तो कैकेयीके मनस्में शंका रहती कि गुरुजीके सिखानेसे भरतजी राजपदस्वीकृतिका प्रत्याख्यान कर रहे हैं। अतः सर्वप्रथम मातासे मिलनेका संयोग भरतकी स्वतःसिद्ध प्रतिभाका द्योतक है जिसमें भरतजीकी राजनीतिसम्मत उपधाशुद्धिका प्राकट्य गुरुजीको इष्ट माना जायगा। भरतजीका उपधाशुद्धिविषयक चरित्र आगे कौशल्यासंवादमें, गुरुजी द्वारा आयोजित सभा तथा गुहमिलन आदि प्रसंगोंमें द्रष्टव्य होगा। 'उठि धाई, द्वारेहि भेटि'से कैकेयीका रागप्रयुक्त आवेग दिखाकर राजमर्यादाके उल्लंघनमें उच्छृङ्खलताका व्यवहार दिखाया है। अपशकुनों द्वारा अनर्थकी परम्परा देखते हुए भरतजीको पिता एवं भाइयोंकी कुशलता जाननेकी तीव्र उत्कण्ठा थी। पिताश्रीसे भेट कैकेयीके महलमें होना सम्भावित समझकर भरतजी अनायसेन उसके महलमें जा रहे हैं। 'भवन लेइ आई'से स्पष्ट होता है कि भरतजी उसके भवनमें स्वेच्छासे नहीं जा रहे हैं।

संगति : भरतजीका ध्यान मातृस्नेह या माताके व्यवहारकी ओर नहीं है जैसा आगे स्पष्ट हो रहा है।

चौ०—भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिनबनजबनु मारा ॥४॥

भावार्थ : महलमें जाकर भरतकी दृष्टि परिवारके सदस्योंकी ओर गयी तो उनको ऐसा दुःखी और मलिन देखा कि मानो कमलवनपर हिमपात हुआ हो।

मातृबन्दनाके अभावसे स्वकी असहमति

शा० व्या० : चौ० २ दो० १५८ में 'हृदय सोचु बड़ कछु न सोहाई'से भरतके मनस्की दशा स्पष्ट है। उधर भी नगरकी शोचनीय अवस्था, पशु-पक्षियोंकी म्लानता, पुरवासियोंकी दीनता आदिको देखकर 'भय विषाद मन माहिं'से भरतजीके मनस्की शङ्का व्यक्त है। ऐसे शोकमय वातावरणमें उच्छृङ्खला कैकेयीके स्वागतसत्कारमें शुद्ध अन्तःकरणवाले भरतजी मातृस्नेहका आभासमात्र अनुभवकर रहे हैं जिसमें पुत्रधर्मके अनुरूप माताके प्रति आदरभाव नहीं जग रहा है। भरतजीके मनस्की इस उदासीनताको लखानेके लिए कविने भरतजी द्वारा माता कैकेयीकी वन्दना या चरणस्पर्शका कोई उल्लेख नहीं किया है। पुत्रकी यह उदासीनता माताको चेतावनी देनेके लिए यथेष्ट है कि उसके कार्यमें पुत्रकी असहमति होगी। पर रागवशा कैकेयी इसको नहीं समझ रही है।

संगति : हिमपातसे विनष्ट पूरे कमलवनमें कोई एक खिले कमलको देखकर जिस प्रकार आश्चर्य होता है उसी प्रकार एकमात्र कैकेयीकी सम्पूर्ण शोकमग्न वातावरणमें प्रसन्नता देखकर आश्चर्य और शङ्का होना स्वाविक है। जिसको कविकैकेयीके इस अशोभनीय जङ्गलमें स्वयं आग लगाकर उसकी दावाग्नि से प्रसन्ना होनेवाली किराततीकी उपमासे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

भावार्थ : जिस प्रकार कोई किराततिनी बिना सोचे समझे अपने वनमें स्वयं आग लगाकर उस आगका खेल देखनेमें प्रसन्ना हो उसी प्रकार कैकेयी हर्षिता हो रही है। जिस प्रकार किराततिनी आग लगानेके परिणाम पर विचार नहीं करती कि उस आगसे वह भी विनष्टा होगी उसी प्रकार परिवारमें भेदाग्निको भड़काकर रामवनगमन, राजाकी मृत्यु, परिजन पुरजनका शोक आदि विनाशकारि दृश्य देखकर वह हृष्टा है, उसके परिणाममें, पुत्र भरतकी उदासीनतासे सूचित अपना पराभव नहीं समझ पा रही है।

कैकेयीके हर्षके भाव

'हरषित एहि भाँती'से कैकेयीके हर्षमें जो जो मुख्य भाव हैं उनका स्वरूप या प्रकार यहाँ संक्षेपमें वक्तव्य है—

१. भरतजीके उपस्थित होनेसे अचिन्त्य इष्टसम्पत्ति एवं एकाधिपत्यका सुयोग।
२. धर्मकी आड़में प्रत्येक वर्गको अपने अधीनस्थ रखनेके उपायकी सफलता।
३. प्रतिरोधमें किसी भी विरोधी तत्वका खड़ा न होना अर्थात् राजसम्पत्तिकी निर्बाधता।
४. एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी सौतेला भाई (श्रीराम) दीर्घकलाविधिके लिए राज्यसे निष्कासित है, उसके साथ ही कंटकस्थानापन्न सीता और लक्ष्मणजी भी दूर हो गये हैं जिससे स्वतुत्रके लिए आकांक्षित राज्यपद निर्बाध है।

संगति : कैकेयीकी स्वार्थदृष्टिमें उसका राग स्पष्ट हो रहा है।

चौ०—सुतहि ससोच देखि मनु मारे। पूँछति नैहर कुसल हमारे ॥६॥

भावार्थ : अपने पुत्र भरतजीको मनोमलिन और सोचमें पड़ा देखकर अपने पितृकुल (नैहर) का कुशल पूछ रही है। 'हमारे'से कैकेयीकी स्वार्थदृष्टि स्पष्ट है।

शा० व्या० : धर्मका सहारा लेकर स्वार्थसिद्धि करनेवालोंके परिणामका स्मरण रखना चाहिए कि धर्म स्वार्थीव्यक्तिको मूलसहित अर्थका विनाश देखनेको बाध्य करता है, वह उसका रक्षण नहीं करता। यह धर्मके तेजस्की तीक्ष्णता है।

चौ०—सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निजकुल कुसल भलाई ॥७॥

भावार्थ : भरतजीने संक्षेपमें इतना ही कहकर सुनाया कि 'सब कुशल हैं।' फिर अपने कुलका कुशल-मङ्गल पूछा।

कुशलोच्चारणका समन्वय

शा० व्या० : पूर्व व्याख्यामें कहा जा चुका है कि शास्त्रीयमर्यादामें क्षत्रियके लिए 'कुशल' शब्दका प्रयोग नहीं होता। यहाँ धर्मसे सम्बन्धित विषय नहीं है, इसलिए कुशलशब्दका प्रयोग व्यवहारिक कहा जायगा।

चौ० ८ दोहा १५७में 'कुसल मातु-पितु परिजन भाई'से भरतकी जो चिन्ता व्यक्त है, उसको यहाँ 'निजकुल कुसल भलाई'से भरतजीने पूछा है।

चौ०—कहु कहँ तात ? कहाँ सब माता ?। कहँ सियराम लखन प्रिय भ्राता ? ॥८॥

भावार्थ : भरतजी पूछ रहे हैं 'बताओ, पिताश्री कहाँ हैं ? सब माताएँ कहाँ हैं ? सीता, श्रीराम और प्यारा भाई लक्ष्मण कहाँ है ?'

भरतकी कुशलजिज्ञासा

शा० व्या० : 'पूँछी निज कुसल भलाई' में अपने परिवारकी कुशलतामें विशेषतया प्रिय पिता माता, सीता, श्रीराम और लक्ष्मणजीकी कुशलता जानना चाहते हैं। सर्व प्रथम पिताश्रीके बारेमें पूछनेका कारण यह है कि वे प्रायः कैकेयीके महलमें ही रहते थे, उनको वहाँ न पाकर अपशकुनसे उत्तेजित हो विशेष शंका होनेसे 'कहु कहँ तात ?' पहले कहा। 'कहाँ सब माता' कहते ही भरतको मातृस्नेहमें सीताजीका स्मरण पहले हुआ। सीताजीके प्रति भरतका मातृ-भाव चौ० ३ से ६ दो० २४२में सामान्यतया स्पष्ट होगा।

पूँछी निजकुलकुसल भलाई'के बाद 'कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सियराम लखन प्रिय भ्राता' के उल्लेखमें मीमांसान्याय 'सामान्य विधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषतः' स्मरणीय है। प्रिय जनोंकी कुसल भलाई पूछनेमें उनका योग और क्षेम दोनों विवक्षित है। 'प्रिय भ्राता' के संकेतसे कैकेयीको समझना चाहिए कि उसके हर्षसे सम्बन्धित व्यवस्थामें भाइयोंका समान भाग होना भरतजीको इष्ट है। पिता-माताके धनपर सब पुत्रोंका जन्मतः अधिकार होनेसे एकार्थाभिनिवेशके निमित्तसे भाई-भाई

सहज शत्रु भी हो सकते हैं अतः ऐसा राजनीतिशास्त्रमें भाइको शत्रु कहा जाता है। किन्तु श्रीराम प्रभृति भाई-भाईमें ऐसा शत्रुभाव नहीं है, इसको भरतजीने 'प्रिय भ्राता' से स्पष्ट किया है।

संगति : भरतजीके प्रश्नके उत्तरमें माता कैकेयीकी जो स्वर्थपूर्ण उक्ति होगी उसमें कैकेयीकी पाप-भावना प्रकट होने जा रही है।

दो०—सुनि सुतबचन सनेहमय कपट नीरभरि नैन।
भरत श्रवन-मन-सूलसम पापिनि बोली बैन ॥१५९॥

भावार्थ : अपने पुत्र भरतजीका स्नेहपूर्ण बचन सुनकर पापिनी कैकेयी कपटसे आँखोंमें आँसू भरकर बोलो। उसकी वाणी भरतजीके कान और मनस्को काँटेके समान पीड़ा दे रही है।

कैकेयीकी राग (पाप)मूलकप्रवृत्ति

शा० व्या० : इसमें ज्ञातव्य यह है कि 'मुनि पट भूषन भाजन आनी' द्वारा (चौ० १ से ५ तक दो० ७९) कैकेयीका कार्य सरस्वतीकी प्रेरणासे सम्बन्धित कहा जा सकता है पर भरतजीके आगे कैकेयीका अब जो चरित्र है वह रागद्वेषसे पूर्ण होनेसे पापका सम्बन्ध होनेसे पापिनी कहा है। भरतजीने जिस स्वरमें पिता, माता, सीता, राम और भाई लक्ष्मणजीकी कुशलताके बारेमें पूछा वह स्नेहरससे सना था। उनके प्रति भरतके स्नेहभावको देखकर कैकेयीको अपनी प्रसन्नता खटकी तो वह सँभल गयी और कपटभावसे आँखोंमें आँसू भरकर रोनेकी मुद्रामें बोली। सन्त, महात्मा, भक्तके साथ छलकपट करना पाप है। कपट सब अनर्थका मूल है। सत्यसंध राजाकी मृत्युसे राजमहल और पुरीको शोकाक्रान्त देखकर कैकेयीको अपनी उपक्रान्त गतिविधिसे उपरता हो जाना चाहिए था। भरतजीके आगे यथार्थ स्थितिका निरूपण करके अग्रिम कार्यका भार उनके ऊपर वह छोड़ देती तो रागद्वेषसे रहिता हो पापसे बच जाती। वैसा न कर पुत्रत्व भावमें कैकेयीका स्वार्थपूर्ण चरित्र 'पापिनी' होनेका संकेत कर रहा है, कैकेयीके हृदयमें पुत्रके राज्यके लिए पूर्वानुस्यूत राग प्रकट होनेसे उसे पापिनी कहा जा रहा है।

कैकेयीकी शुद्धि, व पूज्यताका आदर

ज्ञातव्य है कि राज्यकी सुव्यवस्थाके लिए राजाको स्वमण्डलमें कारणक्रुद्ध और अकारणक्रुद्ध दोनोंको दण्डित करके प्रजामें शान्ति करना चाहिए। राजाके निज अपचारसे क्रुद्धवर्ग कारणक्रुद्ध कहा जाता है। उनके उपशमनका उपाय राजाके लिए अपना अपचार त्याग करना है। बिनाकारण ही क्रोध करनेवालोंको अकारणक्रुद्ध कहा जाता है। ऐसे उपद्रवियोंको तूष्णीम्-उपांशु, अर्थदण्डसे लेकर वधतकके यथोचित दण्डका विधान है[1]। शास्त्रमें भी उनका पापकी संज्ञा दी गयी है। स्मरण रखना है कि भरतजी

---

१. 'पापान् अकारणक्रुद्धान, तूष्णीं दण्डेन साधयेत्' (नीतिसार)

माता कैकेयीको अकारणक्रुद्ध मानकर राजनीतिके अनुसार तूष्णीम् रीतिसे अप्रकाश रूपमें उपांशु दण्ड देकर ग्लानिका अनुभव कराकर[1] उसके पापका विनाश कराते प्रभुके आदेश 'सेएहु मातु सकल सम जानी' का पालन करेंगे।

चौ० ५ दोहा ३६में राजाका वचन 'तोर कलंकु' प्रतिफलित होकर कैकेयीको पापिनीरूपमें प्रकट हो रहा है। धर्मकी दृष्टिसे कैकेयीका पापिनी होना यह है कि अपना वैधव्य उसने स्वयं बुलाया है जैसा चौ० ३-४ दो० १८० में भरतजीके बचनसे स्पष्ट है[2]।

उपर्युक्त विचारोंसे कविका कैकेयीको इस समय 'पापिनी कहना युक्ति-संगत है। कैकेयीके प्रति कहा राजाका बचन ('तोर कलंक')का प्रामाण्य कैकेयीके अग्रिम चरित्रसे प्रतिफलित है।

संगति : त्रयी एवं राजनीतिकी उपेक्षा करनेवाले अर्थपरतन्त्र व्यक्तिकी विचार-हीनताका प्रदर्शन कवि करा रहे हैं।

चौ०—तात बात मैं सकल सँवारी। भै मन्थरा सहाय बिचारी ॥१॥

भावार्थ : कैकेयी भरतजीसे कह रही है 'हे पुत्र! तुम्हारे हितकी सब बातें मैंने अच्छी तरहसे बनाकर रखी है जिसमें विचारी मन्थरा सहायक हुई।'

मन्थराके प्रति आदर

ज्ञा० व्या० : 'विचारी' कहकर कैकेयी मन्थराको निर्दोषा बताकर आदर दे रही है जैसा चौ० ४ दो० २३में 'बहु विधि चेरिहि आदरु देई'से स्पष्ट हो चुका है। विचारके अर्थमें 'विचारी' का यह भी भाव है कि भरतके राज्यके आयोजनमें मन्थराकी मन्त्रणा सहायक है। सरस्वतीने मन्थराको 'अपजस पेटारी' बनाया था उसका स्वरूप कैकेयीके मुखसे भरतजीके सामने प्रकट हो रहा है। शत्रुघ्नजीद्वारा मन्थराकी दुर्गतिमें कैकेयीकी उक्ति 'भै मन्थरा सहाय बिचारी' उत्तेजक सिद्ध होगी।

अर्थप्रधानकी एषणाएँ

'बात सकल सँवारी' में रागाधीन कैकेयीकी पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा प्रकट है। रामराज्यमें भरतको उनके आजीवन सेवकत्वसे बचाना कैकेयीके मतसे 'बात सँवारी' है। 'मैं' कहनेमें विशेष बल इस बातपर है कि अपने स्वतन्त्र कर्तृत्वसे पुत्र भरतजीके लिए इतना बड़ा साम्राज्य बिना रक्तपातके प्राप्त करानेमें वह सफला हुई है। 'सुतहि ससोच देखि मन मारे' को दूर करनेके लिए कैकेयीकी रागान्धतामें यह उक्ति है।

---

१. जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई (चौ० ८ दो० १६२) शिवजी द्वारा सतीकी उपेक्षामें 'जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आरती' (चौ०८ दो० दो० ५७ बा० का०) भी उपांशुदण्डका एक प्रकार है।

२. लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुरपति कीन्हा॥ चौ० ३-४ लीन्ह विधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु सन्तापू॥ दो० १८०

संगति : 'नीर भरि नैन'में कैकेयीके कपट चरित्रका जो उद्देश्य था उसको कवि 'भूपति सुरपतिपुर पग धारेउ'से स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपतिपुर पग धारेउ ॥२॥

भावार्थ : 'बात मैं सकल सँवारी'में वीचमें थोड़ा सा काम विधाताने बिगाड़ दिया, वह यही कि राजा स्वर्गधासार्थ चले गये।

दुर्जन और सुजनके बिचारोंमें अन्तर

शा० व्या० : स्वयं अनीतिका कार्य करना और दूसरेको दोषी ठहराना लोभका स्वरूप है। राजाकी मृत्युका कारण स्वयं होती हुई कैकेयी विधिको दोषी ठहराती है। अपशकुन आदिसे शुद्ध अन्तःकरणवाले भरतजीके हृदयमें अमंगलकी कल्पना हो रही थी राजाकी मृत्यु सुनकर भरतजीको अभी प्रामाणिकता सिद्ध हो गयी।

राजाकी मृत्युके प्रति उपेक्षाभावमें 'कछुक बात' कहना रागिणी कैकेयीके दौर्जन्यका सूचक है। स्वार्थ एवं रागके वश हो पुत्रके लिए राज्यकी कामना और श्रीरामके लिए बनवासको इष्ट समझना दूसरा दौर्जन्य है। सत्यसंध राजाकी मृत्युसे होनेवाली घर, समाज और देशकी महत्वपूर्ण हानिको कैकेयी स्वार्थ दृष्टिमें 'कछुक काज बिगारी' कहती है। पर श्रीराम राज्यसंपत्ति-प्राप्तिकी हानिको 'थोरिहि बात' या 'अति लघु बात कहते हैं (चौ० ६ दो० ४२ व चौ० ७ दो ४५) स्वार्थ और परमार्थ दृष्टिमें यह अन्तर स्मरणीय है।

सुरपतिपुरसे स्वर्गपुरविशेष

'सुरपतिपुर'से स्वर्गलोकमें उस विशेषपुरीका संकेत है जहाँ इन्द्र रहते हैं। उस विशेषपुरीमें राजा दशरथका प्रयाण उनकी पुण्यपुञ्जताका द्योतक है।

संगति : कैकेयीके षडयन्त्रमें भरतजी कितना अछूते हैं, इसको कवि अग्रिम ग्रन्थमें स्पष्ट करेंगे।

चौ०—सुनत भरतु भए बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा ॥३॥

भावार्थ : माताके वचनसे पिताकी मृत्युको सुनकर भरतजी शोकमग्न हो गये, मानो सिंहकी दहाड़ सुनकर हाथी सहम गया हो।

शा० व्या० : बलीमें हाथी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। हाथीके दृष्टान्तसे भरतजीका सत्व बल दिखाया है। पिताजीकी मृत्युको सुनकर उत्तमप्रकृति भरतजीका सत्व एवं धैर्य अभिभूत हो गया।

चौ०—तात ! तात ! हा तात ! पुकारी। परे भूमितल व्याकुल भारी ॥४॥

भावार्थ : भरतजी 'हा-पितः ! हा-पितः' ! कहकर बहुत व्याकुल हो जमीनपर गिर पड़े।

शोकप्रसङ्ग

शा० व्या० : शोकके अनुभावको शारीरिक क्रियाद्वारा 'परे भूमितल'से दिखाया है और विलापात्मक अनुभावको 'तात ! तात ! हा तात !, द्वारा दिखाया है।

संगति : विलापमें भरतजीकी आन्तरिक वेदना प्रकट हो रही है।

चौ०—चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही ॥५॥

भावार्थ : भरतजी विलाप करते हुए कहते हैं कि 'हे पितः ! आपको परलोक-गमन करते समय मैं नहीं देख पाया। मुझे श्रीरामजीको सौंपे विना आप चले गये ?'

शा० व्या० : भरतजीका पछतावा यही है कि पिताश्रीने अपने वचन 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे। करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'के अनुसार अपनी अधिकृत वाणीसे श्रीरामकी सेवामें सौंपे विना परलोक प्रयाण कर दिया।

विद्वत्संगतिकी अभिलाषा

जीव स्वभावतः मायासे आवृत होनेसे तमोगुणके प्रभावसे नहीं बच सकता। अतः साधु सेवक स्वामीके अङ्कुशमें रहना चाहते हैं। अर्थप्रधान व्यक्ति निरङ्कुश रहना चाहता है। अभी तक पिताके अनुशासनमें रहते भरतजी अपना भला मानते थे। पिताश्रीके न रहनेपर वे स्वतन्त्र होना नहीं चाहते, स्वामी श्रीरामके अधीनस्थ रहना चाहते हैं। 'तात न रामहि सौंपेहु मोहि'की उक्तिसे भरतजीकी सेवाप्रयोजक साङ्कुशता एवं 'साधु (विद्वन्तगति) संगति'में रुचि व्यक्त है जो मद एवं मानसे साधुको बचाती है। इसको कवि आगे चौ० ७ दो० २३१में प्रभुके वचनसे प्रकाशित करेंगे।

संगति : पिताकी मृत्युके विषयमें कैकेयीके मुखसे 'कछुक बात' सुनकर शङ्कामें भरतजी पिताकी मृत्युका कारण पूछ रहे हैं।

चौ०—बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरनहेतु महतारी ॥६॥

भावार्थ : फिर भरतजीने धैर्य धारण किया और सँभल गये। वे मातासे पूछने लगे कि पिताश्रीकी मृत्युका कारण बताओ।

उत्तमप्रकृतिका स्वभाव

शा० व्या० : उत्तमप्रकृति व्यक्ति धैर्यधारण करनेमें समर्थ होते हैं। धैर्यमें विवेक जागृत होता है। धैर्यमें आनेके बाद भरतजी साध्य-साधनभावके विचारमें मातासे मृत्युका कारण जानना चाहते हैं। माताके वचन 'तात बात मैं सकल सँवारी'में हितकारित्वकी सत्यताका विचार करना विवेक है। चौ० ४ दो० १५५की व्याख्यामें कहा गया है कि सत्यसन्ध राजा दशरथ इच्छामृत्युके अधिकारी हैं। पिताश्रीकी उस योग्यताके रहते भरतजीका 'पितु मरन हेतु'का पूछना युक्तियुक्त कहा जायगा।

संगति : जैसे पतिके मरणसे क्षणिक दुःख होनेके बाद कैकेयीको अपने अर्थके प्रति रुचि हो गयी वैसे ही वह सोच रही है कि पुत्रको भी पिताकी मृत्युसे थोड़ी देरतक

दुःख होनेके बाद 'तात बात मैं सकल सँवारी'में रुचि हो जायगी। पर श्रीराम सेवा-रुचिवाले भरतजीके मनस्में इसके विपरीत प्रभाव पड़ा ऐसा शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०–सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरमु पोंछि जनु माहुर देई ॥७॥

भावार्थ : पुत्र भरतजीके वचनको सुनकर कैकेयी जो कहेगी वह मानो घावको पोंछकर विष लगानेके समान उनको पीड़ादायक होगा।

नीतिसुखकी श्रेष्ठता

शा० व्या० : राज्यसुखका प्रलोभन देना भरतजीके लिए पितृमरणके मर्माघात-को हटाकर विषप्रयोगके समान हुआ। शरीरात्मवादीके लिए उच्चतम सुख राज्य-सुख मानकर 'मरमु पोंछि'से पिताश्रीके मृत्युको भुलाना और 'माहुर देई'से रामवनगमन सुनाना कहा गया है अनात्मवादीके विचार ये हैं। आत्मवादीके विवेकमें ऐसी बात नहीं है। वे नीति-सुखके आगे राज्य सुखको तुच्छ समझते हैं।

संगति : कैकेयी भरतजीको विस्तृत वर्णन सुना रही है। उसमें कविका उद्देश्य प्रतिपक्षी (भरत)को विचार करनेका अवकाश देना है अर्थात् कैकेयीके वचनमें हितकारित्वका उसने निर्णय करना है।

चौ०–आदिहु ते सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥८॥

भावार्थ : कैकेयीने भरतजीके सामने आरम्भसे अन्ततक अपना सब कार्य सुना दिया। उनका कार्य कुटिलता एवं कठोरतासे पूर्ण होते हुए भी वह वर्णन उसने प्रसन्नमानससे किया।

वचन प्रामाण्यकी प्रतिष्ठामें विवेक आदिका बल

शा० व्या० : चौ० ३-४-५ दोहा ९९ (बालकाण्ड)में स्पष्ट किया गया है कि वचनके प्रामाण्यकी प्रतिष्ठाके लिए भक्ति, विवेक और धर्मसे युक्त वाणी ही परम हित-कारिणी मानी जाती है। कैकेयीकी वाणीमें उसका अभाव होनेसे 'कुटिल कठोर' कहा है जैसा दोहा ३५में राजाके वचन 'लागेउ तोहि पिसाच जिमि'से सिद्ध है कि छलकपट ही कैकेयीका पिशाचत्व है जिसको दूर करनेका उपचार शुचिभूत भरतजीके वचनोच्चारसे सफल होगा।

'आपनि करनी'से कल्पनाकी जा सकती है कि कैकेयीने मन्थराके चरित्रको छोड़कर दो० २९से लेकर चौ० ५ दो० ७९ तकका सम्पूर्ण कार्यका बखान किया।

संगति : राजनीतिशास्त्रका कहना है कि झूठ बोलनेवाले लंबे वक्तव्यमें परस्पर विरोधी बात प्रकट हो जाती है। जिनसे उसके दौर्जन्यका पता चल जाता है। माताकी करतूतका विस्तृत वृत्तान्त सुननेसे विवेकी भरतको वास्तविकताका अनुमान हो गया।

दो०–भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौन ॥१६०॥

भावार्थ : कैकेयी द्वारा अपनी करनीका सम्पूर्ण वृत्तान्त वर्णन करनेमें रामवनगमनको सुनते ही भरतजी पिताश्रीके मरणको भूलकर स्तब्ध रह गये अर्थात् पिताश्रीकी मृत्युसे रामवनगमनका अधिक धक्का लगा। पर उसमें अपनेको ही कारण समझकर मौन होकर मानसमें भरतजी विचारमग्न हो गये।

'थकित रहे'का भाव

शा० व्या० : 'आपनि करनी'का अन्त चौ० १ से ५ दो० ७९में श्रीरामको वनगमनमें प्रेरित करनेतक है जिसको यहाँ 'सुनत राम वन गौनु'से व्यक्त किया है। 'थकित रहे धरि मौन'की स्तब्धतामें विचारशून्यता हेतु नहीं है। किन्तु माताके वर्णनके प्रतिपाद्य विषयमें अपनेको राज्य मिलना हेतु है। एवं अपनी अनुपस्थिति सब अनर्थका मूलकारण है—इस सम्बन्धमें भरतजीकी विचारधाराका चित्रण अथवा मौनमें मननका विषय पाठकोंके लिए माननीय है। गोसाईंजी द्वारा ग्रन्थारम्भमें (चौ० ८-९ दो० २ बा० का०)में गंगा, यमुना और सरस्वती संगमके तात्त्विक वर्णनका स्मरण रखते हुए भरतजीकी विचारधाराओंमें वही संगम 'थकित रहे धरि मौन'में आस्वाद्य है। भरतजीके मननमें भक्तिपंथका आश्रय गंगाकी धार है (रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा)। विद्याओंके द्वारा सदसत्पूर्वक उनके बलाबलके विचारमें ग्राह्य और त्याज्यका विवेक 'विधि निषेधमय कलिमल हरनी' यमुना है। कैकेयी द्वारा आयोजित राज्यप्राप्तिमें निष्कामुकता एवं देहसम्बन्धके प्रति उदासीनता 'ब्रह्म विचार प्रचारा' सरस्वती है।

भक्तिके श्रीगणेशमें विरोधी तत्त्वकी अप्रामाणिकता

भक्तिपन्थके प्रवर्तक शिवजीने ध्यानमें सतीके झूठ-कपटको जानकर निर्णय किया कि 'जौ अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथु होइ अनीती' उसी प्रकार लोकमें भक्ति पन्थका श्रीगणेश करनेवाले भरतजीने कैकेयीके 'अदिहु ते सब आपनि करनी'को सुनकर जान लिया कि माताकी मतिमें पुत्रके प्रति रागयुक्त स्वार्थकी भावनाने उदित होकर माताको राज्यकामुक बना दिया एवंच कुटिल कठोर कर्म करनीवाली माताके वचनको इस समय प्रमाण मानना भक्तिपन्थके विरुद्ध होगा और नीतिकी स्थापना नहीं हो सकेगी।

अपच्छेद न्यायका विरोध

मीमांसोक्त अपच्छेद न्याय 'भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु'में समझना चाहिए। अर्थात् पहले राजमरणका दुःख हुआ फिर वनगमनका। इसमें अपच्छेदन्यायसे पिताकी मृत्युदुःखको अभिभूत कर रामवनगमनका शोकजन्य दुःख बलवान् हुआ कहा जा रहा है। उसीकी चिकित्सा होनी चाहिए, पर कैकेयीने उसके विपरीत कार्य किया, यही उसका राग है।

भारतीय परम्परामें स्वाध्यायकी प्रामाणिकताके लिए अदृष्टके उद्बोधनमें वेद, ऋषीवचन एवं पूर्वपरम्पराको तर्कशुद्ध निर्दुष्ट माना गया है। उनके प्रत्येक वचनपर लाघव-गौरवका विचार करते हुए कहाँ किस प्रकारसे समन्वय करना मीमांसाका

उद्देश्य है। छलहीन हितकारितासे युक्त सत्यसंध पिताके वचनकी[1] प्रामाणिकताके विचारमें भरतजीका उक्त विचार स्मरणीय है। भरतजी निर्णय कर रहे हैं कि माताके कुटिल कठोर वाणीसे युक्त व्यावहारिक वचन और आचार कार्यसिद्धिकी सफलताके लिए प्रमाणरूपमें अभी ग्राह्य नहीं हैं।

प्रमाणके बलाबल विचारका उपक्रम

राजाके उक्त 'देउँ भरत कहुँ राजु बजाई' 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई' वचनोंका समन्वय करनेमें त्रयी और राजनीतिके बलाबलका विचार आन्वीक्षिकी विद्याद्वारा करना है। नहीं तो पिताके एक वचनको निरपेक्ष रूपमें प्रमाण मानकर राज्य स्वीकार करनेसे धर्म होगा, प्रजानुराग न होनेसे राजनीतिविलुप्त होगी उसके साथ ही त्रयीका महत्व भी विलुप्त होगा। अतः त्रयीको वर्तमानमें अननुष्ठित न करके राजनीतिका उत्थान अपेक्षित है। अवधवासी प्रजा निःशङ्क होकर स्थायी विश्वासमें रहेंगी तभी राजनीतिकी सफलता है। इस कार्यक्रमको बनानेके लिए गुरु, माता आदिकी तात्कालिक अवहेलनाको रामभक्तिसे सम्वलित करना दोषावह नहीं होगा। राजनीतिकी स्थापनाके पश्चात् गुरु, माता आदिके वचनके आधारपर प्रभुके आदेशमें राज्य करनेको स्वीकृत करनेसे त्रयीका प्रामाण्य बना रहेगा और सेवकत्वका भी निर्वाह होगा। इस प्रकार आन्वीक्षिकीके माध्यमसे विद्याओंके रक्षणका क्रम विभाजित करते हुए भक्तिपन्थको सामने रखकर राजाके वचनप्रमाणको सुरक्षित रखनेका उपक्रम भरतजी करेंगे। प्रतापभानुकी दुर्गति उक्त विचारोंकी न्यूनता होनेसे न्यायविद्याके अभावमें हुई।

संगति : राग और स्वार्थमें कैकेयीको वास्तविकताके विपरीत भान हो रहा है।

चौ०—बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोन लगावति॥१॥

भावार्थ : पुत्रकी व्याकुलता देखकर कैकेयी भरतजीको समझा रही है। उसका समझाना भरतके लिए जलेपर नमक छिड़कनेके समान है।

घावपर नमक

शा० व्या० : राजाकी मृत्युसे भरतजीको जो शोकसन्ताप हो रहा था उसमें माताकी करनी सुनकर और जलन पैदा हो गयी यही जलेपर नमक छिड़कना है।

संगति : भक्तिपन्थके विरोधी तत्वोंको निरस्त करके किस प्रकार प्रभुकी शरणमें जाय जाय—इसके विचारमें भरतजी व्याकुल हो रहे हैं, पर माता उसको

---

1. 'राय राम लखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी'से राजाकी छलहीनता प्रकट है। 'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम प्रभुताई। करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'से राजाके वचनकी हितकारिता प्रकट है।

पिताश्रीकी मृत्युके शोकका प्रभाव समझ रही है। उसको दूर करनेके लिए राजाकी प्रशंसामें बोल रही है।

चौ०—तात राउ नहिं सोचै जोगू। बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू ॥२॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अन्त अमरपतिसदन सिधाए ॥३॥

भावार्थ : 'हे पुत्र! राजा शोकके योग्य नहीं हैं। उनका पुण्य जैसा बढ़ा हुआ था वैसा ही उन्होंने भोग किया। जीते जी उन्होंने जीवनका समस्त फल प्राप्त किया. अन्तमें देवराज इन्द्रकी पुरीमें प्रयाण किया।

राजाकी असोचनीयता, भोगमें आमिषानामिषत्व विवेक

शा० व्या० : दो० १७२ से १७३ के अन्तर्गत गुरु वासिष्ठजीने सोचनीयकी व्याख्या की है। राजा दशरथ शोचनीय नहीं है। अपने पुण्य और यशस्की प्रचुरतासे राजाको सब भोग प्राप्त थे। कैकेयीकी मतिमें जीवनकालमें उच्चतम राज्य-सुखकी प्राप्ति और अन्तमें स्वर्गलोककी प्राप्ति ही 'जनम फल' है—अर्थरुचि व्यक्तियोंकी पहुँच यहीं तक है। दृष्टरूपमें राजा दशरथको सब लौकिक सुख प्राप्त था। पर समझना यही है कि धर्मात्माका भोग नीतिदृष्टिसे दूसरोंके लिए आमिष नहीं होता। कैकेयीका राज्यभोग दूसरोंकी दृष्टिमें आमिष हो विनाशकारी होगा।

अर्थरुचिका इष्ट

पूर्वोक्त चौ० १में 'सुतहि समुझावति'में कैकेयीके दो पक्ष हैं। एक पक्षमें राजाकी मृत्यु एवं रामवनवासके सम्बन्धमें शोक करनेसे राज्य सम्पत्तिके भोगसे वंचित होना। और दूसरे पक्षमें 'तात बात मैं सकल सँवारी' द्वारा प्राप्त राज्यका यथाविध उपभोग। श्रीराम और भरतजी दोनों राजपुत्र हैं, उनमें राज्यरूप एकार्थाभिनिवेश स्वाभाविक है। इस हेतुसे कैकेयीके अर्थपरक मतिमें येनकेनापि उपायेन पुत्र भरतकी राज्यप्राप्ति इष्ट होनेसे श्रीरामकी राजच्युति शोकविषय नहीं है। रामवनवासको सुनकर 'थकित रहे धरि मौन'की अवस्थामें भरतजीको देख कैकेयीको अपनी स्वार्थ-दृष्टिसे ऐसा आभास हुआ कि भरतको रामवनवासका उतना दुःख नहीं है जितना राजाकी मृत्युसे 'परे भूमितल व्याकुल भारी'से दिखायी पड़ा था। उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखते हुए कैकेयीका समझानेका उद्देश्य है कि पुत्र भरत अर्थरुचिमें रामवनवास-को इष्टापत्ति मानकर शोक नहीं करेंगे।

कैकेयीका न्यायप्रयोग

चौ० २ दो० १६०में 'भूपति सुरपतिपुर पगु धारेउ' कहते ही भरतजी व्याकुल हो धराशायी हो गये, इसलिए कैकेयी अपने वाक्यका उपन्यास करनेसे रुक गयी। उसीको यहाँ पूर्ण किया है। न्यायप्रणालीसे इस प्रकार कहा जायगा—'भूपति सुरपतिपुर पगु धारेउ' प्रतिज्ञावाक्य है जिसका हेतुपूर्वक उपन्यास उपर्युक्त चौपाइयोंमें किया है अर्थात् 'राजा शोकस्य अयोग्यः उच्चतमेन्द्रपुरप्राप्तिमत्वात् पुण्ययशोजननकर्तृत्वात्'। 'अन्त अमरपति सदन सिधाए'की पुनरुक्तिमें निगमनका प्रकार दिखाया गया है।

संगति : 'तात बात मैं सकल सँवारी'से राज्य प्राप्तिके योगमें कैकेयीने अपनी करनी बता दी। अब उस राज्यके क्षेमके लिए पुत्रको प्रेरित कर रही है।

चौ०–अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राजपुर करहू ॥४॥

भावार्थ : राजाकी मृत्युके विषयमें उक्त रीतिसे शोकनिवारणका उपान समझाकर कैकेयी भरतसे कहती है कि तुम शोक छोड़ दो और समाजके साथ अयोध्यापुरीका राज्य करो।

कैकेयीका भ्रम व भरतका राजपद त्याग

शा० व्या० : 'सहित समाज'का तात्पर्य चातुर्वर्ण्यसमाज जिसके अन्तर्गत प्रकृतिमण्डल है। उसकी सहायतासे भरतजीको राज्यकी व्यवस्था एवं उसका संचालन करनेकी प्रेरणा दे रही है। निष्कर्ष यह है कि माताने राज्यप्राप्तिका सुयोग उपस्थापित कर दिया है, उसको संभालना भरतका काम है।

अथवा कैकेयीने प्रस्तुतमें जो राज्यलाभ कराया है, वह तन्त्र नहीं, आवाप कहा जायगा क्योंकि क्रमागतअधिकारप्राप्त व्यक्तिको हटाकर स्वार्थ परवशतामें पुत्रको राज्य दिलाया गया है। राजनीति दृष्टिसे कैकेयी भरतको विजिगीषु मानती है। ऐसी मान्यतामें 'समाज' व 'पुर'से, दूसरेका (श्रीरामका) देश व दुर्ग विवक्षित माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि राजनीत्युक्त गुण प्राचुर्येण भरतजीमें होनेपर भी वर्तमान स्थितिमें शंकाके कारण समाजकी अनुकूलता भरतके प्रति नहीं है—इस वास्तविकताको न समझ राज्य करनेकी प्रेरणा देना कैकेयीकी भ्रान्ति है। भक्ति विद्याके अनुष्ठाता भरतजी 'राज करहू'से होनेवाले नीतिके ह्रासको जानते हैं।

जिस प्रकार 'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'में नीतिकी हानि देखकर बड़े भाई श्रीरामने राजपद ग्रहणको अनुचित समझा उसी प्रकार प्रभुके सेवक भरत उक्त अनीतिको समझकर राज्य त्यागका संकल्प कर रहे हैं जो गुरुजी द्वारा आयोजित सभामें सबके सामने प्रकाशित होगा। यहाँ स्मरणीय है कि राजा दशरथ द्वारा श्रीरामको राजपद देनेमें गुरु, मन्त्री आदिकी सम्मति आदिसे जिस नीतिसिद्धान्तका अनुगमन किया गया है उसका उल्लंघन कैकेयीके उक्त स्वतन्त्रताप्रयुक्त आदेशमें भरतजीको परिलक्षित हो रहा है।

संगति : 'सहित समाज राजपुर करहू'को कार्यान्वित करनेमें भरत एवं कैकेयीको राजशास्त्रोक्त संज्ञाके अनुसार 'विजिगीषु' तब कहा जायगा जब दुर्गस्थ होकर वह बुद्धिसचिवादि मंत्रिगणोंसे सम्मत होकर परराज्यको स्वायत्त करनेका उद्योग करता है। वसिष्ठ जैसे गुरु एवं सचिव, परिजन पुरजनोंकी सम्मति तथा सुमन्त्र जैसे महामनाके आश्रयके अभावमें अभी कैकेयी या भरतजी उक्त स्थितिमें नहीं हैं। अतः कैकेयी सहित भरतको भाई-भाईमें होनेवाले एकार्थाभिनिवेशप्रयुक्त सहजशत्रु माना जायगा जिसका परिणाम 'कुलनासा' है जिसको भरद्वाजजीके समक्ष भरतजीके 'कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू' आदिसे चौ० १ से ६ दो० २१२में स्पष्ट करेंगे।

कैकेयीके वचनमें निहित अपनयको समझकर भरतजी काँप गये जैसा 'सहमेउ'से आगे व्यक्त किया है।

चौ०–सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अंगारू॥५॥

भावार्थ : कैकेयी माताका वचन सुनकर उत्तमप्रकृति राजकुमार भरतजी सहम गये मानो पके घावमें जलता अंगारा छू गया हो।

भरतजीका स्थायि नीतिमें आदर

शा० व्या० : 'सुठि'से भरतके स्वभावमें उनका विवेक एवं भक्तिपंथका आदर व्यक्त है। 'सुनि सहमेउ'का भाव है कि कैकेयीके वचनसे विमलवंशमें कैकेयीका दुश्चरित्र एवं राज्यप्राप्तिरूप अकार्यको सुनकर भरतजी स्तब्ध या लज्जित हो गये क्योंकि माताने अपनी स्वार्थसिद्धिमें निरपराधी ज्येष्ठ भ्राताको वनमें निष्कासित करके बांधव-संघातसे वंचित किया व स्वामि-द्रोहका प्रसंग उपस्थापित किया है। अतः कविने यहाँ 'राजकुमारू'की उक्तिसे भरतका राजनीतिके प्रति आदर दिखाया है।

उपचारका जहरीलापन

'मरमु पाँछि जनु माहुर देई' (चौ० ७ दो० १६०)में राजाके मरणके मर्माघात-को कैकेयीने दैवके नामपर निर्दुष्ट बनानेका जो प्रयत्न किया वह भरतके मर्म-घावको पोछनेके समान हुआ। 'आदिहु ते सब आपनि करनी'का बखान उस घावपर विषे-लेपनके समान भरतको बेचैन करनेवाला हुआ। भरतजीकी बेचैनीको दूर करनेके लिए 'सुतहि समुझात्रति' द्वारा किया उपचार भरतजीके विषदग्ध घावपर नमक छिड़कनेके समान और ज्यादा वेदनोत्तेजक हुआ। अब 'राज करहु' सुनकर भरतजीको राज्यपालनके नामपर प्रजाकी क्रोधाग्निका दाह और चिन्ताका अनुभव हुआ जो पके घावपर ज्वलंत अंगारा रखनेके समान असह्य पीड़ाजनक सिद्ध हो रहा है 'मर्म दुश्चेष्टितं'के अनुसार शास्त्रविरोधी दुष्कर्मको मर्म कहा गया है।

संगति : कैकेयीके पापका भान होनेपर भरतजी दुःखी होकर विचार कर रहे हैं।

चौ०–धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि! सबहि भाँति कुलनासा॥६॥

भावार्थ : इस समय भरतजी धैर्य रखकर दुःखमें श्वांसोच्छ्वास लेते हुए सोचते हैं कि पापिनी कैकेयीने सब प्रकारसे कुलनाशका आयोजन किया है।

धैर्य एवं पापका परामर्श

शा० व्या० : पूर्वोक्त चौ० ६ दो० १६०में 'बहुरि धीर धरि'में भरतकी शौचाचार-सम्पन्नधृति है, यहाँ 'धीरज धरि'में विद्या-विवेकप्रयुक्त कृतक धैर्य दिखाया है। 'लेहिं उसासा' धैर्यमें कमीका द्योतक न होकर कैकेयीकी कृतिके प्रति दुःखका द्योतक है। भरतका सहमना और श्वांसोच्छ्वास देखकर भी रागमें होनेवाला राज्यलोभका होना उसका पाप है। पापिनी कहकर भरतजी कैकेयीको, माता होनेपर भी, दुश्चरित्राके

कारण उसे अनाप्ता और मूर्खा समझते हैं। माताके वचन 'सहित समाज राज पुर करहू'में भरतजी 'सबहिं भाँति कुल नासा' देखते हैं अर्थात् केवल राजकुलका नाश नहीं, 'सहित समाज राजपुर'का भी नाश समझते हैं क्योंकि राजनीतिके विनष्ट होनेपर कुलका भी नाश निश्चित है।

कैकेयी सहित कुलका नाश

राजपदके अधिकारके सम्बन्धसे ज्येष्ठपुत्र श्रीरामको ही अधिकृत होना चाहिए। नीति एवं शास्त्रकी इस मर्यादाको भूलकर कैकेयी रागके अधीना हो वह अपने पुत्रको राज्य दिलानेमें स्वयं एकार्थाभिनिवेशिनी हो रही है, यही उसका मूर्तिमान् पाप है जो राजा प्रजा तथा समाजको विनष्ट कर देगा। इस प्रकार 'कुल नासा'में कैकेयीका भी नाश है।

पापिनीत्वकी अर्हता भरतके मानसमें

राजाके वचन (राम प्रभुताई। करिहहिं भाइ सकल सेवकाई) प्रामाण्यकी अवहेलना करनेसे प्रमेयसिद्धिमें विघात होगा तो श्रीरामका वनवास सफल नहीं होगा तब कैकेयीका उक्त राग ही 'सबहिं भाँति कुल नासा'का कारण होगा जैसा पुरवासियोंकी उक्तिमें 'एहि पापिनिहि बूझिका परेऊ। छाइ भवनपर पावुक धरेऊ' (चौ० २ दो० ४७)में व्यक्त हो चुका है। कैकेयीके प्रस्तुत चरित्रको देखते हुए भरतजीका 'पापिनी' कहना कविकी उक्ति 'पापिनी बोली बैन' (दो० १५९)से सङ्गत है।

नीतिके विरोधमें भरतजीका विवेक

यद्यपि राजपद पानेमें कैकेयी माध्यम है तथापि प्रभुके सन्देशमें 'नीति न तजिअ राजपदु पाए'से नीतिका अनुगमन करते भरतजी कैकेयीको त्यागेंगे पर नीतिको नहीं छोड़ेंगे। भक्तिपन्थके विरोधी तत्त्वोंके निष्कासन हेतु भरतजीके विवेकपूर्ण अभिनयमें स्वामी श्रीरामके प्रति भरतजीकी निर्हेतुक निर्द्रोह भक्ति प्रजा एवं समाजके सामने प्रकट होगी।

संगति : 'सहित समाज राजपुर करहू'की उक्तिमें माताकी कुरुचिके सम्बन्धमें भरतजी कह रहे हैं।

चौ०—जौ पै कुरुचि रहि अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही ॥७॥

भावार्थ : 'यदि तुम्हारे मानसमें (राज्य प्राप्तिके सम्बन्धमें) प्रबल रुचि रही तो मुझे पैदा होते ही क्यों न मार डाला।'

मूलभूत रुचिका विलोप व पुनरुद्बोधन

शा० व्या० : चौ० १ दोहा २८में कैकेयीकी वरयाचनात्मक उक्तिमें 'भावत-जीउ'से उसकी अन्तर रुचि 'देहु एक बर भरतहि टीका'से प्रकट हुई। विवाहोपरान्त पुत्र न होनेसे यह रुचि विलुप्तप्राय हो गयी थी। अतः पुत्रजन्मके समय उक्त रुचिकी वासना नहीं थी। श्रीरामके विशुद्ध स्नेहविशेषके आस्वादमें कैकेयीको जो सुरुचि

पनपी उसका वर्णन दोहा १५के अन्तर्गत किया गया है। सरस्वतीकी मायाने कैकेयीकी उक्त सुरुचिको परिवर्तित करके मूल संस्कारजन्य रुचिको उभाड़ दिया जिसको भरतजी 'कुरुचि' कह रहे हैं।

भरतजीके कहनेका तात्पर्य यहाँ यह है कि उनके जन्मके समय तो माताकी ऐसी कुरुचि नहीं थी। यदि होती तो जनमते ही माता द्वारा मार डालना उनको इष्ट था। 'जनमत काहे न मारेहि मोही'के उत्तरमें भरतजी अपने जन्मके समय कैकेयीमें 'जौ पै'से उक्त कुरुचिका अभाव दिखा रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि स्वपुत्रके लिए माताकी राज्यप्राप्ति विषयक तात्कालिक कुरुचिको अपने मरणके तुल्य समझते हैं। कैकेयीकी करनीसे सम्भावित 'सबहिं भाँति कुल नासा'के अन्तर्गत सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामजीका अन्तर्ध्यान कल्पित होनेसे भरतजी अपना नाश इष्ट समझते हैं। माताकी उक्त कुरुचिके रहते अपना मरण अब होनेवाला है तो उससे अच्छा यही होता कि माता मुझको पैदा होते ही मार डालती। परम्परागत प्रवृत्तिव्याघातका यह एक उदाहरण है। मरणके हेतु-हेतुमत् भावमें 'लृङ्'का प्रयोग दिखाते हुए इस प्रकार कहा जायगा 'यदि त्वं मम मरणे रुचिमती अभविष्यः तर्हि जन्मकाले एव माम् अमारयिष्यः'। जस प्रकार 'सुवृष्टिरभविष्यत् तर्हि सुभिक्षमभविष्यत्'से सुभिक्षका अभाव सुवृष्टिके अभावसे सूचित है उसी प्रकार जन्मते ही न मारनेसे कुरुचिका अभाव सूचित है। किहनेका आशय यह है कि 'कुलनासा'में कैकेयीको स्वपुत्रका विनाश इष्ट नहीं है तो राज्य न लेनेमें 'कुलनासा' भी नहीं है।

चौ०—पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा ॥८॥

भावार्थ : 'तुमने ऐसी करनी की है जैसे कोई पेड़को काटकर पत्तेको पानीसे सोचे और मछलियोंको जिन्दा रखनेके लिए पानीको बाहर फेंके।

राजा-प्रजाका आदर्श एवं पिता-पुत्रका सम्बन्ध

शा० व्या० : पिता पेड़के स्कन्धके समान और पुत्र पत्तेके समान हैं अथवा राजा स्कन्ध और प्रजा शाखा-पत्तेके समान है जैसा नीतिशास्त्रके 'स्कन्धावार' प्रकरणमें कहा गया है। समूलस्कन्धको सींचनेसे ही पत्ता हरा-भरा रह सकता है। कैकेयीने इसका उलटा किया अर्थात् धर्मके नामपर स्कन्धरूपी पिताका विनाश करके वह स्वपुत्रके लिए 'सहित समाज राजपुर काहू'की अभिलाषा करती है। एवं च अयोध्यापुरी रूप तालावमें मछलियोंके समान पौरवर्ग तदनुरूप श्रीराम जलके समान रहे, उनका वनवास तालावसे जल उलीचनेके समान है। 'पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा'का स्वरूप भरतजीने उक्त चौपाईमें स्पष्ट किया है।

भारतीय राजनीतिका सिद्धान्त है कि एकग्र चित्त होनेपर ही राजा रक्षणमें समर्थ होता है। रामवनवाससे व्यग्रचित्त भरतजी 'राजपुर करहू' सम्भव नहीं समझ रहे हैं।

संगति : 'कुलनासा'को याद करके भरतजी अपने कुल और माताके सम्बन्धमें विधिको उलाहना दे रहे हैं।

दो०–हंसबंस दसरथु जनकु राम लखनसे भाइ।
जननी तू जननी भई बिधिसन कछु न बसाइ ॥१६१॥

भावार्थ : कहाँ तो यह विमल सूर्यवंश, उसमें श्री दशरथ जैसे पिता और श्रीराम लक्ष्मणजी जैसे भाई मिले ? कहाँ कैकेयी जैसी माता मिली ? विधाता द्वारा रचित ऐसे संयोगमें कुछ वश नहीं चलता।

हंसवंशका भाव

शा० व्या० : चौ० ९ दोहा १०में जिस प्रकार 'बंधुबिहाइ बड़ेहि अभिषेकु'को अनुचित ठहरानेमें प्रभुने विमलवंशकी दोहाई दी उसी प्रकार माताके करनीका अनौचित्य देखकर भरतजी 'हंसवंस' कहकर सूर्यवंश (अपने कुल)की पवित्रताका स्मरण कर रहे हैं। हंसका तात्पर्य क्षीर-नीर विवेकसे है। वर्तमान कठिन परिस्थितिमें सूर्यवंशके हंस भरतजीका भी विवेक प्रकट होगा।

'दसरथु जनकु'का भाव

पिता दशरथके गुणोंका वर्णन गुरु वसिष्ठके वचनोंसे (चौ० ५ दो० १७३से चौ० १ दो० १७४) हुआ है। पिताके सम्बन्धमें भरतजीके विवेकका विवेचनीय विषय यह है कि वरयाचनामें कैकेयीके हठसे अपने प्राणत्यागका अवसर आनेपर भी पिताश्रीने अपनी सत्यसंघतापर आँच नहीं आने दी, अन्तिम निर्णयमें (चौ० ३ से ५ दो० ३६) हंसवंशोचित विवेकका परिचय दिया। अन्तकालमें रामनामका उच्चार करते हुए परमगतिको प्राप्त किया।

'राम लखनसे भाइ'का भाव

विमलवंशमें बंशके पुण्यके परिपाकसे हंस श्रीराम जैसे पुत्र हुए जिनका विनय शील अद्वितीय है जैसा चौ० ७ दो० ४१ से ४२ तकमें वर्णित है। 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'से उनका भ्रातृप्रेम प्रकट है। सर्वसंग एवं सुखका त्यागकर विपत्तिमें भाईका अनुगमन करनेवाले लक्ष्मणजी वनवासमें भाईकी सेवामें रत हैं। इस सम्बन्धमें प्रभुके सन्देशमें 'ओर निबाहेहु भायप भाई'की एकवाक्यता स्मरणीय है।

जननी तू जननी भाइ'का भाव

धर्मशील सत्यसंध पिता और सुशील भाइयोंके संसर्गमें रहते भी माता कैकेयीने प्रभुके सेवकत्वमें आपत्ति समझना जननी अर्थात् 'जनं परिजनं मत्सहितं स्वर्गात् निनयति पातयति'के समान है।

'विधिसन कछु न बसाइ'का भाव

विप्रवधुओंकी उक्ति 'राजु करत यहु दैव बिगोई'की एकवाक्यता भरतजीकी उक्तिमें है। सदासे विवेकवती एवं मतिमती कैकेयी माताके उदरसे (ऋष्यशृंगके चरुके भावसे संयुक्त) जन्म लेनेसे अपनेको अविवेकका स्पर्श नहीं हो रहा है। पर आश्चर्य है

कि कुसंगके प्रभावसे माताकी ऐसी कुमति कैसे हो रही है ? इसमें विधिका बल (सरस्वतीका विधान)ही कारण है अथवा प्रभुका विधान है ऐसा समझकर भरतजी अपनेको अवश मानते हैं ।

सुन्दरकाण्ड दो० ५१ से ६० तकमें वर्णित सागरनिग्रहकथाके अनुरूप कैकेयीका चरित्र है । समुद्रने अपनी पूर्व सुमतिमें रामदूत हनुमान्‌जीके श्रमपरिहारार्थ मैनाकको प्रेरित करनेमें सेवाकी आकांक्षा दिखायी, पर आश्चर्य है कि उसी समुद्रने प्रभुद्वारा समुद्रबन्धनके अवसरपर अपनी जड़ता प्रदर्शित की फलतः जैसे समुद्र ताड़नका अधिकारी हुआ वैसे ही कैकेयी भरतजीकी भर्त्सना (धिक्कृति)की पात्रा होगी ।

संगति : तात्कालिक वर्णाश्रमसमाजकी स्थितिमें अधर्म एवं कुमतिके प्रति लोगोंकी कैसी धारणा थी ? यह भरतजीके प्रश्नके माध्यमसे प्रकाशित हो रहा है ।

चौ०—जब तैं कुमत जियँ ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥१॥
बर माँगत मन भइ नहि पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥२॥

भावार्थ : जबसे तुम्हारी कुमतिसे तुम्हारे हृदयमें कुमतका स्थापन हुआ तभी तुम्हारा हृदय टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो गया ? कुमतसाधक वर माँगते तुम्हारे मनस्‌में पीड़ा क्यों नहीं हुई ? जीभ क्यों नहीं गल गयी ? मुँहमें कीड़ा क्यों नहीं पड़ गया ?

शा० व्या० : 'देखि कुभाँति कुमति मन माखा'(चौ० १ दो० ३०)से कैकेयीकी कुमतिका प्रकाशन आरम्भ हुआ है । कुमतका स्थापन सहायादि पंचांग मन्त्रोपदेशसे मन्थराने किया है जैसा चौ० ८ दोहा २४में 'को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नीच मतमें चतुराई'से स्फुट है ।

त्रेतायुगमें समाजके मानसमें सत्यसे सम्बलित सुकृतका बल था । शासनका भी ऐसा प्रभाव था कि पापकर्मका दण्ड तत्काल मिल जाता था । जनताके धिक्कारसे पापकर्म करनेवाला दण्डित हो जाता था ।

कैकेयीकी करनीमें राजधर्मके रहते चार पाप

राजधर्मके व्यवहाराध्यायमें कहे निम्न चार पापोंकी प्रसक्ति कैकेयीमें दिखायी पड़ती है—यथा वरयाचनासे चौर्य, राजाकी मृत्युसे हिंसा, रामवनवाससे निर्दयता और कौसल्यापर किये दोषारोपसे अनृत । धर्मात्मा राजा दशरथके शासनमें ये चारों पाप अदृश्य थे । अतः कुमतिमें किये उक्त पापोंके फलस्वरूप कैकेयीका हृदय विदीर्ण (हार्टफेल) हो जाना चाहिए था । ऐसा न होनेमें दैव ही कारण है क्योंकि कैकेयीकी कुमति सरस्वतीद्वारा प्रेरित है ।

कैकेयीकी कुमतिमें पापिनीत्वका विचार

सरस्वतीके मतिफेरका उद्देश्य रामराज्यारोहणमें विघ्न कराकर प्रभुको वनमें भेजनेतक है । अभी भरतजीके सामने कैकेयीकी जिस कुमतिका प्रकाशन हो रहा है

वह मन्थरासम्मत कुमतसे युक्त है जिसमें कैकेयीका राग प्रकट है। अतः कविने उसको दो० १५९में 'पापिनी' कहा है। इसके पहले चौ० २ दो० ४७में जनताकी आवाजमें 'एहि पापिनिहि बूझिका परेऊ' द्वारा 'पापिनी'की उक्ति पूर्वपक्षका मत है, निर्णय नहीं है।

कुमतिमें यूपच्छेदन्यायका विचार

उपरोक्त विषयमें मीमांसोक्त यूपच्छेदन्याय स्मरणीय है। यज्ञयूपके आनयनमें प्रतिबन्धक वृक्ष-लताओंका उच्छेदन विधानके अन्तर्गत माना जाता है। उसी प्रकार 'मतिफेरि'की अनुकूलतामें मन्थराके संवादसे प्रवृत्ता कैकेयीकी कुमति सरस्वतीकी प्रेरणामें तबतक अनुकूल या विहित कही जायगी जबतक उसमें राग-स्वार्थप्रयुक्त अनीतिका सम्बन्ध नहीं है।[1]

संगति : कुटिलतासे भरे कैकेयीके वचन (दो० २७)को सुनकर राजा उसकी कुमतिको क्यों सहीं समझ सके, इसका कारण आसन्न मृत्यु है।

चौ०—भूपप्रतीति तोरि किमि किन्ही। मरतकाल बिधि मति हरि लिन्ही ॥३॥

भावार्थ : तुम्हारा (कुमति) विश्वास राजाने कैसे कर लिया? मालूम होता है कि विधाताने मृत्युके समय उनकी बुद्धिको कुंठित कर दिया।

शा० व्या० : 'भूप प्रतीति'का प्रकार चौ० १ से ८ दो० २८में दिखाया गया है। 'तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई'से स्पष्ट होता है कि कुमतिमें किये कैकैयीके कोपको प्रणयकोप मानकर विश्वास करना राजाका कामप्रयुक्त मोह है जिसमें कामप्रतापका प्रभाव होनेसे वह विधिकृत है जैसा चौ० ३-४ दो० २५की व्याख्यामें कहा गया है। अन्तमें राजाने भी 'बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे' (चौ० १ दो० ३५)से इसको स्पष्ट किया है।

तमःप्रकृतिमें विश्वासकी सीमा

प्रश्न : राजनीतिशास्त्रके अनुसार वर्णाश्रमसमाजकी प्रधानतामें राजस-तामस-प्रकृतिपर आवश्यकतासे अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए—इस बातको जानते हुए राजाने तमःप्रधानप्रकृति स्त्रीमें रागद्वेष होना स्वाभाविक समझते हुए भी उसपर कैसे विश्वास किया? जैसा पुरवासियोंकी उक्तिमें (चौ० ३ दो० ४८) 'अबला बिबस ग्यान गुन गा जनु'से व्यक्त है। शास्त्रकारोंकी सम्मतिमें तामस स्त्री प्रेमार्हा है विश्वासार्हा नहीं अतः वह स्वतन्त्रताके योग्य नहीं।

उत्तर : इसका समाधान 'मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही'में व्यक्त है अर्थात् राजाका तमःप्रकृतिपर विश्वास करना उनकी आसन्न मृत्युकारक विधिके विधानका

---

१. कैकेयीकी स्वार्थ-राग प्रवृत्तिमें प्रकट अनीति चौ० ४ दो० १६१में द्रष्टव्य है।

अनुगमन है। इसीकी पुष्टिमें विधिको कारण बताते हुए भरतजी पुरवासियों, कौसल्या, गुरु वसिष्ठ, भरद्वाज ऋषि आदिके मत मननीय हैं।

संगति : 'भूप प्रतीति तोर किमि कीन्ही'का समाधान अग्रिम चौपाइयोंमें स्पष्ट है।

चौ०—बिधिहुँ न नारिहृदयगति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥४॥

भावार्थ : तामस स्त्री सब पाप, कपट और अवगुणोंकी खान है। सृष्टिरचयिता ब्रह्मा भी नारीके हृदयकी चाल नहीं जान सकते।

तमःप्रधान नारीका स्वभाव

शा० व्या० : तमःप्रकृतिप्रधान होनेसे स्त्रीको 'कपट अघ अवगुन खानी' कहा गया है। उस नारीके हृद्गत भावको ब्रह्मा भी नहीं जानसकते तो मानव क्या जानेगा ? देवताओंने सरस्वतीको प्रेरित करके रामराज्यमें विघ्न कराकर रामवनवास कराया पर उस विधिको उत्सव लिप्साके रहनेसे किसीने नहीं समझा। मतिफेरके परिणाममें अर्थलिप्साकी प्रधानतामें तमःप्रधाननारीका होना कपट अघ अवगुनखानी'का स्वभाव है। इस सम्बन्धमें चौ० ७ से दो० ४७ तक कही पुरवासियोंकी उक्ति स्मरणीय है।

पापफलका प्रत्यक्ष

प्रश्न : विचारणीय विषय यह है कि त्रेतायुगमें सामान्य स्त्रियोंका कार्य तमोगुणके प्रभावसे अशुभ-अवैध यदि माना जाय तो उनमें 'कपट अघ अवगुन' आदि दोषोंके परिणाम सरलतासे प्रत्यक्षमें क्यों नहीं आते थे ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि आयुर्वेदके अनुसार तमःप्रकृति शरीरका धर्म नास्तिक्य है, उसके प्रभावसे पापके परिचायक कीड़ोंकी उत्पत्ति शरीरमें होती है। तमः स्वभावानुरूप शरीरमें कीटोत्पत्तिके परिणाम रोगके रूपमें तत्काल प्रत्यक्ष न होनेपर भी बुद्धि तन्तुओंकी दुर्बलता होना अपरिहार्य है। पर उक्त अघ-कीटोंकी उत्पत्ति शुचि शरीरमें होगी तो गुणधर्मकी विषमताके कारण शुचि शरीरमें कीटोत्पत्ति-जन्य दोष या रोग तत्काल प्रकट हो जायँगे। त्रेतायुगमें पुनीता कैकेयीमें ऐसा न होना विधिका बल है जैसा पूर्वोक्त चौ० १-२में कहा गया है। उक्त दोषोंके प्रभावसे बचनेके लिए स्त्रियोंको (तमःप्रकृति) सत्त्वप्रकृति-पुरुषके अधीन रहनेको कहा गया है। यहाँ 'नारी'से तमः प्रधान स्वतन्त्र वृत्तिवाली नारीसे तात्पर्य है। उस नारीको 'कपट अघ अवगुन खानी' कहा गया है अर्थात् कपटसे अवहित्था, अघसे अहितकारिता तथा अवगुनसे तमोगुणकी प्रधानतामें गुणाभाव दिखाया है।

नारीदोषकी सर्वसाधारणता

प्रश्न : मायासे आवृत जीवमात्र है तो सभी मनुष्य तमोगुणके प्रभावसे नहीं बच सकते। तब यहाँ केवल नारीके तमःप्रकृति-दोषोंको ही क्यों कहा गया है ?

उत्तरमें कहना है कि सर्वांगोपसंहारके हेतुसे केवल कैकेयीके वर्तमानचरित्रसे नारीकी स्वतन्त्र वृत्तिमें होनेवाले दोषोंको दिखाया है। अर्थात् शास्त्रकारोंने पृथक्-पृथक् वृत्तिवाले जीवोंके प्राकृतिक स्वभावको बताकर उसका अतिदेश तत्तद्वृत्तिवाले अन्यान्य वर्गोंके लिए भी समझनेको कहा है। उदाहरणार्थ वेश्याकी स्वाभाविक स्वतन्त्र अर्थरुचि एवं गतिको देखकर वेश्याधर्ममें कापट्य आदिकी शिक्षा शास्त्रोंमें दी है। या पतिव्रताकी स्वाभाविक प्रीतिमें उनके अनुभावोंको देखकर पतिव्रताधर्मके स्वरूपमें प्रीतिकी शिक्षा दी है। उसीका अतिदेश अन्यत्र किये गये अर्थरुचि व प्रेममें ज्ञातव्य है। अतः शास्त्रोंकी शिक्षा व्यक्तिमात्रामें संकुचित न होकर तत्सधर्माओंके लिए भी पूर्ण है।

संगति : 'अबला बिबस ग्यान गुन गा जनु'का पक्ष उठाकर पुरवासियोंने राजाको जिस प्रकार निर्दोष ठहराया (चौ० ४ दो० ४८) उसी प्रकार भरतजी भी अपना मत व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—सरल सुसील धर्मरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ ? ॥५॥

भावार्थ : राजा सरल, शीलवान् तथा धर्मात्मा थे। वे पुनीता कैकेयीमें स्त्री-स्वभावप्रयुक्त 'कपट अघ अवगुन'की शंका कैसे कर सकते थे ?।

'सरल सुसील धर्मरत'की व्याख्या

शा० व्या० : सरल—कायिक-वाचिक-मानसिक व्यापारमें सामंजस्य ही सरलता है।

सुसील—स्वयं सुस्वभाव होते हुए महात्माओंके द्वारा प्रशंसित होना सुशीलता है।

धर्मरत—धर्मको समझकर अपने ऊपर आये संकटको झेलकर धर्मको न त्यागना धर्मरति है जैसे 'तमकि उठी कैकेई', 'मुनि पट भूषन भाजन आनी' आदिके द्वारा वनगमनके लिए श्रीरामको प्रेरित करते देखकर राजाका कुछ न बोलना आदि।

धर्मका स्वभाव

राजा दशरथ जैसे शास्त्रज्ञ विद्वान् 'तीय सुभाऊ'को जानते नहीं ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। किन्तु दूसरेके दुर्गुणोंको देखनेका स्वभाव धर्मात्मामें नहीं होता तभी धर्मरतिमें किये आचरणकी सफलता है।[1] अतएव कहना यह है कि सरलचित्त धर्मरत व्यक्ति स्वतन्त्रताप्रिय व्यक्तिकी अवहित्थामें उसके निगूढ़ चेष्टितकी ओर ध्यान नहीं रखते। फिर भी इतना अवश्य है कि सुशील धर्मात्माके साथ छलकपट करनेका कुपरिणाम द्वेषकर्ताको भोगना ही होगा।

---

१. बा० का० चौ० ३ दो० २९४ में कहा है—'तिमि सुख सम्पति बिनहि बुलाए। धरम सील पहिं जाहिं सुहाए॥

सरल धर्मरत नीत्यनुज्ञाता राजा भारतीय राजनीतिमें अलौकिक स्थान रखते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न राजाके तेजस्के सामने दूसरेकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। इस समय कैकेयीके सामने राजाका पराभव होनेमें दैवका बल है जैसा पुरवासियोंकी उक्तिमें स्पष्ट है[1]। कैकेयीकी तात्कालिक स्त्रीस्वभावप्रयुक्तदोषपूर्ण मनोवृत्तिकी ओर ध्यान न देना राजाकी यथार्थ सरलता, शील एवं धर्मरतिका परिचायक है जैसा पुरवासियोंने चौ० ४ दो० ४८में निर्णय किया है—'एक धरम परमिति पहिचाने। नृपहि दोसु नहिं देहिं सयाने'।

संगति : पुरवासियोंकी उक्ति 'सदा रामु एहि प्रान समाना। कारन कवन ? कुटिलपनु ठाना' (चौ० ६ दो० ४७)के अनुरूप भरतजी भी कैकेयीकी कुटिलतापर आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—अस को जीव जन्तु जग माहीं ?। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥६॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि ? सत्य कहु मोही ॥७॥

भावार्थ : संसारमें ऐसा कौन प्राणी—मनुष्यसे लेकर कीड़े तक है जिसको रघुनाथ रामजी प्राणके समान प्रिय नहीं है ? वह (आत्मपरहितकारी) रामजी तुमको अहितकारी लगे, इस पर आश्चर्य है। तुम कौन हो ? सच सच मुझे बताओ।

श्रीरामकी सर्वप्रियता

शा० व्या० : वेदान्तमतसे प्राणिमात्र आत्माके प्रति आकृष्ट है। वही आत्मतत्व श्रीराम ('प्रान प्रानके जीवके जीव सुखके सुख') हैं। जिसका आकर्षण उस आत्मतत्वकी ओर नहीं है वह जड़ है। पूर्व अर्धालीमें श्रीरामकी आत्मतत्वरूपिणी प्रियता[2] कही। उत्तर अर्धालीमें 'रघुनाथ'से श्रीरामके पालनकर्मप्रयुक्त नीतिमें उनकी सर्वप्रियता बता रहे हैं जैसा वाल्मीकिजीने चौ० ३ दो० १३०में 'सबके प्रिय सबके हितकारी। दुःख सुख सरिस प्रसंसा गारी'से व्यक्त किया है। कैकेयी माताके प्रति कहे उपरोक्त वचनकी एकवाक्यता भरतजीके हृदयोद्गारमें द्रष्टव्य होगी[3]। (चौ० ५से ७ दो० २००) राजाके प्रश्न 'कहु तजि रोष राम अपराधू' ? के उत्तरमें कैकेयीने स्वयं स्वीकार किया है'—तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता' (चौ० ३ दो० ४३)। फिर भी कैकेयी 'राम साधु तुम्ह साधु सयाने'से श्रीराममें अहितकी भावना व्यक्त करती है। माताकी इस विपरीत भावनाकी वास्तविकतामें शंका करते हुए भरतजी 'सत्य कहु मोही' ? पूछ रहे हैं जैसा राजाने पूछा था—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा'।

---

१. का सुनाइ विधि ? काह सुनावा ?। का देखाइ चह ? काह देखावा ? ॥ (चौ० १ दो० ४८)

२. श्रीरामकी उक्त प्रियता 'जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं विषम विषु तामस तीछी' ॥ (चौ० ८ दो० २६२)में स्पष्ट है।

३. राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप-सील-सुख सब गुनसागर ॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता ॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि विनय मन हरहीं ॥

कैकेयीके पिशाचत्वका उपचार

ज्ञातव्य है कि दो० ३५में राजाके वचनमें 'लागेउ तोहि पिशाच जिमि कालु कहावत मोर'से कहे कैकेयीके पिशाचावेशको दूर न कर सकनेमें राजाके वचन 'लोचन ओट उठि बैठहि जाई'का प्रभाव उनके शुचि तेजस्की न्यूनताका द्योतक नहीं, बल्कि मृत्युसम्बन्धी विधिका बल है। जैसे झाँड़-फूँकसे ओझा-तान्त्रिक भूताविष्ट व्यक्तिसे कबूलवाते हैं कि किस प्रेतात्माका आवेश है ? उसी प्रकार भरतजी 'को तू अहसि ? सत्य कहु मोही'से कैकेयीके पिशाचत्वको जानना चाहते हैं। प्रत्युत्तरमें एक शब्द भी न बोलकर कैकेयीका उपशम या शान्त हो जाना भरतजीके उपचारकी सफलता है जो उनके पूर्ण शुचिताका प्रमाण है। भरतजीके शुद्ध तेजस्के आगे कैकेयीका देवमायाविष्ट आवेश (राग) समाप्त हो गया।

'भे अति अहित रामु तेउ तोही'की व्याख्या राजनीतिसिद्धान्तानुसार यह है कि सत्य, धार्मिक, आर्यके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए, उसकी अधीनता स्वीकार करनेमें कल्याण है[1]। अतः रघुनाथ श्रीरामजीके प्रति अहित-भावना कैकेयीका नीति-विरोधी कार्य है, यही उसकी शठता है या अति अहित है।

संगति : राजाके वचन 'लोचन ओट बैठ मुँह गोई'की प्रामणिकतामें भरतजीका 'आँखि ओट उठि बैठहि जाई' कहकर भरतजी अर्थोपधाशुद्धिको प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥८॥

भावार्थ : भरतजी अन्तमें मातासे कह रहे हैं 'तुम जो कुछ भी हो, अब मुँहमें कारिख पोतकर हमारे सामनेसे हटकर आँखोंकी ओटमें दूर बैठो।

कैकेयीकी कलंकभागिता

शा० व्या० : 'जो हसि सो' हसि (योसि सोसि)का निर्णय भरद्वाज ऋषिके द्वारा दो० २०६में 'तात कैकइहि दोसु नहि गयी गिरा मति धूति'से व उसका तात्विक समाधान प्रभुके वचन 'काल करम विधि सिर धरि खोरी'से होगा (चौ० ८ दो० २४४)। पूर्वमें कहे माताके पिशाचत्वको दूर करनेमें भरतजीके उपर्युक्त वचन (मन्त्र) उपचाररूपमें सिद्ध हो रहे हैं। राजाके वचन ('तोर कलंकु')की सत्यता 'मुँह मसि लाई'से सिद्ध हो रही है अर्थात् राजाके निर्णयके विरुद्ध स्वपुत्रको राज्य दिलानेका रागयुक्त प्रयत्न कैकेयीको कलंकका भागी बना रहा है।

सतीका त्याग और कैकेयीकी भर्त्सनामें तुलना

भक्तिपन्थकी रक्षामें शिवजीके चरित्रमें इतना अन्तर है कि शिवजीने मौन

---

१. सत्यार्यौ धार्मिकानार्यौ भ्रातृसङ्घातवान् बली।
अनेकविजयी चेति सन्धेयाः सस कीर्तिनाः ॥ नीतिसार स० ९

रूपमें रहकर प्रभुत्वके प्रभावसे सतीको अपनी करनीमें ग्लानिका अनुभव कराते हुए प्रायश्चित्तरूपसे उसके पापका उपचार करा दिया जैसा बा० का० दो० ५८के अन्तर्गत वर्णित है। भरतजीने माताको वचनद्वारा ताड़ित करके ग्लानिका अनुभव कराया जैसा आगे चौ० १ दो० २७३में स्पष्ट होगा।

जिस प्रकार शिवजीने परम पुनीता सतीको त्यागनेपर भी उसका यथोचित आदर करनेमें त्रुटि नहीं आने दी उसी प्रकार शिष्टाकोपाधिकरणन्यायसे भरतजीने भी प्रभुके आदेश 'सेएहु मातु सकल सम जानी'को मानते हुए माता कैकेयीके पुनीतत्वका आदर करते हुए उसके सम्मानमें कमी नहीं रखी, अपितु चित्रकूटयात्रामें उसको भी साथमें लिया। सतीने अपने पापकी शुद्धिमें शरीरका त्याग किया तथा जन्मान्तरमें पार्वतीतनु धारण करके वह कलंकरहिता हुई। कैकेयीकी शुद्धि इसी जन्ममें प्रभुकी कृपासे होनेपर भी राजाके सत्यवचनके प्रभावसे कैकेयीके कलंककी चर्चामात्र रह गयी।

भक्तचरित्रमें शुचित्वका अतिदेश

जिस प्रकार नारदजीने मायाके वश हो प्रभुको कुटिल वचनसे शापित किया। पर मायाके हटनेपर 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि ? मेरे' कहकर ग्लानिका अनुभव किया और स्वयंको दण्डित माना, फलतः अन्तमें वे पवित्रात्मा हो गये। उसी प्रकार कैकेयी ग्लानिका अनुभव करते पुनीतात्मा हो जायगी। प्रभुकी इच्छामें होनेवाले भक्तोंके चरित्रमें सर्वत्र इसका अतिदेश समझना चाहिए।

संगति : संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई॥

आदि चौपाइयोंमें बताये सिद्धान्तके अनुसार 'आँखि ओट उठि बैठहि जाई' कहकर भरतजी स्वयं ही वहाँसे हटकर रहनेके पूर्व 'बादि कहउँ कछु तोहि'से अग्रिम दोहेमें माताकी भर्त्सनाका दोषपरिहार कर रहे हैं।

दो०—रामबिरोधी हृदय ते प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समानको पातको ? बादि कहउँ कछु तोहि॥१६२॥

भावार्थ : विधाताने मुझको विरोधितत्वोपलक्षित हृदयसे उत्पन्न किया है। मेरे समान कौन पापी है ? तुमको (कैकेयीको) कुछ कहना व्यर्थ है।

प्रभुकार्यविरोधमें भक्तोंकी दृष्टि

शा० व्या० : दो० १६० व १६१में भरतजीने राजाकी मृत्यु एवं रामवनवासमें स्वयंको ही कारण बताया है जो कैकेयीके उदरसे जन्म लेनेसे सम्बन्धित है। जन्मके समय कैकेयीकी पवित्र मनोवृत्तिकी चर्चा दो० १६१की व्याख्यामें की गयी। यहाँ 'रामबिरोधी हृदय'से कैकेयीकी रामविरोधी भावनाओंके प्राकट्यमें अपनी स्थिति बता रहे हैं। मन्थराके कुसंगमें पड़कर रामराज्याभिषेकका विरोध करनेमें कैकेयीने जो

रामविरोधिनी भावनाओंको हृदयमें जागृत किया उसका कारण भरतजी राज्याधिकारी रूपमें प्रकट हुए—इसमें भी विधि (सरस्वतीकी माया) ही कारण है।

भगवद्-विरोधी प्रसंगमें किसी प्रकार भी अपना सम्बन्ध होनेपर भक्तोंको पर-दोषदृष्टि न होकर अपना ही दोष दिखायी पड़ता है। उसमें दीनता या हीनताका भाव लाकर भक्तोंकी 'अधम, पातकी' आदि उक्तियाँ भक्तिशास्त्रसे उपपन्न हैं। इसी भावमें भरतजी 'मो समान को पातकी' ? कह रहे हैं। सुमित्राकी उक्ति 'पुत्रवती जुवती जग सोई। रामभगत जाकर सुत होई'के अनुसार पुत्रत्वके निमित्तसे रामविरोधिभाव हृदयमें लाना पुत्रको जन्मानेका सार्थक्य नहीं है। राजनीतिशास्त्रमें राज्याधिकारके सम्बन्धसे कही भाई-भाईमें अनिच्छाकृत सहजशत्रुतारूप पातक उपस्थित होनेसे भरतजी अपनेको पातकी कह रहे हैं।

संगति : भरतजीकी प्रतिक्रियाके समर्थनमें कवि शत्रुघ्नजीका चरित्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

चौ०—सुनि सत्रुघुन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥१॥

भावार्थ : माता कैकेयीके सम्वादमें उसकी कुटिलताको सुनकर शत्रुघ्नजीका शरीर क्रोधसे जलने लगा, पर माता होनेसे उसके प्रति क्रोधकी प्रतिक्रिया करनेमें वह बेबस हैं।

पुनिका भाव

शा० व्या० : पुनिसे 'आदिहु तें सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन वरनी'में कैकेयीकी प्रकट कुटिलताको सुना है बादमें भरतजीने कहा माताकी कुटिलताका मथितार्थ 'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई'से समझना आदि ज्ञातव्य है।

'शत्रुघ्न'-नामका सार्थक्य

बालकाण्डमें चारों भाइयोंके नामकरणका माहात्म्य बताते हुए 'जाके सुमिरन ते रिपुनासा'से 'शत्रुघ्न'-नामका कीर्तन किया गया है। भेदनीतिके मूलमें वैठी मन्थराको दण्डित करके शत्रुघ्नजी समस्त रामविरोधिनी भेदनीतिका समूल नाश करेंगे। सत्यसन्ध राजाके वचनके प्रामाण्यको स्थिर रखनेमें वाधक तत्वोंका विनाश शत्रुघ्नजीके द्वारा होगा।

नेता-नेयका सहयोग

भरतजी व शत्रुघ्नजीके-सङ्घातमें राजनीतिसम्मत नेता-नेयका सम्वध मननीय है। नेता-नेयके परस्पर सहयोगमें विवेकसम्पन्न नेतृत्व भरतमें हैं। नेताके अभिप्रायको समझकर निर्णीत अर्थको कार्यान्वित करना नेयकी योग्यता एवं कार्यक्षमता है। अतः दण्डकी पात्रताका निर्णय करनेके बाद शत्रुघ्नजी मूल अपराधिनी मन्थराको दण्ड देनेमें उद्यत हैं।

संगति : 'जाके सुमिरन ते रिपुनासा'की सार्थकता आगे प्रकाशित हो रही है।

'जरहिं गात रिस'के अनुसार शत्रुघ्नजीको क्रोध आते ही 'रिपुनासा'की क्रोधपात्रा मन्थरा उपस्थित हो रही है। वरसिद्धिरागमें मन्थराका पाप उसकी सज्जासे प्रकट हो रहा है।

चौ०—तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन-विभूषन-विविध बनाई ॥२॥

भावार्थ : उसी समय वहाँ कुबड़ी मन्थरा उपस्थित हो गयी। वह अपनेको अनेक प्रकारके वस्त्र और आभूषणोंसे सजाये हुए थी।

'तेहि अवसर'से दासीकी उपस्थिति व शत्रुघ्नका प्रभाव

शा० व्या० : कैकेयीके वचन ('भै मन्थरा सहाय विचारी')से प्रकट हो चुका है कि कैकेयीकी कुटिलतामें दासी मन्थरा सहायिका हुई है। शत्रुघ्नजी उसको दण्ड देनेका विचार कर ही रहे थे कि वह सामने उपस्थिता हो गयी। इसीको कवि अवसर कह रहे हैं। नेता (भरत) द्वारा 'आँखि ओट उठि बैठहि जाई'से माताको अप्रकाश-दण्डकी व्यवस्था हो जानेपर प्रकाशदण्डकी पात्रा मन्थराका उपस्थित होना नेयकी प्रतिक्रियाके लिए अवसर है। मन्थराकी सजावट शत्रुघ्नजीके रोषमें होनेवाली प्रति-क्रियामें उद्दीपक है। चौ० ३ दो० २३में 'जौं विधि पुरब मनोरथ काली। करौं तोहि चख पूतरि आली'के अनुसार रानीने विविध 'बसन बिभूषन' पुरस्कारमें दिये होंगे, उन्हींको सजाकर मन्थरा आयी है। शत्रुघ्नजीके स्मरणका यही प्रताप है कि दण्ड्या मन्थरा सप्रमाण (वस्त्राभूषणादि) अपनेको उपस्थित करनेमें सहज प्रवृत्ता हो रही है।

चौ०—लखि रिस भरेउ लखनलघु भाई। बरत अनल घृत-आहुति पाई ॥३॥

भावार्थ : मन्थराको सुसज्जिता देखकर लक्ष्मणजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजी क्रोधमें भर गये मानो प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति पड़ी हो।

क्रोधका भड़कना

शा० व्या० : चौ० १में 'जरहिं गात रिस कछु न बसाई'से शत्रुघ्नजीका क्रोध भीतर दबा था, वह मन्थराको देखकर उभड़ गया। 'लखि'से ध्वनित है कि शुत्रुघ्नजी-को मूल अपराधी ज्ञात हो गया। शोकके समय 'बसन बिभूषन बनाई'से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कुसमयको मन्थरा इष्ट मानकर अपनी स्वामिनीके भाव ('कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहु मुदित दव लाइ किराती')का अनुसरण कर रही है। जिस प्रकार भरतजीको कैकेयीका हर्ष खटका था उसी प्रकार मन्थराकी सजावट शत्रुघ्नजीको खटकी जिसको 'लखि'से व्यक्त किया गया है। दुष्टको दण्ड देना कर्तव्य है, उस दण्डको क्रियान्वित करनेके लिए रोषका भड़कना 'आहुति पाई'से अनुलोम कहा जा ककता है। 'लखन लघु भाई' कहकर कवि लक्ष्मणजीके क्रोधका साधर्म्य समझा रहे हैं अर्थात् श्रीरामके विरोधकी कल्पनामें जैसे लक्ष्मणजी नहीं रह सकते (चौ० ६ दो० २२७) वैसे ही भरतजीके विरोधको देखकर या प्रभुके विरोधप्रसङ्गमें शत्रुघ्नजी भी स्वस्थ नहीं रहते।

शत्रुघ्नचरित्र

'लखन लघु भाई'की उक्तिमें शत्रुघ्नजीका चरित्र कविने गाया है। 'पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपतिभगत जासु सुत होई' कहकर सुमित्रा माताने अपने दोनों पुत्र लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीका शिशुभावमें रामसेवकत्व प्रकट किया है। जिस प्रकार लक्ष्मणजी प्रभुके आदेशमें रहकर धनुर्धरत्वके व्रतमें निशाचर-नाशमें चौदह वर्षकी अवधिपर्यन्त तत्पर रहेंगे उसी प्रकार शत्रुघ्नजी भरतजीके अनुगमनमें रहकर रिपुनासा व्रतमें सतर्क रहेंगे। एवं च मन्थरा द्वारा 'घर फोरी' योजनाका समूल नाश करके भरतजीके रामसेवकत्वकी सुरक्षामें संलग्न हो अयोध्यामें भेदनीतिको पुनः पनपने नहीं देंगे। भरतजीके प्रति लक्ष्मणजीकी उत्थित उग्रताका शमन जिस प्रकार श्रीरामके द्वारा हुआ उसी प्रकार मन्थराके प्रति शत्रुघ्नजीके प्रणीत युक्तदण्डके बाद सम्भावित उग्र (तीक्ष्ण) दण्डका निवारण भरतजी द्वारा हुआ है। ज्येष्ठ भाईके आदेशपालनमें प्रसन्न रहकर कार्य करना दोनों भाइयोंके चरित्रमें समानरूपसे प्रकट है।

चौ०—हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँहभर महि करत पुकारा ॥४॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलितदसन मुखरुधिर प्रचारू ॥५॥

भावार्थ : निशाना साधकर शत्रुघ्नजीने उछलकर एक लात दासीके कूबड़पर मारी। वह चीत्कार करती हुई मुँहके बल जमीनपर गिर पड़ी। उसका कूबड़ टूट गया, सिर फट गया, दाँत टूट गया, मुँहसे खून बहने लगा।

दोषानुरूप दण्डव्यवस्था

शा० व्या० : 'तकि कूबर'से स्पष्ट किया है कि शत्रुघ्नजीने वास्तविक दोषीको दण्डका लक्ष्य बनाया है। दुष्टोंको निरादर पूर्वक दण्ड देना उचित है जिसको 'लात मारा'से स्पष्ट किया है। दण्डकी अव्यर्थता दासीके गिरने, कूबड़ टूटने, दाँतके टूटने, मुँहसे खून बहने आदिसे दिखायी है।

मन्थराके प्रति कैकेयीकी उपेक्षा

दो० १४में कैकेयीने 'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जान। तियबिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि'से शास्त्रसम्मत बातको हँसीमें उड़ा दिया था, अब स्वस्था होनेपर उन वचनोंका प्रामाण्य समझकर कुबड़ीको दण्डित होते देख कैकेयीका कोई विरोध न करना उसकी सहमतिका द्योतक है।

संगति : मन्थराके उपरोक्त 'करत पुकारा'को स्पष्ट कर रहे हैं—

चौ०—आह दइअ मैं काह नसावा ? । करत नीक फलु अनइस पावा ॥६॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी । लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी ॥७॥

भावार्थ : 'हा दैव ! मैंने किसका बिगाड़ा है ? । भला करते बुरा फल मिला है। शत्रुघ्नजी उसके उद्गारको सुनते ही समझ गये कि वह पूर्ण दुष्टा है। तब उसका झोंटा पकड़ पकड़ कर घसीटने लगे।

मन्थरावचनकी यथार्थता

शा० व्या० : कैकेयीसे कहे मन्थराके वचन 'जौ असत्य कुछ कहब बनाई। तौ विधि देइहि हमहि सजाई' (चौ० ५ दो० १९)को दैव 'बसन बिभूषन विविध बनाई' द्वारा प्रकट अपराधीको सजा देकर सत्य कर रहा है। 'आह दइअ'से व्यक्त किया गया है कि दुष्ट व्यक्ति अपने अपराधको छिपानेका स्वांग करते हुए दैवको दोष देता है, यह भी उसका अपराध है। इसीलिए पुनः मन्थराको मार खाना पड़ा।

अपराधकी स्वीकृतिकी ध्वनि

अपने छलप्रयोगकी कृतिको छिपाते हुए 'करत नीक' कहनेमें मन्थराका भाव है कि पुत्रको राज्य दिलानेमें रानीका हित करनेका कुफल दण्डरूपमें मिल रहा है। 'अनइस' शव्दार्थ उलटा या बुरा अथवा अपयशस् या अनायास हो सकता है। शासकके सात्विक तेजस्के प्रभावमें वास्तविक अपराधी दण्ड मिलनेपर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। भरतजीके विशुद्ध तेजस्के आगे दण्डिता होते ही दुष्टा मन्थरा अपना अपराध इस प्रकार कबूल कर रही है। 'मैं काह नसावा'से ध्वनित हो रहा है कि धर्मात्मा राजा और पुनीता कौशल्यापर लांछन लगाना उसका काम है जो 'करत'से स्पष्ट भी हो रहा है, उसका उचित फल ही 'नीक फलु' है जो उसको अनायास मिल रहा है।

तीक्ष्ण दण्डका औचित्य

'रिपुहन'का भाव है कि 'शत्रुघ्न' अपने नामके अनुसार 'रिपुनासा'की सार्थकता दिखानेमें रिपुके हननका कार्य कर रहे हैं। 'लखि नखसिख खोटी'का भाव है कि उपर्युक्त व्याख्याके अनुसार मन्थराके शव्दोंसे शत्रुघ्नजीने उसको जब पूर्ण दुष्टा जान लिया तब अपराध कबूलवानेके लिए अपराधीको कठोर दण्ड देनेके विधानको अपनाया है। इसलिए शत्रुघ्नजी दण्डको उग्रतर करते जा रहे हैं जो 'लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी'से व्यक्त है।

संगति : तीक्ष्ण दण्डके अनौचित्यकी प्रसक्ति होनेपर मात्र भरतजी शत्रुघ्नजीको उससे परावृत्त कर रहे हैं।

चौ०—भरत दयानिधि दीन्हि छड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई ॥८॥

भावार्थ : दयाके निधान भरतजी ने दासीको (तीक्ष्ण दण्डसे) छुड़ा दिया। फिर दोनों भाई कौसल्याजीके पास चले गये।

दण्डके अनौचित्यकी सम्भवनामें नेताकी दया

शा० व्या० : क्षमा शासकका गुण माना जाता है, वही नेतृत्वकी शोभा है जैसा परशुरामजीकी उक्ति। (छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता)से व्यक्त है। जिस प्रकार इन्द्रके लड़के जयन्तके चरित्रमें (अरण्यकाण्ड) अपराध स्वीकार कर लेनेपर 'कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहिकर बध उचित। प्रभु छाड़ेउ करि छोह'..........के अनुसार प्रभुने

जयन्तको कृपालुतावश छोड़ दिया उसी प्रकार दयानिधि भरतजीने दो० १२ के अनुसार सरस्वतीकी मायसे मोहिता रिपुनासाकी क्रोधपात्रा मन्थरापर दण्डके तैक्ष्ण्यको देखकर मन्थराकी प्रस्तुत विनय-भंगिमा आदिसे दीनताको देखते हुए उसको छुड़ा दिया। शत्रुघ्नजीके रोषका पूर्ण उपशमन चौ० १ दो० १७२ की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

दो० १६२ में कहे 'रामविरोधी हृदय'से जिस भेदनीतिका प्रादुर्भाव हुआ था उसका समूल उन्मूलन शत्रुघ्नसहित भरतजीके चरित्रमें दिखाते हुए कविने भरतजीकी अर्थोपधाशुद्धिको प्रकट किया है। भरतजीके अग्रिम चरित्रका आरम्भ 'कौसल्या पहि गे दोउ भाई'से करते हुए कवि भरतजीकी धर्मोपधाशुद्धिका प्रकाशन करेंगे। दो० १६२में भरतजीकी उक्ति 'मो समान को पातकी'का परिहार त्रिवाचासे अर्थात् प्रथम कौसल्याजीके द्वारा, दूसरा भरद्वाज मुनिके द्वारा अन्तमें स्वयं प्रभुके द्वारा होगा। उसी क्रमसे भरतजी माता कौसल्याके पास शुद्ध्यर्थं पहुचे हैं।

संगति : भरतजीने माताको कैसा देखा, यह कवि समझा रहे हैं।

दो०—मलिनबसन बिबरन बिकल कृससरीर दुखभार।
कनककलपबरबेलि - बन मानहुँ हनी तुसार॥१६३॥

भावार्थ : कौसल्याजीको भरतजीने जिस रूपमें देखा उसका वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि उनका वस्त्र मलिन है, शरीर विवर्ण (फीका) है तथा दुःखके बोझसे माता व्याकुला होनेसे दुर्बल या सूख गया है मानो वनमें तुषारपातने सुन्दर स्वर्ण वर्णवल्ली-कल्पलताको मार दिया हो।

कौसल्याजीकी विवर्णता

शा० व्या० : 'दुखभार'से पतिका मरण, पुत्र श्रीरामका सीता-लक्ष्मणसहित वनवास, परिजन प्रजाका दुःख, निरुपायस्थितिमें चित्तकी व्याकुलता आदि व्यक्त है। रामविरह एवं पतिकी मृत्युके शोकमें देहकी विवर्णता तथा कृशता प्रकट है। पल्लवित पुष्पित अयोध्यारूपी वनमें राजमहलमें शोभायमाना पतिव्रता रानियाँ कल्पवल्लीके समान थीं जो शोकहताएँ होकर वैधव्यदशामें शोभाविहीनाएँ हो गयी हैं।

संगति : भरतको देखकर कौसल्याजीका आवेग समझा रहे हैं।

चौ०—भरतहिं देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झँइ आई॥१॥
देखत भरतु बिकल भए भारी। परे चरन तनदसा बिसारी॥२॥

भावार्थ : भरतजीको आते देखकर माता कौसल्या उठकर दौड़ी, पर चक्कर आ जानेसे मूर्छित हो जमीनपर गिर पड़ीं। तब भरतजी व्याकुल हो माताके चरणोंका स्पर्श करते हुए अपनी सुधिको भूलकर उनके चरणोंपर ही पड़े रह गये।

अशौचमें चरणस्पर्श व कैकेयीको अवन्दना

शा० व्या० : मरणाशौचकी स्थितिमें धर्मशास्त्रानुसार नमस्कार आशीर्वाद

वर्जित है। अतः कवि उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। 'परे चरन'से यहाँ माताके चरणका शास्त्रमर्यादित स्पर्श दिखा रहे हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि कैकेयीसे भेंटके समय (जब अशौचकी स्थितिसे भरत अवगत नहीं थे) माताके नमस्कारादिका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसके समाधानमें कहना है कि भरतजीमें दैवके अनुसार उक्त क्रियाका लोप विधिप्रेरित या प्रकृतिप्रेरित कहा जायगा। दृष्टमें यह भी कहा जा सकता है कि कैकेयीके उतावलेपूर्ण भावको देखकर पवित्र अन्तःकरणवाले भरतजोकी विशुद्धप्रतिभामें पुत्रभाव उदित नहीं हुआ जैसा राममाता कौसल्याजीके सामने हो रहा है। भरतजीको कैकेयीके चरित्रमें कुटिलताकी अभिव्यक्ति स्वनुभवसे हो रही थी। कौसल्या मातामें पतिशोक एवं पुत्रका वनवास उभयजनित दुःखका वास्तविक सामंजस्य उपरोक्त दशामें प्रकट है।

सगति : कौसल्याजीके सहज दुःखावस्थाके अनुभावका संक्रमण भरतजीमें हो रहा है। इसलिए माताके दुःखको अपनी वेदनासे भरतजी व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—मातु तात कहँ ? देहि देखाई। कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई ? ॥३॥

भावार्थ : 'हे मातः ! पिताश्री कहाँ हैं ? दिखा दो। सीताजी व श्रीराम लक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं ?

भरतजीके हृदयमें सहजभावका द्योतनक्रम

शा० व्या० : राजाका पार्थिव देह कौसल्या भवनमें पड़ा है, इसलिए भरतजी कौसल्या मातासे पिताका मुख दिखानेको कह रहे हैं। भरतजीके अन्तःकरणमें जो मातृस्नेह उमड़ रहा है उसमें सीताजीका स्मरण हो जानेसे सर्वप्रथम उनका नाम लेकर फिर 'रामु लखनु' कह रहे हैं। अतिशोकके संस्कारमें मृत पिताके लिए तथा अतिस्नेह के संस्कारमें सीता, श्रीराम और लक्ष्मणजीके लिए 'तात कहँ' 'कहँ सिय रामु लखनु' का उद्गार भरतके अन्तःकरणके सहज भावका द्योतक है।

चौ०—कैकइ कत जनमी जग माँझा ? । जौ जनमी त भइ काहे न बाँझा? ॥५॥
कुल कलंकु जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही ॥६॥

भावार्थ : संसारमें कैकेयीका क्यों जन्म हुआ ? यदि जन्म लिया तो बाँझ क्यों नहीं हो गयी ? अपयशस्के पात्र और परिवारमें द्रोह करनेवाले मुझ जैसे कुलकलंकको जिसने जन्म दिया है।

कुलकलंक-पुत्रोत्पत्तिसे वंध्यात्व अच्छा

शा० व्या० : 'जग'से वर्णाश्रम-समाजयुक्त लोक विवक्षित है जैसा 'भुवनं चतुर्वर्णाश्रमो लोकः' कहा गया है। वार्णाश्रमलोकमें जन्म लेकर हंस-वंशमें आना परम धन्यताका सूचक है, पर मेरे समान प्रियजनद्रोही अपयशस्का पात्र कुलकलंक पुत्रको उत्पन्न करनेसे अच्छा तो यही था कि वह बाँझ रहती।

पुत्रत्वकी सार्थकता व भरतजीका विलाप

भारतीम वर्णाश्रिय समाजमें पुत्रको जन्माकर उसे भगवत्सेवामें लगाना ही पुत्रत्वकी सार्थकता मानी गयी है जैसा सुमित्रा माताने लक्ष्मणजीसे कहा है[१] । कैकेयीने जन्म लेकर यही किया कि पुत्रके लिए स्वामित्वप्रयुक्तराजत्वकी भावनाको उत्पन्न किया जैसा चौ० ७ दो० १६१ की व्याख्यामें कहा गया है। 'भइ काहे न बाँझा'? का भाव है कि यदि वह बाँझ रहती तो उसकी उक्त वासना कभी स्फुरित न होती। अतः पुत्रने जन्म लेना ही उसमें उपर्युक्त दोषोंकी प्रसक्तिका कारण हुआ है। अर्थात् कैकेयी-पुत्रत्वको कुलकलंक अपयशोभाजन व प्रियजनद्रोहका कारण बताकर अपनेमें ही सब दोषोंका आरोप करके माता कौसल्याके सामने स्वयंको प्रकट करनेमें भरतजी संकोच नहीं करते, यह उनके विशुद्ध चित्तकी ग्लानि है।

कुलकलंक

दुर्वासनाविमुक्त कैकेयीकी उक्ति, 'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई' के विपरीता हो गयी जैसे माताकी अपने पुत्रत्वनिमित्तसे स्वामित्व-प्रयुक्त राज्यकी कामना हुई। अतः भरतजी अपनेको कुलकलंक कह रहे हैं।

अपयशोभाजन

भरतजी रामवनवास, राजाकी मृत्यु, माताओंका वैधव्य आदिमें अपने जन्मको कारण मानकर स्वयंको अपयशस्का पात्र कहते हैं।

प्रियजनद्रोही

राजा एवं कौसल्यापर दोषारोपण करते हुए परिवारमें विघटन करनेमें पुत्रके प्रति हुए कैकेयीके रागको कारण मानकर अपनेको भरतजी प्रियजनद्रोही कह रहे हैं।

चौ०—को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी ?। गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥६॥

भावार्थ : हे मातः ! तीनों लोकमें मेरे समान कौन अभागी होगा ? जिसके कारण तुम ऐसी दुरवस्थाको प्राप्त हुई हो।

विलापमें भरतजीका अभाग्य

शा० व्या० : शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला त्रिभुवनमें अभागी नहीं होता। पुत्रत्वके प्रसंगसे भरतजीको अभी असफलता मिल रही है। माताकी दुरवस्था ही पुत्रधर्ममें रहते हुए भी भरतजीको 'मोहि सरिस अभागी' होनेको बाध्य कर रही है जैसा भरतजीने दो० १६२में विधिकी इच्छा बताकर 'मो समान को पातकी' कहा है। प्रभुकी दृष्टिमें तो भरतजीका जो गौरव 'सुनहु लखन भल भरत सरीसा। विधि प्रपंच महुँ सुना न दीसा'से व्यक्त है, जो स्मरणीय है।

---

१. पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई।
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। रामबिमुख सुत तें हित जानी ॥ चौ० १-२ दो० ७५।

संगति : अयोध्यामें घटित दुरवस्थाका कारण भरतजी अपनेको ही बता रहे हैं।

चौ०—पितु सुरपुरबन रघुबरकेतू। मैं केवल सब अनरथहेतू ॥७॥
धिग मोहि भयउ बेनुबन आगी। दुसह दाह-दुख-दूषनभागी ॥८॥

भावार्थ : पिता श्री स्वर्गलोक चले गये, रघुवर श्रीराम बन चले गये। सब अनर्थोंका मूल मैं रह गया। बाँसके वनमें लगी अग्निके समान सबका नाश करनेवाला मैं धिक्कारका पात्र हूँ।

अनर्थकारणता

शा० व्या० : 'सब अनरथहेतू'का भाव है कि राजाकी मृत्यु, रामवनवास आदि अनर्थोंका मूल भरतजी अपनेको मान रहे हैं। उक्त अनर्थोंसे होनेवाले असहनीय संतापमें सब दोषका भागी अपनेको बता रहे हैं। अयोध्यारूप वनमें धर्मनीतिका सुराग बजता था। वही अयोध्या आज मेरे कारण अग्निदग्ध-वेणुवनके समान शोकाग्निमें संतप्त हो रही है। इसलिए भरतजी अपनेको धिक्कार रहे हैं। भरतजीकी ग्लानिका प्रदर्शन कराते हुए कविने वर्णाश्रमसमाजमें पुत्रत्वके आदर्शको भरतजीमें कराने हेतु चरितार्थ पुत्रमें ग्लानि व उसका स्वरूप दिखाया है।

संगति : पुत्रके वचनकी प्रतिक्रियामें माताजीका कथन प्रस्तुत होगा उसके उपक्रममें शिवजी मातृप्रेमको व्यक्त कर रहे हैं।

दो०—मातु भरतके बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचत बारि ॥१६४॥

भावार्थ : माता कौसल्याजी भरतजीके मृदु वचनोंको सुनकर अपनेको सँभालती हुई उठी। भरतजीको उठाकर हृदयसे लगाया। फलतः उनके आँखोंसे अश्रुधारा निकलने लगी।

कौसल्याजीकी प्रीति

शा० व्या० : 'पुनि उठी सँभारि'से कौसल्याजीका धैर्यबल दिखाया। भरतजीके मृदुबचन करुणरस-प्रधान हैं जिसने माताके पुत्रत्व-प्रेमको जगा दिया। दोहेके उत्तरार्धमें पुत्रके प्रति माताके प्रेमका अनुभाव प्रकट है।

संगति : विवेकवती कौसल्याजी भरतजीकी ग्लानिको दूर करना कर्तव्य समझ कर केवल उठी ही नहीं, बल्कि उनको पुत्र (श्रीराम व लक्ष्मण)के भेंटकी अनुभूति भी हुई।

चौ०—सरल सुभाय माँय हिय लाए। अतिहित मनहुँ राम फिरि आए ॥१॥

भावार्थ : सरल स्वभाववाली माता कौसल्याजी भरतजीको हृदयसे लगाये है मानो श्रीरामजीके लौटकर आनेसे अत्यन्त सुख मिल रहा हो।

शा० व्या० : बालकाण्ड चौ० ६ दो० ३११में 'भरतु रामहि की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी'से श्रीरामजीका साधर्म्य भरतजीमें दिखाया गया है।

कैकेयी और कौसल्याके मातृ-भाव दृष्टिमें अन्तर

'अति हित'से केवल कौसल्याजीका ही हित नहीं, सम्पूर्ण योध्यावासियोंका हित कहा गया है, अर्थात् चौदह वर्षकी अवधिकालमें सबका रक्षण भरतजीके द्वारा होनेवाला है। 'सरल सुभाय'से माता कौसल्याजीके स्वभावकी सरलतामें कुटिलताका अभाव दिखाया है। अर्थात् कौसल्याजीके हृदयमें श्रीरामजी और भरतजी दोनोंके प्रति पुत्रका भाव एक समान है। अतः भरतजीको हृदयसे लगाकर वह अनुभव कर रही है कि अपना पुत्र श्रीरामजी ही लौटकर आया है अथवा चतर्दशवर्षावधिमें जीवनधारण करनेके लिए भरतजी उतना ही सहारा हुए हैं जितना श्रीरामजीके रहनेसे होता।

चौ० ८ दोहा १६०में कहे 'कुटिल-कठोर मुदित मन बरनी'से कैकेयीकी कुटिलता कठोरता भरतजीकी उक्ति 'भे अतिअहित रामु तेउ तोही' (चौ० ७ दो० १६२)से स्पष्ट है। अर्थात् 'प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरे' कहनेवाली कैकेयीका श्रीरामजीके प्रति पुत्रभाव व्यभिचरित हो 'अतिअहित' रूपमें प्रकट हुआ (सरस्वतीकी मायासे)। पर 'सरल सुभाय माँय' कौसल्याजीको भरतजी 'अतिहित' रूपमें दिखायी पड़ रहे हैं। विनय-शील-स्नेहसे पूर्ण अभिनयमें भरतजीके रूपको देखकर रामरसकी रसिका कौसल्या माताको ऐसा अनुभव हो रहा है कि श्रीराम ही मिल गये।

चौ०—भेटेउ बहुरि लखन-लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई ॥२॥

भावार्थ : भरतजीसे भेंटनेके बाद माता कौसल्याजी लक्ष्मणजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजीसे मिली। उस समय माताजीके हृदयमें शोक एवं स्नेह दोनों उमड़ पड़ा।

शत्रुघ्नके प्रति माताकी दृष्टि

चौ० ३ दो० १६३में 'लखन लघु भाई'की व्याख्या द्रष्टव्य है। 'लखन'के उल्लेखसे संकेत है कि जिस प्रकार भरतजीसे मिलकर माताको श्रीरामजीके प्रति पुत्रत्व-स्नेहकी अनुभूति हुई उसी प्रकार शत्रुघ्नजीसे भेंटनेमें लक्ष्मणजीमें होनेवाला माताका स्नेह व्यक्त है जैसा 'भेटेउ लघु भाई' 'बहुरि लखन'के अन्वयसे स्पष्ट होता है। बहुरिका अर्थ 'लौटना' भी है।

शोकरागोभयसमानकालीनता

कौसल्याजीको शोक पहलेसे ही था, इस समय दोनों भाइयोंसे मिलनेमें स्नेहका प्राकट्य भी है। राग और शोक दोनोंको एक साथ प्रकट करनेमें सहायक कौसल्याजीका जन्मान्तरीय विवेक-बल कहा जायगा जो सामाजिकके लिए आस्वाद्य है।

चौ०—देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई ? ॥३॥

भावार्थ : माता कौसल्याजीका सुन्दर वात्सल्यभाव देखकर सब लोग कह रहे हैं कि श्रीरामजीकी माता ऐसी स्वभाववाली क्यों नहीं होगी ? अर्थात् श्रीरामजी शील स्नेहसे पूर्ण हैं तो उनकी माता भी ऐसी ही है।

राममातुसे विशेष ध्वनन

शा० व्या० : चित्तानुबन्धी कार्य करनेवालोंमें चञ्चलता होती है, जैसे कैकेयी। स्वभावानुबन्धी कार्य करते रहनेपर स्थिरता रहती है जो राजनीतिमें बिश्वासार्ह मानी गयी है जैसे कौसल्याजी।[१] स्वभावगतवृत्तिमें ही संघटन बनता है। विघटनके अवसरपर भेदभावनाको दूर करके स्वजनोंको स्नेहपूर्ण आचरण द्वारा संघटित रखनेमें कृत्यपक्षका ह्रास होता है। कैकेयी और कौसल्याजीके चरित्रमें उक्त अन्तर दिखाते हुए कौसल्याजीको कवि 'राममातु' कह रहे हैं।

संगति : पूर्वमें कहे 'लगाइ उर' 'हिय लाए'का अन्तर्भाव 'गोद बैठारे'में दिखाया जा रहा है।

चौ०–माता भरतु गोद बैठारे। आँसु पोछि मृदु बचन उचारे ॥४॥

भावार्थ : माता कौसल्याजीने भरतजीको गोदमें बैठाकर उनका आँसू पोछती हुई मीठी वाणीमें कहा।

भरतजीको ग्लानिके परिहारका आरम्भ

शा० व्या० : भरतजीसे कहे कैकेयीके वचनमें कविने कुटिलताको दिखाया था (चौ० ८ दो० १६०) उसका अभाव कौसल्याके वचनमें दिखाते हुए 'मृदु वचन उचारे' कहा है। तात्पर्य यह कि वनमार्गमें पथिकोंका सोच दूर करनेमें जिस प्रकार श्रीरामजीके 'मृदु बैन' दो० ११२में व्याख्यात है, तदनुसार यहाँ कौसल्याजीकें 'मृदु वचन'का उद्देश्य भरतकी ग्लानिको दूर करना है जो चौ० ३ से ८ दो० १६४में व्यक्त है।

संगति : 'धिग मोहि भयउँ बेनुबन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी'के उद्गारसे भरतजीकी निस्तेजस्क दशाको देखकर सर्वप्रथम माता कौसल्याजी धैर्यको जगा रही हैं।

चौ०–अजहुँ बच्छ ! बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ॥५॥

भावार्थ : कौसल्याजी भरतजीसे कह रही हैं हे पुत्र ! मैं बलि जाती हूँ (अपनेको निछावर करना बलि जाना है), अभी तुम धैर्य रखो। कुसमयको समझकर शोक दूर करो।

धैर्यदान व 'कुसमउ समुझि'का भाव

शा० व्या० : चौ० ४ से ७ दो० १६४में भरतजी द्वारा कही माता कैकेयीकी कुटिलता, कैकेयी-पुत्रत्वके सम्बन्धसे 'अपजस भाजन प्रियजन द्रोही'की स्थिति और उसमें स्वयंको दोषभागी कहना आदि कुसमय है। विधिप्रेरित होनेसे उसमें अपना वश नहीं है—इसको समझाकर पिताश्रीकी मृत्यु, व रामवनवाससे सम्बन्धित शोकको छोड़नेके लिए माता कह रही है। 'कृपासिन्धु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ

---

१. सहजो धर्मः स्वभावः। आकस्मिकश्चाभिप्रायश्चितम्। (नी० ज० स० १९)

बिचारी' (चौ० ५ दो० १४१)की व्याख्यामें कहे जिस कुसमयका प्रभु चिन्तन कर रहे हैं वही कुसमय भरतजीके सामने उपस्थित है उसमें भरतजीको जो कार्य करना है। उसके लिए माता 'धीरज धरहु' द्वारा प्रेरणा दे रही है।

चो०—जनि मानहुँ हियँ हानि गलानि। काल-करम-गति अघटित जानी ॥६॥

भावार्थ : काल-कर्मकी गतिमें होनेवाली घटना हो ही जाती है ऐसा जानकर अपने मनस्‌में हानि व ग्लानिका अनुभव मत करो।

हानि और ग्लानि कालकर्माधीनता

शा० व्या० : 'हानि'से राजाकी मृत्यु, रामवनवास, माताओंका वैधव्य आदि सूचित हैं। भरतजीकी ग्लानिसे माताकी कुटिलता, कैकेयीपुत्रत्वके सम्बन्धसे अपने दोषोंकी कल्पना आदि सूचित हैं। कर्मप्रयुक्तसुख-दुःखके अनुसार पारस्परिक संयोग-वियोग होता रहता है, उस योगको लानेका काम कालके अधीन है। कालकी गति-विधिको जानना जीवके अधिकारके बाहर है। जो अशक्य है या प्रतीकारके योग्य नहीं है उसमें हानि-ग्लानि मानकर सोच करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

चौ०—काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥७॥

भावार्थ : हे पुत्र ! किसीको दोष मत दो। मेरे लिए विधाता ही सब प्रकारसे विपरीत हो गये हैं।

विधाताकी वामता

शा० व्या० : विना कारणके कार्य नहीं होता—यह साधारण सिद्धान्त है। अघटितघटना भी कालकर्मसे घटित देखी जाती है अर्थात् सत्यसन्ध धर्मात्मा राजा-दशरथजीकी मृत्युके समय चारों पुत्रोंमेंसे एकका भी पासमें न रहना, सतीधर्मकी सेविकाओंका वैधव्य रूपमें दिखायी पड़ना, स्नेहशीलपूर्ण निरपराधी श्रीरामजी जैसे पुत्रका वनवास होना, श्रीरामजीको प्राणसमान माननेवाली कैकेयीकी मतिने विपरीत होना आदि अघटितघटनाका रूप है जिसके लिए दृष्टमें किसीको दोषी न बताकर कौसल्याजी विधाताको कारण बता रही है। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकारकी बामता या प्रतिकूलतामें कारण विधाताकी विशेष इच्छा है। विधान नियत करनेवाला ईश्वर ही विधाता है। विधाता समष्टिचैतन्याभिमानी कर्मसाक्षी है।

कौसल्याजीमें असूयाराहित्य

अघटितघटनामें अपनी दीनता दिखाते हुए जिस प्रकार भरतजीने 'मैं केवल सब अनरथ हेतू' कहा है, उसी प्रकार विवेकवती माता कौसल्याजी भी 'विधिगति बाम सदा सब काहू' (चौ० २ दो० ५५)का संकोच करके 'भा मोहि सब विधि बाम बिधाता'से भरतजीको 'सबकाहू' दोषसे हटाकर विवेकसे निर्दोष समझा रही है। भक्ति-सिद्धान्तके अनुसार भक्तोंकी परीक्षा अघटित (प्रतिकूल) घटनाके अवसरपर होती है। भक्त उसको भगवद्-इच्छा समझकर स्वीकार करते हैं, प्रतिकूलतामें विचलित

नहीं होते। यद्यपि ऐसी वामताको धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे जन्मान्तरीय पापका फल कहा जा सकता है पर वह भक्तोंके लिए उत्कर्षका कारण सिद्ध होती है। अतः वाम विधाताकी इच्छा मानकर 'काहुहि दोष जनि देहु' कहना कौसल्याजीकी असूयारहित सद्भावनका द्योतक होकर उनकी धृति कीर्तिको उज्ज्वल करता हुआ भक्तिको पुष्ट कर रहा है।

विधाताके प्रति प्रभुकी अनुकूलता

स्मरण रखना है कि प्रभुके 'विमल वंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'के संकल्पसे बल पाकर विधाताकी बामता प्रकट हुई है जो सत्यसन्ध राजाके कार्यमें विघ्न उपस्थापित करके अघटित घटनाका कारण हुई है। स्वयं प्रभु भी वाम विधाताके विधानमें प्रवृत्त होकर भाइयोंको भी उसीका पालन करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं जो चित्रकूटमें 'बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई'की उक्तिसे स्पष्ट है।

चौ०—जौं एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ ? का तेहि भावा ? ॥८॥

भावार्थ : उस वामविधाताने इतना दुःख देनेपर भी मुझको जीवित रखा है। अभी भी कौन जानता है ? कि उसको आगे क्या करनेकी इच्छा है ?।

शा० व्या० : 'एतेहुँ दुख'का स्पष्टीकरण कौसल्याजीकी उक्तियोंमें आगे होगा। 'अजहुँ' कहनेका भाव है कि वर्तमान दुरवस्थामें भरतजी ही एकमात्र सहारा हैं। यदि वे भी अपनेमें पातकित्वकी कल्पनासे निस्तेजस्क होकर कायरता दिखाते हैं तो भविष्यत्में क्या घटित होगा ? कहा नहीं जा सकता। अर्थात् भरतजी धैर्यमें स्थिर हो विवेकपूर्वक अपना कर्तव्य नहीं करते तो इससे भी अधिक दुरवस्था देखनेको मिल सकती है। इस प्रकार दैवकी प्रबलतामें भी पुरुषार्थकी अव्यर्थता समझायी गयी है।

अनुकूलवेदनीयंकी कल्पना

'जानइका तेहि भावा ?' का ध्वनितार्थ यह भी है कि विधिकी वामतासे वर्तमानमें दुःख होनेपर भी भविष्यत्में उसके द्वारा होनेवाला मंगल निश्चत है जिसको कोई जानता नहीं है। अतः 'अनुकूल वेदनीयं'की शुभकल्पनामें प्रेरणा देकर माता भरतजीको वैसा ही कर्तव्यारूढ़ करना चाहती है, जैसा प्रभुने 'कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई'से माताजीको आश्वासन दिया था।

भारतीयराजनीतिमतानुसार पुरुषार्थकी न्यूनता न होनेपर कार्यमें 'प्रतिकूल-वेदनीयता'की स्थिति आनेपर ही विधि वाम या उपालभ्य होता है। इस दृष्टिसे 'कछुक काज विधि बीचि बिगारेउ'से विधिकी वामताको औपचारिक रूपमें स्वीकार करते हुए भी कौसल्याजी 'प्रतिकूलवेदनीयं' नहीं समझ रही है।

संगति : सत्यसन्ध पिताके वचनप्रमाणके पालनमें श्रीरामजीका चरित्र तथा तदनुगामिनी सीताजी और लक्ष्मणजीका चरित्र गाकर कौसल्याजी भरतजीको तदनुसार आचरण करनेमें उत्साहित कर रहीं हैं।

दो०–पितु आयसु भूषन बसन तात तजे ! रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल-चीर ॥१६५॥

भावार्थ : पिताश्रीकी आज्ञा समझकर रघुवीर श्रीरामने वस्त्राभूषणोंका त्याग करके जरासा भी विषाद-हर्षको मनस्में लाये बिना वल्कल वस्त्रको पहन लिया।

धैर्यके अनुसरणमें सत्त्व

शा० व्या० : भारतीयराजनीतिमें राज्यके अर्जन, प्रजानुराग एवं स्थायी विश्वासका आधार सत्व-बुद्धिको माना गया है। श्रीरामजीके उक्त चरित्रसे शिक्षा लेकर राजपदाधिष्ठाताओंको याद रखना चाहिए कि 'प्रतिकूल वेदनीयं' स्थिति आनेपर यदि वे सत्वगुणका आश्रय नहीं लेंगे तो लोभी कहे जायँगे और प्रजाके विश्वाससे वञ्चित होंगे।

संगति : श्रीरामजीके मुखपर सत्वगुणका अनुभाव प्रकट हो रहा था।

चौ०–मुख प्रसन्न, मन रंग न रोषू। सबकर सब-विधि करि परितोषू ॥१॥

भावार्थ : वनमगनके लिए उद्यत श्रीरामजीके मुखपर प्रसन्नता झलक रही थी मनस्में हर्ष या रोषका भाव नहीं था। प्रभुने सबका सब प्रकारसे परितोष किया है।

श्रीरामजीके द्वारा सबका परितोष

शा० व्या० : चौ० ८ दो० ५१में 'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ'से श्रीरामजीके मुखकी प्रसन्नता व्यक्त रूपमें कौसल्याजीने देखी थी, उसको भरतजीके सामने गाया है। 'मन रंग न रोषू'से व्यक्त है कि किसीके अपराधसे रुष्ट होना या स्वयं किसीमें अपराधकी भावना करना उचित नहीं है अर्थात् कैकेयीकी क्रूरताके प्रति रोष या अपना दुर्नय दोनों नहीं है। 'सबकर परितोषू'में कैकेयीका परितोष भी है जैसा चौ० ५ दो० ७९में 'राम जननि सिख सुनि सुख पावा'से व्यक्त है। दो० ८०के अन्तर्गत सबके परितोषका प्रकार दिखाते हुए 'एहि बिधि रामु सबहि समुझावा' कहा गया, उसी विधिको यहाँ 'सब बिधि'से संकेतित किया गया है।

संगति : वचनप्रमाणके अनुष्ठानमें तत्पर श्रीरामका अनुगमन करनेवाले सेवकोंका चरित्र गा रही हैं।

चौ०–चले बिपिन सुनि सिय संग लागी। रहइ न रामचरन-अनुरागी ॥२॥
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा ॥३॥

भावार्थ : श्रीरामजीका वनगमन सुनकर सीताजी भी साथमें चलीं। राम-चरणोंमें उत्कट प्रेम होनेसे वह रोके नहीं रुकीं। इसी प्रकार लक्ष्मणजी भी (वनगमन) सुनकर साथमें चलनेको तैयार हो गये। प्रभुके बहुत उपाय करनेपर भी वह अयोध्यामें नहीं रहे।

वधूको दिये उपदेशोंका कार्यान्वयन

शा० व्या० : विवाहमण्डपमें सप्तपदीके अवसरपर अग्निके साक्षित्वमें वर-वधूको दिये अनुशासनविधिका[1] पालन सीताजीने पतिके अनुगमनसे प्रकट किया है। चौ० १-२ दो० ६८में[2] सीताजीकी दशा कौसल्याजीकी उक्तिमें अनूदित है। चौ० ७० से दो० ७१ तक कहे प्रभुके वचनसे लक्ष्मणजीका 'रहहिं न जतन किये रघुनाथा' संगत है। सीताजीका अनुगमन पातिव्रत्यधर्मप्रयुक्त है, और लक्ष्मणजीका सेवाधर्म-प्रयुक्त है। पातिव्रत्यमें सहजप्रवृत्ता सीताने प्रथमकल्पोचित पतिसान्निध्यको अपनाया है। विपत्तिमें सेवकोचित धृति, अनुराग व स्थैर्यकी वृत्तिमें लक्ष्मणजीने सेवकत्वको अपनाया है।

सीताजी व लक्ष्मणजीके उक्त चरित्रको सुनानेका फल दृष्टरीतिसे 'तात न रामहि सौंपेहु मोही'की न्यूनताको मिटाते हुए भरतजीको रामसेवामें अधिक उत्साहित करना और सीता एवं भाईके अनुगमनको सुनकर प्रभुके पास जानेके लिए आकांक्षित होना है।

संगति : वनमें जाते हुए रघुपतिका विनय समझा रही है।

चौ०—तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई ॥४॥

भावार्थ : तब रघुपति श्रीराम सबको नमस्कार करके सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजीके साथ चल दिये।

वनवासी श्रीराममें ध्येयोंका साहित्य

शा० व्या० : ध्येयके रूपमें वनवासी श्रीरामके साथ सीता-लक्ष्मणजीका साहित्य ग्रन्थकारको इष्ट है जैसा चौ० १ दो० १२४ में 'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखन सिय राम बटाऊ'से स्पष्ट है। कवि उसी ध्यानकी विधि कौसल्याजीके वचनसे प्रतिध्वनित करा रहे हैं। भरतजी भी उसी विधिमें तीनों मूर्तियोंका स्मरण करते हुए चित्रकूट जायँगे।

ध्यानविषयताकी पर्याप्ति

जिस प्रकार मीमांसकोंने 'दम्पती याजयेयाताम्'से यागकर्तृत्वकी पर्याप्ति पति-पत्नी दोनोंमें कही है उसी प्रकार ध्यानके विषयताकी पर्याप्ति वनवासी श्रीरामजी आदि तीनोंमें है। उसका विशेष प्रयोजन यही है कि प्रत्येक कल्पमें रामचरित्रके वनगमन-कर्तृत्वमें तीनोंका विशेष योगदान है (लक्ष्मणजीकी भक्ति-सेवकाईमें भक्तिसिद्धान्तका प्रभुके द्वारा उनको उपदेश तथा रावणवधार्थं सीताका लंका जाना—प्रयोजन है)।

---

१. बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बरु दुलहिनि बैठे एक आसन ॥
चौ० ८ दो० ३२५ बा० कां०

२. अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी ॥
देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहि राखहि प्राना ॥

रामचरित्रसे प्रेरणा

'सबही सिरु नाईं'से विनयपूर्वक सबकी सम्मतिका आदर करते हुए श्रीराम-सेवकाईकी प्रतिष्ठासे चित्रकूट जानेमें सबका सहयोग लेनेकी भरतको प्रेरणा है।

संगति : भरतजीकी उक्ति 'कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई ?'के उत्तरमें कौसल्याजीका उद्गार प्रकट हो रहा है।

चौ०–रामु लखनु सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए ॥५॥

भावार्थ : श्रीराम लक्ष्मणजी और सीताजी वन चले गये पर न मैं साथमें गयी न तो अपने प्राणोंको भेजा।

कौसल्यासंतापका नैयत्य

शा० व्या० : 'संग प्रान पठाए' उद्गारमें श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजीके प्रति माता कौसल्याका मातृत्वप्रेम प्रकट है। अदृष्टार्थमें यह भी कहना है कि जन्मान्तरीयविवेकके आधारपर कौसल्याजी वामविधाताका बल दिखा रही हैं। अर्थात् प्रत्येक रामावतारमें जिस प्रकार तीनोंका वनगमन नियतचरित्र है उसी प्रकार कौसल्याजीका विरहजन्यसंताप भी नियत है जिसको सहन करनेका धैर्य प्रभुकृपासे प्राप्त है[1]।

संगति : भरतजीकी उक्ति ('को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी')के प्रत्युत्तरमें कौसल्याजी अपनी दशा बता रही हैं।

चौ०–यह सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥६॥

भावार्थ : यह सब अपनी आँखोंके सामने हुआ पर इस अभागे जीवने तब भी देहत्याग नहीं किया।

दुःखसहिष्णुत्वसे प्रेरणा

शा० व्या० : 'यह सब'से तीनोंके वन जानेका दुःख, स्वयं न जानेका दुःख तथा प्राणके न जानेका दुःख व्यक्त है। जो दुःख नहीं देखना चाहिए वह सब दुःख आँखोंसे देखनेपर जीवित रहना अभाग्य है। इस प्रकार भरतजीको प्रेरणा दी है कि 'मोहि सरिस अभागी'की ग्लानिमें उनको अकर्मण्य नहीं होना चाहिए।

'अभागे' का विश्लेषण अ+भागे करनेपर यह भाव है कि इतना दुःख होनेपर भी प्राण शरीरको छोड़कर भागा नहीं, धैर्यमें स्थिर है।

संगति : भरतजीकी उक्ति 'धिग मोहि'के प्रत्युत्तरमें कौसल्याजी आश्वस्त कर रही हैं।

---

१. सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥ (बा० का० दो० १५०)

चौ०–मोहि न लाज निज नेहु निहारी। रामसरिस सुत मैं महतारी ? ॥७॥

भावार्थ : अपने प्रेमकी हीनताको देखकर मुझे लाज भी नहीं आती कि श्रीरामके समान (आज्ञापालक सुयोग्य) पुत्रकी क्या मैं माता कहलाने योग्या हूँ ?

प्राणत्यागकी प्रसक्ति

शा० व्या० : 'निज नेहु निहारी'का भाव है कि सदा अनुकूल रहनेवाले प्राण-प्रिय पुत्रके प्रेममें प्राणको त्यागनेका अवसर (वनगमन होनेपर) आनेपर भी ऐसी निर्लज्जा बनी रही कि प्राणत्याग नहीं किया। स्मरणीय है कि कौसल्याजीको जीवित रखनेमें 'सबहिं जिअत जेहिं भेंटहु आई' (चौ० ३ दो० ५७) की आशा सहायक है। कहनेका आशय है कि अपने धिक्कृत स्थितिको सोचकर भरतजीको कर्तव्यपालनमें हतोत्साह नहीं होना चाहिए।

मातृत्वकी अव्यभिचारिता

'रामसरिस सुत मैं महतारी'का गूढ़ार्थ मनु-शतरूपचारित्रसे संगत है अर्थात् जिस विधानसे श्रीरामको पुत्र होना है उसी विधानसे मुझको माता होना है।

संगति : भरतजीकी उक्ति 'पितु सुरपुरबन रघुबरकेतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू'के प्रत्युत्तरमें कौसल्याजी बोल रही हैं।

चौ०–जिए मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सतकुलिस समाना ॥८॥

भावार्थ : जीना-मरना तो राजाने ठीक-ठीक समझे। मेरा हृदय तो सचमुच शत वज्रके समान है।

हृदयका कठोरपन

शा० व्या० : 'सतकुलिस समाना'से वज्रके समान हृदयके कठोरताकी सत्यता यही है कि कौसल्याजीका हृदय असहनीय दुःख-सन्तापको सहन करनेमें समर्थ है। 'सतकुलिस'का अर्थ सैकड़ों वज्र किया जाय तो यह भाव होगा कि कैकेयीकी कुचालसे परिवार-विघटन, रामवनवास, पतिकी मृत्यु, वैधव्य, प्रजाका दुःख आदि सैकड़ों वज्राघात सदृश चोटको सहनेवाला कठोर हृदय है।

'जिए मरै भल भूपति जाना' पर विशेष वक्तव्य

राजधर्मके अन्तर्गत प्रजापालनधर्मको राजाने जीतेजी अच्छी तरहसे जाना था। चौ० ६ से ८ दो० २ की व्याख्याके अनुसार जब राजाने जान लिया कि जीवित रहना सम्भव नहीं है तब सुचारुरूपसे प्रजापालनके भारका निर्वाह करनेके लिए रामराज्या-भिषेकको आयोजित करनेमें जरा भी विलम्ब नहीं किया। श्रीरामके द्वारा वनवास-स्वीकार कर लेनेपर राजाने मरना ही अच्छा समझा क्योंकि मरनेसे ही अपने वचनका प्रामाण्य रहेगा। एवं च श्रीरामकी अनुपस्थितिमें भरतजीद्वारा राज्यसंचालन होनेसे प्रजापालन भी अक्षुण्ण रहेगा। अन्यथा चौदहवर्षकी अवधितक श्रीरामके लौटनेकी

आशामें जीनेका संकल्प करनेमें दैवविधान (ऋषिवचनके शापयुक्त विधान)से ऐसा हो सकता है कि भरतजी भी न आवें। तब एक ओर रामविरह-सन्ताप बना रहेगा, दूसरी ओर शापके विधानसे मृत्युभय भी रहेगा। राजा दशरथका अतिशय पुण्य एवं पुरुषार्थ है कि जीवनकी स्थितिको अच्छी तरह जानकर जिए और परलोक सिधारे। इस प्रकार राजाके जीने मरनेका सार्थक्य कविने चौ० १-२ दो० १५६ में गाया है[1]।

संगति : विवेकवती कौसल्याजीके धैर्ययुक्त वचन सुनकर सम्पूर्ण रनिवास व्याकुल हो गया।

दो०—कौसल्याके बचन सुनि भरतसहित रनिवासु।
ब्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोकनिवासु ॥१६६॥

भावार्थ : भरतजीके साथ पूरे रनिवासने कौसल्याजीके वचनोंको सुना तो वे सब व्याकुल हो गये। सम्पूर्ण राजप्रासाद विलाप कर रहा है मानो शोक ही वहाँ निवास करता हो।

भरतजीके शोकव्याकुलताका संक्रमण

शा० व्या० : शोककी व्याख्या है 'प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशासहिष्णुत्वलक्षण द्वेषवासना'। कैकेयीके महलमें सुमन्त्रजीके प्रवेश करते समय राजाकी भावी मृत्युके सम्बन्धसे रनिवासको 'प्रेतनिवासु' कहा। राजाकी मृत्युके बाद रनिवासको 'शोक-निवासु' कह रहे हैं। 'सोकबिकल सब रोवहि रानी' (चौ० ३ दो० १५६)की व्याख्यामें कहा गया था कि सब रानियोंमें उस समय कैकेयीकी परिगणना नहीं थी। अभी 'बिलपत राजगृह'से कैकेयीके महलसमेत सम्पूर्ण राजमहलका विलाप विवक्षित है। क्योंकि कौसल्याजीके साथ भरतजीकी पूर्ण शुचिताकी विशेषता है कि उनके सत्व-प्रधान शुद्ध चित्तमें होनेवाली व्याकुलताका संक्रमण पूरे राजप्रासादमें विलापके रूपमें व्याप्त हो रहा है। ('असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छदेन विधेयान्वयो भवति') राजगृहत्वावच्छेदन शोक निवासः'—इस बोधप्रणालीके अनुसार राजगृहको 'सोक निवासु' कहा है। भरतजीके शोकके विशेष उद्वेगका कारण यह है कि राजाकी मृत्यु व श्रीरामजीके असान्निध्यमें भरतजी अपनेको अनाथ समझ रहे हैं।

अपने प्रति कैकेयीकी शंका या मिथ्याभिशापके कारण कौसल्याजीने स्पष्टतः कर्तव्यकी प्रेरणा भरतजीको नहीं दी, धैर्य-स्थैर्यको समझाकर व्यंजनासे भरतजीको कर्तव्यकी प्रेरणा दी है जैसा पूर्वव्याख्यामें कहा गया है। यह उत्तमप्रकृतिके परिचायक संवादका उदाहरण है।

चौ०—बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिए हृदय लगाई ॥१॥

---

१. जिअन मरन फलु दसरथु पावा। अण्ड अनेक अमलजसु छावा ॥
जिअत रामबिधुबदनु निहारा। रामबिरहकरि मरनु सँवारा ॥

भावार्थ : भरतजी और शत्रुघ्नजी दोनों भाईयोंको विलाप करते देखकर कौसल्याजीने उनको हृदयसे लगा लिया।

भरतजीको प्रबोध

शा० व्या० : भावप्रकाशनमें कहे 'प्रबोधः शब्दसंस्पर्शभीषणस्वप्न दर्शनैः'के अनुसार शोकनिद्रामें पड़े दोनों भाइयोंको प्रबोध करानेके लिए कौसल्याजीने वचन और स्पर्श दोनोंका उपयोग किया है। स्पर्शका उपयोग प्रथम दो० १६४में 'लिए उठाइ लगाइ उर'से पुत्रभावका प्रबोध भरतजीको कराने में है। फिर चौ० १ दो० १६५में 'सरल सुभाय माँय हिय लाए'से पुत्रभावमें स्वयंका सन्तोष तथा उक्त चौपाईमें 'हृदयँ लगाइ'से शोकमग्न दोनों भाइयोंका आश्वासन है।

संगति : प्रभुके द्वारा अपने जन्मान्तरमें प्राप्त विवेकसे युक्त 'कहि प्रिय बचन और विवेकमय'। दो० ६० द्वारा प्राप्त परितोषका उपयोग कौसल्याजीने धैर्यकी दृढ़ता लानेमें स्वयं किया जैसा 'मोर हृदय सत कुलिस समाना'से ध्वनित है जिसमें गुरु वसिष्ठजीका निज विज्ञान प्रकाश' सहायक हुआ है। अग्रिम चौपाईमें 'भरतु समुझाए'से विवेकका वही प्रकार कहा जा रहा है।

चौ०–भाँति अनेक भरतु समुझाए। कहि विवेकमयबचन सुनाए ॥२॥

भावार्थ : विवेकबोधक वचनोंको सुनाकर कौसल्याजीने भरतजीको बहुत प्रकारसे समझाया।

शा० व्या० : 'भाँति अनेक भरतु समुझाए'का प्रकार कौसल्याजीकी पूर्व उक्तियोंमें स्पष्ट हो चुका है। 'कहि विवेकमय बचन'से सत्परामर्श व्याप्ति आदि व्यक्त है।

संगति : दो० १४५के अन्तर्गत सुमन्त्रकी मरणासन्न स्थितिको सुनकर पार्वतीकी सद्यः व्याकुलताके निरासार्थ जिस प्रकार शिवजी 'जिउ न जाइ उर अवध कपाटी' बीचमें ही बोल गये[1] उसी प्रकार यहाँ 'भरत सहित रनिवासु व्याकुल विलपत राजगृह मानहुँ सोकनिवासु'की स्थितिसे बाहर भरतजी सहित रनिवास कैसे निकला ?—इस शंकाके उपशमनमें तत्क्षण ही शिवजी भरतजीके अग्रिम चरित्रकी भूमिकाके पूर्व प्रसङ्गत : बोल रहे है।

चौ०–भरतहुँ मातु सकल समुझाई। कहि पुरान-श्रुतिकथा सुहाई ॥३॥

भावार्थ : भरतजीने भी सब माताओंको वेद-पुराणकी कथाओंको कहकर समझाया।

भरतके समझानेके उल्लेखसे न्यूनतापरिहार

शा० व्या० : पूर्व चौपाईमें 'समुझाए' माताके निज विवेकके आधारपर है, यहाँ 'समुझाए'से वेद-पुराण कथाओंके आधारपर भरतजीका माताओंको समझाना कहा जा रहा है।

---

१. चौ० ३ दो० १४५ की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

यद्यपि भरतजीका धैर्य विवेक आगे गुरुजीकी सभामें प्रकाशित किया जायेगा, अभी कैकेयीकी भर्त्सनाका अन्त 'आँखि ओट उठि बैठहि जाई' द्वारा हो जानेपर उसका मोह कैसे दूर हुआ ? मनः स्थिति कैसे बदल गयी ? कैकेयीकी शुद्धिके प्रति रनिवास कैसे आश्वस्त हो गया ? आदि आकांक्षाओंकी पूर्ति न होती तो ग्रन्थकी न्यूनता रह जाती। अतः अन्तःपुरके आश्वासनप्रसङ्गसे उस न्यूनताको इस चौपाईसे दूर किया है। 'मातु सकल' कहनेसे प्रश्न उठेगा कि सुमित्रा व कैकेयी भी सम्मिलिता हैं या नहीं, इसके उत्तरमें कहना है कि 'आँखि ओट उठि बैठहि जाई' कहकर भरतजीने माता कैकेयीको वहीं छोड़ दिया तो वह यहाँ नहीं होगी। अथवा कैकेयीका रागप्रयुक्त अज्ञान दूर हो जानेपर वह भी कौल्याजीके भवनमें आ गयी होगी। जिस प्रकार नारदजी अपने दुर्वचनकी ग्लानिको दूर कर दो० १३८में कहे प्रभुके प्रबोधसे अपनी पूर्व निर्दोष स्थितिमें आगये उसी प्रकार कैकेयी भरतजीके 'मातु सकल समुझाई। कहि पुरान श्रुति कथा सुनाई'से आश्वस्ता हो अपनी पूर्व पुनीततामें स्थित हो गयी। इसका निर्णय विद्वान् स्वयं करें।

'पुरान श्रुतिकथा' कौन-कौनसी हैं ? इसके उत्तरमें समझना है कि वे सब कथा यहाँ विवक्षित हैं जिनको कैकेयीने 'सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा' आदि सुनाया था, गुरुजीने दो० १५६में 'कहि अनेक इतिहास'से तथा चित्रकूटमें 'कहि अनेक विधि कथा पुरानी'। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ज्ञानी' (चौ० ३ दो० २६३)से गाया है। 'सुहाई'का भाव है कि धैर्य-स्थापन एवं विवेकको जगानेमें कथाएँ सहायक हैं।

संगति : कैकेयीपुत्रत्वसे सम्बन्धित भरतजीके उद्गार 'मो समान को पातकी'के निरासमें भरतजीकी धर्मोपधाशुद्धिका प्राकट्य अग्रिम ग्रन्थमें कहा जा रहा है।

चौ०—छलविहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी ॥४॥

भावार्थ : माता कौसल्याजीके सामने भरतजी हाथ जोड़कर बोले। उनकी वाणीको कवि छलरहित, शुचि, सरल, सुवाणी कह रहे हैं। उदार, स्पष्ट, ललित वाणीके सौष्ठवको सुबानी कहा है।

वक्ताके सम्बन्धसे शब्दकी प्रमाणता व अप्रमाणता

शा० व्या० : शब्द स्वरूपतः शुचि-अशुचि नहीं होता, वक्ताकी अधीनतामें उसकी शुचिता अशुचिता समझी जाती है। इसलिए उपरोक्त वाणीके विशेषण वक्ता भरतजीके विशेषण माने जायँगे।

वेदप्रामाण्यपर आधारित, परलोकविश्वाससे संपृक्त व्यक्ति और उसकी वाणी शुचि मानी गयी है। राजनीतिमें कहा शुचित्व अर्थलालसाके अधीन हो परसम्पत्तिपर आक्रमण न करनेमें सहायक है जिसको शुद्धिके अन्तर्गत अर्थोपधाशुद्धि कहा गया है। प्रतारणाशून्य वाणी छलविहीन है, अर्थान्तरसे वाणीको सत्य बनाकर कहना प्रतारणा

या छल है। भरतजीकी वाणी भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा, करणापाटव आदिसे रहित है। उक्त दोषोंसे रहित वाणी ही सरल है, विश्वासार्ह है।

संगति : चौ० १ दो० १६५में 'अतिहित मनहुँ राम फिरि आए'से मनहुँ कहकर भरतजीकी शुचिताके प्राकट्यमें न्यूनता रह गयी थी उसका परिहार भरतजीके पूर्ण शुचित्वके प्राकट्यसे अग्रिम ग्रन्थमें दिखाया जा रहा है। स्वामिद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है। भरतजीकी उक्तियोंमें पापोंकी परिगणना सेवककी स्वामिद्रोहप्रयुक्त दोषोंसे रहित शुचिताको प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे की गयी है। भरतजी माता कौसल्याजीसे कह रहे हैं।

चौ०—जे अघ मातु पिता सुत मारे। गाइ गोठ महिसुर पुर जारे॥५॥
जे अघ तियबालक बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे॥६॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मनभव कवि कहहीं॥७॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥८॥

भावार्थ : 'माता, पिता, पुत्रको मारने तथा गोष्ठमें बँधी गाय या ब्राह्मणको मारनेका जो पाप है, नगरको जलानेका जो पाप है, स्त्री या बालकका वध करनेमें जो पाप है, मित्र या राजाको विष देनेका जो पाप है, इसके अतिरिक्त कर्म मनस् वचनसे होनेवाले जो पाप या उपपातक हैं जिन्हें कवि कह सकते हैं—वे सब पाप विधाता मुझको दे, यदि मेरे मतसे यह सब हुआ हो।

धर्मोपधाशुद्धि व पापस्थिति

शा० व्या० : मतका अर्थ उपदेश भी कहा गया है। माता कैकेयीके दो वर-याचनाके परिणामस्वरूप जिस दुरवस्थाका चित्रण कौसल्याजीके कथनमें किया गया है उसमें यदि भरतजीका मत हो तो स्वामिद्रोहरूप महान् पातकके वह भागी होंगे, जो अन्यान्य पातक उपपातकोंसे कहीं बढ़कर पाप कहा गया है।

त्रेतायुगमें राजा दशरथके शासनमें धर्मका अंकुश ऐसा था कि वर्णाश्रम समाजमें कुलीनताका भाव जागृत था। माता-पिताके प्रति पूर्ण आदर था। पुत्र कर्कट-सधर्मा नहीं थे। गोव्रज विद्वज्जन मङ्गलतम माने जाते थे, क्योंकि गौदुग्धके सेवनसे सात्विकता उत्पन्न होती है और विद्वानों द्वारा विद्याओंके प्रचारसे विनयकी शिक्षा मिलती है। इनका रक्षण पुरके आश्रयसे ही होता है, अतः पुरका ध्वंस महान् अपराध माना गया है

समाजमें धर्मका ऐसा प्राबल्य था कि भरतजी द्वारा परिगणित पापोंमें किसीकी प्रवृत्ति थी ही नहीं। यदि कदाचित् ऐसा पाप किसीके द्वारा हो जाता था तो उसका फल तत्काल प्रकट हो जाता था। प्रकाशमें होनेवाले व जगत्से धिक्कृत जिन पापोंका उल्लेख इन चौपाइयोंमें किया गया है वे क्रोधके स्थायी भावमें रौद्रप्रकृतिका कार्य माना है। 'कण्टक शोधन' प्रकरणमें इनको निन्दित कर्म कहा गया है जो दिवानी या फौजदारीके अपराध कहे जयेंगे (अर्थशास्त्रमें इनको कण्टकशोधन और धर्मस्थीय कहा गया है)।

'पातक उपपातक'के अनन्तर 'करम-बचन-मन भव कवि कहहीं'का भाव है कि विद्वत्ताकी चरम कोटिपर पहुँचे विद्वानों द्वारा बताये जो पाप हैं उनमें कर्म मनस्के द्वारा वाणीसे भरतजीकी निर्दोषताको सिद्ध करनेवाली शुचिताका प्रकाशन करना ग्रन्थ-कारको इष्ट है।

पापकी व्याख्या इस प्रकार है—क्लेशशोकभयप्रदं पापं। स्वानिष्ट जनक और परानिष्ट जनक कर्म—वे दोनों मिलकर या दोनोंमें-से एक भी हों तो पाप कहा जायगा। परानिष्टको रोकनेके लिए राजशासन है, स्वानिष्टको दूर करनेके लिए प्रायश्चित कहा गया है।

धर्मशास्त्रोंमें पापोंके अनेक भेद बताये गये हैं जैसे अपात्रीकरण, मलिनी-करण, जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, प्रकीर्णक आदि, वे सभी यहाँ विवक्षित है।

संगति : धर्मनीतिके अन्तर्गत पापोंका उल्लेख करनेके बाद भक्तिके अन्तर्गत विष्णु एवं शिवकी उपासनासे विमुख रहनेवालेकी गतिमें पापकी स्थिति बता रहे हैं।

दो०—जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूतगनघोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ विधि जौ जननी मत मोर ॥१६७॥

भावार्थ : विष्णु और शिवजीकी चरण-उपासनाको छोड़कर जो भूतगणोंको भजते हैं, घोर-उपासना करते हैं, उनकी जो अधम गति होती है, वही गति विधाता मुझको दें, यदि मेरा मत रहा हो—ऐसा भरतजी माता कौसल्याजीसे कह रहे हैं।

नीतिमें सात्त्विक परमधर्म

शा० व्या० : नीति धर्माचरणका उद्देश्य सत्वकी स्थापना है जो विष्णु शिवकी अनुकूलतासे प्राप्तव्य है, इसलिए समाजके लिए रजस्तमः-प्रधान भूतगणोंकी उपासना इष्ट नहीं मानी गयी है क्योंकि शिव-विष्णुकी उपासनाको उपेक्षित करके तान्त्रिक घोर-उपासना करनेवालेको अन्तमें पागल होनेका भय है अथवा क्लेशभागी होना पड़ता है।

शिवजीने 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा' (चौ० २ दो० ९९ बा० का०)में बताया है कि विधि या विधानका अनुगमन करते व निषेधसे प्रकाश या अप्रकाश पापकर्मोंमें-से मनोवृत्तिको हटाते भक्तिपथपर चलना हो परम धर्म है।

संगति : अनीतिके अन्तर्गत किये जानेवाले पापोंको भरतजी बता रहे हैं।

चौ०—बेचहिं बेदु धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥१॥

भावार्थ : जो वेदोंको बेचते हैं, धर्मको दुहते हैं, दूसरेके पापोंकी निन्दा कहते फिरते हैं।

पापके अन्तर्गत वेदविक्रय व धर्मदोहन

शा० व्या० : अपने स्वार्थलाभके लिए वेद और धर्मकी आड़में अयथार्थ

निरूपण करना वेदार्थका दुरुपयोग तथा धर्मको दुहना है। वेदोंका अध्ययन मुख्यतया यज्ञार्थ और आत्मपरिचयार्थ है। उसका उपयोग अन्यत्र करनेसे न केवल वेदोंका तेजस् चला जाता है बल्कि वैदिकोंका तेजस् भी नष्ट होता है। वेद पढ़ानेवालोंने नौकरी करना, अर्थलाभके लिए अनधिकारीको वेद पढ़ाना, वेदाविहित आचारका समर्थन करना आदि वेदको बेचना है। अतएव ईश्वरके अवतारका कार्य वेदकी शुचिताकी रक्षा कही गयी है।

स्वयंमें न होते हुए भी दूसरेके दोष या पापोंको स्वार्थके उद्देश्यसे उनको कहते फिरनेमें उन दोषोंका भागी होना पड़ता है। अतः इसको भी पाप माना गया है।

चौ०—कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। वेदविदूषक बिस्वबिरोधी ॥२॥
लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा ॥३॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननि ! यहु संमत मोरा ॥३॥

भावार्थ : जो कपटी कुटिल, कलहप्रिय, क्रोधी, वेदकी निन्दा करनेवाले, विश्व-विरोधी आचरण करनेवाले, लोभी, विषयासक्त, लालचमें रत, पराया धन और परायी स्त्रीपर कुदृष्टि रखनेवाले हैं, उनकी जैसी घोर गति (दुर्गति) कही गयी है वह मुझको प्राप्त हो, यदि हे मातः ! मेरी सम्मति रही हो।

पापप्रसक्ति

शा० व्या० : उपरोक्त पापोंका उल्लेख करते हुए भरतजीका आशय है कि माता कैकेयीके स्वार्थसाधनमें राज्यलाभ व रामवनवासकी योजनामें यदि उनकी किसी प्रकारकी भी सहमति रही हो तो उक्त सम्पूर्ण पापोंका दोष उनको लगे।

कामज-क्रोधज-कपट आदि पापोंकी व्याख्या

उक्त दोषों (पापों)की व्याख्या संक्षेपमें निम्नलिखित है—

कपटी—जो सत्यकी छाप लगाकर विसंवादी भाषण या कार्य करता है।

कुटिल—जिसके कायिक वाचिक मानसिक व्यवहारमें विषमता हो, विशेषतया वैदिक मार्गके आचरणमें।

कलह प्रिय—जो व्यसनग्रस्त और मूर्खतामें आबद्ध है तथा पारस्परिक विश्लेषण करता रहता है।

क्रोधी—जो किसीपर क्षमा नहीं कर सकता।

वेदविदूषक—विवाद द्वारा वेदमें दोष बताकर नास्तिक्यका प्रचार करनेवाला।

विश्वविरोधी—अपने अनीतिपूर्णकार्यसे स्वयं भोक्ता बननेके प्रयत्नमें विश्वका विरोध करणेवाला अथवा नीतिविरोधी कार्यसे विश्वमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला।

लोभी—परद्रव्यमें इच्छा रखनेवाला।

लंपट—विषयतत्पर रहनेवाला।

लोलुपचारा—सर्वदा याचना करते हुए कदर्यवृत्तिमें रहनेवाला।

ताकइ परधन परदारा—परस्त्री और परधनकी कामनामें रस रखनेवाला।

अर्थके पांच भाग

कामज क्रोधज प्रवृत्तिमें रहनेवाले विनष्ट होते हैं। स्वार्जित धनका पाँच विभाग बताया गया है, यथा—धर्मके लिए, अर्थके अर्जनके लिए, भृत्योंके पोषणके लिए, आपत्तिकालार्थं संचयके लिए और भोगके लिए। प्राप्त धनका यथोचित विभाग न करके संचय करना अथवा अपने भोगमें लगाना लोभ है और अर्थानर्थका विवेक न करते हुए उसके भोगमें अपनेको लगाना लम्पटता है।

धर्मका पर्यवसान द्रोहमें

जब धर्मका उपयोग स्वार्थसाधनके लिए होता है तब वही धर्म अनीतिमें परिणत होकर लोकतन्त्रविरोधी विश्वविरोधी हो जाता है। इस दृष्टिसे कैकेयीके धर्मसम्बद्ध वरयाचनात्मक कार्यसे घटित होनेवाला राजद्रोह अथवा स्वामिद्रोह अथवा सन्तद्रोह या विश्वविरोध कहा जायगा, जो पाप है। उक्त कार्यमें अपनी किसी प्रकारकी भी सम्मति रही हो तो भरतजी अपनेको उक्त पापोंसे होनेवाली दुर्गतिका पात्र मानते हैं।

चौ०—जे नहिं साधुसंग अनुरागे। परमारथपथबिमुख अभागे ॥५॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरिहरसुजसु सुहाई ॥६॥
तजि श्रुतिपंथु बामपथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं ॥७॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी! जौं यहु जानौं भेऊ ॥८॥

भावार्थ : जिनकी विद्वत्संगतिमें प्रीति नहीं है, जो अभागे परमार्थ-पथसे विमुख हैं, जो मनुष्यदेह पाकर भगवान्का भजन नहीं करते, जिनको विष्णु-शिवजीकी महिमाके गानमें रुचि नहीं है, जो वेदमार्गको छोड़कर उलटे मार्गपर चलते हैं, जो ठग होते हुए भी साधुका वेष बनाकर संसारको छलते हैं, उनकी गति शंकरजी मुझको दें यदि हे मातः! मैं उपरोक्त अनीति-कार्यके भेदका ज्ञाता होऊँ।

साधुसंग

शा० व्या० : राजनीतिशास्त्रके व्यसनप्रकरणमें कहा है कि विद्वत्संगतिमें रुचि न होना व्यसनी जनोंका स्वभाव है। विद्वत्संगतिके विना आप्तबचनोंका यथार्थ अर्थ ग्रहण नहीं होता, न तो सद्ग्रन्थोंका उद्देश्य समझमें आता है। वचनोंमें अप्रामाण्य-बुद्धि होनेसे अविश्वास होता है तो भगवत्प्रीति नहीं होती। भारतीयराजनीतिमें लोकसंग्रहार्थं विद्वत्संगतिपर अधिक बल दिया है। मान-मदका अभाव दिखानेमें 'नाहिन साधु सभा जेहि सेई'से प्रभुने भरतजीकी विद्वत्संगतिको स्पष्ट किया है।

परमारथ-श्रुति-भक्ति-पंथ

परमात्मा एकमात्र त्रिकालाबाधित होनेसे सत्य है; वही परम अर्थ है। उसके समीपमें पहुँचानेवाला पंथ परमार्थपंथ अर्थात् वेदान्तपंथ है।

श्रुतिपन्थ वह है जो लोकको बनाते हुए परलोकको बनानेका मार्ग, वेदपर आधारित शास्त्रविधानके पालनसे प्रशस्त करे। श्रुतिसम्मत परमार्थपथका यथार्थ बोध साधुसंगतिसे ही होता है[1]। शास्त्रविधिके अनुगमनसे मल दूर होता है और चतुर्विध सम्पत्तिकी वृद्धि होती है।

सात्विकताकी अभिवृद्धि जैसे-जैसे होती जाती है वैसे-वैसे भगवत्प्रीत्यर्थ कर्ममें अभिरुचि होती जाती है। यही भक्तिशास्त्रनिर्दिष्ट भक्तिपंथ श्रुतिपंथका सुन्दरतम स्वरूप है। जिस प्रकार निवृत्तिमार्गमें 'शम' प्रधान है उसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें 'भक्ति' प्रधान है।

वामपंथ

श्रुतिमार्गके विरोधमें जो मत या पंथ हैं, उनको यहाँ वामपंथ समझना चाहिए। निवृत्ति एवं प्रवृत्तिमार्ग-दोनोंमें अहिंसादि महाव्रत समानरूपसे सेवनीय हैं। इनको बिना अपनाये जो साधना या मार्ग कहे जाते हैं वे सब वामपंथके अन्तर्गत हैं। कहनेका आशय यह है कि वेदविधिको छोड़कर अन्य जितने तान्त्रिक प्रयोग हैं, वे वाम हैं, उनमें पतनका भय लगा है।

बंचक बिरचि बेषजगु छलहीं

वामपन्थी वंचक हैं। वेद शास्त्रोक्त धर्मके नामपर वेदविरोधी तत्वोंको बढ़ावा देना वंचकत्व है जैसे मधुरवचनोंके माया जालमें लोगोंको भुलावा देकर विरोधी तत्वोंमें प्रवृत्ति कराते हुए जनताको भावुकतामें बाँधकर रामायण आदि सद्-ग्रन्थोंका विपरीत अर्थ करना। उसका भाष्य 'जगु छलहीं' है। क्योंकि वामपन्थके अनुसरणमें वेष बनाकर संसारको ठगनेका प्रसंग है। उदाहरणार्थ कर्कोटक नागने 'दश' संख्या कहलाकर दशका अर्थ 'दश' करके छलप्रयोग द्वारा राजा नलको डस लिया। समाजके लिए छली वामपन्थी कण्टक कहे गये हैं, उनका अन्त दुर्गतिमें होता है।

कैकेयीके अनीति-कार्यका भेद न जाननेमें शिवजीका साक्षित्व

बा० का० चौ० १ दो० ७ में 'अस विवेक जब देउ विधाता। तब तजि दोष गुनहि मनु राता'में विधाताकी जगह 'शंकर'का स्मरण करनेका भाव है कि सूर्यवंशके कुलपूज्य देवता शंकर हैं जैसा कि रामवनवासको विफल करनेमें निरुपाय होकर राजा दशरथने शिवजीका स्मरण करना, १. ननिहालमें उत्पातशमनार्थ भरतजीका शिवजीकी उपासना करना, २. लङ्काविजयके लिए श्रीरामके द्वारा रामेश्वर-स्थापना ३ आदिसे स्पष्ट है। वेदविरुद्ध कार्यमें शिवजी द्वारा दण्डित होना दक्षके इतिहाससे प्रसिद्ध है। प्रस्तुत अनीतिकार्यका भेद जाननेके अपराधमें अपनेको दण्डित होनेका भय इष्टदेव शिवजीसे है, इसको साक्षी देनेके लिए भरतजी 'तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ' कह रहे हैं।

---

१. सत संगति संसृति कर अंता—चौ० ६ दो० ४५ उ० का०।

'न भजहिं हरि' 'न हरिहर-सुजसु सुहाई'

उत्तरकाण्ड दो० ४५में प्रभुने स्वयं अपने मुखसे कहा है—संकरभजन बिना नर भगति न पावइ मोरि'। हरके भजनकी सिद्धि हरिभक्तिकी प्राप्ति है। हरि-हरमें अभेद दिखाते हुए केवल 'हरिभजहिं' कहा गया है।

वेदशास्त्रमर्यादाके विरुद्ध आचरण करनेसे हरिभजनमें मनस् दृढ़ नहीं होता। भगवत्प्रीतिके अभावमें भगवद्गुणानुवादमें मानस नहीं लगता। उत्तरकाण्डमें पुरवासियों-के कहे सम्वादमें (दो० ४३से ४६ तक) प्रभुने उपर्यक्त चौपाइयोंका तत्व निरूपित किया है जो 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोर पुरान श्रुति गाई'से स्पष्ट है। हरिसे वंचित होनेमें मनुष्यजीवन असफल होता है, पुनर्जन्मके क्लेशको सहना पड़ता है जैसा उ० का० दो० ४४में कहा गया है। यहाँ चौ० ४ दो० १७३में कहे गुरु वसिष्ठजीके वचनकी एकवाक्यता चौ० ८ दो० १५७ में कहे भरतजीके वचनमें स्मरणीय है।

संगति : भरतजीके एक-एक आपाद्यबोधक वचनसे शुचिता प्रकट हो रही है। उसीके साथ-साथ माता कौसल्याजी विशुद्ध पुत्रस्नेहमें भरतजीके प्रति आश्वस्ता हो (जो 'थनपय स्रवहिं'से स्फुट होगी) भरतकी शुचिताका स्वीकार कर रही है।

दो०—मातु भरतके बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति रामप्रिय-तात ! तुम सदा बचन मन कायँ ॥१६८॥

भावार्थ : माता कौसल्याजी भरतजीके सत्य, सद्भावसे भरे सरल वचनोंको सुनकर कहने लगीं 'हे तात ! तुम अपने वचन मनस् शरीरसे सदा श्रीरामजीका प्रिय करनेवाले हो अथवा अपने मनसा-वाचा-कर्मणा व्यवहारसे श्रीरामजीके प्रीतिपात्र हो।

वचनकी सत्यता सरलताको एकवाक्यतामें शुचिता

शा० व्या० : 'वचन साँचे'से वेद-प्रामाण्यपर आधारित त्रिकालाबाधित सत्यता कही गयी है। जिस प्रकार हेतु साध्यका अनुमान कराता है उसी न्यायसे आपाद्य-आपादकको उपस्थापित करते हुए अपनेमें भरतजीने उपरोक्त दोषोंका अभाव सिद्ध किया है। 'वचन सरल'से शुचितामें होनेवाले स्वरकी एकरूपता दिखायी है। सरलताकी व्याख्या दो० ४२, दो० २२७, चौ० ५ दो० १६२ आदिमें द्रष्टव्य है। भरतजीकी स्वाभाविक सरलतामें पूर्वापर कथनकी एकवाक्यता ही सरलता है।

'सुभाय'से भरतजीकी स्वाभाविक मनोवृत्ति दिखायी है तथा सद्भावनामें भरतजीका भ्रातृप्रेम, परलोकविश्वास, पापसामान्याभाव आदि व्यक्त हैं।

'रामप्रिय'से श्रीरामजी और भरतजीका पारस्परिक रागानुरागात्मक प्रेम भाव-बन्धनरूपमें है जिसमें उच्चतम शृंगारतुल्यता आस्वाद्य है। एकावलम्बित (एकातरफा) प्रेम रतिभाव है, उभयावलम्बी (पारस्परिक) प्रेयस्-भक्ति शृंगारतुल्य है जो

समशीलताका द्योतक है जैसा पति-पत्नी या नायक-नायिकाके आदर्श प्रेममें प्रकट होता है। इसी प्रकार भक्त भगवान्का प्रेम है।

अनुरागीका लक्षण 'सदानुवृत्या गुणकीर्तनेन निन्दासहत्वेन च रन्ध्रगुप्त्या तदर्थ-शौचोद्यमसंकथाभिः'से व्यक्त है। श्रीरामजी और भरतजीकी पारस्परिक प्रीति एक दूसरेके प्रियचिन्तनमें बराबर स्फुरित है। (चौ० ८ दो० ७, चौ० ४ दो० १४१, चौ० ८ दो० २३२, चौ० ८ दो० १५७, चौ० ८ दो० १५९, चौ० ५ दो० १६०, दो० १८२ चौ० २ दो० २४१)।

छलहीन भक्ति

'सदा वचन मन कायँ'से कही रामप्रियता छलहीनभक्तिका स्वरूप है जैसा भरद्वाज मुनिने दो० १०७में 'करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जन न तुम्हार'से व्यक्त किया है। प्रभुने अपने श्रीमुखसे लक्ष्मणजीको सुनाते हुए 'वचन कर्म मन मोर गति भजनु करहिं निःकाम'से अपनी प्रियता स्पष्ट की है (अरण्यकाण्ड दो० १६)।

भरतजी द्वारा पापोंके उल्लेखके उपसंहारमें विशेष वक्तव्य

भरतजीके द्वारा कहे अपराधोंके सम्बन्धोंमें भारतीयराजशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट दण्डव्यवस्था स्मरणीय है।

समाजमें वर्णाश्रमव्यवस्था रहनेपर ही नीतिशास्त्रके पाँचों प्रकरण—जितेन्द्रियता, वृद्धसेवा, विद्याविभाग, धर्मव्यवस्था और दण्डमाहात्म्यकी उपयोगिता सिद्ध होती है। त्रयीके प्रामाण्यकी स्थापनासे लोकमें परलोकभावना दृढ़ होती है अन्यथा राजदण्ड उत्पीड़नमात्र रह जाता है। तब समाज प्रकाश-अप्रकाश अपराधोंके परिणाम-स्वरूप दण्डभोगके लिए यमराजकी अपेक्षया राजाके दण्डको प्रायश्चितरूपमें स्वीकार करके अपनी शुद्धि करनेमें रुचि रखता है, तभी अपराधीको अपराधसे निवृत्त करानेमें दण्डकार्यकी सफलता है। तस्मात् दण्ड उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि दण्डभयके बिना प्रजा अपराधसे विरता नहीं होती।

आयुर्वेदीय कायाकल्प-पद्धतिके अनुसार तमःप्रयुक्त विषाक्तता तमःशरीरमें इतनी पर्याप्त है कि पाप या पांप-प्रयुक्त कीटोत्पत्तिजनक दोषोंको आत्मसात् करनेमें विषकन्याके समान तमःप्रधान शरीर समर्थ है, अतः पापोंके प्रभावको जल्दी उभड़ने नहीं देता। फिर भी तामस शरीरमें ज्ञानतन्तुओंकी दुर्बलता अपरिहार्य है। शुचि शरीरमें दोषोत्पत्ति-प्रभावका क्रम भिन्न है अर्थात् पाप-दाषोंका जरा भी संसर्ग होता है तो विद्युत्के स्पर्शकी तरह, सत्वशुद्ध शुचि शरीर स्वयं क्षुब्ध हो उठता है और अघ-कीटोत्पत्तिके प्रभावको तत्काल बाहर निकालनेमें क्रियाशील हो जाता है। इस प्रकार पापोंका प्रभाव शुचिशरीरमें छिपा नहीं रह सकता।[1] कैकेयीके कुमतिप्रयुक्त वर-

---

१. यह नियम कलिमें देखनेको नहीं मिलता, कारण इस युगमें शुचि शरीर असंभव है।

याचनासे चौ० १-२ दो० १६२में कही दोषोत्पत्तिका[1] प्रभाव कैकेयीमें न दिखायी पड़नेपर भरतजीका आश्चर्य करना उक्त सिद्धान्तसे संगत है। अतः कहना होगा कि पुनीता कैकेयीमें उक्त दोषोंके न होनेका कारण प्रभुकी इच्छासे प्रेरिता सरस्वतीकी माया है।

बिना दण्डभयके कुपथमें पैर न रखनेवाला व्यक्ति विरल है। ऐसे विरलोंमें भरतजी हैं, जैसा भरतजीके परोक्षमें प्रभुने चित्रकूटमें कहा—'सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महुँ सुना न दीसा। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना'। नरक-दण्ड आपाद्यके भयसे आपादक पापोंसे निवृत्ति होती है सामान्यजनोंमें। भरतजीकी प्रवृत्ति निसर्गतः पापोंमें है ही नहीं, इसलिए पूर्वोक्त पापों या अपराधोंको आपाद्य माननेमें उनको जरा भी हिचक नहीं है जैसा 'जौ मत मोर, जौ यह मत मोरा' आदिसे व्यक्त है।

परलोक-भयके सम्बन्धसे पति-सेवामें दृढ़ रहनेवाली कुलनारियोंके लिए 'वृद्ध रगबस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना। ऐसेहु पतिकर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना'की उक्तिसे व्यक्त नरकभय जिस प्रकार अपराधाभावका रक्षक कहा जायगा, उसी प्रकार भरतजीकी उक्तियोंमें दण्डभय निवर्तक न होकर उनमें सहज शुचिता-प्रयुक्त अपराधाभाव चिन्तनीय है क्योंकि निरन्तर विद्वत्-संगति या साधु-संगतिमें रहनेवाले भरतजीकी मतिमें किसी प्रकारके वैषम्यकी कल्पना नहीं हो सकती।

संगति : पारस्परिक प्रीतिमें श्रीरामजीकी ओरसे भरतजीका चिन्तन हो रहा है और भरतजीकी ओरसे प्रभु रामजीका, जिसकी पुष्टि कौसल्याजीके वचनसे व्यक्त हो रही है।

चौ०—राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे ॥१॥

भावार्थ : जिस प्रकार तुम्हारे प्राणके भी प्राण श्रीराम हैं उसी प्रकार रघुपतिको भी तुम प्राणसे अधिक प्यारे हो।

शुद्ध प्रीति

शा० व्या० : शुद्ध प्रीतिमें वैषयिक कामना एवं अर्थलिप्साको स्थान नहीं है। सेव्य-सेवककी प्रीतिमें एकके सुखमें दूसरा सुखी तथा दुःखमें दुःखी प्राणप्रियत्वका लक्षण है जैसा चौ० ६ दो० १४१की व्याख्यामें कहा गया है।

संगति : पापोंके दण्डकी आपाद्यतामें, १. 'जौ यहु होइ मोर मत; २. जौ जननी मत मोर, ३. जौ जननी यहु सम्मत मोरा, ४. जौं यहु जानौं भेऊ'से भरतजीकी चारों उक्तियोंके उत्तरमें कौसल्याजी चार दृष्टान्त दे रही हैं।

---

१. जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
वर मागत मन भइ नहिं पीरा। गिरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥

चौ०—विधु विष चवै स्रवै हिम आगी। होइ वारिचर बारि बिरागी ॥२॥
भएँ ग्यान बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू ॥३॥

भरतजीमें दोषाभावका प्रामाण्य कौसल्याजीके 'उक्त दोहे'में कहे वचनके अनुसार है जैसे तापसचरित्रसे श्रीरामजीका प्रभुत्व सिद्ध होता है।

भावार्थ : चाहे चन्द्रमा अमृतकी जगह विषका स्राव करे, चाहे बर्फमें-से आग निकले, चाहे मछली जलसे अलग होकर जिये, चाहे ज्ञान हो जानेपर भी मोहका नाश न हो—इन चारों असम्भव दृष्टान्तोंसे कौसल्याजी भरतजीकी शुचिताको प्रकट करते हुए निर्णय कर रही हैं कि श्रीरामसे विमुख होकर भरतजी कोई विपरीत कार्य नहीं कर सकते।

असम्भव दृष्टान्तोंका तात्पर्य

शा० व्या० : १. 'विधु विष चवै'का भाव है कि अमृतका स्राव करके चन्द्रमा सब वनस्पतियोंको जीवन प्रदान करता है, पर वही चन्द्रमा विरहीको ताप देता विषके समान लगता है। पर विषका स्राव नहीं करता है।

२. 'स्रवै हिम आगी'का भाव है कि हिम शीतलताका अनुभव कराता है पर शीतलताकी तीव्रतासे वनस्पतियाँ स्वयं जलती हैं, पर हिम है शीतल ही।

३. 'होइ वारिचर वारिविरागी'का भाव है कि जलसे द्वेषबुद्धि करके मछली जलसे अलग रहनेका ढोंग कर सकती है, पर किसी भी सम्बन्धसे या आश्रयसे उसकी द्वेषबुद्धि जलके साथ रहनेवाली स्वाभाविक प्रीतिको नहीं छुड़ा सकती।

४. 'भएँ ग्यान बरु मिटै न मोहू'का भाव है कि जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार नहीं रहता वैसे ही ज्ञानका हृदयमें उदय होनेपर मोह नहीं रहता। फिर भी पूर्वजन्मकी वासना या विधिसे प्रेरित होनेसे ज्ञानी मोहमें आ जाता है। यह उसका सोपाधिक मोह है। ज्ञानका तात्विक स्वरूप अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीके प्रश्न 'कहहु ग्यान विराग अरु माया'के उत्तरमें प्रभुकी वाणीसे व्यक्त है। यह भी दोष भरतजीमें नहीं है 'पहले तथा दूसरे दृष्टान्तका आशय है कि जिस प्रकार कौसल्याजीको भरतजीने 'अतिहित मनहुँ रामु फिर आए' 'सोक सनेहु न हृदयँ समाई'से वचनामृतका पान कराकर शीतलता प्रदान किया है उसी प्रकार समस्त परिजन पुरजन आदिको भी चौ० १से ८ दो० १८४में कहे अनुसार भरतजी सञ्जीवनीरसको प्रदान करेंगे। तीसरा दृष्टान्त विशेषकर कैकेयीके लिए लागू है अर्थात् 'प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें'की प्रीति रखनेवाली कैकेयी 'चौदह बरिस रामु बनवासी' कहकर श्रीरामजीसे अलग रहना चाहे तो भी श्रीरामजीके प्रति अपनी स्वाभाविक प्रीति वह नहीं छोड़ सकती जैसा भरतजीके 'आँखि ओट उठि बैठइ जाई' कहते ही उसका वासना-जन्य सोपाधिक द्वेष-भाव समाप्त होकर रामप्रीति-भाव जागृत हो गया और रामदर्शनके लिए चित्रकूट यात्रामें वह सहर्ष सम्मिलिता हुई। चौथा दृष्टान्त भरतजीके लिए उपयुक्त है जैसा अग्रिम चौपाईमें स्पष्ट करते हुए कौसल्याजीने कहा है कि भरतजीके रामविषयक ज्ञानमें

प्रभुकी इच्छा भी कभी प्रतिकूल नहीं हो सकती, जो भरतजीकी उक्ति 'जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोष न जीके' (चौ० ६ दो० १७७)में व्यक्त है। भरतजीके हृदयमें रामप्रीतिका ऐसा दृढ़तम संस्कार है जो जन्म आदिके सम्बन्धसे व्यभिचरित नहीं हो सकता।

शुचिताका त्रिकालाबाधितत्व

सतीके वचनप्रमाणकी दृष्टिसे कौसल्याजीका वचन 'तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू' विशेष महत्व रखता है। किंबहुना भरतजीके लिए वह वचन वरदान स्वरूप सिद्ध होगा जैसा देवगुरु वृहस्पतिजी चौ० ७ दो० २१९में 'राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी'से समर्थन करेंगे।

संगति : कैकेयीके दो वरदानमें किसी प्रकार भी अपने मतका सम्बन्ध होनेपर स्वामिद्रोहरूप अपराधके दण्डभागी होनेमें भरतजीकी उक्तिका परिमार्जन करते हुए कौसल्याजी भरतजीके प्रति शंका करनेवालोंको शापदण्डित कर रही हैं।

चौ०—मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं ॥४॥

भावार्थ : अपने लिए राज्य और रामवनवासमें भरतजीका मत है—ऐसा जो कहते हैं या कहेंगे, उनको स्वप्नमें भी सुख एवं सद्गति नहीं मिलेगी।

जननीके (कौसल्याजीके) मतको एकवाक्यता

शा० व्या० : 'यहु मत'से भरतीजीके कहे 'जौ यहु होई मोर मत माता, जौ जननी मत मोर, जौ जननी यहु सम्मत मोरा, जननी जौ यहु जानौं भेऊ' विवक्षित हैं जिनका सम्बन्ध रामवनवास या भरतजीके राज्यप्राप्तिमें मत अथवा उक्त मतोंमें मन्त्रणा या अनुमोदन या मन्थरा द्वारा उत्थापित भेद उक्त चारोंसे जुटा है। भरतजीकी शुचिता और रामप्रीतिमें सब जनताका एकमत ('भरत आगमनु सकल मनावहिं। आवहुँ बेगि नयन फलु पावहिं') चौ० २ दो० ११से स्पष्ट है। रामराज्योत्सवके विघातमें जनताकी उक्तिकी एकवाक्यता कौसल्याजीके उपर्युक्त वचनसे स्मरणीय है।[1]

जननीके दण्डकी लक्ष्मणमें अप्रसक्ति

प्रश्न : चौ० ४ दो० ९६में 'पुनि कछु लखन कही कटुबानी' तथा चित्रकूटमें भरतका दोष कहनेवाले लक्ष्मणजी क्या कौसल्याके उपर्युक्त शापके भागी होंगे?

उत्तर : भरतजीके ससैन्य चित्रकूट-आगमनके अवसरपर लक्ष्मणजीकी भरतजीके प्रति दोषदृष्टि राजमदको लेकर है जिसका हेतूपन्यासपूर्वक समाधान विद्वत्संगत्यभाव रूप उपाधिको बताकर लक्ष्मणजीकी शंकाको पूर्ण निरस्त करते हुए भरतजीके प्रति

---

१. एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भायँ सुनि रहहीं ॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा ॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे ॥

लक्ष्मणजीकी दोषदृष्टिका त्रिकालाबाधित-उच्छेदन कर दिया गया है। अतः भरतजीकी साधुता एवं रामप्रीतिमें लक्ष्मणजीको शंका नहीं है जैसा (चौ० २ दो० २२८) लक्ष्मणजीकी उक्ति 'भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभुपदप्रेमु सकल जगु जाना'से स्पष्ट है।

जिस प्रकार नारदजी शिवजीके वचनके अनादर करनेके फलस्वरूप बन्दरका रूप मिलनेका अपयशस् भोगकर पुनः स्व-स्वरूपमें सुस्थिर हो गये उसी प्रकार लक्ष्मणजीको भरतजीके प्रति आहार्यशंका करनेमें सीताजीके व्यंग वचन ('मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला' (अरण्य० चौ० ५ दो० २८)से किंचित् दोष-भागी होना पड़ा पर 'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फलु पायउँ कीन्हेउ रोषा'से तत्काल उसकी निवृत्ति भी बतायी गयी। इस प्रकार कौसल्याजीके वचनकी अव्यर्थता भी सिद्ध है।

संगति : 'मोर मत'की कल्पनामें भरतजी द्वारा कहे दोषोंका पूर्ण निरास हो जानेपर भरतजीकी शुचिता स्थापित हुई, उसमें भरतजीका पुत्र-भाव प्रकट हुआ तथा कौसल्याजीमें शुचिताप्रयुक्त मातृ-भाव प्रकट हुआ। शुचिताकी दिव्य परीक्षामें दोनोंको उत्तीर्ण देखकर कवि हर्षमें वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्त्रवहिं नयन जल छाए ॥५॥

भावार्थ : ऐसा कहकर माता कौसल्याजीने भरतजीको हृदयसे लगा लिया। उनके स्तनोंसे दुग्ध बहने लगा और आँखोंमें आँसू छा गये।

भरतजीको शुचिताका दृष्टफल

शा० व्या० : भरतजीकी पूर्णशुचिताका यह प्रमाण है कि 'माता जननी'के बारम्बार सम्बोधनसे कौसल्याजीका मातृत्व भरतजीके प्रति उत्तेजित हो गया जिसमें शिशुभावापन्न भरतजीको हृदयसे लगाते ही माताजीके दूध निकल रहा है। श्रीरामजीके द्वारा प्रबोध एवं सान्त्वना मिलनेपर भी कौसल्याजीको संताप बना रहा पर 'अतिहित मनहुँ राम फिरि आए'के अनुसार भरतजीमें पुत्ररामकी अनुभूति करके कौसल्याजीको स्नेहानन्दकी प्राप्ति हुई उसकी वास्तविकता 'थन पय स्त्रवहिं'से कविने व्यक्त किया है।

व्यवहारप्रकाशमें आन्तरिक शुचिताकी परीक्षाको जाननेके लिए दृष्ट हेतु न मिलनेपर दिव्य परीक्षाएँ जैसे शपथ, अग्नि, तुला आदि बतायी गयी है। इसी प्रकारकी भरतजीकी दिव्यपरीक्षाका परिचय 'थन पय स्त्रवहिं'की व्याख्यामें स्फुट है। स्मरण रखना चाहिए कि शुचिताके परीक्षणके अन्तर्गत ऐसी दिव्य परीक्षाएँ कलिमें वर्ज्य हैं।

शुचितामें समस्याका समाधान

अभी माताके लिए भरतजीके पूर्ण शुचिता-प्रयुक्त सम्बोधनसे जैसे कौसल्याजी आनन्दित हैं वैसे ही अन्य माताएँ भी विवक्षित हैं उन माताओंकी प्रसन्नता भरतजीके

लिए आगे व्यक्त होगी। राजनीतिशास्त्रमें कहा गया है सन्तके त्याग या चले जानेसे भूमि रसहीना हो जाती है, अन्नकी समस्या, दुर्भिक्ष आदिकी शंकासे दुर्व्यवस्था आती है उसका निराकरण भरतजीकी शुचितासे होगा जिसका स्वरूप भरतजीकी चित्रकूट यात्रा एवं राज्यसंचालनमें दिखायी पड़ेगा।

चौ०—करत बिलाप बहुत यहि भाँती। बैठेहि बीति गई सब्र राती ॥६॥

भावार्थ : इसप्रकार बहुत विलाप करते हुए सबके जागते-जागते पूरी रात बीत गयी।

विलाप

शा० व्या० : आत्मदुःखोद्भावनाको प्रकट करनेवाला वचन विलाप है। अपने अपने विविध दुःखकी चर्चाओंमें विलापकी प्रधानता है। 'बैठेहिं बित गयी सब राती'से मृतदेहके रहते निद्रा, प्रमाद आदि वर्जित कर्मका यहाँ अभाव दिखाया है।

संगति : विलापियोंका प्रबोध समझा रहे हैं।

चौ०—बामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए ॥७॥

भावार्थ : तब वामदेव, वसिष्ठजी आये और उन्होंने मन्त्री, महाजन आदि सब कार्यकर्ताओंको बुलाया।

शा० व्या० : सचिवसे कर्मसचिव सुमन्त्र आदि, 'महाजन'से प्रजाप्रतिनिधि एवं प्रतिष्ठितजन विवक्षित हैं। राजाकी अन्त्येष्टि-कर्ममें इन सबकी सम्मति लेना उद्देश्य है।

महाजन

विविधसम्प्रादयवादियोंमें जिनका प्रामाण्य तत्तत्सम्प्रदायमें पूर्ण स्वीकृत है वे महाजन कहे जाते हैं ऐसे महान् जन ही महाजन हैं। सदाचारका उपदेश वामदेव वसिष्ठादि मुनियोंसे होता है। क्रियाओंका सम्पादन कर्ममन्त्रियों महाजनोंसे कराना है। अतः राजाकी अन्त्येष्टिमें 'सकल'से सबका सहयोग दिखाया है।

चौ०—मुनि बहुभांति भरत उपदेसे। कहि परमारथवचन सुदेसे ॥८॥

भावार्थ : मुनिजनोंने परमार्थसम्बन्धी समयानुकूल वचन सुनाकर भरतजीको बहुत प्रकारसे समझाया।

उपदेश व परमार्थ

शा० व्या० : स्मृतिके जैसा विधिप्रयुक्त वचन उपदेश है यथा 'गृहाण, त्वं गच्छ' आदि। जगत्का तात्त्विक स्वरूप दिखाते हुए सत्यका विवेक करना परमार्थ है।

वसिष्ठ व वामदेवका प्रयोजन

पहले बामदेव व वसिष्ठजीका नाम लिया है, अतः कहा जा सकता है कि गुरु एवं पुरोहित होनेसे उपदेशका अधिकार वसिष्ठ मुनिको है। परमार्थवचन वामदेवजीने

सुनाया होगा। 'बहु भाँति उपदेसे'से कल्पनाकी जासकती है कि वसिष्ठ मुनिने श्रीरामजीका सन्देश सुनाते हुए आगे चौ० ४ दो० १३१ में 'नीति-धरम-मयबचन उचारे'में जो कहा है वही भरतजीको सुनाया उपदेश है जिसका उपसंहार चौ० १ से ८ दो० १३५ में किया गया है।

संगति : उपदेशका सारांश सुनकर भरतजी आदेश कर रहे हैं।

दो०–तात ! हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु।
उठे भरत गुरबचन सुनि करन कहेउ सबु साजु ॥१६९॥

भरतजीको आदेश

भावार्थ : गुरु वसिष्ठजीके उपदेशमें भरतजीको आदेश हो रहा है 'हे तात ! अपने हृदयमें धैर्य रखो। अभी जो अवसर उपस्थित है (पिताकी अन्त्येष्टि करना है) उसमें कर्तव्य कर्मको करो। गुरुजीका वचन सुनते ही भरतजी उठ खड़े हुए और सब तैयारी करनेके लिए कहा।

शा० व्या० : गुरुजीके उपदेशकी सार्थकता दिखाते हुए भरतजीके आदेश-पालनका आदर्श दिखाया है। बिना विलम्ब किये भरतजी कार्यमें लग गये। 'आजु'से स्पष्ट है कि कर्तव्यके अवसपर कालातिक्रमण दोषावह होता है। काल कर्तव्यका अंग है अर्थात् समयपर कार्य होना ही चाहिए अन्यथा उचितकारिता लुप्त हो जाती है धृतिका परिचायक कर्तव्यकारिता है। धृति सात्विकताका रूप है, उसमें शोकका शमन होता है।

संगति : भरतजी गुरुजीके कहे (अवसर आजु'के अनुकूल) कर्ममें किस प्रकार लग गये ? उसमें उनकी धृति कैसी है ? यह अग्रिमग्रन्थमें बताया जा रहा है।

चौ०–नृपतनु वेदविदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा ॥१॥

शवयात्रा

भावार्थ : भरतजीने राजाके मृतशरीरको वेदोक्त रीतिसे स्नान कराया। शवयात्राके लिए जो विमान बनाया उसकी सजावट अलौकिक थी जिसको 'परम विचित्र' कहा है। अर्थात् शव-विमानकी ऐसी सजावट सामान्यतया दिखायी नहीं पड़ती।

चौ०–गहि पद भरत मातु सब राखी। रहीं रानि दरसनअभिलाषी ॥२॥

भावार्थ : पतिके शवयात्राके साथ सब रानियोंने सती होनेकी तैयारी की। पर भरतजीने चरण छूकर उनको विनयपूर्वक रोका। रामदर्शनकी अभिलाषाको सामने रखकर भरतजीके आग्रहसे सब रानियाँ रह गयीं।

शा० व्या० : यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि 'मातु सब'में कैकेयीजी भी है। इस समय कैकेयीजी दोषमुक्त-अवस्थामें है। अतः सब माताओंमें कैकेयीजीका भी चरण भरतजीने छुआ है।

सहगमनसे रोकना

विधवा होनेपर पतिप्रेममें स्वयं प्रेरिता हो सती होनेकी इच्छाकी वास्तविकताकी परीक्षाके लिए प्रथमतः परिजनों द्वारा रोकनेका सदाचार है। यदि सती अपने पातिव्रत्यधर्मको भगवद्दर्शनमें पर्यवसित करना चाहती है तो पतिके साथ सती होनेसे विरत होना अशोभनीय नहीं है। बलात् सती होनेकी प्रेरणा देना अनुचित है। 'रहीं रानि दरसनअभिलाषी'से स्पष्ट किया है कि सब रानियोंमें सती होनेकी योग्यता है पर पतिके अभावमें रामराज्योत्सवरूप महामंगलको देखनेकी इच्छासे उन्होंने वैधव्य स्वीकार किया जैसा कौसल्याजीकी उक्ति 'सबहिं जिअत जेहि भेंटेहु आई'से व्यक्त है (चौ० ३ दो० ५७)।

वैधव्यस्वीकृति

श्रीमद्भागवतकी उक्ति 'किं दुःसहं न साधूनां ? विदुषां किमपेक्षितं ? किमकार्यं कदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनां' ? के अनुसार प्रभुकार्यकी सम्पन्नताके लिए जो भी त्याग अपेक्षित हो उसको सहर्ष स्वीकार करना भक्तोंकी सेवकाई है। धर्मशास्त्रके अनुसार वैधव्य पापका फल होते हुए भी प्रभुसेवकाईमें उसका योग होनेसे भक्तिके अन्तर्गत गर्हित नहीं माना जायगा। पतिको जीवित रखनेका सामर्थ्य होते हुए भी कौसल्यादि सतियोंने प्रभु-इच्छाकी मर्यादा रखनेके लिए वैधव्य स्वीकार करके भक्तिका आदर्श उपस्थापित किया है।

चौ०—चंदन-अगरभार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए ॥३॥
सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर-सोपान सुहाई ॥४॥

भावार्थ : चन्दन और अगरका ढेर का ढेर इकट्ठा किया गया। बहुत प्रकारके सुगन्धित द्रव्य प्रचुरमात्रामें रखे गये। सरयूनदीके किनारे चिता रचकर बनायी गयी। वह ऐसी शोभा दे रही थी मानो स्वर्ग जानेकी सीढ़ी हो।

शा० व्या० : चिताको चन्दन—अगर आदि सुगन्धितद्रव्योंसे रचनेका विधान है। चिता वही सुशोभित है जो स्वर्गको ले जानेवाली हो।

चौ०—एहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥५॥
सोधि सुमृति सब बेद-पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना ॥६॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा ॥७॥

भावार्थ : भरतजीने इस प्रकार सब दाहक्रिया की कि विधिके अनुसार नहाकर तिलांजलि दी। सब स्मृतियों वेद पुराणमें कहो विधिसे शोधित दशगात्र-विधानको पूरा किया। जहाँ जहाँ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने जैसी जैसी आज्ञा दी वहाँ वहाँ सैकड़ों प्रकारसे सब कार्य किया।

दाहसंस्कार

शा० व्या० : इष्टिका अधिकार अग्निहोत्रीको ही है। राजाके पुत्रेष्टियज्ञसे ज्ञात

है कि वे अग्निहोत्री थे। अग्निहोत्रीकी दाहक्रियामें सामान्य दाहक्रियासे अन्तर होता है। मरणोपरान्त राजाका शव जितने दिन पड़ा रहा उतने दिनोंकी संबंधित क्रियाओंका विशेष विचार धर्मशास्त्रके अनुसार आवश्यक है। उपरोक्त विचारके निर्णयार्थ 'सोधि सुमृति सब वेद पुराना' कहा गया है। आहिताग्निके दाह[1] दिनसे १० दिन तककी क्रियाओंको 'दसगात विधाना'के अन्तर्गत समझना चाहिए। सम्पूर्ण स्मृति श्रुति पुराणसे शोधितविधानका निर्णय गुरु पुरोहित वसिष्ठजीने किया। उनके आदेशका यथावत् पालन करते हुए भरतजीने दशगात्र आदिकी क्रियाओंको उत्साहसे सम्पन्न किया।

ज्ञातव्य है कि शास्त्रशुद्धकर्मका संम्पादन पिताके परलोकप्रयाणमें पाथेय माना जाता है। उसकी उपेक्षा, विरोध, विपरीत या काल्पनिक-विधानोंसे मृत-देहकी गति मानना भारतीयताके विरुद्ध है। किं बहुना परलोकगतिमें बाधक है। वर्णाश्रमसमाजमें शास्त्रमर्यादाके उल्लंघनके परिणाममें क्रियाधिकारीको दण्डभागी होना पड़ेगा।

संगति : दशगात्रसम्वन्धित क्रियाओंके अनन्तर शुद्धि होती है, तभी दानादि क्रियाओंका विधान है जैसा आगे वर्णन किया जा रहा है। 'करन कहेउ सबु साजु'से गुरुजी द्वारा उपदिष्ट कार्यका जो आरम्भ कहा गया था उसकी पूर्णता 'परिपूरनकाम'से दिखायी जा रही है।

चौ०—भए बिशुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥८॥

दो०—सिंघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरनकाम ॥१७०॥

भावार्थ : मरणाशौच समाप्त होनेपर सब लोग शुद्ध हुए। तब भरतजीने सब भाँतिके देय वस्तुओंका दान किया—जिनमें गाय, घोड़ा, हाथी, कई प्रकारके वाहन, सिंहासन, अलंकार, वस्त्र, अन्न, भूमि, धन गृह आदि मुख्य हैं। ब्राह्मणवर्ग उस दानको पाकर संतुष्ट हो गये भरतजी भी पूर्णकाम हुए।

दान

शा० व्या० : सब दानोंमें शास्त्रोक्तविधानके अन्तर्गत राजमर्यादाको दृष्टिमें रखते हुए देय वस्तुओंका उल्लेख किया गया है।

सिंहासनदानका विचार

मृत व्यक्तिके उपयोगमें आयी हुई वस्तुओंका दान करनेका विधान है। राजाका सिंहासन राजशासनका प्रतीक माना जाता है, इसलिए वह अदेय है।

---

१. धर्मसिन्धुमतानुसार आहिताग्निका अशौच भी शवके यथावत् वदाहदिनसे ही है। २६४ पृ० में भरतजीके अशौचकी चर्चा है उसका समाधान २६५ पृ० में वर्णित 'दृष्टिसे' इत्यादि द्वितीय कल्पसे ज्ञातव्य है। अशौचकी स्थिति १२ रात्रि पर्यन्त क्षक्षत्रियके लिए है।

कालिदासरचित 'रघुवंश'में राजा रघुके यागके वर्णनमें छत्र-चामरको छोड़कर सर्वस्व दानका वर्णन मिलता है। यहाँ सिंहासनके दानका जो उल्लेख है, उसका तात्पर्य उस सिंहासनसे हो सकता है जिसपर राजा विश्रामार्थ बैठते होंगे। अथवा राजसिंहासनके विकल्पमें दानार्थं निर्मित नवीन सिंहासन होगा। अथवा 'सिंहासनभूषन'से सिंहासनमें लगे आभूषणरत्न आदि हो सकते हैं। पितृऋणके उद्धारार्थं जो क्रियाएँ व दानादि-का विधान बताया गया है उसको विधिवत् सम्पन्न करनेमें जो पूर्णकामता आती है, उसीको 'भे परिपूरनकाम'से व्यक्त किया गया है। 'सहस भाँति सब कीन्हा'से 'सहस्र-गुणमुत्स्रष्टुम् आदत्तेहि रसं रविः'से राजाका स्वभाव दर्शाया गया है, उसके अनुरूप त्याग एवं उदारताका परिचय भरतजीने दिया है। पुरोहितजीने जितनी सामग्री व दक्षिणाकी विधि बतायी उससे हजार गुना अधिक देनेमें भरतजीने प्रसन्नता दिखायी है जिसको कविने 'सहस भाँति सबु कीन्हा'से व्यक्त किया है। ऐसा करना राजमर्यादाके अनुकूल है। इसीमें राजपुत्रका यशस् है। परिणाम यह हुआ कि भरत-जीने दानआदि क्रियामें जो उत्साह दिखाया था, उसके अनुसार सब कार्य पूर्ण होनेसे भरतजी पूर्णकाम हुए। 'भूमिसुर'का भाव है कि जैसे देवता स्वभावतः सिद्ध होनेसे पूज्य हैं वैसे ही पृथ्वीपर विद्या और सत्वसे सम्पन्न ब्राह्मण पूज्य हैं। 'लहि भूमिसुर'से सत्पात्रमें दिये दानका महत्त्व दिखाया है।

भूसुरोंको पूर्णकामता

लोभ या धनकी कामनासे नहीं, शास्त्रविधान होनेसे ब्राह्मण लेकर यजमानको पूर्णकाम बनाते हैं जैसा भरतजीके लिए 'भे परिपूरनकाम' कहा है। भूसुर भी पूर्णकाम ही हैं। पूर्णकामोंका स्वभाव है कि दानकी सम्पत्तिको लेकर वे अपने भोगमें नहीं किन्तु प्रसाद, बलि या अन्यरूपमें उस धनकी प्रतिपत्ति करते हैं। अर्थात् प्रकारान्तरसे वह धन पुनः राजाके कोषमें चला जाता है। ब्राह्मणों द्वारा यही दानका सदुपयोग है। रामविवाहके प्रसङ्गमें वामदेव, नारद, वाल्मीकि, जावालि, विश्वामित्र-प्रमुख मुनिवरोंको दान देनेमें (बा० दो० ३३०) तथा दुर्नयी राजाओंसे भूमि छीनकर परशुरामजी द्वारा ब्राह्मणोंको देनेमें धनकी इसी प्रकारकी प्रतिपत्ति ज्ञातव्य है।

चौ०—पितुहित भरत कीन्हि जो करनी। सो मुखलाख जाइ नहि बरनी ॥१॥

पिताकी सद् (ऊर्ध्व) गतिके लिए भरतजीने जो शास्त्रसम्मत कार्य किया उसका वर्णन लाखों मुखसे पूर्ण नहीं हो सकता।

लक्षमुखसे वर्णनकी उपपत्ति

शा० व्या० : चौ० ३ से दो० १७० तक भरतजीकी चर्चा लाखों लोगोंमें होनेपर भी उसको कहने-सुननेकी रुचि सबकी बनी है। शास्त्रविहित क्रियाओंके करनेमें जो औचित्य है, उसका फल यशः प्राप्ति है।

संगति : पूर्वमें कहा जा चुका है कि राजाकी अनुपस्थिति या अभावमें राज-कार्यका भार मन्त्रीके ऊपर रहता है। राजाकी मृत्युके बाद उस कार्यको गुरु वसिष्ठजी

सँभाले हुए थे। राजाकी और्ध्वदैहिक क्रियाएँ समाप्त हो गयी हैं, गुरुजी वर्तमान राज्याधिकारी भरतजीको राज्यसंचालन सौंपनेका उपक्रम कर रहे हैं।

चौ०–सुदिनु सोधि मुनिवर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए ॥२॥

भावार्थ : मुहूर्तका विचार करके अच्छा दिन देखकर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी महलमें आये और महाजनों (नगर-प्रतिनिधियों) एवं सचिवों आदि सबको बुलाया।

राज्याभिषेकमें शुभमुहूर्त

शा० व्या० : विवाहादि मंगलकार्योंके लिए जैसा शुभ दिनका सामान्य विचार है वैसा युवराजराज्याभिषेकादि-विशेष नैमित्तिक कार्यके लिए शुभ मुहूर्तका विशेष विचार करनेका महत्त्व है, अभी तो राजाके न रहनेसे खास मुहूर्तका विचार कर्तव्य नहीं है इसलिए 'सोधि' कहा है। 'सुदिन सोधि'का अर्थ राजशास्त्रके अनुसार समयकी अनुकूलता देखते हुए राजपदारोहण कार्यके अतिरिक्त सब सामग्री एकत्रित रहनेका सूचक है। 'सुदिन सोधि'का यह भी भाव है कि अन्त्येष्टि कर्म पूरा होते ही राज्यसंचालनकी व्यवस्था विना कालविलंबके होनी चाहिए, इसलिए शीघ्रातिशीघ्र सुदिनके विचारमें लाघव करते हुए निर्णय करना है।

मुहूर्तकी सफलता

प्रश्न : रामराज्याभिषेकके अवसरपर गुरु वसिष्ठजीके कहे 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु' (भो० ४)में 'सुदिन सोधि'का उल्लेख नहीं था। भरतजीको राजपद देनेके अवसरपर 'सुदिन सोधि'का विचार होनेपर भी क्या उसकी निष्फलता कही जायगी ?।

उत्तर—वसिष्ठजीके वचन 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुवराजु'की सफलता यही है कि श्रीरामजीने युवराजत्वको 'काननराजू'से समर्थन करके तत्कालमें मुहूर्तकी निष्फलताका बाध कर वनवासको सफल वनाते हुए अवधमें लौटनेपर त्रैलोक्यसे विभूषित राजपदका ग्रहण किया। उसी प्रकार शंकाओंका निरास करते हुए चित्रकूटमें प्रभुकृपाकी प्राप्ति एवं लौटकर अयोध्यामें सफलतापूर्वक राज्य-संचालन करना भरतजीके लिऐ 'सुदिन सोधि'की सार्थकता फलित होगी। इस प्रकार सरस्वतीके मतिफेरसे प्रेरिता कैकेयीजोकी वरयाचनामें कहें 'भरतहि टीका'की सार्थकता भी सिद्ध होगी। जिसके अनुसरणमें श्रीरामजीकी अनुपस्थितिमें भरतजी द्वारा अयोध्याके राज्यरक्षणका कार्य होगा तथा भरतजीकी मतिपर सरस्वतीकी प्रसन्नता भी सुलभ होगी जैसा दो० २९५के अन्तर्गत निरूपित है। अथवा राजसभामें प्रवेश कर चर्चा करने हेतु 'सुदिन सोधि' कहा है।

संगति : राजशास्त्रके अनुसार राज्यधिकारीको राज्यसंचालन सौंपनेके निर्णयमें राजसभाकी सम्मति आवश्यक है। अतः गुरुजीने सभासदोंको बुलाया है। जिसमें जनताके विश्वस्त प्रतिनिधि उपस्थित हैं।

चौ०–बैठे राजसभाँ सब जाई। पठाए बोलि भरत दोउ भाई ॥३॥

भावार्थ : गुरुजी द्वारा आयोजित सभामें सब लोग जाकर बैठ गये तब गुरुजीने भरतजी-शत्रुघ्नजी दोनों भाइयोंको बुलवाया।

सकलमें माताओंका अन्तर्भाव

शा०व्या० : 'सकल बोलाये' व 'बैठे सब जाईं'में सचिव व महाजनके अतिरिक्त माता कौसल्याजी भी हैं जैसा चौ० १ दोहा १७६में स्पष्ट होगा। कौसल्याजीके साथ पारिवारिक सदस्योंकी उपस्थिति भी अर्थप्राप्त है जिसमें कैकेयीजी आदि रानियोंकी उपस्थिति संभाव्य है। भरतजीको राजपद देनेके विचारार्थ बुलायी सभामें कैकेयीजीकी उपस्थिति राजनीतिक दृष्टिकोणसे अपेक्षित कही जायगी। सब सभा जुटजानेपर दोनों भाइयोंको बुलाना राजसम्मानके योग्य है।

वादपद्धति

संगति : सभामें विचारार्थ जो विषय रखा जाता है, उसमें वादी-प्रतिवादीके रूपमें पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्षका उपस्थापन तथा उसके वाद मध्यस्थका निर्णय अपेक्षित होता है। सभामें गुरुजी द्वारा रखा विचारणीय विषय यह होगा कि पिताके वचनको प्रमाण मानते हुए 'भरतहि टीका' एवं 'करिहिं भाई'का समन्वय किस प्रकार हो ? जिसमें श्रीरामजीकी अनुपस्थितिमें राज्यपालनका प्रश्न मुख्य है। गुरुजी पूर्वपक्षको उपस्थापित करते हुए पिताश्रीके वचनके अनुसार राजपद लेने तथा श्रीरामजीके आनेपर राज्य सौंपनेका प्रस्ताव रखेंगे जिसका समर्थन सचिव और कौसल्याजी द्वारा होगा। इसका उत्तर देते हुए भरतजी अपना उत्तरपक्ष रखेंगे जिसमें स्वामित्वप्रयुक्तराजपद-ग्रहणमें कुटिलमतिमत्त्वदोष बताकर स्वामिद्रोह और प्रजानुरागके हननका प्रस्ताव भरतजी करेंगे जिसका सर्वसम्मतिसे अभिनन्दन होगा। कौसल्याजीके सामने भरतजीद्वारा पापोंके उल्लेखसे राजा दशरथके धर्ममय शासनका परिचय मिलता है, उसकी पुष्टि वसिष्ठजीके वचनसे होगी। नीति-धर्मका यथोदित पालन करनेवालेको स्वर्गलोककी प्राप्ति धर्मशास्त्रमें सम्मत है राजा दशरथजीका सुरपुरगमन, धर्मशास्त्रके वचन,[1] मुनिवसिष्ठजीके वचन ('सुरपुर नृपु' चौ० २ दो० १७५), अरण्यकाण्डमें चौ० १० दो० ३१ में जटायूसे कहे प्रभुके वचनसे प्रमाणित होकर लंकाकाण्डमें चौ० १० दो० ११२में 'दशरथजी हरषि गए सुरधामा'से सिद्ध होगा।

चौ०–भरतु वसिष्ठ निकट बैठारे। नीतिधर्ममयवचन उचारे ॥४॥

---

१. वर्णाश्रमयुतो राजा वर्णाश्रमविभागवित्।
पाता वर्णाश्रमाणां च पार्थिवः स्वर्गलोकभाक्। नी०-स० २।४ प्र०
तनु तजि तात ! जाहु मम धामा। सीताहरन तात ! जनि कहहु पिता सन जाइ।

भावार्थ : गुरु वसिष्ठजी सभासंचालक मन्त्रिस्थानारूढ गुरु हैं। उन्होंने भरतजीको पास में बैठाया और नीतिधर्मसे संवद्ध वक्तव्य दिया।

सभाकी यथार्थता

शा०व्या० : कविने उक्त चौपाईमें सभाकी कारवाईका आरम्भ गुरुजीके वचनसे दिखाया है। जिस सभामें गुरु, शिष्य सब्रह्मचारी, शिष्ट, श्रेयोर्थी हों, जो सभा असूयारहित हो, वैसी सभा गौतमसूत्रके अनुसार संयोगसे ही जुटती है ऐसी सभामें जो विचार होता है वह सबके लिए स्पृहणीय होता है। गुरुजी द्वारा आयोजित सभा ऐसी ही है जिसमें सर्वप्रथम प्रेम-सौहार्द निकट वैठारे'से व्यक्त है। एसी सभामें वाद प्रतिवादमें जय-पराजयका प्रश्न नहीं रहता। जहाँ शब्दप्रमाणपर बल है वहाँ धर्ममय वचन समझना चाहिए जैसे 'पितावचन फुर चाहिअ कीन्हा, करहू तात पितु-बचनप्रमाना आदि। जहाँ प्रमाणत्रयपर बल है वहाँ नीतिमय वचन समझना चाहिए जैसा चौ० १ से ८ दो० १७५में कहा गया है। 'नीति धरममय वचन उचारे'का उद्देश्य नीतिधर्मका उपन्यास करते हुए भरतजीको विचार ऊहापोह एवं विवेकपूर्ण निर्णयका अवकाश देना है जिममें दो० १६०की व्याख्यामें कहा राजनीति-विचार भी कर्तव्य है।

संगति : अपने प्रस्तावकी भूमिकामें आपेक्षित विषयका उपस्थापन गुरुजी कर रहे हैं। उसमें कैकेयीकी करनी प्रथमविषय है।

चौ०—प्रथम कथा सब मुनिबर बरनि। कैकेइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥५॥

भावार्थ : कैकेयीने कुटिलतापूर्ण जैसा कार्य किया था, उसी कथाको प्रथम मुनिजीने सुनाया।

कैकेयीकी संकेत

शा० व्या० : 'कथा'से तात्पर्य यहाँ संवाद या घटना है। राजाके साथ हुए संवादमें कैकेयीका दुर्मतिमत्त्व व भरतजीके सामने प्रकट दुष्टत्त्व कुटिलकरनी है जिसमें मुख्य कुटिलता यही है कि राजाकी सत्यसंधताधर्मका बल कैकेयीजीने वरयाचनामें प्राप्त किया और स्वार्थसाधनमें अपने मनोरथकी पूर्ति की।

मतिफेर द्वारा हीनेवाली कुटिलताने कैकेयीजीमें प्रवेश करके अपना चरित्र राजाके सामने उपस्थापित किया जैसा कैकेयीजीकी कुटिलताका ज्वलन्त उदाहरण चौ० १ दो० ४३में 'बोली कपट सनेह जनाई'से व्यक्त कैकेयीजीके वचन हैं। उस संवादको 'प्रथमकथा'के अन्तिर्गत मुनिने सुनाया। कैकेई कुटिल कीन्हि जस करनी'को गानेमें मुनिका उद्देश्य विधि (सरस्वतीकी माया)-द्वारा प्रेरित मतिफेरमें होनेवाली कैकेयीजीकी कुटिलताका संकेत करना है। माताकी कुटिलतामें विधिके बातका अनुमान करते हुए भरतजीने दो० १६१में 'विधि सब कुछ न बसाई' कहा है। त्रिकालज्ञ मुनि वसिष्ठजीको कैकेयीके मतिफेरका रहस्य ज्ञात है पर अभी उसको प्रकाशमें लाना इष्ट नहीं है, अतः राजाके साथ हुए संवादसे लेकर 'सो सुनि तमकि उठी कैकेयी'

(चौ० १ दो० ७९)से श्रीरामको वनवासमें 'मुनिपटभूषन भाजन आनी' द्वारा प्रवृत्त कराने तकका चरित्र 'कुटिल करनी'से संकेतित किया है।

चौ० ८ दो० १६०में 'आदि हु ते सब आपनि करनी'से कैकेयीने जो बातें भरतजीसे नहीं कही होगी जैसे सुमन्त्रसे कहा राजाका संवाद, सुमन्त्र द्वारा कहा श्रीरामजीका सन्देश आदि, उनको भी मुनिने 'कथा सब'में भरतजीको सुनाया है। सब कथा सुनानेमें मुनिका उद्देश्य कैकेयीजीका दोषदर्शन कराना नहीं है बल्कि भरतजीको विचारकी भूमिका प्रस्तुत कराना है।

संगति : विषयोपस्थापनकी पूर्वभूमिकामें गुरुजीका दूसरा विषय राजस्तुति है।

चौ०—भूप धरमव्रतु सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा ॥६॥

भावार्थ : मुनिने राजाके सत्यधर्मव्रतकी सराहना की। अपने व्रतकी रक्षामें उन्होंने शरीरका भी त्याग करके प्रेमका निर्वाह किया।

राजाका धर्मव्रत

शा० व्या० : जन्मान्तरीयसंस्कारसे सुतविषयक रति (मनि बिनु फनि जल बिनु मीना)के अनुकूल 'तब पद रति होऊ'से रामप्रीतिका पूर्ण निर्वाह करते हुए राजा दशरथने अपने वचनकी सत्यताको रखनेमें (सत्यसंधताके व्रतमें) शरीरका त्याग किया है। सत्यव्रतकी निष्ठामें अन्तकालीन तन्मयतामें रामोनामच्चारणद्वारा भगवत्-प्रेमका स्वरूप प्रकट होना भी 'प्रेमु निबाहा'के अन्तर्गत सराहनीय है। नीतिशास्त्रमें सन्त महात्मा व्रतस्थ उसीको कहते हैं जो अपने कर्तव्यका आमरण निर्वाह करते हैं। राजा दशरथजी ऐसे ही महात्मा थे।

कैकेयीकी कठोरतामें 'सत्यकी जीवन लेइहि मोरा'से अपनी मृत्युको निश्चित जानते हुए भी सत्यकों न छोड़ना, धर्मशास्त्रमें कहे महाव्रतरूपमें असत्य (अनृत)का आश्रय (मृत्युसे बचनके लिए) न लेना सत्यधर्मका निर्वाह है। सत्यके पालनके लिए मृत्युको स्वीकार करना, प्राणप्रिय पुत्रको अपनेसे वनके लिए अलग करना, प्रेमकी अंगता रखते हुए धर्मको प्रधान बनाना आदि राजाका महान् धर्मव्रत है।

चौ०—कहत रामगुन-सील-सुभाऊ। सजलनयन पुलकेउ मुनिराऊ ॥७॥

भावार्थ : मुनिराज होते हुए भी वसिष्ठजी श्रीरामजीके गुण-शील-स्वभावका वर्णन करते गदगद हो गये, आँखोंमें प्रेमाश्रु भर गया शरीर पुलकायमान हो गया।

गुरुजीकी प्रेमविह्वलता

शा० व्या० : जिस प्रकार द्रव्यप्रकृति होकर वन जाते हुए 'मुख प्रसन्न मन रग न रोषू। सब कर सबविधि करि परितोषू'से श्रीरामजीका स्वभाव शील स्नेह वर्ण एवं गुण कौसल्याजीने भरतजीके सामने प्रकट किया था जिसको गुरु वसिष्ठजीने भी देखा है (चौ० १ से ६ दो० ८०) उसीको स्मरण करके गुरुजी प्रेमविह्वल दशामें आ गये हैं।

संगति : श्रीरामजीके उक्त 'गुन सील सुभाऊ'के स्मरणमें प्रभुका अनुगमन करनेवाले सेवक सीताजी और लक्ष्मणजीका स्मरण हो रहा है।

चौ०—बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक-सनेहमगन मुनि ग्यानी ॥८॥

भावार्थ : फिर लक्ष्मणजी और सीताजीकी प्रभु-प्रीतिका वर्णन करते हुए ज्ञानी मुनि वसिष्ठजी शोक एवं स्नेहमें मग्न हो गये।

शा० व्या० : वनगमनके अवसरपर कौसल्यामाताजी एवं श्रीरामजीके साथ हुए सीताजीके सम्वादमें सीताजीके प्रीतिका वर्णन है। उसी प्रकार प्रभुके साथ हुए सम्वाद एवं सुमित्रा मातासे विदा माँगनेके अवसरपर हुए सम्वादमें लक्ष्मणजीकी प्रीतिका वर्णन है।

गुरुजीकी शोक एवं स्नेहकी स्थिति

भरतजी-शत्रुघ्नजी दोनों भाइयोंको भेंटनेमें कौसल्याजीकी जैसी स्थिति 'सोकु सनेहु न हृदयँ समाई'से व्यक्त की गयी थी, उसी प्रकार गुरुजीकी 'सोकसनेहमगन'की स्थिति है।

शोक एवं स्नेहके अनुभावोंको एक साथ प्रकट करनेमें असाधारण धीर विवेकी ही समर्थ हैं जैसे माता कौसल्याजी, मुनि वसिष्ठजी। इस दृष्टिसे यहाँ 'मुनि ग्यानी' कहा गया है।

राजाकी मृत्यु एवं रामवनवासका दुःख शोक है, श्रीरामजी, लक्ष्मणजी, सीताजीके प्रति प्रीति स्नेह है, जिसको मुनिका 'सोक सनेह' कहा गया है।

गुरुजीका आन्तरिक विचार अर्थशास्त्रके आधारपर

दो० १६० में कथित 'रहे धरि मौनु'की व्याख्यामें जिस प्रकार भरतजीके हृदयमें होनेवाला विचार कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ 'सोक-सनेहमगन'में वसिष्ठ मुनिके अन्तर्विचार ध्वनित हैं अर्थात् भरतजीके प्रति शोक-स्नेहके चिन्तनमें मुनि मग्न हैं। शोक यही है कि अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार अपने इष्टजन (पुत्र आदि)को कठिन उपधाशुद्धिके प्रयोजनमें नहीं लगाना चाहिए, फिर भी परिस्थितिवश भरतजीको कठिन उपधाशुद्धिकी परीक्षामें लगाना पड़ रहा है। स्नेह यह है कि जब पिताजी परलोकमें हैं, श्रीरामजी वनमें हैं राज्यरक्षणमें एकमात्र भरोसा भरतजीका है। भरतजीकी शुचिता, शील, स्नेहके प्रति मुनि आकृष्ट हैं।

संगति : शोक व स्नेहके प्रभावको ज्ञानके बलसे रोककर मुनि स्वस्थ होकर अग्रिम कर्तव्यका विचार भरतजीके सामने रखेंगे। प्रथमतः दैवकी साधनताको समझा रहे हैं।

दो०—सुनहु भरत भावीप्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि-लाभ-जीवनु-मरनु-जसु-अपजसु बिधिहाथ ॥१७१॥

भावार्थ : मुनिराज वसिष्ठजीने सङ्कुचित होकर कहा 'हे भरतजी! सुनो,

भवितव्यता बड़ी प्रबल है । हानि-लाभ, जीवन-मरण, यशस्-अपयशस् विधिके हाथमें है ।

दैवके समक्ष मुनिकी असमर्थता

शा० व्या० : मुनिनाथ होते हुए भी दैव या अदृष्टपर अपना कुछ वश न चलनेसे वसिष्ठमुनि दुःखी होकर भरतजीको फलोपधायकत्वेन निर्णीत भावीकी प्रबलता समझा रहे हैं, जिसमें पुरुषार्थं पङ्गु हो जाता है। स्मरण रखना चाहिए कि कविने कैकेयीकी कुटिलताके स्पर्शमें तादृश भावीको कारण कहा है—'भावीबस प्रतीति उर आ' (चौ० १ दो० १९) इसी प्रकार छन्द २५में राजाके कामप्रयुक्त मोहका कारण वैसी ही भावीको कहा है, ('नृपती भवितव्यता बस काम-कौतुक लेखई') मुनिके कहनेका निष्कर्ष है कि उक्तरीतिक दैवविधानके आगे पुरुषार्थं प्रतिहत हो जाता है। जिस प्रकार दैवकी प्रबलताको समझकर भीष्मपितामह द्रौपदीका चीरहरण होते देख दुःखी हुए, उसी प्रकार मुनि वसिष्ठजीका बिलखना है। इसी भावको विवेकवती कौसल्याजीने 'काल करम गती अघटित जानी' कहा है।

दैवकी विशेष प्रबलता

'बिलखि'का यह भी भाव है कि सिद्धान्तानुसार पुरुषार्थ धर्म, कर्म आदिकी अन्यूनता मुनिकी दृष्टिमें है, पर अवश्यम्भावितया निर्णीत दैवकी प्रबलता या विशेष ईश्वरेच्छाके आगे मुनिनाथका कोई वश नहीं चलता। साथ ही यह भी कहा जायगा कि उत्कट दैवके अस्तितामें यद्यपि पुरुषार्थं अन्यथासिद्ध मालूम होता है जैसे भक्ति-सिद्धान्तके विशेष विधानसे मृत्युके समय भगवन्नाम लेना व पुनः अजामिलका जीना आदि मननीय है। व्यक्तिविशेष जिनमें जन्मतः गुण दृश्य हैं उनमें अत्युत्कट दैव कारण है 'तृणारणिमणिन्यायेन'। जैसा कि ध्रुव, अजामिल आदिके उदाहणसे स्पष्ट है। ध्रुवजीके वाणीमें विशेषकारणप्रभुकृपासे शङ्खस्पर्श है। अजामिलका उदाहरण चाहे घुणाक्षरन्यायसे कहा जाय पर उसकी मुक्तिमें दैवको कारण मानना होगा। अतः निर्णीत विधिके आगे जीवन-मरण, हानि-लाभ, यशस् 'अपयशस्‌की प्रसक्तिमें पुरुषार्थ-वादियोंको विशेषविधिके आगे झुकना ही पड़ेगा।

प्रस्तुत प्रसंगमें हानि-लाभादिका विचार इस प्रकार है—

हानि-लाभ : रामवनवास हानि है, रामराज्योत्सव लाभ था रामराज्यारोहणमें किसी अयोध्यावासीका विरोध न होनेपर भी उसमें कैकेयी द्वारा अचानक विघ्न खड़ा हो गया, जिससे सम्पूर्ण समाज राज्योत्सवके लाभसे वञ्चित हो गया। अथवा सरस्वतीकी उक्तिके अनुसार 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती'से रामराज्योत्सवमें विघ्न होना हानि है। रामवनवास जो अयोध्यावासियोंके लिए हानि है, देवहितका साधक होनेसे लाभ भी है—इसमें पूर्वनिर्णीत 'विधिहाथ'का बल कहा जायगा।

जीवन-मरण : न्यायभाष्यमें जीवन-मरणका लक्षण 'विपच्यमानकर्माशयसहितस्य आत्मनः मनसा सह संयोगः जीवनम् तस्य अभावः मरणम्'—इस प्रकार कहा गया है। जीवन-मरणसे सम्बन्धित घटनामें स्वतन्त्र विधिका हेतुत्व निर्विवाद है। यहाँ 'मरन'से राजाका मरण और 'जीवन'से परिजन-पुरजन आदिका जीवन समझना चाहिए। राजाके मरनेमें जिस प्रकार विधिविशेषका हाथ है उसी प्रकार माताओं, भरतजी, प्रजा आदिके जीवनमें भी विधिका ही हाथ है।

जस-अपजस् : विधिके विधानसे ही पुनीता कैकेयीजी विकृतबुद्धि होनेसे राजाके वचनके अनुसार कलंककी भागिनी हुई। विधिके विधानसे ही भरतजीको यशस्की प्राप्ति हुई। उक्त विधानमें प्रभुकी इच्छा ही कारण है, जिसका संकेत मुनि 'बिधिहाथ'से कह रहे हैं। राजा दशरथने 'तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ'में हानि, मरण और अपयशस्का सारांश बताया है अर्थात् 'अपजसपेटारी ताहि करि गई गिरा मति घूति'के अनुसार मन्थराके संसर्गसे सरस्वतीके मतिफेर द्वारा कैकेयीका 'अपयशस्', रामवनवासमें 'पछिताऊ' द्वारा 'हानि' तथा 'मुएहुँ'से राजाका मरण एवं रानियोंके वैधव्य को स्पष्ट किया है। 'विधिहाथ' कहकर गुरु वसिष्ठजीने संकेत किया है कि हानि, मरण, और अपयशस् विधिके बलसे घटित हो गया है, अब विधिके अधीन लाभ जीवन और यशस् भी प्रभुकी इच्छाके अधीन है, उसको बनानेका काम भरतजीने करना है।

विरुद्धविधिका समन्वय

विधिका तात्पर्य शास्त्रीयविधान माना जाय तो प्रश्न होगा कि शास्त्रीय विधानका पालन करनेवाले राजा दशरथ और श्रीरामके रहते सरस्वतीका विधान कैसे प्रबलतर हुआ ?

इसके समाधानमें कहना है कि 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम् कौन्डिन्याय तक्रं'का मीमांसान्यायसम्मत अर्थ यही है कि कौन्डिन्यातिरिक्त ब्राह्मणोंको दधि और कौन्डिन्यको मट्ठा देना है। उसी प्रकार वंशमें ज्येष्ठ (श्रीरामजी)का राज्याभिषेक होना और रामवनगमन होना—दोनोंमें निरवकाश वनवासका विधान ही प्रबल है तत्कालमें। उसका कार्य होनेके बाद ज्येष्ठको राजभिषेक होगा, इसीका बल है कि भरतजी राज्यशासकत्व-से विरत रहे। फलतः दोनों ही विधि सार्थक हैं।

संगति : प्रस्तुत घटनाओंका समावेश दैवकी प्रबलतामें है तो किसीको दोषी ठहराना उचित नहीं है।

चौ०—अस बिचारि केहि देइअ दोषू ?। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोषू ? ॥१॥

दैवकी प्रबलताका विचार करके किसीको क्यों दोष देना ? व्यर्थमें किसीपर क्यों रोष करना ?

निर्दोषतादृष्टि व शत्रुघ्नसे उपशमकी प्रार्थना

शा० व्या० : पूर्वार्धमें कहे वचनसे मुनि भरतजीको कैकेयीजीके प्रति दोषारोपण

करनेका विचार छोड़नेके लिए कह रहे हैं। उत्तरार्धसे शत्रुघ्नजीको माता कैकेयीजीके प्रति मुनि ('शत्रुघुनजी मातु कटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई'के अनुसार) रोष छोड़नेके लिए कह रहे हैं। जिस प्रकार ('पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी')में प्रभु द्वारा वर्जित होनेपर भी भरतजीके प्रति लक्ष्मणजीकी कटुताका पूर्ण निरास चित्रकूटमें प्रभुके वचन ('सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना')के द्वारा हुआ उसी प्रकार मन्थराको दण्डित करनेपर भी ('भरत दयानिधि दीन्ह छड़ाई'से) शत्रुघ्नजीका जो रोष माताकैकेयीके प्रति दब गया था, उसका निरास मुनि वसिष्ठजीके उक्त वचनसे हो रहा है।

जैसे ईश्वर निर्गुण है वैसे ही भक्त भी मायातीत हैं। अपनी इच्छासे प्रभु उनको संसारके नाट्यमंचपर उतारते हैं तो वह प्रभुके उद्दिष्ट कार्यमें सुख-दु:खको सहन करते हुए अपनेमें गुणोंका संक्रमण कर प्रभुकार्यको सम्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। मानसकारने बालकाण्डके वन्दनाप्रकरण ('दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी'से (रानी कैकेयीकी पुनीतता एवं निर्विकारता बताकर उनकी रामप्रीति चौ० ५ से ८ दो० १५ में स्पष्ट की है। कुसंगसे होनेवाले कुमतिजन्य दोषोंको लोक-रक्षणार्थ बतानेके लिए कैकेयीकी कुटिलताका वर्णन किया गया है। पर याद रखना चाहिए कि उसमें विधि ही कारण है। प्रभूका उद्दिष्ट कार्य हो जानेके बाद भक्त भरतजीका सुसंग पाते ही उनके चेतनोद्वोधक वचनसे कैकेयी पूर्ववत् स्वस्था और विकाररहिता हो गयी। इसको वसिष्ठ मुनि 'व्यरथ काहिपर कीजिय रोषू।' से समझा रहे हैं।

संगति : नीतिशास्त्रमें कहे 'व्यवस्थितार्यमर्याद: कृतवर्णाश्रयस्थिति:। त्रय्या हि रक्षितो लोक: प्रसीदति न सीदति'के अनुसार पिताजीकी मृत्युके विषादको छोड़कर त्रयीके रक्षणमें तत्पर होनेके लिए गुरुजी भरतजीको प्रेरणा देंगे।

चौ०–तात ! बिचारु करहु मन माहीं। सोचजोगु दसरथनृपु नाहीं ॥२॥

भावार्थ : हे तात ! मनस्‌में इस बातका अच्छी तरह विचार करो कि राजा दशरथ शोकके योग्य नहीं हैं।

भरतजीको कर्तव्य-विचारकी प्रेरणार्थ राजामें अशोचनीयतासिद्धि

शा० व्या० : 'दशरथ: तात ! न शोचनीय:'—यह गुरुजीका प्रतिज्ञावाक्य है जिसका स्पष्टीकरण वसिष्ठजी आगे करेंगे। 'दशरथ नृपु'से गुरुजी राजाकी स्थितिमें पिता दशरथकी अशोच्यता बताकर भरतजीको 'विचारु करहु'से मन्त्रणा के समय राज्यपालन कर्तव्यका विचार करनेका संकेत कर रहे हैं। अराजकस्थितिमें प्रजाको शोकसे बचाकर सुपथमें लगाना प्रधान कर्तव्य है। अन्यथा दृष्ट शोकसे बढ़कर दृष्टादृष्ट समस्याएँ अधिक उपस्थित हो सकती हैं।

संगति : अग्रिम चौपाइयोंमें शोच्यत्वाभावके व्यतिरेकका निर्देशन करते हुए गुरुजी उसका अभाव अर्थात् शोच्यत्वाभावसाधक अर्थात् जो शोच्यत्वकारक हेतु हैं उनका अभाव राजामें समझावेंगे।

चौ०–सोचिअ विप्र जो वेदविहीना। तजि निजधरमु विषयलवलीना॥३॥

भावार्थ : वर्णाश्रमसमाजमें ब्राह्मण सर्वोपरि है, उसकी स्थिति पहले बता रहे हैं। वेदाध्ययनसे रहित ब्राह्मण जो स्वधर्मको छोड़कर विषयासक्त रहता है, वह शोच्य है।

ब्राह्मणकी शोच्यता

शा० व्या० : यहाँ ब्राह्मणजातिवाचक अर्थमें 'विप्र' कहा गया है। ब्राह्मणमें अपनी उपासनासे प्राप्त तेजस्‌से पूर्ण विप्रत्व होना चाहिए। उसके अभावमें वह विप्रत्वजातिमान् शोच्य है।

ब्राह्मणका धर्म वेदाध्ययन है, उसीके द्वारा वह ब्रह्मवर्चस्वित्वको प्राप्त करता है। विद्याके क्षेत्रमें ब्राह्मण गुरुस्थानीय है, अतः विश्वके लिए प्रणम्य है। अर्थात् प्रणम्यतावच्छेदक विप्रत्व (ब्राह्मण जाति) नहीं है बल्कि वेदाध्ययनसहकृत विषयलोलुपत्वाभावविशिष्टविप्रत्व है।

विप्रदोष

'विषय लवलीना'का भाव है कि विप्रको प्रतिग्रह करते-करते धनका लोभ हो जाता है, परान्नभोजनमें स्वादुकर पदार्थ खानेकी चाट लग जाती है। जिससे जड़ता और आलस्य आ घेरता है।

ब्रह्मवर्चस्विता

ब्राह्मणकी ब्रह्मवर्चस्विताका तेजस् शुचितामें बना रहता है। अतः शुचिताको बनाये रखनेके लिए ब्राह्मणको कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता है। तेजस्विता एवं प्रणम्यताकी दृष्टिसे ब्राह्मणके लिए जीविकोपार्जनका जो उपाय बताया गया है। उसकी अवहेलनासे एकार्थाभिनिवेशित्व दोष आता है। अपनी निर्दिष्ट वृत्तिमें स्थिर न रहनेसे पवित्रताके अभावमें ब्रह्मवर्चस्विता और विद्याका लोप होकर ब्राह्मणमें राजस—तामसप्रवृत्ति बढ़ती है, तब वह समाजके कोपका भाजन हो प्रणम्यताव वच्छेदकविप्रत्वसे च्युत हो जाता है। वह ब्राह्मण शोचनीय है।

संगति : अब क्षत्रिय वर्णकी स्थिति बता रहे हैं।

चौ०–सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रियप्रानसमाना॥४॥

भावार्थ : वह राजा शोच्य है जो नीतिको नहीं जानता जिसे प्रजा प्राणके समान प्रिया नहीं है।

क्षत्रियकी शोच्यता

शा० व्या० : स्मरणीय है कि राजा नहीं रहेगा तो स्वधर्मनिरत वेदाध्ययी विप्रों आदिका रक्षण और उनकी प्रतिष्ठा भी शोचनीय स्थितिमें हो जायगी। मीमांसाके

व्यवस्थानुसार नृपति शब्द क्षत्रियवाची है। क्षत्रियको अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्ड-नीति इन चारों विद्याओंका अध्ययन करके अन्य विद्याओंका अध्ययन करना है। वृत्तिके अनुसार क्षत्रिय दण्डकार्यमें नियुक्त होता है जो प्रजापालनसंबंधित है। उसके द्वारा प्रयुक्त दण्डकार्यको औचित्यकी सीमामें रखने के लिए क्षत्रियको गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना चाहिए। राजाको गुणवानोंका सदा आदर करते रहना चाहिए। गुण-ग्राहकताके अभावमें वह क्षत्रिय लोकसंग्रहधर्मकी ओरसे विमुख होता है तो दण्ड-व्यवस्था दुर्बल होगी जिसका परिणाम होगा कि दण्डभय न रहनेसे व्यसनिता भ्रष्टता-प्रयुक्त दुर्व्यवस्था होगी। प्रजाके ऊपर शासन करनेमें राजाको ऐसा नीतिनिपुण होना चाहिए कि वह प्रजाका प्रीतिपात्र बना रहे, साथ प्रजाको भी वह प्राणके समान प्रिय माने। इस प्रकारके प्रजापालनसे च्युत नीतिविहीन राजा अथवा क्षत्रियकी शोचनीय-स्थिति को बताया।

संगति : अब वैश्यकी शोचनीय स्थिति बता रहे हैं।

चौ०–सोचिअ बयसु कृपन धनबानू। जो न अतिथि-सिवभगति सुजानू ॥५॥

भावार्थ : जो वैश्य धनवान् होते हुए कृपणता रखता है अतिथि-देव तथा शिवकी उपासनामें रुचि नहीं रखता, वह शाच्य हैं।

वैश्योंकी शोचनीयता

शा० व्या० : वैश्यवृत्तिसे धन कमाना, न्यायोपार्जित धनका रक्षण करना संवर्धन करना देशको समृद्ध करते रहना वैश्यका धर्म है। निर्लोभव्यवस्था बिगड़ जानेसे न्यायोपार्जित धनका क्रम बिगड़ जाता है। धनके यथायोग्य विभाजनके अभावमें उसका उपयोग धर्मकार्यमें, पोष्यवर्गके रक्षणमें, अतिथिसत्कारमें, देवपूजन आदिमें नहीं हो पाता—यही 'कृपन धनवानू'की शोच्यता है। धनवान्‌की कृपणता यही है कि वह धनके लोभमें वितरणका स्रोत बन्द कर देता है जिससे उपर्युक्त धनका सदुपयोग वन्द होनेके अतिरिक्ति दुर्भिक्ष आदि समस्याओंके निवारणकार्यमें भी बाधा होती है। यदि धनाढ्य दाता होकर भी अतिथिका मानभंग करता है, शिवपूजन आदि देवकार्य एवं धर्मकार्योंके द्वारा होनेवाले आयोजनोंसे विप्रों विद्वानोंका सम्मान नहीं करता है तो वर्णाश्रमोचित व्यवस्थाको भी हानि पहुँचती है यही वैश्यकी शोच्यता है।

'अतिथिसिव'का भाव 'अतिथिदेवो भव'के अनुसार अतिथिरूप शिवमें भक्ति होना है जो समाजकी रक्षामें कल्याणकारी है। इस प्रकार न रहनेमें वैश्यकी शोच्यता बतायी।

अब शूद्रकी शोच्यता वता रहे हैं।

चौ०–सोचिअ सूद्रु विप्रअवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी ॥६॥

भावार्थ : जो शूद्र ब्राह्मणका अपमान करता है, अधिक बोलता है, अपने मानमें रुचि रखता है, अपने ज्ञानका अभिमानी है, वह शोच्य है।

शूद्रकी शोच्यता

शा० व्या० : वर्णाश्रमसमाजमें शूद्रवर्ग सेवाधर्मसे अलंकृत है। सम्पूर्ण शिल्प-कार्य चारण-कला आदि उसके अधीन हैं। शारीरिक श्रमसे उपार्जन करना उसका धर्म है। वर्णाश्रमसमाज जिस प्रकार विप्रको वेदाध्यायी तपस्वी मानता है उसी प्रकार शूद्र शिल्पकार यदि स्वधर्ममें है तो उसे तपस्वी मानता है। शास्त्रकी अनुमतिके विना कोई वर्णाश्रमी दूसरे वर्णके अर्जनोपायवृत्ति या धर्ममें अपनी अधिकृति नहीं मानता।

'विप्रअवमानी' 'मानप्रिय'का भाव है कि यदि विप्रका पूजन और प्रतिग्रहसे होनेवाले धनार्जनको देखकर शूद्र पूजाभिलाषी होनेका प्रयत्न करता है तो विप्रवृत्तिपर आघात होनेसे शास्त्ररीत्या अनुचित है। यही शूद्रकी शोच्यता है।

शूद्रको शास्त्रार्थ प्रकाश

'ग्यान गुमानी'का भाव है कि शास्त्रोंके अक्षरोंको आपाततः पढ़कर यदि शूद्र समझे कि वह ज्ञानी हो गया, तो उसकी ज्ञानचर्चा केवल घमण्डमात्र सिद्ध होगी। क्योंकि शास्त्रका प्रकाश उसको उपलब्ध है कहा नहीं जा सकता। सब शास्त्रोंकी एकवाक्यतामें मीमांसापूर्ण दुरूह तर्कोंके साथ कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करना त्यागमय जीवन रखनेवाले विप्रोंके लिए सम्भव माना गया है क्योंकि उतने सूक्ष्म विचारोंको अवगत करना शूद्रशरीरके लिए सम्भव नहीं है, किंबहुना शूद्र उसको व्यर्थ समझता है। 'मुखर'का भाव है कि अपने क्षुद्रज्ञानके अभिमानमें शूद्र विप्रोंसे उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें तत्पर रहता हैं।

शूद्रसे विरोधाभाव

शूद्रका उपरोक्त शास्त्रविरुद्ध आचरण इतर वर्णाश्रमीके साथ होनेवाले कलहका मूल हैं। इसलिए कबीर, दादू, चौरवामेला, रविदास, जीजाबाई आदि सन्तोंने वर्णाश्रम-मर्यादाके सूक्ष्म तत्त्वोंको समझकर शूद्रशरीरमें अपनेको पूजित नहीं बनाया न अपने प्रातिभज्ञानके गर्वमें विप्रोंका किसी प्रकार भी अपमान करनेका प्रयत्न ही किया।

मूर्तिका स्वरूप

शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार प्रभुका शरीर या रूप सर्वत्र एकसमान नहीं है न तो हस्तपादादिसे युक्त आकृति (मूर्ति)में ही प्रभुका सम्पूर्ण रूप है। किन्तु प्रभुके जिस शरीरका जिस उपासनाके लिए जैसा विधान है, उसके माध्यमसे ही उस अधिकारी उपासकको शास्त्रोंने उपासना बतायी है जैसे छिन्नमस्ता, ललिता, (पिधानक) गुह्यकाली, शिवलिंग आदिकी उपासना। अस्पृश्यके लिए मन्दिरके कलशका दर्शन ही प्रभुके शरीरका दर्शन है, इसको प्रभुका विधान मानकर उसीके माध्यमसे प्रभुदर्शन-फल शास्त्रद्वारा उन्हें प्राप्त है। शास्त्रद्वारा बताये उपास्य देवके उक्त शरीरपर आस्था न रखकर उपासक अपनो कल्पनासे या देखादेखी दूसरोंके जैसी करता है तो फलसिद्धि होनी तो दूर रही, शास्त्रमर्यादाको तोड़नेमें उसको प्रभुके कोपका भाजन

भी अवश्य होना पड़ेगा। इसी नियमके अनुसार शास्त्रसिद्धान्तसे विहित गुरुसेवा, पातिव्रत्य युद्धकी असिधारा आदिकी व्यवस्थाका सामंजस्य मननीय है। इसमें हेतु तत्तद् उपासकको उसी उपासनामें फलसिद्धिकी सुलभता है जैसे पतिव्रताके सम्बन्धमें अनसूयाजीने कहा है—'बिनु श्रम नारि परमगति लहई। पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई' आदि।

संगति : चारों वर्णोंकी स्थिति बतानेके बाद स्त्रीसमाजके सम्बन्धमें गुरुजी बता रहे हैं।

चौ०—सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥७॥

भावार्थ : जो स्त्री पतिसे छल करती है, मानसमें कुटिलता रखती है। पतिसे झगड़ा करनेमें रुचि रखती है। बिना पतिकी आज्ञाके इच्छानुसार विचरण करती है, तो शोच्या है।

स्त्रीकी शोच्यता

शा० व्या० : वर्णाश्रमसमाजमें कुलीना सदाचारीणी स्त्रीका योगदान गुणवान् पुत्रको जन्म देनेमें महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके लिए पतिव्रताधर्म दृष्ट साधन कहा गया है। अन्यथा सांकर्यदोष उत्पन्न होता है तथा स्त्रियोंमें कामनाओंका अतिरेक होनेसे कुटिलता, कलहप्रियता, स्वेच्छाचारिता आदि दोष आ जाते हैं तब तो वह शोच्या है।

'इच्छाचारी'का भाव है कि पतिके अनुशासनमें क्लेशका अनुभव करनेवाली स्त्री स्वेच्छाचारिणी हो जाती है।

संगति : अब बटु (ब्रह्मचारी) विद्यार्थीकी शोच्यता बता रहे हैं।

चौ०—सोचिअ बटु निजब्रतु परिहरई। जो नहिं गुरआयसु अनुसरई ॥८॥

भावार्थ : जो विद्यार्थी अपना ब्रह्मचर्यव्रत छोड़कर गुरुके आदेशमें नहीं रहता, तो शोच्य है।

ब्रह्मचारी आश्रमकी शोच्यता

शा० व्या० : विद्यार्थी गुरुकी आज्ञाका पालन नहीं करता तो उसमें विनय नहीं आता। विनयरहित विद्यार्थीसे समाजकी उन्नतिमें आशा करना व्यर्थ है।

संगति : आगे गृहस्थ और संन्यासीकी शोच्यता बता रहे हैं।

दो०—सोचिअ गृही जो मोहबस, करइ करमपथत्याग।
सोचिअ जती प्रपंचरत, बिगतबिबेकबिराग ॥१७२॥

भावार्थ : स्त्री, पुत्र, गृह, धन आदिमें मोहके कारण जो गृहस्थ वेदशास्त्रोक्त कर्तव्य कर्मोंको छोड़ बैठता है, तो शोच्य है। वह यती (सत्यासी) जो प्रपंचमें पड़कर विवेक वैराग्यसे रहित हो जाता है, तो शोचनीय है।

गृहस्थ एवं संन्यासीकी शोचनीयता

शा० व्या० : कर्मका (विधान) आरम्भ गृहस्थाश्रममें ही है। कर्मका विहित त्याग संन्यासाश्रममें है। अतः कर्मके सम्बन्धमें दोनोंकी स्थिति दिखा रहे हैं। गृहस्थका मुख्यधर्म गृहमेध (अग्निहोत्र) है। उसको छोड़ देनेसे विद्वानों तथा अतिथियोंके सत्कारमें गृहस्थ नहीं रहता तो विद्याका रक्षण नहीं होगा। वेदशास्त्रोक्तकर्मकाण्ड त्रिवर्ग (धर्म अर्थकाम)को देनेवाला है। उक्तकर्मोंका त्याग कर देनेसे कर्तव्यनिर्धारणमें शैथिल्य, विलासितामें रुचि एवं मोह बढ़ता है।

गृहस्थ धर्मका संस्कार संन्यासीके जीववमें प्रभावकारी होता है। गृहस्थाश्रममें वीररसका भाव (उत्साह) कर्तव्य कर्मोंमें रहता है संन्यासजीवनमें शान्तरसका आस्वाद मिलता है। वहाँ कर्मकी श्रेष्ठता नहीं होती।

संन्यासी (यति) की शोचनीय स्थिति

यदि सन्यासी शम न रखकर विलासप्रिय हो संचयकी वृत्ति रखे और विषयोंकी उपरतिमें सुखानुभूति न करे तो वह समाजसे उपेक्षित होकर शोच्य होता है। सुख-साधनों पुत्र, कलत्र गृह, धन आदिमें राग न रखना ही संन्यासीका विराग है। सुख-दुःखके साध्य-साधनोंका विचार एवं तर्कशुद्ध अभिविवेशात्मक आत्मविषयक परमार्श सन्वासीका विवेक है।

संगति : आगे वानप्रस्थकी शोचनीय स्थिति बता रहे हैं।

चौ०—बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥१॥

भावार्थ : जो (वैखानस) वानप्रस्थी तपस्को छोड़कर भोगकी इच्छा रखता है, शोच्य है।

वानप्रस्थकी शोचनीयता

शा० व्या० : वानप्रस्थका उद्देश्य अन्वीक्षा करना है। अन्वीक्षामें अपनेको लगाये रखना ही उसका तपस् है जैसे भरद्वाज ऋषि। तपस्को छोड़कर जो वानप्रस्थी शारीरिक सुखभोग और विषयोंमें लोलुपता रखता है वह शोचनीय होता है।

ज्ञातव्य है कि वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यास कलिमें वर्ज्य है, पर तपस् और अन्वीक्षा व शमके लिए शास्त्रका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसीलिए वानप्रस्थका उल्लेख अन्तमें है।

संगति : वर्णाश्रमी समाजकी स्थिति बतानेके बाद उसके अनुयायिसाधारण समाजकी शोचनीयता बता रहे हैं।

चौ०—सोचिऊ पिसुन अकारन-क्रोधी। जननि-जनक-गुरु-बंधुविरोधी ॥२॥

भावार्थ : विनाकारण ही क्रोध रखनेवाला निन्दक जो माता, पिता, गुरु, भाई आदिका विरोध करता रहता है, वह शोचनीय है।

मान्यवरोंपर आकास्मिक क्रोधमें शोचनीयता

शा० व्या० : निन्दक प्राणी; हितैषी माता, पिता, गुरु, बन्धु आदिका द्वेष्टा होता है। पैतृकदायादिका सम्बन्ध होनेसे एकार्थभिनिवेशकी प्रसक्तिमें अपने अधिकारके प्रतिद्वन्द्वी बन्धुबान्धवोंके प्रति उनसे अकारणक्रोध रखता है। गुरुजन उसको कुपथसे हटानेका प्रयत्न करते हैं तो वह उनका विरोधी हो जाता है और निन्दा करने लगता है। इस प्रकार भेदका बीजारोपण करनेसे निन्दकको 'सूचक' कहा गया है।

चौ०–सबविधि सोचिअ पर अपकारी। निजतनुपोषक निरदय भारी ॥३॥

भावार्थ : दूसरेका नाश करनेके उपायमें लगे व्यक्ति पर अपकारी हैं। ऐसे लोग अपने शरीरके पोषणमें लगे रहते हैं दूसरोंकेंप्रति क्रूर होते हैं।

अपकृतिमें शोच्यता

शा० व्या० : परअपकारी वर्गमें व्याध, धीवर आदि हैं जिनको कहीं विश्रान्ति नहीं। स्वात्मोपकारी एवं आश्रितोपकारी गुणोंसे रहित व्यक्ति नीतिशास्त्रके अनुसार परअपकारी हैं। स्वशरीरका सुखसंवेदन रखनेवाले अपनेमें ही प्रमातृता रखते हैं। उसीका पोषण करते हैं। सत्वगुणसे हीन होनेसे दूसरोंके दुःखका संवेदन स्वार्थियोंको नहीं होता। कामनाओंकी दुष्पूरतामें उन्हें क्रोध आता है। असुरप्रकृतिके ऐसे लोगोंमें निर्दयता अधिक होती है।

संगति : वर्णाश्रमियों लिए अनुष्ठेय जितनी शास्त्रोक्तविधियाँ हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख कर सब बिधियोंका अन्तिम उद्देश्य भगवद्भक्ति समझा रहे हैं।

चौ०–सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई ॥४॥

भावार्थ : जो वर्णाश्रमी छलरहित होकर भगवान्‌की भक्तिमें नहीं लगता वे तो सब प्रकारसे सोचनीय हैं।

अभक्तोमें शोचनीयता

शा० व्या० : हरिभक्ति मानवताका पूर्ण चिन्ह है। हरिजन वही है जो सब बिधियोंका पर्यवसान छलरहित भगवद् भक्तिमें करे। भक्तिके नामपर शास्त्रप्रामाण्यको ठुकराना या उसके अनुष्ठानमें विपरीतार्थनिर्णय करना या अर्थवादसे अपना स्वार्थ-साधन करना छल है। 'भाव कुभाव अनख अलिसहूँ। नामजपत मंगल दिसि दसहूँ' की आड़में भक्तिका प्रदर्शन करते हुए वैदिक विधियोंको हेय बनाना छल है। असूया आदि दोष छलके अन्तर्गत हैं। 'सोचनीय सबही बिधि'से स्पष्ट किया गया है कि धार्मिक विधियोंका पालन करते हुए भी छलकपट छोड़कर ईश्वरकी शरणागतिमें न रहना शोचनीयता है। भरद्वाज मुनिने दो० १०७ में कायेन वाचा मनसा रामभक्तिमें 'छाड़ि छल'की विशेषता पर बल दिया है।

ज्ञातव्य है कि शुकदेव जैसे जन्मजात महात्मा जन्मान्तरीयसंस्कारसे संपन्न-बिरल जीवोंके (धर्म, विद्या, नीति आदिसे सम्बन्धित) आचरणमें विधिकी न्यूनता

या त्रुटि दिखलाई पड़ती है तो उनके लिए ही वह दोषावह नहीं मानी जाती। परन्तु वैसा अनुकरण सर्वसाधारणके लिए उपादेय नहीं है।

विशेष वक्तव्य

वर्णाश्रम धर्मका उपयोग राजनीतिके संवर्धनमें है। राजनीतिका काम सब धर्मोंका रक्षण है। वर्णाश्रमधर्मसहित राजनीतिका पर्यवसान ईश्वरभक्तिमें है। इसको उपर्युक्त चोपाईमें स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकारने अपना मत या निर्णय स्फुट किया है।

भक्ति यह प्रधान है, राजनीतिसहित समस्त विद्याएँ एवं धर्म उसकी अंगभूत व पोषक हैं। भक्ति ही राजनीतिसहित समस्त धर्मोंके रक्षणमें समर्थ है। मीमांसा-न्यायानुसार प्रधान (उद्देश्य)के लोप होनेकी स्थितिमें किसी अंगका लोप या निषिद्धका संग्रह देशकालको देखकर मान्य हो सकता है जिसका निर्णय चतुष्टयविद्याके पारंगत विद्वानके अधीन है। सर्वसाधारणके लिए सरल मार्ग यही है कि धर्माचरण करते हुए नीतिसमेत समस्त विद्याओंका उपयोग विद्वानोंसे समझकर ईश्वरभक्तिमें करें।

हरिजन बननेमें गुरु वसिष्ठजीने 'सोचनीय सब बिधि' द्वारा जो निष्कर्ष बताया है वह भरतजीके लिए बड़े महत्वका सिद्ध होगा। उपरोक्त सिद्धान्तको समझकर भरतजी गुरुजीके प्रस्तावित राजपदग्रहणमें अपने विवेकका परिचय देंगे और भक्ति-पन्थका आश्रय लेकर प्रभुकी शरणमें जायंगे।

संगति : राजा दशरथके शासनमें पूर्वोक्तदोष वर्णाश्रम समाजमें नहीं थे, इसको बतानेके लिए गुरु वसिष्ठजी अशोचनीयताके विषयका निरूपण 'सोचु जोगु दसरथु नृपु नाहीं' (चौ० २ दो० १७२)से आरम्भ करके आगे 'सोचनीय नहिं कोसलराऊ'से समाप्त कर श्रुतियों द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य मार्गपर समाजको लगानेके लिए राजाका होना समझा रहे हैं क्योंकि राजाके अभावमें उक्तदोष समाजमें फैलते हैं। अतः भरतजीको राजपदस्वीकार करानेके विचारक्षेत्रमें अपना पूर्वपक्ष उपस्थापित करनेका उपक्रम गुरुजी कर रहे हैं।

चौ०—सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥५॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत ! जस पिता तुम्हारा ॥६॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथगुनगाथा ॥७॥

भावार्थ : राजा दशरथ पूर्वोक्त किसी विधिसे भी शोचनीय नहीं हैं। उनका प्रभाव चौदहों भुवनोंमें व्याप्त है। हे भरतजी ! तुम्हारे पिताश्री जिनको श्रीरामप्रभृति चार पुत्र प्राप्त हैं उनके जैसा न था कोइ, न कभी कोइ हुआ, न है, न होनेवाला है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र और दिक्पाल सभी दशरथजीके गुणोंका वर्णन कर रहे हैं।

राजाका (सत्कार) देवलोक निवास

शा० व्या० : राजा दशरथकी अशोच्यताके विषयमें गुरुवसिष्ठजीके कहनेका आशय इस प्रकार है 'उपर्युक्तदोषाभाववान् नृपो न शोचनीयः श्रुतिमर्यादया उचितकार्य

कारित्वेन त्रिभुवनप्रसिद्धत्वात् लंकाकाण्डे उक्तत्वाच्च'। राजा धर्मके अंकुशमें रहकर शास्त्रमर्यादाका पालन करते हुए देवोंकी पूजा एवं राक्षसोंको बलि देते थे। शुचितासे पूर्ण राजशरीरके प्रति अंगोंमें देवताओंका वास था तथा शुचि राजासे शासित वर्णाश्रममर्यादासे रक्षित अयोध्यापुरीमें प्रच्छन्नरूपसे देवगणोंका निवास था, जिसमें राक्षसोंका प्रवेश स्वतः अवरुद्ध था। राजा दशरथकी राजसभामें चौदहों भुवनोंके पालक उपस्थित होते थे अपनी रक्षामें राजाको सहायक मानते थे। फलतः राजा साकेत-लोकमें गये जिसकी पुष्टि अरण्यकाण्ड एवं लंकाकाण्डमें स्फुट है।

दशरथकी असाधारणता

प्रायः सभी कल्पोंमें रामावतार एवं उसकी कथा है जो प्रत्येक लोकमें पुराण-कथाओंके माध्यमसे गायी जाती है। श्रीरामके पिताके रूपमें दशरथजीका नाम आता ही है—यह सौभाग्य अन्य किसीको न प्राप्त था, न है और न होनेवाला है। मनुचरित्रसे स्पष्ट है कि प्रभुको पुत्र (राम)के रूपमें प्राप्त करनेके लिए जो पुण्यपुंज चाहिए वह राजा दशरथमें ही था। राजा दशरथका विशेष यशस् यह है कि अपनी सत्यसंधताको अनुष्ठानतः प्रमाणित करते मरणकालमें रामनामोच्चारणपूर्वक देहके त्याग और परितोषसे दिखाया, वैसा उदाहरण किसी अन्य राजाका नहीं हैं।

दशरथके विधानका कर्मांगत्व

'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' इस विधिके अनुसार पिता पुत्रका जो नामकरण कर देते हैं, उसी नामका उच्चारण यज्ञदानादि धार्मिक कृत्योंमें करनेका विधान है। वह नाम व्याकरणोक्त पारिभाषिक शब्दकी तरह नहीं, किन्तु अनादिसिद्धके सदृश वह नाम एकका वाचक और कर्मांग हो जाता है, इस प्रकार गुणवानोंके कीर्तन करनेका विधान जो उपलब्ध है उसीके आधारपर कहना है कि 'विधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा' द्वारा राजाका कीर्तन लौकिक होते हुए भी उनके गुणोंका कीर्तन युक्तिसंगत होनेसे गुणसम्पन्न राजविधान कर्मांग कहा जायगा। इस कथनसे माता चौ० ८ दो० १२६ कौसल्याजीके कहे····वचनमें बल प्राप्त है। कर्मांगताकी उपयोगिता 'भरतजीको राज्याधिकार सम्मति' शीर्षकमें स्फुट है।

संगति : राजा दशरथके चारों पुत्रोंको नामकरण करते हुए गुरु वसिष्ठजीने चारोंके गुणका जो निरूपण किया था, उसके अनुरूप पुत्रोंका स्वभाव और चरित्र देखकर प्रसन्नतामें गुरुजी चारोंका नामकीर्तन कर रहे हैं।

दो०—कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु।
राम-लखन-तुम्ह-सत्रुहनसरिस सुअन सुचि जासु ॥१७३॥

भावार्थ : गुरुजी कह रहे हैं "हे तात! तुम्ही बताओ कि उस पिताकी कोई क्या कैसे न प्रशंसा करे? जिसको श्रीरामजी, लक्ष्मणजी आप और शत्रुघ्नजी जैसे चार शुचि पुत्र हैं।

चारो पुत्रोंकी समान विशेषता

शा० व्या० : 'सरिस सुअन सुचि'में साहित्यका अनन्वय अलंकार दिखाते हुए शुचितामें होनेवाला एकमत व्यक्त है अर्थात् शुचि पुत्र एक साथ रहकर जो निर्णय करेंगे वही निर्णय अलग-अलग रहनेपर भी प्रत्येकका होगा। शुचि पुत्रोंके समान ये ही चारों पुत्र हैं। चारों पुत्रोंमें गुरुजीने तीनका नाम लिया और भरतजीका नाम न लेकर 'तुम्ह' कहनेमें गुरुजीका वही भाव है जो ज्ञाननिधान जनकजीने दो० २८८में "निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि"में व्यक्त किया है। 'सरिस सुअन सुचि' भरतजीकी बड़ाई ग्रन्थकारने दो० ३२४में प्रस्फुटित की है। जिस प्रकार शुचिताके निर्णयमें वेदशास्त्र प्रमाण हैं उसी प्रकार चारों पुत्रोंकी पापनिवृत्तिमें वसिष्ठ मुनिका वचन प्रमाण समझना चाहिए।

चारों पुत्रोंकी शुचिताके सम्बन्धमें निम्नलिखित वक्तव्य

शास्त्रविधानके अनुसरणसे अन्तःकरणमें शुचिता आती है। चारों भाई जन्मतः शुचि हैं। चारोंमें मान, राग और मदका स्पर्श नहीं है, शुचि मनस् ही उनका अंकुश या प्रेरक है जैसा अरण्यकाण्डमें सन्तोंका लक्षण बताते हुए कहा गया है 'दंभ मान, मद करहिं न काऊ'। मद मान न करनेवाले उपासक भी यदि किसी व्यवस्था या अंकुशमें नहीं रहते तो कभी कदाचित् उनमें असन्तभावको प्रकट होनेका अवकाश है। अतः चारों पुत्रोंकी शुचितामें अनुशासनका महत्त्व दिखानेके हेतुसे सत्यसंध पिताके सम्बन्धका भी उल्लेख किया है। चारों पुत्रोंके अन्तःकरणकी शुचिताका उल्लेख यथास्थान किया गया है। उनके शुचि मनस्में जो निर्णय होता है वह धर्म हो जाता है। उदाहरणार्थ श्रीरामकी धर्मप्रयुक्त शुचिता पुष्पवाटिकाप्रसङ्गमें सीताजीको देखकर 'सहज पुनीत मोर मन छोभा। मन कुपंथ पगु धरइ न काऊ'से स्फुट है। उसी प्रकार अर्थसम्बन्धिनी शुचिता 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'से व्यक्त है। गुरु, माता कौसल्याजी, कैकेयीजी, सचिव आदिके अनुमोदन करनेपर भी राज्यका स्वामित्व स्वीकार न करनेमें भरतजीकी अर्थशुचिता, 'तात न रामहिं सौंपेहुँ मोही'से सेवककी सेवारुचि प्रकट है। पारिवारिक सङ्ग एवं घरके सुखभोगका त्यागना द्रव्यप्रकृतिहीन रूपमें ज्येष्ठ भ्राताको सेव्य मानकर उनके वनवासमें सहर्ष अनुगमन करना लक्ष्मणजीकी शुचिता है। भरतजीके प्रति लक्ष्मणजीकी (चित्रकूटमें) उग्रता सोपाधिक है। दोनोंकी प्रीतिकी वास्तविकता 'बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवाबस जोरा' (चौ० ४ दो० २४०)से स्पष्ट है। शुचितामें शत्रुघ्नजी भरतजीके अनुगामी होकर परस्परमें होनेवाले भेदका दमन करते हुए भरतजीके चतुर्दशवर्षावधिकराज्यसंचालनमें अपनेको अङ्गभूत बनाकर रामसेवाका आदर्श बनाये रखेंगे।

संगति : पिताकी पूर्वोक्त अशोच्यताके व्यतिरेकसाधक हेतुसमुदायका निर्देश करनेके बाद गुरुजी निगमनवाक्यका उच्चार कर रहे हैं।

चौ०—सबप्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषादु करिअ तेहि लागी ॥१॥

भावार्थ : राजा दशरथजी सब प्रकारसे बड़ भागी हैं, उनके लिए शोक करना व्यर्थ है।

राजस्तुतिका उपसंहार

शा० व्या० : 'सब प्रकार'से चारों प्रकारके सद्धेतुओंसे राजाकी अशोच्यताको सिद्ध करके राजाको बड़भागी कहा है। अर्थात् इस निगमनसे अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व समझाया।

संगति : वैदिकविधिकी मर्यादामें गुरुजी अपना पूर्वपक्ष (मन्तव्य) उपस्थापित कर रहे हैं।

चौ०—यहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राजरजायसु करहू ॥२॥

भावार्थ : इसको सुनकर समझकर शोकका त्याग करो और राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके राज्यस्वामी हो जाओ।

शा० व्या० : त्रयीके निर्देशके अनुसार पिताकी (राजप्रोक्तविधि राजरजायसु) आज्ञा मानकर कार्य करना पुत्रका धर्म है, अतः 'करहू'से ('त्वं अवधराज्यसंचालन-कर्तृत्वाधिकारी (याजमान्य) तथैव राजाज्ञाविषयत्वात्')। गुरुजी भरतजीको हितसाधनताका अनुमान करा रहे हैं। जैसा आगे चौ० ६में स्पष्ट करेंगे।

चौ०—राय राजपदु तुम्ह कहु दीन्हा। पिताबचन फुर चाहिअ कीन्हा ॥३॥

भावार्थ : राजाने राजपद तुमको दिया है। इसलिए पिताके वचनको सत्य करनेके लिए उसको कार्यान्वित करनेमें शीघ्र तत्पर हो जाओ।

पिताके वचनकी प्रमाणता अनुष्ठानतः

शा० व्या० : राजाके बचन ('देउँ भरत कहुँ राजु बजाई' 'जेहि देखौं अब 'नयन भरि भरत राज अभिषेकु')के अनुसार वचनप्रमाणको कार्यान्वित करनेमें 'प्रमाणाधीन प्रमेयसिद्धिः'का विचार करनेके लिए गुरुजी कह रहे हैं।

चौ०—तजे रामु जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी ॥४॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितुबचन प्रवाना ॥५॥

भावार्थ : जिस वचनको प्रमाण वनानेके लिए श्रीरामजीने राज्यत्याग किया, जिस वचनकी सत्यताको रखनेके लिए राजाने रामविरहके संतापमें शरीर छोड़ा उस वचनकी सत्यता ही राजाको इष्ट थी, उसके सामने प्राण भी प्रिय नहीं थे। अतः पिताके उस वचनको प्रमाण मानकर 'राज रजायसु करहू' भरतजीके लिए कर्तव्य है।

भरतजीके कर्तव्य

शा० व्या० : कैकेयीकी 'देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। मागेउँ जो कछु मोहि सुहाना'से सम्बन्धित उक्ति 'सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु'को सुनकर श्रीरामजीने 'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर' कहकर वनवास स्वीकार

किया और 'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू' कहकर राज्यत्याग किया। 'सो तनु राखि करब मैं काहा ? जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा'के अनुसार अपने वचनकी सत्यताको रखनेके लिए राजाने शरीरत्याग करके 'प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः'के मार्गको श्रीरामजीके लिए प्रशस्त किया है। भरतजीको भी पिताके वचनप्रमाणको मानना चाहिए। मीमांसा-पद्धतिसे 'करहु तात पितु बचन प्रवाना' उत्पत्तिविधि कहा जायगा।

संगति : प्राणको प्रिय न मानकर सत्यसंधतापर अडिग रहना कुलीनता है जैसा 'प्रान जाइ परु वचन न जाई'से व्यक्त है।

चौ०—करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥६॥

भावार्थ : राजाज्ञाका पालव करो—इसीमें तुम्हारी सव प्रकारसे भलाई है।

पूर्वपक्षमें अदृष्टद्वारपर बल

शा० व्या० : 'सिर धरि राजरजायसु करहू' द्वारा कही विधिके विनियोगमें अदृष्टरीत्या होनेवाले कल्याणको बता रहे हैं। 'भूपरजाई'के पालनमें 'सब भाँति भलाई'से कृतिसाध्यता, हितसाधनता एवं बलवदनिष्टाननुबन्धिता स्फुट की है।

संगति : 'सब भाँति भलाई'को धर्म एवं तदनुवर्तिनी दृष्टिको उदाहरण द्वारा समझा रहे हैं।

चौ०—परसुराम पितुअग्याँ राखी। मारी मातु लोक-सब साखी ॥७॥
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ ॥८॥

भावार्थ : परशुरामजीने पिताकी आज्ञा मानकर माताका वध किया जिसका साक्षी सब लोक है। ययाति राजाको उसके कनिष्ठ पुत्र पुरुने अपना यौवन दे दिया। परन्तु उक्त दोनोंको पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें पाप एवं अपयशस् नहीं लगा।

संगति : अपने मतसे पूर्वपक्षको निगमनसे अन्यून कर रहे हैं।

दो०—अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन-सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥१७४॥

भावार्थ : पिताके वचनपालनमें औचित्यानौचित्यका विचार छोड़कर जो उनकी आज्ञा मान लेते हैं, उनको सुख, सुयशस् और इन्द्रलोकका निवास प्राप्त होता है।

वचनके प्रामाणिकतामें अनुपेक्षणीयता

शा० व्या० : 'उचित'की व्याख्या यही है—जिस कार्यसे गुरु राजा ओर देवता प्रसन्न हों। पित्राज्ञापालनमें गुरु वसिष्ठजी तीन प्रकारके इष्ट—सुख, सुयशस् और स्वर्गप्राप्ति-बोल रहे हैं जिसको उपरोक्त दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध किया है। यहाँ ध्यान रखना है कि 'पितु बैन'में वसिष्ठजी राजा दशरथ जैसे अशोच्य पिताका निर्देश कर रहे हैं। अशोच्य पिताका वचन लोक और शास्त्रके विरुद्ध नहीं हो सकता, इसलिए उनके वचनपालनमें औचित्यानौचित्यका विचार करना वचनके प्रामाणिकताकी उपेक्षा कही जायगी।

संगति : अशोच्य पिताके वचनको प्रमाण मानकर उनकी आज्ञाको कार्यान्वित करनेकी प्रेरणा गुरुजी दे रहे हैं।

चौ०—अवसि नरेसबचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ॥१॥

भावार्थ : राजाके वचनके अनुसार भरतजीको राजपद अवश्य लेना है, इसमें देर नहीं करनी है। शोकको छोड़कर प्रजापालन कार्य करना है।

शा० व्या० : यद्यपि प्रजापालनकर्ममें हर्ष व शोक विघ्न कहे गये हैं। तो भी यहाँ शोकका प्रसंग होनेसे केवल शोक कहा गया है। 'शोक'के अन्तर्गत माताओंका भी शोक है जो प्रजापालनसे दूर होगा जैसा आगे चौ० ६में व्यक्त है।

राजपदका आश्रयविचार

'दध्नेन्द्रियकामस्य' जहुयात् इस वैदिक वाक्यके अर्थविचारमें जिस प्रकार 'होमाश्रितेन' दध्ना इन्द्रियं भावयेत्' ऐसा अर्थ माना जाता है उसी प्रकार नीतिमें 'प्रजा-पालना श्रितेन राजपदेन सुखं सुयशः स्वर्गञ्च भावयेत्' कहा जायगा अर्थात् राजवचनको मानकर केवल राजपद स्वीकार करनेसे सुख, सुयशस् स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होगी बल्कि प्रजापालनरूप धात्वर्थके सहारे ही राजपद उक्त फलकी प्राप्ति करानेवाला है। इस प्रकार त्रयीकी प्रधानतामें नीतिपालन (प्रजापालन)पर बल दिया है 'नरेस बचन'में 'अवसि' कहनेका तात्पर्य है कि त्रयीके आधारपर वचनप्रामाण्यमें स्थिरता न रखनेसे दोषभागी होना पड़ेगा।

संगति : प्रजापालनकार्यमें अभी तुम्हारे लिए वेदलोकसम्मति समझनी होगी वह दोनों आपको प्राप्त है।

चौ०—वेदविदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावहि टीका ॥२॥

भावार्थ : पिता जिस पुत्रको राजपद दे वही राजतिलकका अधिकारी है—यह बात वेद और लोकसे सम्मत है।

भरतको राजा होनेमें सर्वसम्मति

शा० व्या० : भारतीय राजनीतिमें लोकतन्त्रका समन्वय एकतन्त्रमें किस प्रकार है ? इसको 'संमत सबहीका'से स्पष्ट किया गया है अर्थात् निर्विरोध सर्वसम्मतिसे राजपदासीन होनेपर बल दिया गया है। श्रीरामके राज्याभिषेकके अवसरपर राजाके प्रस्तावका गुरु वसिष्ठजीके द्वारा समर्थन होने पर ही 'सचिव महाजन सकल बोलाए'से सर्वसम्मतिका उल्लेख किया गया था। इसी सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए गुरुजी प्रथमतः भरतजीको राजपदग्रहण करनेका प्रस्ताव सभामें रखते हैं जिसका अनुमोदन कौसल्यादिमाता द्वारा होनेसे अन्तःपुरकी सम्मति तथा प्रजाप्रतिनिधियों (महाजनों) द्वारा प्रजाकी सम्मतिसे व्यक्त होगा।

भरतजीके राज्याधिकारमें वेदसम्मति

प्रश्न : यदि कहा जाय : कि वेदसम्मति सर्व (ज्येष्ठत्व) गुणसम्पन्न आत्मवान्

(सब बिधि सब लायक)को राज्यपदासीन करनेके पक्षमें हैं तो वह योग्यता श्रीराममें है भरतजीमें नहीं है, कैकेयीकी उक्ति 'जेठ स्वामी सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई' तथा दो० ३१में राजाके कहे 'नृपनीति'के अनुसार श्रीराम ही राज्यके अधिकारी माने जायँगे तब भरतजीके सम्बन्धमें 'संमत वेदविदित' कैसे कहा ?

उत्तर : इसके समाधानमें गुरुजीने पहले ही 'तजे राम जेहि बचनहि लागी'से कह दिया है कि कैकेयीकी प्रार्थनापर श्रीरामने स्वेच्छापूर्वक भरतजीके पक्षमें राज्यत्याग किया है अतः कुलरीतिसे ज्येष्ठता आदिका नियामकत्व समाप्त समझा जायगा जैसा देवापि और शन्तनुके इतिहासमें शन्तुनका राज्य पुराणद्वारा सम्मत है अथवा वेदशास्त्रोंने राजपद प्रदानमें राजशास्त्रको नियामक माना है। उसके अनुसार अशोच्य पिताके वचन नियामक बताते हुए 'जेहि पितु देइ सो पावहि टीका' कहा है।

चौ०—करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर वचन हित जानी ॥४॥

भावार्थ : मनसूकी ग्लानिको हटाओ राज्य करो। मेरे वचनको हितकारी मानो।

गुरुजीके पूर्वपक्षका प्रयोजन

शा० व्या० : शोक और ग्लानि तेजसूका क्षय करनेवाली है, इसलिए गुरुजी उसको छोड़नेके लिए कह रहे हैं जैसा कौसल्याजीने चौ० ५ दो० १६५में कहा है।

सूर्यवंशके राजा जिस प्रकार गुरु वसिष्ठजीका वचन मानते आये हैं उसी प्रकार भरतजी भी मानेंगे तो उनका हित होगा। 'अनूचानो यदभ्यूहति आर्षं तद् भवति'के अनुसार गुरु वसिष्ठजीका वचन प्रमाणरूपमें मानना कर्तव्य है। चौ० ४ दो० १९१के अनुसार गुरुजीने अपने वक्तव्योंमें धर्मका उपदेश कर दिया है, उसको कार्यान्वित करनेका विवेक भरतजी द्वारा यथासमय प्रकाशित कराना गुरुजीको इष्ट है।

संगति : 'संगत सबही का'में सीतारामकी सम्मति एवं दूरस्थ विद्वानोंकी सम्मतिका प्रश्न रह गया था, इसलिए गुरुजी उसको स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—सुनि सुख लहब राम-वैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही ॥५॥

भावार्थ : भरतजीका राज्य लेना सुनकर सीताजी और श्रीरामको सुख होगा कोई भी पंडित विद्वान् इनको अनुचित नहीं कहेगा।

भरतजीके राजत्वमें श्रीसीतारामकी एकवाक्यता

शा० व्या : मालूम होता है कि गुरुजीने 'सुनि सुख लहब रामु वैदेही'की उक्ति-द्वारा भरतजीके प्रति श्रीरामजीका सन्देश ('कहब संदेसु भरतके आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए। पालेहु प्रजहि करम मन बानी') भरतजीके सामने प्रकाशित किया है जिसमें 'राजपदु पाए'से भरतजी द्वारा राजपदकी स्वीकृति एवं 'पालेहु प्रजहि'से 'करहु राज'का समर्थन स्पष्ट है। अतः श्रीरामजीका अनुमोदन व सीताजीकी सहमति निश्चित है जैसा दो० ७ के अन्तर्गत सीताजी रामजीके अङ्गस्फुरणसे 'पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी, भरत सरिस प्रियको जग माहीं' ? 'इहइ सगुन

फलु दूसर नाहीं'से व्यक्त है। इसके अतिरिक्त राजाकी उक्ति 'लोभ न रामहि राजु कर बहुत भरतपर प्रीति'के अनुरूप श्रीरामजीकी उक्ति 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'से प्रभुकी पूर्ण अनुमति और भी सुस्पष्ट है।

भरतजीके राजत्वमें वनवासियोंका अक्षोभ

'पंडित केही'से दूर बैठे वनस्थ विद्वान् तथा प्रभुके संसर्गमें आनेवाले महर्षिगण विवक्षित हैं। राजनीतिके अनुसार राजशासनमें अनौचित्य होता है तो वनस्थ परिव्राजक मुनि असन्तुष्ट होते हैं जो राज्यहितमें हानिप्रद माना जाता है। अराजक-स्थितिमें राज्य सँभालनेका कार्य तो पण्डितसम्मत है ही। जैसा भरद्वाजजीकी उक्ति 'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोसू। रामहि होत सुनत संतोसू'से स्पष्ट है।

उचितकी व्याख्यामें कहा गया है कि वही कार्य उचित है जो गुरु, राजा और देवको प्रसन्न करनेवाला है। यहाँ भरतजीके राजपद-ग्रहणमें राजा और गुरुका अभिनन्दन स्पष्ट है। सरस्वती द्वारा प्रेरिता कैकेयीकी वरयाचनामें 'भरतहि टीका'के कार्यान्वयनसे देवोंकी प्रसन्नता भी ध्वनित है।

पण्डितसम्मति

'पण्डित'की व्याख्या 'पण्डा ब्रह्मविषयिणी प्रज्ञा यस्प सः पण्डितः' है। नीति-सम्मत पण्डित 'पञ्चाङ्ग' निर्णयमें कुशल होते हैं, उनका निर्णय अनुचित नहीं हो सकता। भरतजीके सम्बन्धमें प्रभुकी उक्ति 'नाहि न साधु समा जेहि सेई'में ऐसे पण्डितों-विद्वानोंको साधु कहा है। जिस प्रकार राजा 'चारचक्षुष्मान्' कहे जाते हैं। उसी प्रकार पण्डित शास्त्रचक्षुष्मान् कहे जाते हैं। प्रस्तुतमें कहना है कि किसी भी अवस्थामें क्षत्रियका स्वधर्मसंमत अहंकार प्रजापालनमें प्रकट है तो उसने राजा होना पण्डितोंको सम्मत है। इसलिए भरतजीका हित 'करहु राज, पालहु प्रजा'में बताकर पण्डित-सम्मति कही है।

ध्यातव्य है कि भक्तिपन्थमें अपने असन्तोषको दूर करनेके लिए भरतजी प्रभुकी शरणमें जाकर प्रभुके आदेशके अनुगामी बनकर प्रजापालन-कर्तव्यपर आरूढ़ होंगे।

संगति : भरतजीके राजपदग्रहणमें तृतीयसम्मति कौसल्याजीके सन्तोषसे ध्वनित कर रहे हैं जैसा दो० १७६ के अन्तर्गत स्पष्ट होगा।

चौ०—कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥६॥

भावार्थ : भरतजीके राज्य करनेसे प्रजाको सुख होगा तो कौसल्याजी सहित सब माताएँ भी सुखिनी होंगी।

गुरुवचनसे सकल मातृसम्मतिका प्रकाशन

शा० व्या० : चौ० ४ दो० १६१ में कैकेयीकी उक्ति 'अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू'से कैकेयीका अभिमत स्पष्ट ही है। कौसल्या-जीका अभिमत गुरुजीकी सभामें प्रकट होगा, माता सुमित्राजीका अनुगमन कौसल्या-

जीके कार्यमें रहता ही है। इसलिए 'सकल महतारी'की सम्मति गुरुजीके वचन 'पालहु प्रजा सोक परिहरहू'के अनुकूल है। सब माताओंका प्रजाके सुखमें सुखी होना पृथक्तया समझानेके लिए कैकेयीकी उक्ति ('सहित समाज राज पुर करहू') कौसल्याजीकी उक्ति ('प्रजा पालि परिजन दुख हरहू') तथा सुमित्राजीकी उक्ति ('पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति' छन्द ७५) स्मरणीय है। इस सबकी सम्मतिका विनियोग प्रजा-सुखमें है जो प्रभुके सन्देश 'नीति न तजिअ राजपदु पाए'में ध्वनित है।

चौ०–परम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥७॥

भावार्थ : तुम्हारा और श्रीरामजीका परम उद्दिष्ट प्रजासुख ही है। ऐसा जो जानेगा वह सबप्रकारसे तुम्हारा भला मानेगा।

इतरसम्मतिका प्रकाशन

शा० व्या० : जिस प्रकार नीतिसारोक्ति 'पुरो यायत् विगृह्यैव मित्राभ्यां पश्चिमावरी'में 'विगृह्यैव'का अर्थ धातुके दशम गण णिच्'को लेकर व्याकरणके अनुसार' 'अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् विग्राह्यैवेत्यर्थः' किया जाता है, उसी प्रकार 'जानिहि'का अर्थ 'जानो और जनाओ' दोनों विवक्षित समझना चाहिए। कहनेका निष्कर्ष है कि भरतजी राज्यग्रहण करके प्रजाको सुखका अनुभव करायेंगे तो प्रजा सब प्रकारसे भरतजी और श्रीरामजीका भला मानेगी। इस प्रकार पूर्वोक्त सम्मतिसे इतरसम्मति भी यहाँ ध्वनितकी गयी है।

'परम'का अर्थ यहाँ रहस्यमय है या 'परम'से 'परमउद्देश्य' अथवा भरतजी और श्रीरामकी परमप्रीति अथवा बा० का० चौ० १.२ दो० ९९में शिवजी द्वारा कहा भक्तिपन्थ परमधर्म है। वचनप्रमाण्यमें भरतजीकी वही स्थिति है जो शिवजीने प्रभुके वचनके प्रमाण्यमें परमधर्म[1] बताया है।

संगति : राजाके वचन 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'का प्रामाण्य रखते हुए गुरुजी अपने वक्तव्यका निष्कर्ष सुना रहे हैं।

चौ०–सौंपेहु राजु रायके आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥८॥

भावार्थ : वनवाससे लौटकर अयोध्यामें आनेपर श्रीरामको राज्य सौंप देना फिर उनकी सेवा करते रहना, इसमें रामप्रीतिकी शोभा भी बनी रहेगी।

संगति : पूर्वपक्षके समर्थनमें गुरुजी पिताश्रीको फलप्राप्ति समझा रहे हैं।

चौ०–सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू। तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू॥९॥

भावार्थ : ऐसा करनेसे राजाको इन्द्रपुरीमें परितोष होगा तुमको भी पुण्य सुयशस् प्राप्त होगा दोषके भागी नहीं होओगे।

---

१. कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ! बचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम-धरमु यह नाथ! हमारा॥

कर्तृत्ववभोक्तृत्वका वैयधिकरण्य

शा० व्या० : जिस प्रकार पुंसवन आदि संस्कारमें पिताका कर्तृत्व है, फलका भोक्ता पुत्र है अथवा परलोकगतपिताकी अन्त्येष्टिका कर्तृत्व पुत्रमें है, फलका भोक्ता पिता है, उसी प्रकार त्रयीके आधारपर पितृवचनपालन द्वारा राजसञ्चालनकर्तृत्व भरतजीमें है। उसके फलरूपमें परितोषकी प्राप्ति सुरपुरगामी पितामें हैं। इसीको भरतजीके लिए सुकृत सुजसु कहा है।

उक्त चौपाईसे यह भी संकेत है कि 'पितुहित भरत कीन्हि जसि करनी'से भरतजीने गुरुजीकी आज्ञा मानकर स्वर्गवासी राजाकी तुष्टिके लिए जिस प्रकार कार्य किया उसी प्रकार उनके विशेष परितोषके लिए 'पालहु प्रजा सोक परिहरहू'को कार्यान्वित करना है। तब वह दोषभागी न होकर पुण्य एवं यशस्के भागी होंगे।

पूर्वपक्षहीमें भरतजीको विवेक करनेका ध्वनि

शा० व्या० : चौ० ४ दो० १७३में कहे गुरुजीके वचन 'सोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई'को ध्यानमें रखकर भरतजीको अपनी धर्मोपधा-शुद्धिका विचार करते हुए गुरुजीके उपर्युक्त वचनको अपनानेमें परमधर्मका विवेक करना है। जैसे प्रभुका सेवकत्व स्वीकार करनेके पहले यदि भरतजी राजपद लेते हैं तो मन्थराकी मन्त्रणा (चौ० ८ दो० १९)से अपनाये कैकयीके पक्ष (चौ० १ दो० २१)में भरतके अभिमतत्वकी शंका विषय यथार्थ हो जायगा। राजाके वचन 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे'की सत्यता तभी रहेगी जब 'सेवा करेहु सनेह सुहाए'को पहले अपनाया जायगा। अभी तो गुरुजीके हेतूपन्यासके साथ उपस्थापित विधियोंसे 'राजु' एवं 'करहु राजु'का समन्वय कर स्वामित्वको अपनाते हैं तो उसमें भरतजी स्वामिद्रोह रूप दोष देखकर अपना असन्तोष प्रकट करेंगे।

मुनिवचनपर विशेषवक्तव्य

भरतजीसे कहे गुरु वसिष्ठजीके वचनका विश्लेषण निम्न पद्धतिसे इस प्रकार कहा जयगा—

१. सिर धरि रजायसु करहू—उत्पत्ति विधि है।
२. रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता वचन फुर चहिअ कीन्हा—से प्रयोगप्राशु-भावात्मक प्रयोगविधिका पर्यवसान है। चौ० २ दो० १७१में ज्ञातव्य है कि 'सुदिन सोधि'से उक्त विधिमें अपेक्षित सामग्रीकी पूर्णता भी सिद्ध है।
३. नृपहिं बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवानात्मक विधिमें वचनको प्रमाण माननेकी प्रार्थना है।
४. करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई—के द्वारा विधिके अनुष्ठानमें प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः बतायी।
५. अवसि नरेसबचन फुर करहू—के अन्तर्गत 'अवसि'सेविधिके अनुष्ठानाभावमें

प्रत्यबाय एवं 'फुर करहू'से विलंब हेतुसे त्रयीके प्रामाण्यमें शङ्काका भाव बताया वैसा होना इष्ट कैसे होगा ?

गुरुजीके उपर्युक्त वचन चित्रकूटयात्राके अनन्तर समविन्त होंगे। भरतजीकी उपधाशुद्धिके पूर्व गुरुजीके वचन बाधितार्थक नहीं किन्तु तत्कालमेंअनुष्ठानतः अप्रमाण होनेसे पूर्वपक्षके रूपमें ज्ञातव्य कहेंगे।

दृष्टव्यापारकी उपेक्षा ही पूर्वपक्षका दोष है

ध्यातव्य है कि राजनीति व्यापारविधया अदृष्टको गौण रखकर प्रजारंजनको मानती है जैसा आगे 'पालहु प्रजा सोक परिहरहू'से व्यक्त किया जायगा। उसका यहाँ विचार नहीं किया है यही पूर्वपक्षमें दोष है।

गुरुजीके पूर्वापरवचनपर विचार

गुरुजीने 'सिर धरि राज रजायसु'से एकओर पिताकी आज्ञापालन और 'करहु राज परिहरहु गलानी'से दूसरीओर राज्यकी स्वीकृति इस प्रकार 'पालहु प्रजा सोक परिहरहू'की समस्या भरतजीके सामने रख दी है जिसका समाधान भरतजीको अपने विवेकसे करना है। इसी विषयमें बाधका विचार उत्तरपक्षमें भरतजी करेंगे।

संगति : सभामें गुरुजी द्वारा रखे ८ चौपाईमें कहे प्रस्तावका समर्थन-अनुमोदन आगे सचिव द्वारा कहा जा रहा है।

दो०—कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर-जोरि।
रघुपति आए उचित-जस तस तब करब बहोरि॥१७५॥

भावार्थ : सभामें मन्त्रिगण हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोले कि गुरुजीके आदेशका पालन भरतजी अवश्य करें। फिर रघुनाथ श्रीरामके आनेपर जैसा उचित हो वैसा करें।

विध्यतिक्रमणमें प्रत्यवाय

शा० व्या० : गुरुजीके आदेश 'अवसि नरेसबचन फुर करहू'में 'अवसि'पर बल देते हुए राजशासनकी दृष्टिसे प्रजापालनको महत्त्व देनेके लिए मन्त्रिगण 'अवसि' कहकर अपनी पूर्ण सहमति प्रकट कर रहे हैं साथ ही यह भी ध्वनित कर रहे हैं कि गुरुजीका आदेश न माननेसे अपराध होगा।

औचित्यपर राजनीतिका बल

राजनीति दृष्टकार्यपर अधिक बल देती है इसलिए उचितकी व्याख्यानुसार गुरुजीकी प्रसन्नताको प्रत्यक्ष देखकर उनके वचनानुसार प्रभुकी प्रसन्नताकी संभाव्यता (.सौंपेहु राज रामके आये 'रघुपति आये उचित जस'से)को मन्त्रिगण पुष्ट कर रहे हैं। 'तस तब करब'का औचित्य यही है कि श्रीरामके आनेपर गुरुजी और प्रभुको जो प्रिय होगा वैसा भरतजी करें।

संगति : चौ० ६ दो० १६१ में कौसल्याजी और भरतजीकी स्थितिको 'करत

विलाप'से व्यक्त किया था, अभी कौसल्याजी धैर्यको अपनाकर कर्तव्यपर ध्यान देती हुई अनुमोदन कर रही हैं।

चौ०—कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत-पथ्य गुरआयसु अहई ॥१॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु कालगति जानी ॥२॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥३॥
परिजन-प्रजा-सचिव-सब अंबा। तुम्हही सुत ! सब कहँ अवलंबा ॥४॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥५॥
सिर धरि गुरआयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजनदुःख हरहू ॥६॥

भावार्थ : धैर्य धारण करके कौसल्याजी कह रही हैं हे पुत्र ! गुरुजीकी आज्ञा हितकारिणी है। उसीमें अपना हित मानकर आदेशका आदर करो। कालकी गतिको समझकर दुःखको छोड़ो। रघुनाथ श्रीरामजी वनमें हैं, राजा इन्द्रलोकमें हैं, ऐसी स्थितिमें तुम इस प्रकार कायरता दिखाते हो ? हे पुत्र ! (परिजन, प्रजा, मन्त्रिगण, सब माताएँ)—सबको तुमही सहारा देनेवाले हो। विधाताकी वामतासे होनेवाली कालकी कठोरताको देखकर धैर्य धारण करो। माता बलैइया लेती है कि तुम गुरुजीकी आज्ञा मानकर उसका अनुसरण करो। प्रजापालन करके परिजनोंका दुःख दूर करो।

प्रजापालन न करना कायरपना है

शा० व्या० : 'पिताश्रीके न रहने और श्रीरामके वन चलेजाने पर प्रजापालन सर्वावश्यक कार्य है। उस कर्तव्यसे विमुख होना या उसमें अपनी असमर्थता समझना कायरता है जिसको 'कदराहू' कहा है। 'एहि भाँति'से भरतजीके 'मोर मत' सम्बन्धी उद्‌गारोंकी ओर संकेत किया है।

माताके स्नेहका प्रकाशन

चौ० १ दो० ५३में 'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू'में पुत्र श्रीरामके प्रति कौसल्या माताजीके जो स्नेह प्रकट हैं वही यहाँ 'बलिजाई'से भरतजीके प्रति व्यक्त हैं। 'बलि जाई'से गुरुजीके आदेशपालनपर विशेष बल दिया है।

गुरुवचनमें प्रमाणत्रयसिद्धहितावहता

कौसल्याजीके लिए बार-बार 'धरि धीरजु' कहनेका कारण यह है कि पति-वियोगके दुःखमें पतिव्रताका धैर्य जाता रहता है। धैर्यमें होनेवाला निर्णय प्रामाणिक माना जाता है।

पथ्यका भाव है कि गुरुजीका आदेश प्रत्यक्षादितीनों प्रमाणोंसे प्रमिताथर्क है अतः हितावह है। राजनीतिदृष्टिसे पथ्यका भाव है कि बिषाद या शोककी अवस्थामें दुर्बलता आती है जिससे परराज्यको बल मिलता है स्वराज्यान्तर्गत कृत्यपक्षमें क्रोध, लोभ, भय, मान आदि दोषोंको पनपनेका अवसर मिलता है। ऐसा प्रमाद राज्य-विनाशका कारण हो सकता है।

संगति : भरतजीके हार्दिक भावका उल्लेख शिवजी कर रहे हैं।

चौ०—गुरके बचन सचिवअभिनन्दनु। सुने भरतहिय हित जनु चन्दनु ॥७॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी। सील-सनेह-सरल-रससानी ॥८॥

भावार्थ : भरतजीने गुरुजीके वचन और मन्त्रिगणोंके अभिमतको सुना तो हृदयमें कुछ शीतलताका अनुभव हुआ। फिर माता कौसल्याजीकी मृदु वाणी सुना जिसमें शील स्नेह सरलता और सरसता थी।

सुने, बहोरी आदिका अर्थ

शा० व्या० : 'सुने'से वह श्रवण बताया गया है जिससे उपदेष्टाके तात्पर्यभूत अर्थको ग्रहण किया जाता है।

'जनु चन्दनु'से हृदयके सन्तापका अल्पकालिक शमन कहा गया है, 'जनु'से पूर्ण समाधान न होना ज्ञातव्य है।

'मृदुबानी' कर्णमधुर हृदयप्रमोदकरवाणी है। 'रससानी'का भाव है कि कौसल्याजीकी वाणीमें शील-स्नेह-सरलताका आस्वाद सभासदोंको मिल रहा है। ऐसी वाणी ही सभासदोंकी एकताको बनानेमें प्रभावकारिणी होती है। कौसल्याजीकी मृदुवाणीका प्रभाव यह हुआ कि सबके हृदयसे असूया, आशंका, भय दूर हो गया और भरतजीके प्रति स्नेहका उद्रेक हुआ।

संगति : कौसल्याजीकी मृदुवाणीका प्रभाव गुरु, मन्त्री, सभासद आदि उपस्थित लोगों तक ही सीमित न होकर भक्तिरसके रसिक, सन्त-महात्माओंपर भी हुआ है जैसा अग्रिम छन्दमें कहा जा रहा है।

छन्द—सानी सरल-रस मातुबानी सुनि भरतु ब्याकुल भए।
लोचनसरोरुह स्रवत सींचत बिरहउर-अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की ॥१७६॥

भावार्थ : स्नेहरससे सनी माता कौसल्याजीकी निष्कपट वाणीको सुनकर भरतजी व्याकुल हुए। उनके कमलनेत्रोंसे अश्रु बहने लगा मानो उस जलके सिंचनसे रामविरहरूपी पौधेमें नया अंकुर निकला हो। भरतजीकी विह्वलदशाको देखकर उस समय सबको शरीरकी सुधि जाती रही। अर्थात् तत्कालके लिए सब लोग स्तब्ध रह गये। तुलसीदासजी कहते हैं सहजस्नेहकी सीमामें स्थित भरतजीकी सराहना सब लोग आदरपूर्वक करने लगे।

भक्तिमूलक स्नेहका संक्रमण

शा० व्या० : भरतजीके सहजस्नेहकी सीमा रामभक्तिमूलक है जो कौसल्याजीने चौ० १ से ३ दो० १६९ में कहा है। 'सानी सरलरस बानी' वही है जो चौ० ४ दो० १६७ में 'छलबिहीन सुचि सरल सुबानी'की व्याख्यामें कही गयी है।

शुचि वक्ताका आन्तरिक भाव उसके वचनोंके द्वारा प्रकट होकर शुद्ध हृदयवाले श्रोताओंमें संक्रमण करता है। पुनीता कौसल्याजीकी प्रेमरससे सनी वाणीको सुनकर पवित्रात्मा भरतजी स्नेहसागरमें गोता लगाते रामभक्तिमें तन्मय हो गये। इन दोनोंके स्नेहभावका संक्रमण संपूर्ण उपस्थित जनोंमें दिखायी पड़ने लगा जिसको 'बिसरी सबहि सुधि देहकी'से व्यक्त किया गया है। 'भरतु व्याकुल भए'का कारण यह है कि बिना प्रभुसे भेंट किये गुरुजी, माताजी आदिके वचनका पालन एवं प्रभुप्रसादके बिना राज्यस्वामी होकर प्रजा-पालन कैसे संभव हो सकेगा ?। एकओर रामविरहकी पीड़ा है दूसरी ओर प्रभुदर्शनकी लालसा है। 'सींचत विरहउर-अंकुर नए'से रामदर्शनकी उत्कट अभिलाषा व्यक्त की गयी है।

'सराहत सकल सादर'से चौ० ६ दो० ४८ में कही 'एक भरतकर सम्मत कहहीं। एक उदास भायँ सुनि रहहीं'की शंकाकी समाप्ति बतायी। भाई-भाईमें होने-वाले अर्थशास्त्रोक्त एकार्थाभिनिवेशकी समाप्ति भी स्पष्ट है। भरतजीकी विश्वासार्हतामें पूर्ण विश्वस्त होकर सब लोग एकस्वरसे भरतजीकी सराहना कररहे हैं। 'सकल सराहत'से ध्वनित है कि भक्तिरसके रसिक भक्तों महात्माओंको भरतजीके 'सींव सनेह'का आस्वाद मिल रहा है। 'सरलरससानी वाणी'का यही औचित्य है कि भरतजी सबके प्रशंसाके पात्र हो रहे हैं।

संगति : सबके सराहनाकी कृतज्ञतामें भरतजीका सर्वोपधाशुद्ध वक्ष्यमाण भक्तिमय विनयके उपक्रममें भरतजीका धैर्य प्रकट हो रहा है।

दो०–भरतु कमलकर जोरि धीरधुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि ॥१७६॥

भावार्थ : धीरोंमें परम धीर भरतजी स्नेहशिथिल हो गये थे, अब पुनः धैर्यमें स्वस्थ हो हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सबको उचित उत्तर देनेमें तत्पर हो रहे हैं। उनका वचन मानो अमृतसे सना है।

धीरताका फल

शा० व्या० : 'धीरधुरंधर'से भरतजीकी स्वाभाविक धीरता तथा 'धीर धरि'से कृतकधीरता स्फुट है जिसमें विद्याका प्रकाश, त्रयी और राजनीतिका सत्तर्क पूर्वक समन्वय प्रकट होगा।

'उचित उत्तर'से भरतजीके उत्तरका औचित्य दिखाया है। अर्थात् उनका उत्तर गुरुजी, माताओं, सचिवों सहित प्रजाप्रतिनिधियों आदिको सन्तोष तथा प्रभुको प्रसन्न करनेवाला होगा।

'बचन अमिअ जनु बोरि'का भाव है कि भरतजीके वचनमें अमृतके समान जीवनदातृत्व-गुण सबके लिए सुखदायक होगा जैसा आगे चौ० १, दोहा १८४में 'भरतबचन सबकहँ प्रिय लागे। रामसनेह सुधा जनु पागे'से स्पष्ट होगा। भरतजीका

धर्ममय नीतिसे समन्वित भक्तिमय तर्कयुक्त वचन ज्ञानोपलब्धिरूप अमृतका पान कराके सबको सुख देगा।

भरत बुद्धिका सौष्ठव

भरतजीके वचनोंमें उन सब बातोंका सूक्ष्म विचार व्यक्त होगा जो दोहा १६०की व्याख्यामें कहा गया है। मुनि वसिष्ठ एवं कौसल्यजीका वचन धर्मनिर्देशक सिद्धान्तके रूपमें पूर्वपक्ष कहा गया है। उत्तरके पूर्वमें भरतजी भक्तिपंथका अनुसरण करते हुए मुनिमत माननेमें अपना असन्तोष प्रकट करेंगे। भरतजीकी शुचिता धीरता-प्रयुक्त मतिका महत्त्व कौसल्यजीने चौ० १ से ३ दो० १६९ में प्रकट किया है जिसका परिचय सबको चित्रकूट-यात्रामें मिलता रहेगा। भरतजीके राजस-तामससे असंपृक्त सात्विक बुद्धिका सदुपयोग शुद्धिकी उपधा परीक्षामें सफल होगा। एवं च भरतजीकी मतिकी निर्दुष्टतासे उनका अयोध्यावासी समाज, वनवासी तथा देवसमाज भी विश्वस्त होकर सराहना करेंगे। उचितसे 'व्यसने अभ्युदये च बुद्धि अवस्थापयति, आन्वीक्षिकी पुनः सर्वविद्यातत्त्वप्रकाशने व्याप्रियमाणा अत्यन्तं उपकरोति'के[1] अनुसार भरतजीके बुद्धिका सौष्ठव स्फुट हो रहा है।

संगति : उसके उपक्रममें प्रथमत भरतजी अपना विनय प्रकाशित कर रहे हैं।

चौ०—मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा-सचिवसंमत सबहीका ॥१॥

भावार्थ : गुरुजीने जो उपदेश दिया है वह भला है, प्रजा मंत्री आदि सबसे समर्थित है।

त्रयी एवं राजनीतिके समन्वयकी सूचना

शा० व्या० : राजनीतिविद्याका रक्षण न होनेसे त्रयी-धर्म असत्-प्राय हो जाता है, इसलिए भक्तिका संबल लेकर भरतजी अभी त्रयीका आश्रय न लेकर राज-नीतिकी स्थापनामें अग्रसर होंगे। चित्रकूटमें प्रजाके मतैक्यसे अपने प्रति विश्वास जम जानेपर प्रभुके आदेशसे त्रयीके आश्रयपर गुरुजीके उपदेशानुसार पिताश्रीके वचनको प्रमाण मानकर अयोध्याका राज्यसंचालन करना स्वीकार करेंगे जिससे सत्यसन्ध राजाके वचनानुसार 'भरतहि टीका' और 'सेवकाई'का निर्वाह होगा।

भरतविचारमें संगमस्थिति

दो० १६० की संगतिमें भरतजीके विचारोंमें त्रिवेणी संगमका जो रूप कहा गया था, वह यहाँ स्पष्ट हो रहा है। जैसे यहाँसे भरतजी प्रतिज्ञामात्र करते जायेंगे, हेतुका उपन्यास भरद्वाज ऋषिके सामने होगा मध्यमें प्रभुचिन्तन है यह 'सरसई ब्रह्म विचार प्रचारा'में सरस्वतीका रूप। पिता श्रीके वचनप्रमाणके अन्तर्गत प्रभुके आदेशको मानकर अयोध्यामें लौटकर त्रयीके अनुष्ठानमें भरतजी द्वारा विधिनिषेधका पालन होगा वह 'विधिनिषेधमय कलिमल हरनी'से यमुनाका रूप होगा। चित्रकूटमें

---

१. कौ० अर्थशास्त्र १।१।१

भक्तिपंथकी स्थापनाके अनन्तर भक्तितत्त्वोंका दर्शन कराते हुए प्रभुके प्रति उत्कट अनुरागकी वृद्धिसे 'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा'में कहा गंगाजीका रूप होगा।

गुरूपदेशकी प्रमाणता

उपक्रममें चौ० ४ दो० १६१ की व्याख्याके अनुसार गुरुजीके नीतिधर्ममय वचनकी प्रमाणताको भरतजी 'उपदेस नीका'के रूपमें स्वीकार कर रहे हैं क्योंकि राजपदग्रहणमें धर्म-नीतिका बल गुरुजीने स्पष्ट किया है। उसमें धर्मकी दृष्टिसे पिताके वचनप्रमाणरूप-त्रयीप्रमाणसे प्रमित सुख, सुयशस्, स्वर्गलोककी प्राप्ति आदि दिखायी है। तथा नीतिकी दृष्टिसे देशकालकी परिस्थिति, भरतजीकी गुणसंपत्ति, आप्तजनों एवं मन्त्रियोंकी सम्मति अर्थात् नीतिसम्मत संवासिमत, स्वजनमत, एवं बन्धुमतको भी दर्शायाया है।

कैकेयीके वचनकी सहेतुक अप्रमाणता

प्रश्न हो सकता है कि कैकेयीके वचन ('सहितसमाज राजपुर करहू')के अनुरूप ही गुरुजीने भरतजीको राज्यस्वीकृतिके लिए प्रोत्साहन दिया है, तब कैकेयीका वचन प्रमाणरूपमें भरतजीने क्यों स्वीकृत नहीं किया ?

इसका समाधान चौ० ४ दो० १६१ की व्याख्यामें किया गया है जिसका आशय यह है भरतजीकी उक्ति ('पापिनि सबहि भाँति कुलनासा')के अनुसार राग और अपनीतिकी अधीन होनेसे माताका वचन प्रमाण नहीं हो सकता।

भक्तिकी अप्रतिष्ठामें गुरूपदेशकी अननुष्ठानलक्षण अप्रमाणता

ध्यातव्य है कि धर्मकी प्रतिष्ठा गुरुपक्षमें होते हुए भी भक्तिपक्षमें जब तक अपनी शुचिता स्फुट न होगी तब तक गुरुजीके कहे 'सोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई'के अनुसार प्रभुभक्तिसंयुत हरिजनत्वकी स्थिति नहीं बनेगी। इसलिए 'सौंपिहु राजु रामके आए'में भरतजी अपना छल देख रहे हैं और 'सेवा करेहु सनेह सुहाए'को ग्राह्य मान रहे हैं। गुरूपदेशको तत्कालके लिए अननुष्ठानात्मक अप्रमाण माना है—यही भरतजीका विवेक है जिसको अर्थशुद्धिकी उपधा परीक्षामें प्रकट कराना गुरुजीको इष्ट है। यही कौसल्या माताको भी इष्ट है।

संगति : आगे गुरुसन्मानकी तरह कौसल्यावचनको प्रमाण मान रहे हैं।

चौ०—मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥२॥

भावार्थ : माता कौशिल्याजीने औचित्यका विचार करके जो आदेश दिया है, उसको अवश्य कर्तव्य मानकर मैं आदरपूर्वक करना चाहता हूँ।

विधेयकी उचितता

शा० व्या० : 'अवसि'का भाव है कि 'मानहु मोर बचन हित लागी'में गुरुजीने अपना मत स्वीकार करनेकी भरतजीको जो सूचना दी है उसमें माताजीकी सम्मतिको सुनकर पिताश्रीके वचनप्रमाणको गुरुजी व माताजीके आदेशसे पालन करना कर्तव्य

है। ध्यातव्य है कि विधिकी कर्तव्यतामें बिना विचार किये १ चौपाईकी व्याख्यानुसार यथा समय कार्य करना भक्तिका पोषक होगा।

संगति : बा० का० चो० १ से ४ दो० ९९ में शिवजीकी उक्ति ('मातु पिता गुर प्रभुकै बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी' 'तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिरपर नाथ तुम्हारी')में हितकारित्वकी स्थिति कही गयी—आगे 'हितबानी'का प्रयोग करके ग्रन्थकार माता-पिता आदिके उक्त हितकारित्वकी व्याप्तिको स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—गुर-पितु-मातु-स्वामिहितबानी। सुनि मन मुदित करिअ भल मानी ॥३॥

भावार्थ : गुरु, पिता, माता, स्वामीकी हितकारिणी वाणीको सुनकर अपना भला मानते हुए उसका पालन करना कर्तव्य है।

चौ०—उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातकभारू ॥४॥

भावार्थ : गुरु, पिता आदिके वचनमें उचित-अनुचितका विचार करनेसे धर्म बिगड़ता है। सिरपर पापका भार भी चढ़ता है।

हितकर्ताके वचनमें विचारकी सदोषता

शा० व्या० : चौ० ३में कही व्याप्तिमें अप्रामाणिकताकी शङ्का करनेसे महान् अपराध होता है। अतः हितकारी गुरु, माता, पिता, स्वामीके वचनमें उचित-अनुचितका विचार नहीं करना चाहिए। इसीको शिवजीने 'सिर धरि आयस करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा' (चौ० २ दो० ९९ बा० का०) कहकर परम धर्म स्थिर किया है, जिसको भरतजी 'धरमु जाइ' कहकर अनूदित कर रहे हैं। आप्तवचनकी प्रामाणिकतामें सन्देह करना भारी पाप है। शिष्य या पुत्र अपनी बुद्धिसे हिताहितका विचार करनेमें समर्थ नहीं है, इसलिए हितकारी गुरु, माता, पिता और स्वामी द्वारा निर्दिष्ट वचनमें उचित-अनुचितका विचार करनेके वह अधिकारी नहीं हो सकते। अतः उनके वचनको बिना विचार किये मानना श्रेयस्कर है। इसमें अन्धविश्वास नहीं है, अपितु उनकी आज्ञा न माननेमें विद्या, धर्म, व्रत आदिके हानिकी सम्भावना ही अधिक है। जिसको 'पातकभारू'से व्यक्त किया है।

संगति : उसीको अपने वचनोंसे दृढ़ करते हुए आदेश पालनमें सेवकाईका विरोध स्वामिद्रोह देखकर गुरु वचनपर अपना अपरितोष प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई ॥५॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोषु न जीके ॥६॥

भावार्थ : आप लोग मुझे वही सरल शिक्षा दे रहे हैं जिसका आचरण करनेमें मेरा हित होगा—यद्यपि यह बात मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ, फिर भी मेरे मानसने परितोष नहीं हो रहा है।

शा० व्या० : 'तुम्ह'से गुरुजी कौसल्याजी आदि सब विवक्षित हो सकते हैं

अथवा चौ० १-२में गुरुजी एवं माता कौसल्याजीका पृथक् उल्लेख होनेसे 'तुम्ह'से सचिव, महाजन आदि प्रजाप्रतिनिधि विवक्षित हैं।

'सरल सिख'का भाव अवहित्थारहित शिक्षाकी सरलता है अर्थात् वह सुसाध्य और उसके आचरणमें अपना हित है, इसको भरतजी पूरी तरहसे समझते हैं।

भक्तिस्थापनाके बाद गुरुवचनकी स्वीकृति

'तदपि'का भाव है कि उनके वचनोंमें श्रद्धा रखते हुए, उचित-अनुचितके विचारमें दोष समझते हुए, प्रमाणाधीन प्रमेयसिद्धिको अच्छी तरह समझते हुए भी 'परितोष होत न जीके'में भरतजी अपने मनस्में समाधान न होनेमें भक्तिपंथकी निष्ठापर आघात समझ रहे हैं। क्योंकि 'सौंपेहुँ राजु रामके आए'को मानकर राज्य लेनेमें स्वामिद्रोह दोष प्रकट है। यहाँ ध्यान रखना है कि विचारमें भरतजीका सूक्ष्म विवेक स्फुट है। गुरुजीका उपदेश सिद्धान्तपक्ष होगा, पर तत्कालमें भरतजीका असन्तोष होनेसे वह अनुष्ठानलक्षणात्मक पूर्वपक्ष कहा जायगा। चित्रकूटमें असन्तोषका निरास हो जानेपर गुरुजीका पक्ष ही निर्दुष्ट अनुष्ठानलक्षणात्मक सिद्धान्त प्रमित ठहरेगा।

गुरूपदेशकी हेतुतासे साध्यसिद्धिका विश्लेषण

तर्कदृष्टिसे तत्कालमें गुरुजीके आदेशमें कृतिसाध्यता, इष्टसाधनता और बलवदनिष्टाननुवन्धिताके अनुमानमें भरतजीका विवेक इस प्रकार है—

१. **कृतिसाध्यता**—आरम्भसे ही सब भाई रामसेवाके संकल्पमें दृढ़ हैं। अतः उसके विपरीत आचरण करना (राजपदासीन होना) भरतजी कृतिसाध्य नहीं समझते।

२. **इष्टसाधनता**—'राजकरहु, पालहु प्रजा'में प्रजाका सुख इष्ट है। श्रीरामका सेवकत्व स्वीकृत न करनेका कैकेयीसम्मत पक्ष भरतजीको अभिमत होनेकी शंका (चौ० ६ दो० ४८) प्रजामें यथार्थ हो जायगी यदि भरतजी रामसेवकत्वको प्रकाशित करनेके पहले राजपद ले लेते हैं। अतः इष्टसाधनताका तत्कालमें बाध है।

बलविदानिष्टाननुबन्धिता—राजपदासीन होनेसे सेवकत्वकी विधि बिगड़ जायगी तो बलवदनिष्टाननुबन्धिता सिद्ध नहीं होगी क्योंकि गुरुजी द्वारा उक्त ('जो न छाड़ि छलु हरिजन होई')की विधि भरतजीके लिए शोचनीय हो बलवदनिष्टाननुवन्धिताको बाधित करेगी।

असन्तोषकी झलक

इसप्रकार भक्तिसमन्वित वचन ('जो न छाड़ि छलु हरिजन होई')में पूर्ण आस्था रखकर राजपदकी स्वीकृतिसम्वन्धित सभी विधि-वचनोंमें भरतजी असन्तोष प्रकट कर रहे हैं जैसे पार्वतीने ज्योतिषानुमोदित नारदजीके वचन प्रमाणके विरुद्ध सप्तर्षियोंके वचनको शास्त्राविरुद्ध समझकर स्वीकार नहीं किया। यहाँ यह भी ध्यातव्य है

कि ज्योतिष-सामुद्रिक आदि शास्त्रोंके प्रामाण्यसे राजाके लक्षण श्रीरामजीमें ही पूर्ण हैं तो सेवकत्व-गुणसे पूर्ण भरतजीको राजा बननेमें असन्तोष उनके विद्याविवेकका परिचायक है।

'तदपि परितोष होत न जी'के सम्बन्धमें विशेष विचार

१. अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते'–इस मीमांसान्यायके अनुसार तत्कालमें गुरुजीके उपदेशसे राजपदग्रहण करना भरतजी सामर्थ्यके बाहर समझते हैं।

२. यहाँ 'जद्यपि यह समुझत हउँ नीके'से विद्याओंके प्रति आदर दिखाते हुए भरतजी गुरुजीके उपदेशमें कही त्रयीसम्मत धर्मनीतिको भी समझ रहे हैं, तो भी जबतक वह अपनेको भक्तिकी छत्र छायामें समासीन नहीं करते और उसके अन्तर्गत आत्मसमर्पण नहीं कर लेते तबतक हृदयमें सन्तोष नहीं है। क्योंकि चौ० ५ दो० १६०में 'तात न ! रामहि सौंपेहु मोहीं'से भरतजीने भक्तिकी अन्तिम अवस्था (आत्मनिवेदन) दिखायी है।

३. परशुरामजी और राजा ययातिके दृष्टान्तोंमें राजपदका सम्बन्ध न होनेसे भरतजी अपने विषयमें उनका वैधर्म्य समझते हैं।

४. चौ० ८-९ दो० १०में प्रभुके संकल्पित अनौचित्यको अपने मतिफेरकार्यमें अनुकूल समझकर सरस्वतीने जो कार्य किया उसका परिणाम भरतजीकी सुमतिमें 'भए विधिविमुख विमुख सब कोई'के रूपमें प्रतिभासित हो रहा है। अर्थात् राजपद ग्रहणमें गुरुजी, माताओं, सचिवों, महाजनों आदि सबकी सम्मतिको भरतजी भक्तिपंथकी स्थापनामें कुटिललाईके रूपमें देख रहे हैं। क्योंकि 'संसय सील प्रेमबस अहहू'की स्थितिमें कुटिलाईका प्रचार राज्यमें होगा तो धर्मनीतिके विनष्ट होनेकी सम्भावना है जैसा आगे चौ० १-२ दो १८९में स्पष्ट करेंगे। इस कुटिलाईको दूर करनेमें प्रभु ही समर्थ होंगे। इसलिए कविने प्रभुसे प्रर्थना करते हुए 'हरहु भगतमन कै कुटिलाई (चौ० ८ दो० १०) कहा है। इस कुटिलाईके निवारणमें भरनजीकी उक्ति 'देखे बिनु रघुपति पद जिय कै जरनि न जाई' (दो० १८२) स्मरणीय है। निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार 'मामेकं शरणं व्रज'से मोहसे दूर होकर अर्जुनको कर्तव्यमें निष्ठा हुई उसी प्रकार प्रभुकी शरणमें जाकर भरतजीका असन्तोष दूर होगा। तब वह अयोध्यामें लौटकर राज्यसंचालनेमें प्रवृत्त होंगे।

५. सन्तोषकी व्याख्या—('संशयाभावान्मनसो वैमल्यं' मनः प्रसादः' तथा राजनीतिशास्त्रमें कथित 'सहज विनयो द्रव्यं')के अनुसार भरतजीका असन्तोष उनके सहजद्रव्यत्व और मनःप्रसादका परिचायक है।

६. भरतजीके शुचिताद्योतक असन्तोषमें मुख्य कारण ये हैं—कैकेयी-प्रसूत्व, स्वयंमें 'कुटिलमतिमत्त रामविमुख गतलाज'का आभास, धर्मशीलताका अभाव, राजपद लेनेमें 'रसा रसातल जाइहि'की प्रसक्ति, राजद्रोहरूप ('साइँ द्रोह')में पापनिवास होना आदि।

७. शास्त्रोंका प्रयोजन वेदवचनोंकी मर्यादा स्थापित करना है उसका भी अन्तिम उद्देश्य भक्तिशास्त्रकी अधीनतामें ईशभक्ति है। अर्थात् शास्त्रोंका उपयोग भक्तिशास्त्रके पोषणमें है। भक्ति सब शास्त्रोंका रक्षक है। जैसे राजा और उसकी प्रकृतिके उपकार्युपकारकभावके माध्यमसे पोष्यपोषकसम्बन्ध है। निष्कर्ष यह कि प्रकृति और राजा दोनों सुरक्षित होंगे तो राज्य मुरक्षित सुशोभित होता है। इसी प्रकार सभी शास्त्रों के समुचित समादरसे भक्तिशास्त्र पुष्ट होगा तो सब शास्त्रोंके समन्वयसे प्रभुकी प्रसन्नताका फल जगत् मंगल होगा। जिस प्रकार रक्षक होनेके नाते राजा प्रधान या स्वामी है, उसकी छत्रछायामें अन्यान्य प्रकृति अङ्गभूत हो राजाकी पोषक कही जाती हैं। उसी प्रकार भक्ति रक्षकरूपमें प्रधान है, उसकी छत्रछायामें अन्यान्य शास्त्र पोषकरूपमें अङ्गभूत हैं। अतः ध्यान रखना चाहिए कि भक्तिकी स्थापनामें अन्य शास्त्रोंका अनुपेक्षणीय योगदान है। अतः कहना यह है कि शास्त्रोक्त धर्मोंके आचरणमें ही लिप्त जीव यदि ईश्वरशरणागतिसे विमुख होनेकी स्थितिमें आ जाता है तब वह मायाके प्रवाहकी ओर ले जानेके लिए शास्त्र उसको विपरीतार्थदर्शन कराते हैं। भक्तिके शरणमें रहकर जो साधु आन्वीक्षिकी विद्याका सहारा लेकर सूक्ष्म विवेकके द्वारा सम्पूर्ण शास्त्रोंका समन्वय करनेमें समर्थ होते हैं वे :जीव मायाके प्रभावसे बच जाते हैं जैसा भरतजीने अपने चरित्रसे दिखाया है। हेतूपन्यासपूर्वक पूर्वपक्षकी विवेचनामें माता प्रजा-प्रतिनिधि सम्मतिके साथ शास्त्र और पण्डितोंकी सम्मतिका निरूपण करते हुए गुरुजीने राजपद-स्वीकृतिका जो प्रस्ताव रखा है उसमें भरतजीके सामने उक्त शास्त्र-समन्वयका उत्तरदायित्व है। वह पूर्ण तब होगा जब भक्तकी दृष्टि अपने दोषों-अवगुणोंपर रहती है। अतः गुरुजीके 'करहु राजु'के आदेशपालनमें असन्तोष व्यक्त करते हुए भरतजी राजाकी मृत्यु एवं रामवनवासमें कैकेयीपुत्रत्वको कारण बताकर कुटिलमतिमत्त्व, निर्लज्जता और रामविमुखता आदि दोषोंकी प्रसक्ति स्वयंमें आरोपित करेंगे व (दो० १७८) आगे चित्रकूटमें 'सही सकता अनरथकर भूला, राम सुस्वामि दोष सब जनहीं'से अपनेमें ही दोषदृष्टि रखते हुए भक्तिभावका आदर्श प्रकट करेंगे। यह भी स्मरणीय है कि अपने अपरितोषका कारण भरतजी कैकेयीपुत्रत्व और कैकेयीकी करनीसे होनेवाले दुष्परिणामको भी स्पष्ट करेंगे जैसा दो० १७९से चौ० २ दो० १८१ तकमें व्यक्त है। इन हेतुओंसे राज्यस्वीकृतिपर भरतजीको असन्तोष हो रहा है।

असन्तोषके सब कारणोंका पूर्ण समाधान भरतजीको प्रभुचरणोंके आश्रित 'विवेक भुआल'के सम्राज्य (चित्रकूट)में विराजमान श्रीरामजीके शरणमें पहुँचनेपर होगा।

लोकमें अनुपादेयोपादेयत्वकी कसौटी

'मानाधीना प्रमेयसिद्धिः'के सिद्धान्तमें विचार करना है कि मानसिद्धप्रमेय ग्राह्य है अथवा त्याज्य है। उसमें भी प्रमेयसिद्धिमें नीति-अनीतिको देखकर ही

विद्वानोंको ग्राह्यत्व व त्याज्यत्वका विचार करना कर्तव्य है। इसलिए शास्त्रसिद्धि या विहित होनेपर भी वह अनीति है तो अनुपादेय है। अन्यथा उपादेय है।

कैकेयीजीके धर्मसम्वलित वरदानात्मक वचनकी सिद्धिमें कलंक एवं वैधव्यको देखकर राजादशरथजीकी जिस प्रकार हेयदृष्टि हुई उसी प्रकार माता गुरु आदिके प्रमाणभूत वचनसिद्ध प्रमेय (राजपद[1])में स्वामिद्रोह एवं प्रजाका अपराग (अविश्वास) समझकर भरतजी उसको अनीति होनेसे अनुपादेय (हेय) मान रहे हैं जो उनके अपरितोषसे व्यक्त है।

प्रश्न : राजपदग्रहणमें शास्त्रसिद्धप्रमाणमात्रसे गुरुजीने नीतिविरोधी प्रस्तावित भरतजीके सामने क्यों रखा ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि प्रभुके वचन' 'नीति न तजिअ राजपदु पाए'के अनुसार गुरुजी अर्थोपधा व धर्मोपधा-शुद्धिमें भरतजीका सहजविनय प्रकाशित करना इष्ट समझते हैं वह पूर्वपक्षोपस्थापनसे ही होगा अतः नीतिविरोधमें स्वमन प्रकटकर रहे हैं।

संगति : अपने असन्तोषका उत्तर जैसे होगा वैसा सिखानेकी प्रार्थना कर रहे हैं।

चौ०–अब तुम्ह विनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू ॥७॥

भावार्थ : आप सब लोग मेरी विनती अर्थात् नम्र निवेदनको सुनिये और मेरे अनुकूल आचरणीय शिक्षा दीजिये।

भरतजीकी नीतिसम्मत प्रार्थना

शा० व्या० : गुरुजीके उपदेशमें शोच्यता एवं वैधता दोनोंको सुनकर राजपद ग्रहणसम्बन्धी प्रवृत्ति-निवृत्तिके कर्तव्यमें भरतजीको असंदिग्ध, अबाधित निर्णयात्मक विधिकी अपेक्षा है। अभी सभामें हुए सर्वसम्मत निर्णयमें भक्तिपंथकी प्रतिष्ठा न होनेसे भरतजीको असन्तोष है। अतः यह प्रार्थना है।

ज्ञातव्य है कि सर्वोपधाशुद्ध-हितसाधन-समर्थ होते हुए भी गुरु वसिष्ठजी भरतजीकी प्रार्थना ('सिखावन देहू')के प्रत्युत्तरमें कुछ न कहकर अपनी कृतिसे भरतजीके असन्तोषको दूर करनेके लिए उनके प्रस्तावित चित्रकूटयात्रामें सहर्ष अनुगमन करेंगे। वहाँ भरतजीकी प्रार्थनापर (तजि सकोच सिखइअ अनुगामी' चौ० ८ दो० ३१४) प्रभुके सिखावनसे ही भरतजीका असन्तोष दूर होगा तभी पूर्वोक्त वक्तव्य (अंश ४)में कही कुटिलाईका उपशमन होगा।

संगति : असन्तोषके शामक उत्तरके उपक्रममें क्षमायाचना कर रहे हैं।

---

१. वेद विदित सम्मत सबहीका। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥
करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी ॥ चौ० ३-४ दो० १७५

चौ०–उतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष-गुन गनहिं न साधू ॥८॥

भावार्थ : भरतजी कह रहे हैं 'असन्तोषमें मैं जो उत्तर दे रहा हूँ, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। अत्यन्त दीन दु:खीके गुण-दोषपर साधु महात्मा ध्यान नहीं देते।

शा० व्या० : गुरुजनों, हितैषियोंके निर्णयका प्रत्याख्यान करनेमें आनदरका भाव न हो, इसलिए क्षमायाचनाके रूपमें 'छमब अपराधु'की उक्तिसे भरतजी अपना पक्ष सुनानेका अवसर माँग रहे हैं।

तर्कतः आदेश का हितकारित्व

शा० व्या० : 'दुखित दोष गुन गुनहिं न साधू'का भाव है कि साधु महात्मा अपने आदेशके पालनमें आर्तप्राणीकी प्रवृत्ति या निवृत्तिपर विशेष ध्यान नहीं देते बल्कि आदेशके यथार्थ निर्णयमें उसको जिस प्रकार सन्तोष हो, वैसा कार्य करते हैं। कहनेका आशय है कि असन्तोषकी स्थितिमें यदि वह आदेशपालनमें प्रवृत्त होता है तो उसका गुण नहीं मानते तथा प्रवृत्त नहीं होता तो उसका दोष भी नहीं मानते। अर्थात् धर्मका विचार करते हुए तर्कद्वारा आदेशपालनके निर्णयमें नैतिक दोष है तो असन्तोष होना गुण है, रागद्वेषके वशीभूत होकर आदेशपालनमें असन्तोष दिखाना दोष है। भरतजीकी उक्तिकी सत्यता गुरुजीकी पूर्वकथित प्रतिक्रियासे स्पष्ट हो जायेगी। अपने असन्तोषके निवारणार्थ प्रभुके पास जानेका भरतजीका निर्णय गुरुजीकी प्रसन्नताका साधक होगा। क्योंकि प्रभुके पास जाकर गुरुजीके निर्णय ('राज करहु')में भरतजीको परितोष हो जायगा। उदाहरणार्थ महाभारत-युद्धकी समाप्तिके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरको व्यासजी अपने द्वारा कहे भूतहत्याकी निवृत्तिके लिए अश्वमेधयज्ञ करनेमें सन्तोष न होनेपर अप्रसन्न नहीं हुए बल्कि धर्मराजको भीष्मपितामहके पास ले जाकर उनको पूर्ण सन्तोष करा दिया।

संगति : असन्तोष शामक उपधा सी परीक्षित शुद्धिको प्रकट करानेवाला भरतजीका वक्तव्य आरम्भ हो रहा है।

दो०–पितु सुरपुर सिय-रामु-बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि ते जानहु मोर हित ? कै आपन बड़ काजु ? ॥१७७॥

भावार्थ : पिताश्री स्वर्ग लोकमें हैं सीतारामजी वनमें हैं, ऐसी स्थितिमें आप लोग मुझको राजस्व स्वीकार करनेको कह रहे हैं तो क्या मेरा आप इसमें हित समझते हैं ? या अपने महत् कार्यकी सिद्धि जान रहे हैं ?

भरतजीका उपधाशुद्धिव्यंजक उत्तर

शा० व्या० : 'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई' 'तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू' के उत्तरमें भरतजी बोल रहे हैं। सप्रतिबन्ध दायका विना विचार किए स्वयं राज्याधिकारी बनकर स्वामित्व लेना स्वामिद्रोहरूप महादोष है, उसमें अपना हित कैसे हो सकता है ? कैकेयी-पुत्रत्वके फलस्वरूप वरयाचानासे पिताको शरीरत्याग करके

सुरपुरवासी होना पड़ा, धर्मके नामपर श्रीरामको वनवासी होना पड़ा, इसमें मेरा क्या सुकृत सुयशस् होगा ? 'आपन वड़ काजु' का स्पष्टीकरण आगे चौ० ८ में स्पष्ट होगा।

ज्ञातव्य है कि 'करन करहु मोहि राजु' से गुरुजीके निर्णयकी यथार्थता ही सिद्ध होगी अर्थात् स्वामिद्रोहरूप दोषका निरास होकर प्रभुके आदेशसे राज्यसंचालन-द्वारा प्रजा पालनसे सुयशस् और रामसेवाके सुखमें सुकृत प्राप्त होगा।

संगति : भरतजी स्वामी होनेका परिणाम सेवकत्वका अपहरण है, ऐसा समझा रहे हैं।

चौ०–हित हमार सियपतिसेवकाई सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ॥१॥

भावार्थ : श्रीसीतारामकी सेवामें ही हमारा हित है, परन्तु उस सेवकाईको माताकी कुटिलताने हर लिया है

माताकी कुटिलताका कार्य

शा० व्या० : सुमतिमें माता कैकेयीकी उक्तिके जेठ स्वामि सेवक लघु भाई' के अनुसार सीतापति श्रीराम की सेवकाईमें ही भरतजीका हित है, उसको 'भरतहि टीका' की वरयाचनासे माताकी कुटिलताने छीन लिया जिसको भरतजी 'मातु कुटिलाई' कह रहे हैं।

भरतजीके विवेकसे भक्तिका पोषण

उपर्युक्त चौपाईमें भरतजीने भक्तिसिद्धान्तको सुस्पष्ट किया है। दोहा २९में कहे 'देन कहेहु वरदान दुइ' से सम्बद्ध कैकेयीकी दो वरोंकी याचना धर्मसंवलित कही गयी है। और सत्यसंधताकी रक्षामें विवश राजाके वचनपालनात्मक धर्मकी प्रधानतामें 'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई'का उपदेश दिया गया है। जिसमें 'करहु राजु'की निर्देषतासे 'सुकृतु सुजसु'की सिद्धि बताकर माता तथा पंडितोंकी सम्मतिको भी कहा गया है। फिर भी नीतिविरोध होनेसे इस उपदेशको तत्कालमें अननुष्ठेय मानते हुए रामसेवकाईको हित समझना विमल विवेक है। भरतजीकी भक्तिका यह उच्चतम आदर्श है जो भक्तिपंथके उपासकोंके लिए मार्गदर्शक है जैसा भरद्वाज ऋषि दो० २०८ में कहेंगे। भरतजीके उक्त भक्तिकी पृष्ठभूमिकामें गुरुवसिष्ठजीने 'सोचनीय सबही विधि सोई जो न छाड़ि छलु हरिजन होई' (चौपाई ४ दोहा १९४) कहा है। कहनेका निष्कर्ष यह है कि पण्डितसंगतिमें रहकर शरणागतिका यथार्थ स्वरूप जानकर सब शास्त्रोंकी मर्यादा रखते हुए भक्तिका पोषण होता है तो वह माया-मोहकी अधीनतामें स्वकर्मसे विचलित होनेके अवसरपर रक्षक होती है। जैसे माया द्वारा मोहग्रस्त नारदजीके शरणागत होनेपर भक्तिने उनका रक्षण किया।

इस प्रकार भक्ति द्वारा उपासकोंके रक्षणमें शास्त्रमर्यादाका महत्त्व भी प्रकट है। इसमें ध्यान यह भी रखना है कि कर्मफलकी आकांक्षाको छोड़ शास्त्रानुमोदित अनुष्ठित कर्म और उसके फल प्रभुको समर्पित हों जैसा श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्। करोति

यद्यत् सकलं परस्मै नारायणेति समर्पयेत् तत् ।' अर्थात् जिसमें प्रभु प्रसन्न हों वैसा ही कायिक वाचिक मानसिक कार्य करना है। यदि किसी अवसरपर निषिद्धके अनुष्ठानसे प्रभुकी प्रसन्नता होती है तो उस कार्यको करनेमें हिचकिचाहट भी नहीं होनी चाहिए—उदाहरणार्थ गणेशजीकी पूजामें दूर्वा विहित है, तुलसी निषिद्ध कही गयी है। परन्तु पर्वविशेषपर निषिद्ध तुलसीका चढ़ाना भी गणेशजीके अनुग्रहका साधन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रमर्यादाको छोड़कर जो धर्म कर्म किया जाता है वह भक्तिमें परिगृहीत होगा कि नहीं इसमें संशय है। अतः संशयात्मक कर्मोंको छोड़कर शास्त्र-मर्यादित कर्मोंको करना इष्ट है, इसीसे भक्ति पुष्ट होती है।[1]

संगति : व्यतिरेकतः निर्णय सुना रहे हैं।

चो०—मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं॥२॥
सोक-समाजु राजु केहि लेखे। लखन-राम-सियबिनु पद देखे॥३॥

भावार्थ : मैंने मनस्में अच्छी तरह विचार करके देख लिया है कि वर्तमान शोक (पिताकी मृत्यु और रामवनवास) से ग्रस्त समाजको लेकर राज्य संचालन करनेसे कोई लाभ नहीं। बिना श्रीसीतारामके चरणोंका दर्शन किये और लक्ष्मणजीसे मिले मेरे हितका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

नीतिशास्त्रका उद्देश्य

शा० व्या० : जिस प्रकार त्रयीका उद्देश्य धार्मिकोंको प्रभुके प्रति सेव्य-सेवक-भावकी प्रेरणा देते हुए भक्तिमें ले जाना है उसी प्रकार लोकमें नीतिशास्त्र भी पारस्परिक प्रीतिको समृद्ध करते हुए प्रभुके प्रति सेव्यसेवक भावरूप—भक्ति योगकी ओर ले जाता है।

भरतजीके 'अनुमानि'में अनुमानप्रणाली इस प्रकार हैं—'प्रभुं उद्वासीकृत्य दूरस्थितोऽहं राज्यारोहणेन कल्याणं साधयितुं अक्षमः अल्पज्ञत्वात्'।

'दीख मन माहीं'का भाव है कि विद्वत्संगतिसे भरतजीकी प्रतिभामें उक्त अनुमान प्रतिभात हो रहा है। प्रभुको दूरकर अपनी स्वतन्त्र कर्तृता रखनेसे अल्पज्ञताके कारण कल्याणसे वंचित होना स्वाभाविक है। इसलिए कैकेयी माता द्वारा श्रीरामजीको वनमें भेजकर स्वतन्त्रकर्तृत्वमें राज्यस्वामित्वकी कामनामें भरतजी अपना स्वतन्त्र हित नहीं समझते। यतः जीव परतन्त्र है, अल्पज्ञ हैं, प्रभु ही एकमात्र स्वतन्त्र सवज्ञ हैं। उनकी शरणमें गये विना अपने हितको समझनेमें दूसरा उपाय नहीं है।

---

१. उक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें उत्तरकाण्डमें कहा है—
जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई।
श्रुतिसम्मत हरिभगति-पथसंजुत विरति-विवेक-धर्म ते विरत, विरति ते ज्ञाना।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी।

'राजु केहि लेखे'से व्यक्त है कि ज्येष्ठताको प्रतिबन्धक मानकर उसको दूर करना माताजीने भरत-राज्यके लिए जो उपाय किया है, उसके अनुसार राज्य लेनेमें पितृमरण और स्थायी[1] रामवनवासके अपराधकी प्रसक्ति भरतजीमें भी होगी। अतः 'सोक समाजु राजु'की कि शोच्य स्थितिमें राज्य लेनेका कोई अर्थ नहीं है।

श्रीसीतारामकी शरणागतिमें सेवक लक्ष्मणजीका स्मरण करना भागवतोक्ति (तद्भक्तेषु च सौहार्दं)से संगत है।

संगति : भरतजी पूर्वकथित अपने असन्तोषका स्वरूप निम्न दृष्टान्तोंसे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—बादि बसनबिनु भूषन भारू। बादि बिरतिबिनु ब्रह्मबिचारू ॥४॥
सरुजसरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा ॥५॥
जायँ जीव बिनुदेह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु-रघुराई ॥६॥

भावार्थ : विना वस्त्रके आभूषणोंको धारण करना व्यर्थ है, (भार है)। वैराग्यके विना ब्रह्मका विचार अथवा ब्रह्म-चिन्तन व्यर्थ है। रोगग्रस्त शरीरके लिए विपुल भोगसामग्री व्यर्थ है। विना भगवद्भक्तिके जप योगका साधन भी व्यर्थ है। सुन्दर शरीर होनेपर भी वह प्राणके विना व्यर्थ है। उसी प्रकार विना श्रीरघुनाथजीके सर्वस्वप्राप्ति व्यर्थ है।

भरतजीका विमर्श

शा० व्या० : सत्यसंध पिताश्रीके वचनप्रमाणके पालनमें सुख, सुयशस् और स्वर्गकी प्राप्तिफल बताकर 'राज करहू'को धर्मके रूपमें स्वीकार करके बादमें उसकी प्रतिपत्ति 'सेवा करेहु सनेहु सुहाए'से करनेके लिए गुरुजीने कहा है (इस निर्देशमें भरतजी राजपदको शरीरस्थानापन्न समझते हैं। और रामसेवाको जीवस्थानापन्न मानकर अनुष्ठेयतया तत्कालमें राज्यसंचालनको प्रधान धर्म मानते हैं।) किन्तु इन दोनोंका समन्वय करनेमें भरतजी राजनीतिकी प्रतिष्ठाको देखते हुए स्वतन्त्र विमर्श नहीं कर पा रहे हैं अथवा वह विमर्श स्वयं प्रभुसे करवाना चाहते हैं, इसलिए गुरुजीके निर्णयमें विमर्शभावात्मक बुद्धि न देखकर भरतजीका यह वक्तव्य है जो भरतजीके उपधाशुद्धिके प्राकट्यके उद्देश्यसे गुरुजीको इष्ट है। किंबहुना 'बादि मोर सबु बिनु रघुराई'से भरतजीने उक्त भावको व्यक्त करते हुए रामसेवात्मकधर्मको ही अपनानेमें अपना अभिप्राय व्यक्त किया है। राज्य स्वीकार करनेमें पाँचोंदृष्टान्तोंका भाव छल साधनेका संकेत करा रहा है जो इस प्रकार है।

छलके साधनमें पाँच दृष्टान्तोंका तात्पर्य

'बादि बसन बिनु भूषन भारू'—विना वस्त्रके, आभूषणोंसे अलंकृत किसी व्यक्तिको देखनेमें समाज उल्लसित नहीं होता, अपितु मस्तक ही नीचा कर लेता है

———

१. दो० १८३ चौ० ८ में सेवाका अस्थायित्व चिन्तनीय है।

उसी प्रकार वर्तमान शोक-समाज मुझको (भरतजीको) राज पदासीनतासे विभूषित देखकर प्रसन्न नहीं होगा बल्कि सदाके लिए रामसेवासे रहित होनेका भान करके संकोचका अनुभव करेगा।

'बादि बिरतिबिनु ब्रह्म बिचारू'—वैराग्यके अभावमें केवल ब्रह्मका चिन्तन ब्रह्मकी स्थितिमें पहुँचाने तक जिस प्रकार असमर्थ होता है. उसी प्रकार रामसेवाके अभावमें भरतजीका स्थायी राज्यरोहण प्रभुकी प्रसन्नता व वास्तविक व प्रजापालनमें शक्ति-उपधायक नहीं होगा।

'सरुजसरीर बादि बहु भोगा'—रोगी शरीर भोग भोगनेमें रुचि रखता है तो अकालमें ही यौवनके साथ सम्पत्तिका भी नाश करवाता है[1]। वर्तमान-राज्यप्राप्तिसे सदाके लिए प्रभुका सेवकत्व प्राप्त न होना ही भरतजीका रोग है, उस रोगसे ग्रस्ति भरतजी 'बहु भोगा'से युक्त राज्यसम्पत्तिको अपनाते हैं तो अपना और राज्यसम्पत्तिका विनाश मानते हैं ।

'बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा'—कोई साधक व्यक्ति प्रभुके आदेशमें (वेद-शास्त्रोक्त निर्देशमें) अभिरुचि न रखकर केवल अपने जप-योगसाधन आदिके भरोसे ध्येयसिद्धि करना चाहे तो 'भवत्युदारं क्वचिदर्थसिद्धये (नीतिसार १८ सर्ग)के अनुसार उसको फलसिद्धि होना संशयित है 'किं बहुना' मोह आदि विकारोंके अधीन होनेसे प्रसङ्गमें प्रतिभाहीन होकर उसका पतन ही सम्भावित है। उसी प्रकार सभासदोंकी सम्मतिसे राजपदकी तत्कालिक स्वीकृति प्रभुसेवाके स्थायी अभावमें 'राजवृत्त'को बिगाड़नेवाली होगी।

'जायँ जीव बिनु देह सुनाई'—प्राणविहीन शरीर (शव) कितना भी सुन्दर हो, वह दुर्गन्ध और गन्दगीको फैलानेवाला ही है। इसी प्रकार प्राणजीवनस्वरूप रामसेवासे विहीन राजपदसे विभूषित होनेमें अपनेको भरतजी घृणित समझते हैं क्योंकि वह स्थिति लोगोंमें उच्चाटन या क्षोभको पैदा करनेवाली होगी।

भरतजीके उपरोक्त कथनमें गुरुजीके वचन 'सोचनीय सबहीं बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई'का पूर्ण व्यख्यान रखते हुए रामसेवाके नाम पर छलका स्वरूप दर्शाता है। जिस भवनमें चारों भाइयोंके साथ विचरनेका आनन्द था उस भवनको सदाके लिए रामरहितकी कल्पना पर भरतजीको तीव्र वेदना हो रही है। प्राणप्रिय भाईके विना उस भवनमें जीवित रहना भातृप्रेमका उपहास है जो भरतजीको सहना पड़ रहा है।

संगति : रामसेवाऽभावात्मकदोषसेपूर्ण स्वामित्वको त्यागकर प्रभुके शरणमें उनकी सेवाप्राप्ति-हेतुसे जाना ही कुटिलताके हरणका उपाय है।

चौ०—जाउँ रामपहिं आयसु देहू। एकहिं आंक मोर हित एहू ॥७॥

---

१. ईप्सितानि विनश्यन्ति यौवनेन सह श्रियः। नीतिसार स० १४

भावार्थ : श्रीरामके पास जानेमें ही मुझे सन्तोष होगा, इसीमें मेरा हित है, यही मेरा एकमात्र निश्चय है। आप लोगोंसे प्रार्थना है कि इसके लिए आज्ञा (शिक्षा) दें।

श्रीरामसे समाधानप्राप्ति

शा० व्या० : भरतजीके कहनेका आशय है कि भक्तिपन्थकी मर्यादा रखनेमें उनकी सेवा कैसे होगी ? समझनेके लिए प्रभुके पास जाना है, विचार करना है और समाधान पाना है।

संगति : गुरुजीके अन्तिम वाक्यका अनुमोदन करनेवाले प्रतिनिधियोंके निर्णयमें स्नेह प्रयुक्त जड़ता आदिकी उपाधि समझा रहे हैं।

चौ०—मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह-जड़ताबस कहहू ॥८॥

दो०—कैकेईसुअ कुटिलमति रामबिमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहिसे अधमके राज ॥१७८॥

भावार्थ : कैकेयीपुत्रत्वसे कुटिलमतिमत्त्व, रामविमुखता और लज्जाहीनता होनेसे मैं अधम हूँ, ऐसे अधमको राज्य देकर आप लोग सुख चाहते हैं—यह आपका मोह है। मुझको राजा बनाकर आप लोग अपना भला चाहते हैं, यही आपका मोह है क्योंकि मेरे प्रति आपको स्नेह है। उसी स्नेहके वशीभूत होकर आप राज्यसंचालन करनेके लिए कह रहे हैं।

प्रजाप्रतिनिधियोंमें जड़ता आदिकी मीमांसा

शा० व्या० : गुरुजीकी उक्तिको ('तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी') भरतजीने 'भल आपन चहहू'से अनूदित किया है। ज्ञातव्य है कि सत्यसंध राजाको जिसमें असन्तोष था उसी असन्तोषविषयका अनुमोदन करना जड़ता है। इसी जड़ताके कारण मन्त्रिमण्डलमें अशुद्धि या मोह होनेसे तत्प्रयुक्त व्यसनोंका प्रादुर्भाव होगा तो प्रजाका सुख नीतिसिद्धान्तके अनुसार स्वप्नवत् हो जायगा। ज्ञातव्य है कि 'जड़ताबस कहहू'से भरतजी मन्त्रियों और सभासदोंकी बुद्धिमत्तापर आक्षेप नहीं कर रहे हैं बल्कि उनके बुद्धिजाड्यमें अपने स्नेहको कारण बताकर स्वयंको दोषी मानते हैं।

वनगमनकी स्वीकृतिके वाद माता कौसल्याजीके सामनें उपस्थित होनेपर चौ० ३-४ दो० ५३ में कविने किया श्रीरामकी स्थितिका वर्णन तथा प्रभुकी उक्ति (ज्ञानि सनेह बस डरपसि मोरे) इन दोनोंके अनुसार ही भरतजीकी उक्तिका समन्वय समझना संगत होगा।

नीति न तजिअका अनुसरण

शा० व्या० : प्रजामें व्यसनग्रस्तता होने पर मन्त्रिमण्डल सावधान रहे तथा मन्त्रिमण्डलके व्यसनग्रस्त होनेपर राजाको सावधान रहना चाहिए। राजा ही व्यसन-

ग्रस्त हो जायगा तो सम्पूर्ण प्रजा दूषित हो जायगी उससे बचनेके लिए शास्त्रपरिपूजित संस्कारमें ही राजाने जागृत रहनेको कहा है। अतः राजनीतिसिद्धान्तमें ऐसा कहा है। राजाको आत्मसंस्कारसम्पन्न होना चाहिए। यह भरतजीका विमल विवेक 'नीति न तजिअ राजपदु पाए'का अनुसरण रहा है।

कुटिलमतिमत्त्वादिका निर्वचन

कैकेयीपुत्रत्वसे सम्बन्धित कुटिलमतिमत्त्व आदि दोषोंका व्याख्यान इस प्रकार है।

'कुटिलमति'—चौ० ६ दो० ४८में प्रजाकी उक्ति ('एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भायँ सुनि रहहीं')में ध्वनित भरतजीका शाठ्य कुटिलमतिमत्त्व है जिसको भरतजीने कौसल्याजीके सामने 'जननी जानौं भेऊ'से व्यक्त किया है। दो० १८में मन्थराने राजा और कौसल्याजीके प्रति जिस कुटिलताको बताकर कैकेयीको कपटकार्यंका प्रबोध कराया उस कुटिलताका संकेत कैकेयीपुत्रत्वसे सम्बन्धित कुटिलमतिमें कहा जा सकता है। दो० १७९ चौ० ५में भी कुटिलता व्याख्यात है।

'रामविमुख'—रामनिवासकी वरयाचना, तदनन्तर 'राम साधु तुम्ह साधु सयाने'की व्यंग्योक्तिसे कैकेयीकी रामविमुखता झलकती है तथा स्वामिद्रोहरूपदोषकी प्रसक्तिमें राज्यके स्वामी श्रीरामके वनमें रहते कैकेयीपुत्र भरतजीने राजपद लेना रामविमुखता है।

'गतलाज'—विमलवंशके रहते अप्रतिबन्ध दायभूत राज्याधिकारी ज्येष्ठ भाईको हटाकर स्वयंने राज्यका स्वामी बनना कुलीनताको लजाना है। विमलवंशकी मर्यादामें ही प्रभुने 'बंधु बिहाई बड़ेहि अभिषेकू'को अनुचित ठहराया है। विमलवंशकी मर्यादाको मिटाना कुलीनोंके लिए लज्जा है।

'मोह बस'—पूर्वोक्त चौपाईमें 'सनेह-जड़ताबस कहहू'की व्याख्याके अनुसार दोषोंके रहते कैकेयीपुत्र भरतजीके स्नेहमें पड़कर उनको राज्यपद देनेका सभासदोंने निर्णय करना कर्तव्यके बाहर होनेसे मोह है।

'मोहिसे अधम'—उपर्युक्त दोषोंसे युक्त अधमताको भरतजी आगे चौ० १ से ३ तकमें स्पष्ट करेंगे।

'सुख चाहहु'—उपर्युक्त दोषोंकी स्थितिमें राज्यकी अराजकताको देखकर भी भरतजीको राज्य देनेमें प्रजाने सुख चाहना उसमें अपना सुख मानना (चौ० ६ दो० १७५) कैसे सफल होगा ?

ध्यातव्य हैं कि भक्तकी ऐसी दीनतापूर्ण उक्ति भक्तिकी पोषक है भक्तिशास्त्रमें शोभनीय है।

उक्तदोषोंमें आरोपितताका रक्षण

भरतजीके कहनेका आशय है कि उक्त दोष अभी अध्यारोपित हैं। राज्यारोहणसे वे यथार्थ हो जायँगे जैसे 'यूपं तक्षति' वाक्यमें तक्षणके पूर्व दी हुई उदुम्बर लड़कीकी

'यूपं' संज्ञा तत्कालमें आरोपित है। तक्षणके बाद वह स्थिर रहती है। वैसे ही कैकेयी 'सुअन'में आरोपित कुटिलमतिमत्त्व आदि दोषोंकी सत्यता राजपद देते ही यूपत्वकी तरह स्थिर हो जायगी। वैसा न होकर उक्त दोष आरोपित ही रहें।

कैकेयी-पुत्रत्वमें दोषत्वको समझानेमें भरतजीने दो० १०९में जो कार्य-कारण-भाव दिखाया है, उसमें भरतजीकी दूरदर्शिता प्रकट है। जो कि दो० ९१मे कैकय-नन्दिनीकी कुटिलतादिका उल्लेख करके गुहने (चौ० ३ से ८ तक दो० १८९में 'नहिं विष बेलि अमिअ फल फरहीं') कैकेयीनन्दन भरतमें कपट कुटिलता आदि दोषोंका आरोप व्यक्त किया है।

संगति : अपनेमें दोष बतलानेका कारण यह है कि राजामें धर्मविजायित्व पालनपरत्व परपुरंजयत्व अपेक्षित है वह अपनेमें नहीं है समझा रहे हैं।

चौ०—कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू ॥१॥

भावार्थ : मैं सत्य कहता हूँ, आप सब उसको सुनकर विश्वास करें कि राजा वही हो सकता है जो धर्म (विजयी) शील हो।

शा० व्या० : 'मन्वाद्युपदिष्टः प्रजापलनोपायो न्यायः तत्पूर्वकं प्रजापालनं धर्मः' सिद्धान्तको भरतजीने 'चाहिअ धरमसील नरनाहू'से स्फुट किया है। राजनीतिशास्त्रमें प्रजा-सुखकी चर्चामें कहा गया है कि प्रजापालनकी योग्यता धर्मविजयी क्षत्रियमें है इसलिए कि वह सम्पूर्ण प्रजाकी सम्मतिको स्थायि तथा प्राप्त करता है[1]। पूर्वोक्ति दोषोंके रहते धर्मशीलता (विजयिता)के अभावमें भरतजी अपनेको प्रजापालनके योग्य नहीं समझते।

सत्य एवं ऋतपक्षका विवेक

विज्ञानमयकोषकी चर्चामें उपनिषदुक्त सत्य और ऋतपक्षका जैसा निरूपण है वही भरतजीकी उक्ति ('कहउँ साच सब सुनि पतिआहू')से स्फुट है। शास्त्रशुद्ध तर्कयुक्त पक्षको 'कहउँ साच'से स्पष्ट किया है। यही भरतजीका सत्यपक्ष है, अन्य सबोंका केवल ऋतपक्ष है। सत्यपक्षपर ही विश्वास करके ऋतपक्ष विश्वसनीय हो सकता है। अन्यथा ऋतपक्षकी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी[2] इसको 'पतिआहू'से स्पष्ट किया है।

संगति : सत्यपक्षको उपेक्षित करके ऋतपक्षको हठपूर्वक स्वीकार करनेसे धर्म-शीलता (विजयिता)का आधार विनष्ट होगा, उसका परिणाम भरतजी बता रहे हैं।

चौ०—मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥२॥

भावार्थ : आप लोग हठपूर्वक मुझको राज्य दे देंगे तो पृथ्वीका पातालगर्भमें चला जाना निश्चित है।

---

१. धार्मिकं पालनपरं सम्यक्, परपुरंजयम्।
राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजाः ॥ नीति सत् स० १

२. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।

'रसा रसातल जाइहि'का भाव

शा० व्या० : 'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जोहि न प्रजा प्रिय प्रान-समाना'से कही शोच्य स्थिति धर्मविजयी राजा दशरथके शासनमें नहीं थी तो पृथ्वीका रसा-स्वरूप प्रकट था। अभी भरतजीके राज्य लेनेसे पूर्वोक्त व्याख्यामें कही धर्म-शीलता (विजयिता)का अभाव होगा तो पृथ्वीका रसात्व समाप्त होना ही 'रसा रसातल जाइहि'का स्वरूप है। अर्थात् परिणाममें भरतजीके राज्यमें कैकेयीका अभिलषित व कैकेयीकी उक्ति (भई मन्थरा सहाय)के अनुसार मन्थराकी मन्त्रणा कहाँतक सफल होगी? कैकेयीके अधीनस्थ भरतजीके प्रति प्रजाका विश्वास कहाँतक टिका रहेगा? जब प्रजाकी भावना निरन्तर यही रहेगी कि 'निरपराध श्रीरामजीको राज्यसे हटाकर वनवास दिया गया है तथा जिस कैकेयीने अपनी स्वार्थपूर्तिके लिए धर्मात्मा पतिके जीवनकी भी परवाह नहीं की। उसका आगे क्या विश्वास है? कि वह किसके साथ दुर्व्यवहार नहीं करेगी?' इस प्रकार प्रेम, विश्वास और एकात्मताका भाव समाप्त होनेमें देर नहीं लगेगी। यही रसाका रसातल जाना है। यही कलिकी व्याप्ति है जिसको दो० २१२के अन्तर्गत भरद्वाज ऋषिजीके समक्ष प्रकट करते हुए भरतजी 'कलि कुकाठकर कीन्ह कुजंत्रू' आदिसे व्यक्त करेंगे।

संगति : इतने पर भी आप मुझे राजा बनाते हैं तो उसका यही अर्थ होगा कि मुझको आप पापका निवासस्थान बना रहे हैं।

चौ०—मोहि समान को पापनिवासू ? । जेहि लागे सीय राम बनवासू ॥३॥

भावार्थ : मेरे समान पापोंसे भरा और कौन होगा? जिसके कारण सीता-रामको वनवास करना पड़ा।

पापनिवासूका भाव

शा० व्या० : चौ० १ से ६ दो० ४७में नगरवासियोंने कुटिलताप्रयुक्त दोषोंको बताकर कैकेयीको पापिनी कहा था, कैकेयी-पुत्रत्वको भी उन्हीं दोषोंसे समन्वित पापनिवासका हेतु कहना कैकेयीके पापिनीत्वसे संगत है क्योंकि कैकेयीने अपने पुत्रके कारण ही श्रीरामजीको वनवास दिया है।

नीति दृष्टिसे 'पापनिवासू' स्वामिद्रोहरूप महान् पापसे सम्बन्धित है। पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्मद्रोह, गुरुद्रोह, पितृद्रोह, आदि सब पाप राजद्रोहमें समाये हैं। जो कि 'सीय राम वनवासू' व 'भरतहि टीका'के वरयाचनासे स्पष्ट है। 'मोहि समान'से रामवनवासमें दृष्ट कारण भरतजी अपनेमें कैकेयीप्रसूत्वको मानते हैं। अतः 'राज करहु'को स्वीकार कर लिया जाय तो राजद्रोह यथार्थ होगा, उसमें पापनिवास होना निस्संदिग्ध है।

संगति : राजा होकर उपर्युक्त दोषका साधन बनते रहना क्या यह उचित है?

चौ०—राय राम कहुँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥४॥
मैं सठु सब अनरथकरहेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥५॥

भावार्थ : पिताश्री राजाने श्रीरामजीको वनवास दिया उनसे बिछुड़ते ही वे स्वर्गलोक चले गये। सत्र अनर्थोंकी जड़में मैं ही ऐसा दुष्ट हूँ जो इतना होनेपर भी सजीव बैठा सब बातें सुन रहा हूँ।

शा० व्या० : वरदानकी प्रतिज्ञासे बद्ध होनेसे सत्यसंध राजाने श्रीरामजीको राज्यके बदले 'कानन राजु' दिया पर उसके परिणाममें पुत्रवियोगके कारण राजाका स्वर्गवास हुआ। अन्ततोगत्वा इसमें मैं (भरतजी) ही तो कारण हुआ। अतः वरदानसे होनेवाले सब अनर्थोंका मूल कारण होना ही मेरे (भरतजी)में शठता है। इसमें हेतु-हेतुमद्भाव इस प्रकार कहा जायगा—'यदि मयि कैकेयीपुत्रत्वं नाभविष्यत् तर्हि अनर्थो मां निमित्ती कृत्य नाभविष्यत्'।

शठताका स्वरूप

जिस प्रकार पिताश्रीके स्वर्गवासमें पुत्रवियोग अनन्यथासिद्ध है उसी प्रकार भरतजीके राजपद ग्रहण करते ही रामवनवास और पिताकी मृत्यु दोनोंके प्रति कैकेयीपुत्रत्वमें अनन्यथासिद्धत्व होनेका अनुमान प्रजाके हृदयमें हो जायगा। इस प्रकार पिताश्रीकी 'रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा'को आज्ञा मानकर राज्य लेनेमें स्वार्थसिद्धि होनेसे भरतकी शठता स्पष्ट होगी। राजनीतिकी दृष्टिमें स्वमण्डलके दो पक्षोंके बीच विग्रहका बीज बोनेवाला शठ है। अथवा राजनीतिसिद्धान्तमें आत्म-संपत्तिमान् स्वामी द्रव्यसंपत्तिहीन होनेपर भी सेव्य माना गया है उसको सेवा न करके स्वयं राजपदासीन होना शठता है। अथवा 'तात न रामहि सौंपेहु मोही'की प्रवृत्तिमें आत्मसम्पन्न स्वामी श्रीरामजीकी सेवामें जाना ही 'सचेतू' होना है, उसको छोड़कर राजपदमें बैठनेको बात सुननेमें 'सचेतू' होना शठता है।

संगति : उपरोक्त शठतात्मक 'सचेतू'से अपने जीवित रहनेकी स्थितिको लज्जास्पद बता रहे हैं।

चौ०—बिनु रघुबीर-बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥६॥

भावार्थ : रघुपतिसे विहीन घरको देखकर भी प्राण बचा है—इस स्थितिको सहते हुए मैं जगत्में उपहासके योग्य हूँ।

सेवककी उपहास्यता

शा० व्या० : अपने कारणसे स्वामीकी अननुरूप स्थिति देखकर सेवकको अतित्रास होता है जो मरजानेके समान है। कैकेयीपुत्रके निमित्तसे श्रीरघुवीरको वनवासी होना पड़ा, भरतजीको यह दुःख है। इस दुःखसे उनको इतनी तीव्र वेदना हो रही है कि रघुवीरसे रहित घरको देखकर जीवित रहना संसारके सामने अपने सेवकत्वको उपहासास्पद रूपमें वेदेख रहे हैं।

राजसिद्धान्तमें राजाने राज्यरक्षण और प्रभुकी सेवाके लिए अपना शरीर रखना है, उससे वंचित होनेमें 'रहे प्रान सहि जग उपहासू' कहना नीतिसंगत है।

अथवा 'दण्डकरसाधनाधिकारेण जनपदविद्वेषं ग्राहयेत्' अर्थशास्त्रोक्तिके अनुसार जनपद-विद्वेषकी प्रसक्ति 'जग उपहासू'से व्यक्त है।

भरतजीके जीवनका उपाय

चौ० ४ दो० १४५में सुमन्त्रके जीवित रहनेमें 'जिउ न जाइ उर अवध कपाटी' का जो योग कहा गया था, वही कौसल्याजी, रानियों और अवधवासियोंके जीवनका आधार है। उसी 'अवधि आस'में भरतजीका भी जीवन है।

संगति : राजाकी उक्ति 'लोभुन रामहि राजुकर'से समन्वित विप्रबन्धुओंकी उक्ति 'नाहि न रामु राज के भूखे। धरम धुरीन विषयरस रूखे'की एक वाक्यता भरतजीकी अग्रिम उक्तिमें स्पष्ट हो रही है।

चौ०—राम पुनीत विषयरस रूखे। लोलुप भूमि भोगके भूखे॥

भावार्थ : श्रीराम पवित्रात्मा हैं, विषयोंमें उनकी रुचि नहीं है। एक मैं हूँ जो राज्यका लोभी और भोगका इच्छुक बन रहा हूँ। अथवा श्रीराम पुनीत विषय रसरूप हैं उनसे विमुख होकर मैं राज्यका लोभी और भोगसुखका इच्छुक बनानेकी तैयारीमें हूँ।

श्रीराम और भरतजीमें वैधर्म्य

शा० व्या० : दो० ४१में श्रीरामकी उक्ति तथा दो० १६५में कौसल्याजीके कहे वचनसे श्रीरामकी पुनीतता स्पष्ट है। श्रीरामकी विषयरसविहीनता दो० ४१में कहे वचनसे व कैकेयी द्वारा दिये 'मुनिपट भूषन भाजन'का ग्रहण करनेसे स्पष्ट है (चौ० ५ दो० ७९)। प्रजामें यह श्रीरामकी पुनीतता एवं विषयविमुखता प्रकट हो चुकी है, इसके विपरीत विषयलालसा भरतजीके राज्य लेनेमें प्रकट होगी। यही वैधर्म्य है।

रामरसकी अनुपेक्षणीयता

निर्विकल्प चिदानन्द ही रामतत्व है। अयोध्यावासियोंके भाग्यसे वह तत्व रामरूपविषय बनकर दृष्टिगोचर हुआ है। उस विषयके रसास्वादको छोड़कर राज्य-भोगादि सुखोंकी लालसा करना धिक्कृत है शरीरधारणका उद्देश्य भी रामसेवा है, राम सेवकाईको अपनाये विना कैकेयीकी इच्छानुसार भूमिभोगकी आशामें राजपद लेना लोलुपता है।

संगति : 'रहे प्रान सहि जग उपहासू'की उपपत्तिमें भरतजी हृदयकी कठोरताको व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई ?। निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई॥८॥

भावार्थ : अपने हृदयकी कठोरता कहाँ तक वतावें ? इस कठोरताने वज्रकी भी कठोरताको लजाकर अपनी बड़ाईको प्राप्त किया है।

विवेकयुत कठोरतामें भक्ति

शा० व्या० : रामविरहमें शरीरत्याग न करनेसे जिस प्रकार कौसल्याजोने 'मोर हृदय सह कुलिस समाना' कहा, सुमन्त्रने भी 'हृदयँ बज्र बैठारि' कहा उसी प्रकार भरतजी भी अपने हृदयकी कठोरता 'निदरि कुलिस लही बड़ाई'से व्यक्त कर रहे हैं। भक्त या सेवककी यह कठोरता उसके धैर्यका परिचायक है और भक्ति भावमें शोभनीय है।

संगति : 'निदरि कुलिस जेहिं लही बड़ाई'की उपपत्ति आगे दिखायी जा रही है।

दो०—कारन ते कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपलसें लोह कराल कठोर ॥१७९॥

भावार्थ : कारणसे कार्य कठिन होता ही है, इसमें मेरा दोष नहीं है। हड्डीसे वज्र (हीरा) कठोर होता है और पत्थरसे लोहा अति कठोर होता है। (ज्ञातव्य है कि हड्डीसे हीराकी उत्पत्ति है और पत्थरसे लोहाकी।

कारण व कार्यमें गुणका सम्बन्ध

शा० व्या : 'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते'—इस सिद्धान्तके अनुसार कारणके गुण कार्यमें संक्रमित होते हैं। कार्यावस्थामें कारणके बिखरे गुणोंका संचय कार्यरूप अवयवीमें होता है अतएव गुणाधिक्यात् कार्यमें गुणोंकी अतिशयितता होती है। इस सिद्धान्तको उपर्युक्त दो दृष्टान्तोंसे स्फुट किया है। जैसे अवयवोंका घनीभाव कठोरतासे व्यक्त किया है। अवयचिरूप कर्यावस्थामें अवयवोंके परिपाकके परिणामस्वरूप अवयवान्तरोंका प्रवेश या बिखरे अवयोंका घनीभाव होता है। अतः कारणकी अपेक्षया कार्यमें विजातीय कठोरता भी आ जाती है, यही कार्यकी कठोरता है। जैसा कि भरतजीके हृदयकी कठोरतामें वर्णित है।

उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार चौ० १-२ दो० १८१ में कहे वचनसे यह स्पष्ट है कि पुत्रमें गुणोंका संक्रमण कैकेयीसे हुआ है भरतजी कहते हैं कि माता कैकेयीकी कठोरता मुझमें संक्रान्त हुई हैं। इस संक्रमणमें यह भी ज्ञातव्य होगा कि भरतजीका हृदय इतना कठोर है जिसमें कैकेयीका अविवेकपूर्ण राग प्रविष्ट नहीं हो रहा है अतः भरतजीकी कठोरता राज्यप्राप्तिमें निष्क्रिय है। अथवा रामप्रीतिमें ओतप्रोत भरतजीका हृदय विवेकसे इतना सघन दृढ़ है कि उसपर कैकेयीके रागका प्रभाव नहीं पड़ रहा है। जिसके कारण कैकेयीकी प्रवृत्ति ('सहित समाज राजपुर करहू') अपना अधिकार भरतजी पर स्थापित नहीं कर रही है। फल यह हुआ कि भरतजीकी कठोरता विवेकसंवलित रामस्नेहकी दृढ़ताको विचलित करने या गुरुजीके निर्देश, व आप्तजनोंकी सम्मतिको (राज करहु) कार्यान्वित करानेमें असमर्थ हो गयी।

पीलुपाकवादिमतका सामंजस्य

पीलुपाकवादी नैयायिक मतमें अवयवीके रूप-रस-गुणादिके परिवर्तनमें अवयवोंका गुण कारण माना जाता है। तथा पार्थिव परमाणुओंके रूपरसादिका उत्पादन या परिवर्तन अग्निके संयोगसे माना जाता है। अवयवीकी दृष्टिमें कठोरताके उदाहरणमें भरतजी हैं। परमाणुकी दृष्टिमें परमाणुस्थानापन्न कौसल्याजी उदाहरण हैं। उसमें श्रीरामजीका आश्वासन अग्निस्थानापन्न है।

संगति : विज्ञानमय कोशके आधारपर अपनेको न संभाला जाय तो आगे और अधिक दुःख अन्नमय कोशमें स्थित जीवको देखना होगा ऐसी आपत्ति दे रहे हैं।

चौ०—कैकेईभवतनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥१॥
जौ प्रियविरह प्रानप्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे ॥२॥

भावार्थ : हमारा शरीर कैकेयीसे उत्पन्न है, उससे प्रीति रखनेवाला मेरा प्राण महा अभागा है जो अपने परम स्नेही स्वामी श्रीरामका विरह होनेपर भी मुझको प्रिय लग रहा है अर्थात् मैं प्राणको नहीं छोड़ रहा हूँ। इससे लगता है कि आगे अभी बहुत दुःख-सुख देखना बाकी है।

कौसल्योक्तिकी एक वाक्यता

शा० व्या० : कोसल्याजीकी चौ० ८ दो० १६५में कही उक्तिकी एकवाक्यता यहाँ स्मरणीय है। प्रियके विरहमें अन्नमय और प्राणमय-कोशतक सीमित रहना हृदयकी (अविवेकपूर्ण) कठोरता दोषावह है। भरतजी तो विज्ञानमय कोशमें होनेवाले विचारके बलपर धैर्यमें जीवित हैं।

संगति : भरतजी कैकेयीपुत्रत्वसे होनेवाले दुष्परिणामको व्यंग्योक्तिके द्वारा बता रहे हैं।

चौ०—लखन-राम-सिय-कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥३॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु-संतापू ॥४॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकईं सबकर काजू ॥५॥

भावार्थ : माता कैकेयीने सीता, राम और लक्ष्मणजीको वनमें भेज दिया। राजाको स्वर्गलोकमें भेज कर पतिका भला किया। उसके परिणाममें स्वयं ही वैधव्य और अपयशस् ले लिया तथा प्रजाको शोक सन्ताप दिया। मुझको सुख सुयशस् और स्वराज्य दिया। इस प्रकार कैकेयीने सबका काम बनाया।

कैकेयीकी करनीका सारांश

शा० व्या : चौ० ८ दो० १६०में 'आदिहु तें सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी'में कैकेयीने कही करनीका सारांश भरतजीने उक्त चौपाइयोंमें प्रकट किया है।

सीताजी व लक्ष्मणजीके वनवासमें कैकेयीका कर्तृत्व

प्रश्न : वरयाचनामें केवल श्रीरामजीका वनवास कहा है, तो यहाँ 'लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा' कैसे कहा गया ?

उत्तर : कैकेयीकी करनीसे इसका समाधान समझना होगा। दोहा १९में मन्थराकी उक्तिमें 'भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु रामके नेव'से लक्ष्मणजीके प्रति कैकेयीका प्रेरकभाव होना 'मतिफेर'में स्वाभाविक है। अतः श्रीरामजीके साथ लक्ष्मणजीका जाना रानीको इष्ट माना जा सकता है। चौ० १ दो० ७९में प्रतिष्ठित नारियोंके 'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनवासू' कहनेपर 'सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई'से सीताजीको न रोकनेसे कैकेयीको उनके वनवासमें अपना प्रवर्तकत्व इष्ट माना जायगा। इस प्रकार सीताजी और लक्ष्मणजीका श्रीरामजीके साथ वन जानेमें कैकेयीको अपनेमें कर्तृत्व अभिमत था कहा जायगा।

कैकेयीको वैधव्य व अपयशस् इष्ट

कैकेयीकी उक्ति 'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपतिपुर पगु धारेउ' (चौ० २ दो० १६०)की व्याख्याके अनुसार 'पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा'का भाव स्पष्ट है। क्योंकि अपने वैधव्य और अपयशस्‌को ('तात बात मैं सकल सँवारी'से) उपलब्ध करना कैकेयीने स्वयं इष्ट समझा जैसा 'नैहर जनमु भरब बरु जाई'से पतिका त्याग करके अलग रहनेके लिए भी वह उतारू थी।

दो० ४७-४८के अन्तर्गत 'जहँ तहँ देहिं कैकइ हि गारी'से कैकेयीका अपयशस् स्पष्ट है। कैकेयीकी करनीका बखान करते हुए 'खरभरु नगर सोचु सब काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू'से प्रजाका शोक-संताप स्फुट है। वैधव्यका इष्ट होना पतिमरणकी इष्टापत्तिसे अर्थप्राप्त है।

'कीन्ह कैकई सबकर काजू'की व्यंग्योक्तिसे भरतजी कैकेयीकी उक्तिमें 'तात बात मैं सकल सँवारी'को 'मोहि दीन्ह सुख सुजसु सुराजू'से स्पष्ट कर रहे हैं। कहनेका आशय है कि स्वार्थी व्यक्तिने भला सोचना या करना हितका आभासमात्र है।

संगति : उसी अमंगल-राज्यप्राप्तिका अभिनन्दन आप (प्रतिनिधि) कर रहे हैं। यह स्नेहोपाधिका फल है।

चौ०—एहि ते मोर काह अब नीका ?। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥६॥
कैकइजठरजनमि जग माहीं। यह मोहि कहं कछु अनुचित नाहीं ॥७॥

भावार्थ : इससे अधिक मेरा भला और क्या होगा ? उसपर भी आप लोग मुझको राजतिलक लेनेको कह रहे हैं। कैकेईके पेटसे उत्पन्न होकर संसारमें मेरे लिए यह सब होना कुछ भी अनुचित नहीं है।

कैकेयोपक्षसमर्थनमें अनौचित्यका ध्वनन

शा० व्या० : कैकेयीकी करनीका उपर्युक्त परिणाम देखते हुए भी आप लोग

उसीके पक्षको रखते हुए मुझे राज्यपद देनेको कह रहे हैं जिसमें कैकेयीके हितसे बढ़कर मेरा और क्या हित होगा ? धर्मके नामपर मुझको राजपदग्रहणकी प्रेरणा देकर 'सुखु, सुजसु सुराजु'की उपलब्धि करानेमें कैकेयीके उदरसे जन्म लेनेके कारण अनुचित नहीं है। 'कीन्ह कैकई सब कर काजू'के भावमें कैकेयीके पक्षका समर्थन करना अनुचित नहीं है। स्मरण रखना चाहिए कि भरतजी व्यंग्यमें बोल रहे हैं।

भरतजीकी स्वरूपतः कारणता

'यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं'का यह भी भाव है कि कैकेयीरूप जहरसे उत्पन्न भरतजी स्वरूपतः रामवनवासमें कारण हैं, उसके दण्डरूपमें 'देन कहहु टीका'से अपनेको दण्डित मानना भरतजी अनुचित नहीं समझते। जिस प्रकार वाल्मीकि रामायणमें वर्णित कथाके अनुसार कुत्तेकी आपत्तिपर उसके मारनेवालेको मठाधीश बनानेका निर्णय प्रसिद्ध है। स्मरण रखना है कि चित्रकूटमें प्रभुके निर्णयसे सिद्ध होगा कि वनवासका कारण कैकेयीप्रसूत्व नहीं है, बल्कि सत्यसन्ध पिताश्रीके वचन प्रमाण्यकी सुरक्षा[1] व कैकेयीकी मनोरथविशेषपूर्तिकाप्राणभाव है।[2]

चौ०—मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥८॥

भावार्थ : मेरे हितकी उपर्युक्त बातें जब विधाताहीने बना कर रखीं हैं तब प्रजा और पञ्चोंकी उसमें प्रवर्तना करना क्या अर्थ रखता है ?

पञ्चोंकी अभ्यनुज्ञा है न कि प्रवर्तना

शा० व्या० : विधिने राज्यप्राप्तिके उद्देश्यमें पहलेसे ही मेरे लिए विधान कैकेयीके द्वारा प्रकट कर दिया है,[3] तब पञ्चोंका विध्यात्मक वचन मीमांसाशास्त्र प्रणालीसे प्रवर्तक नहीं किन्तु अभ्यनुज्ञामात्र कहा जायगा—इसको कविने 'करहु सहाई'से व्यक्त किया है। उसका भाव यह कि विधिकी सफलता अप्रवृत्तको हितसाधनताकी अनुमितिके माध्यमसे अनुष्ठेयमें प्रवृत्त करानेमें है उससे पञ्चोके विधान वंचित है।

संगति : राज्यप्राप्तिनिमित्तक दोषोंके निराकार्थ चिकित्साका होना राज्य-स्वीकृतिके बाद क्यों सम्भव न होगा ? इस प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं।

दो०—ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनि कहहु काह उपचार ? ॥१८०॥

भावार्थ : जो पहलेसे ही ग्रहदशासे पीड़ित हो। उसको वात-रोगने भी पकड़ लिया हो। उसके बाद उसको बिच्छीने काटा हो। उसके ऊपर भी उसको मदिरा पिला दी जाय तो क्या यह उपचार कहा जायगा।

---

१. तासु बचन मेटत मन सोचू—चौ० ९ दो० २६४

२. इसका विचार लखन कछु कटु बानीमें द्रष्टव्य है।

३. भरतजीकी उक्ति है—'जननी तुं जननी भई बिधि सन कछु न बसाई' ॥ दो० १६१

राज्यप्राप्तिदोषका दुरपनेयत्व

शा० व्या० : दो० १७८में भरतजीकी उक्तिसे संगत उपर्युक्त दोहेका भाव इस प्रकार कहा जायगा—

'ग्रहग्रहीत'—कैकेयीपुत्रत्वसे सम्बन्धित (चौ० १में) कहा उद्‌गार ग्रहग्रहीतकी स्थिति है।

'बातबस'—कुटिलमतिमत्त्वसे सम्बन्धित (चौ० २से ४ तकमें) कहा उद्‌गार कैकेयीकी उक्ति ('तात बात मैं सकल सँवारी')से संगत वातव्याधि है।

'बीछीमार'—'रामविमुख गतलाज'से सम्बन्धित (चौ० ५में) कहा उद्‌गार गुरुजीकी उक्ति ('तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू')से संगत 'बीछीमार'की पीड़ाके समान है।

'पिआइअ बारुनी'—'चाहत सुखु मोहिसे अधमके राज'से सम्बन्धित (चौ० ६से ८ तकमें कही) पञ्चोंसे सम्मत राजपदप्राप्ति मदिरापानके समान है, जैसा लक्ष्मणजीकी उक्ति 'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू' (चौ० १ दो० २२९)में कहा गया है। भरतजीके कहनेका भाव है कि उपर्युक्त तीन दोषोंसे तो वह (भरतजी) ग्रस्त हैं ही, चौथा दोष राजपदग्रहणप्रयुक्त स्वामिद्रोहरूप महादोष होगा जिसका उपचार सम्भव नहीं, तब उनकी चिकित्सा असाध्य हो जायगी।

नास्तिक्य एवं आस्तिक्यकी विदेहस्थितिमें अन्तर

ज्ञातव्य है कि अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर वर्णाश्रमप्रधान आस्तिककी प्रवृति सदाचारमें दृढ़ होनेसे लोकयात्राका विरोध नहीं करेगी। नास्तिक्यमें ब्रह्मज्ञान होनेपर यथेच्छाचरणके दृढ़ संस्कारसे लोकयात्राके विरुद्ध आचरणमें ही नास्तिककी प्रवृत्ति रहेगी। इसका उदाहरण चुडालाके योगवासिष्ठोक्त चरित्रसे प्रसिद्ध है। अतः जिस प्रकार नास्तिकको अध्यात्मज्ञानकी ओर प्रवृत्त कराना स्थायी लोकयात्रामें निरर्थक है, उसी प्रकार वारुणीरूपराज्यप्रदानके द्वारा कैकेयीप्रसूत्वके रहते ग्रहग्रहीतकी चिकित्सा करना भरतजी व्यर्थ समझते हैं। निष्कर्ष यह कि कैकेयीप्रसूत्वदोषके रहते भरतजीकी स्थिति यथेच्छाचारी नास्तिकके समान है।

संगति : भरतजी कहते हैं कि उन्हें कैकेयीपुत्रत्व-दोषकी चिकित्साके रूपमें ब्रह्माजीने रामभ्रातृत्व दिया है वही योग्य है।[1]

चौ०—कैकइसुअनजोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई ॥१॥
दसरथतनय राम-लघु भाई। दीन्ह मोहि बिधि बादि बड़ाई ॥२॥

भावार्थ : कैकेयीपुत्रके लिए संसारमें जो योग्य है वही चतुर ब्रह्माजीने मुझे दिया है। विधाताने मुझे राजा दशरथका पुत्र और श्रीरामका छोटा भाई होनेकी

१. चौ० ३-४ दो० ३२में राजाकी उक्ति 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'से समन्वित है।

बड़ाई दी, वह व्यर्थ है। अर्थात् कैकेयीके पुत्रके हकमें रामसेवकत्वसे शून्य राजपदका सुयोग दशरथपुत्रत्व एवं रामानुजत्व-योगके अनुकूल नहीं है।

ब्रह्माजीकी चतुरता

शा० व्या० : 'चतुर विरंचि'से ब्रह्माकी यह चतुरता बतायी कि उन्होंने एक ओरसे कैकेयीपुत्रत्वका अपयशस् दिया, दूसरी ओरसे दशरथपुत्रत्व एवं रामभ्रातृत्वका यशस् दिया। इसमें दृष्ट कारण न दिखायी देनेसे 'दीन्हि विधि'से अदृष्ट(ब्रह्मा)को कारण बताया है।

पिताश्रीके निर्णयके पीछे व्याप्ति

माता कैकेयीकी कुटिलता और पिता दशरथका विवेक—दोनोंका संयोग होनेसे भरतजीने किया हुआ निर्णय न्यायभाषामें 'अर्थसमाजग्रस्त' जैसा कहा जायगा।[1] भरतजीके उपर्युक्त कथनमें व्याप्ति इस प्रकार कही जायगी 'यत्र यत्र रामनिरूपित-भ्रातृत्वे सति दशरथतनयत्वं तत्र तत्र राज्याभिषेकस्वीकर्तृत्वाभावः'। इस व्याप्तिको व्यावहारिक रीतिसे चरितार्थ करनेमें राजा दशरथकी सत्यसंधता एवं शुचिता आधार है। चौ० १ दो० ३६में 'चहत न भरत भूपतिहि भोरें। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरें'की व्याख्यामें स्पष्ट किया है कि भरतजीके स्वभावको जानकर राजाने 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई' निर्णय किया है, जिसकी पुष्टि 'तात न रामहि सौंपेहु मोही'से स्वयं भरतजीके द्वारा माताके सामने सुनानेसे हो रही है। अतः 'कैकेइसुअन'से दोष समझाते हुए भी उक्तव्याप्तिको रखनेमें पिताश्रीका विवेक और रामभ्रातृत्वकी शुचिताका महत्त्व दर्शाया है, जो राजनीतिमें कुलीनताका प्रतीक कहा जायगा।

यहाँ कविने 'कैकेइसुअन' कहकर स्वतन्त्रताकामनाप्रयुक्त शास्त्रविरोधी-लोभ और 'दसरथतनय रामलघुभाई' कहकर हंसवशकी कुलीनता व शुचितासे शास्त्रानुगमन समझाया है।

संगति : वक्ष्यमाण उत्तरके उपक्रममें गुरुजी व जनपदप्रतिनिधि आदिके कहे पूर्वपक्षका अनुवाद भरतजी कर रहे हैं।

चौ०—तुम्ह सब कहहु कढावन टीका। राय रजायसु सब कहँ नीका ॥३॥
उतरु देउँ केहिविधि केहि केही ?। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही ॥४॥

भावार्थ : आप सब मुझको राजतिलक करानेके लिए कह रहे हैं, उसमें भी राजाकी आज्ञा बताते हुए सबका हित बता रहे हैं। किसको किसको किस प्रकारसे उत्तर दूँ ?। जिसकी जैसी इच्छा हो खुशीसे कहे।

'उतरु देउँ केहिविधि'का भाव

शा० व्या० : गुरुजीके कहे आदेश 'सिर धरि राज रजायसु करहू। जेहिं पितु

---

१. पूर्वपक्षमें हितकारिताका अभाव—निर्णय।

देइ सो पावहि टीका'का समर्थन दो० १७५में सबने किया है। उसका उत्तर देनेके लिए भरतजी 'तुम्ह सब कहहु'से प्रथमतः उनके समर्थनका स्मरण सबको करा रहे हैं।

प्रतिवादीका उत्तर मिल जानेके बाद व्यवहाराध्यायकी पद्धतिसे वादीको बोलनेका पुनः अवसर दिया जाता है, उसके बाद निर्णय होता है। इस न्यायसे भरतजी वादीका मत पुनः उठा रहे हैं, बादमें समाधान करेंगे, इसलिए कि वादीको बोलनेका अवसर प्राप्त न हो और युक्तियोंका खण्डन हो जाय। अतः पुनः पूर्वपक्षका स्मरण हेतूपन्यासके साथ करा रहे हैं। इसपर भी 'टीका'की बात उठाना उनके हक (पूर्वपक्ष)में रुचि या राग कहा जायगा। इस भावसे 'उतरु देउँ केहि बिधि' कहा है।

'कहहु सुखेन'का भाव

'कहहु सुखेन'का भाव है कि 'सब कहँ नीका'से संगत सबका सुखही उनके यथारुचि कहनेमें उद्देश्य है, पर वास्तविकता यह है कि संवासियोंका पूर्णमत श्रीरामके स्नेहशीलमें ही आकृष्ट है, उसको भरतजी अच्छी तरह समझ रहे हैं। राजनीतिसिद्धान्तके अनुसार एकतन्त्रमें भी संवासिमतकी सतत अनुकूलता अपेक्षित मानी गयी है, यही भारतीय राजनीतिमें राजतन्त्र और लोकतन्त्रका समन्वय है।

उपर्युक्त सिद्धान्तसे भरतजी अपने राजपदग्रहणमें संवासियोंका स्थायी मत न समझकर केवल राजतिलकको अच्छा कहनेवालोंमें माताको व कृत्वाचिन्तया अपनेको मानते हैं।

संगति : 'कहहु सुखेन जथा रुचि जेही'से व्यक्त सम्मतिमें फलावहताका अभाव बता रहे हैं।

चौ०—मोहि कुमातुसमेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई ? ।।५।।

भावार्थ : कुमाता—कैकेयीसहित मुझे छोड़कर आपलोग बतावें कि मुझको राजपद देनेमें किसने भला किया है ?।

कुमातासे मन्थराका ग्रहण

शा० व्या० : 'मोहि कुमातु समेत'में मन्थराका उल्लेख क्यों नहीं है ? इसके समाधानमें कहना है कि 'कु'से कुबड़ी (मन्थरा) विवक्षिता है जिसने माताको कुमति बनाया है। ध्यान रखना चाहिए कि कुमतिने भरतजीकी जो भलाई की है, वह राज्य लेते ही प्रकट हो जायगी। 'कुमातु' कहनेका भाव है कि प्राणप्रिय श्रीरामजीको वनमें भेजकर अपने पुत्रके लिए राज्यकी लिप्सा कलिका स्वरूप है जिसमें अनाप्तत्व, विसंवादिता, कुमातृत्व आदि दोष हैं। कुमाताका अनुसरण करनेसे भरतजी भी उक्त दोषके भागी होंगे।

चौ०—मोहि बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सिय रामु प्रानप्रिय नाहीं ? ।।६।।

भावार्थ : मुझको छोड़कर इस संसारमें और कोई जड़चेतन जीव नहीं है जिसको सीतारामजी प्राणप्रिय न हों। अर्थात् कैकेयीजी व मन्थराकी श्रीरामजीके प्रति अप्रियता प्रकट है ही, अब भरतजीके सिवा दूसरा नहीं बचा, जिसको श्रीरामजी प्राणप्रिय नहीं हैं, ऐसा कहा जा सके।

कैकेयीसुतमतकी अपुष्टि

शा० व्या० : 'मो बिनु'से भरतजीके कहनेका आशय है कि कैकेयीसुअनके नाते भरतजीमें रामप्रियताका अभाव प्रकट है अथवा संदिग्ध है। अतः कहना यह है कि केकेयीजी व मन्थराके अतिरिक्त भरतजी ही एक हैं जिनके बारेमें कहा जा सकता है कि रामराज्याभिषेकके लिए संवासियोंकी सर्वसम्मतिमें उनका मत अस्पष्ट है।

चराचरकी प्रियता

अयोध्यावासिनी प्रजाकी श्रीरामजीके प्रति प्राणप्रियता श्रीरामजीका (वन-गमनमें) अनुगमन करनेसे स्पष्ट है। तब श्रीरामजीका साथ क्यों छोड़ा ? इसका उत्तर यही है कि देवमायाके वश हो प्रभुका साथ छूटा, उन्होंने स्वयं नहीं छोड़ा। माता कौसल्याजीकी उक्ति('प्रान प्रानके जीवन जीके')से उनकी श्रीरामजीमें प्राणप्रियता स्पष्ट है। इस प्रकार माताओं, परिजनों, प्रजाओं, वनवासियोंकी प्राणप्रियता 'चर'के अन्तर्गत कही गयी ! दो० १३८में 'अचर'से 'बेलिविटप तृन जाति' आदिकी प्रानप्रियता कही गयी है। 'जिन्हहि निरखि मग सांपिनि बीछी। तजहिं विषम विष तामस तीछी'से जीव-जन्तुओंकी प्रियता स्पष्ट है।

संगति : जैसा राजाने चौ० ८ दो० २९में 'अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल विपति कै नेई'से बताया है उसी प्रकार रामराज्याभिषेकके विरोधी तीनों (कैकेयीजी, मन्थरा व भरतजी)के मतको माननेपर परिवारमें अभेद व भ्रातृसंघटनको विनष्ट करना ही राजनीति-दृष्टिसे भरतजी परम हान समझा रहे हैं।

चौ०—परम-हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहिं दूषन काहू ॥७॥

भावार्थ : भरतजीकी दृष्टिमें चौ० ५-६में कही उक्तिके अनुसार श्रीरामविरोधकी प्रसक्ति परम हानि है, उसमें सबलोग बड़ा लाभ समझ रहे हैं, इसीको भरतजी अपना दुर्भाग्य या दुर्दिन बता रहे हैं। इसमें किसीको दोषी न कहना भरतजीका विनय है।

अशुचिताका दुर्दिनत्व

शा० व्या० : 'करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई' (चौ० ६ दो० १७४ व दो० १७५)में कही गुरुजीकी उक्ति पर सर्वसम्मतिसे अनुमोदन 'सब कहँ बड़ लाहू'से व्यक्त है। परन्तु अपनी शुचिता एवं विवेकसे उसको दुर्दिन समझकर अपने भाग्यको भरतजी दोषी ठहराते हैं। 'नहिं दूषन काहू'से आप्तजनोंकी सम्मतिका आदर भी दिखाया है। स्मरणीय है कि भरतजीकी प्रस्तुत

उक्तिसे, आप्तजनोंके आदरमें कहा 'बड़ लाहू' 'नहिं दूषन काहू'की शोभनीयता यही है कि भरतजीकी उपधाशुद्धिमें उनकी शुचिताको वह प्रकट करनेवाली होगी।

संगति : वादिमतमें स्नेहोपाधिमत्ता समझा रहे हैं।

चौ०—संसय-सील-प्रेमबस अहहू। सबुइ उचित सब जो कछु कहहु ॥८॥

भावार्थ : आपलोग सन्देह, शील और प्रेम (उपाधि)के वश हो रहे हैं, इसलिए आप जो कुछ कह रहे हैं, सब उचित ही है।

स्नेहोपाधिकी उपपत्ति

शा० व्या० : राजशास्त्रके निर्वाचन सिद्धान्तमें संवासिमत (लोकमत)से निर्वाच्य नेताका शील, सत्व, बल, आरोग्य, अस्तब्धता और अचापल्य—ये छ गुण परीक्षित होते हैं। इन गुणोंसे सम्पन्न व्यक्ति ही लोकमतका पात्र माना जाता है। उक्त गुणोंसे सम्पन्न श्रीरामजीकी योग्यता निर्विवाद है, जैसा मन्थराने भी स्वीकार किया है—'यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहिं सोहाइ मोहि सुठि नीका'। (चौ० ७ दो० १८)। उक्त सिद्धान्तसे परिचित होते हुए भी भरतजीको राजपद देनेके निर्णयमें सबकी सम्मति उचित नहीं किन्तु 'अवध अनाथा'को देखकर सबकी सम्मतिसे किये निर्णयमें भरतजी औचित्यका आभास समझा रहे हैं क्योंकि दो० १७८में कहे दोषोंके रहते वे अपनेको दु:शील मानते हैं। फिर भी स्नेहके वशीभूत होकर भरतजीको राज्य देनेके लिए कहना भरतजीके स्नेह शीलका परिचायक न होकर सब मतदाताओंका ही भरतजीके प्रति प्रेम और शील उपाधिका परिचायक कहा जायगा।

परिषत्सम्बन्धिमत

यहाँ मनुजीकी उक्ति स्मरणीय है—'सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते'—अर्थात् मोहग्रस्त सदस्योंकी सभामें अकुशल वेत्ताओंकी मन्त्रणा अनुष्ठेय नहीं है। 'संसय-सील-प्रेमबस'से सभासदोंकी मोहग्रस्तता बतानेमें भरतजीके उपरिबुद्धित्वका परिचय मिलता है।

संगति : उपरोक्त 'संसय सील प्रेम बस अहहू'को स्पष्ट करते हुए व्यक्तिगत निरूपणसे उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप दिखाते भरतजी राममाता कौसल्याजीकी प्रेमवशता, विवेकप्रधान गुरु वसिष्ठजीके आदेशमें विधिविमुखता तथा गुरुजीके निर्णयके समर्थनमें अन्य सभासदोंकी परवशताको उपाधिरूपमें दिखा रहे हैं। अथवा दो० १६८से चौ० ५ दो० १६९ तक कविने कौसल्या माताजीका भरतजीके प्रति जो प्रेम वर्णित किया था। उसके उत्तरमें प्रेमको उपाधिके रूपमें भरतजी दिखा रहे हैं।

दो०—राममातु सुठि सरलचित मो पर प्रेमुबिसेषि।
कहइ सुभाय-सनेहबस मोरि दीनता देखि ॥१८१॥

भावार्थ : श्रीरामजीकी माता कौसल्याजी सुशीला और सरला हैं, मुझपर उनका विशेष प्रेम है। मेरी दीनस्थितिको देखकर जो कह रहीं हैं, वह अपने सुस्वभाव एवं स्नेह (उपाधि)के वश होकर बोल रही हैं।

शा० व्या० : कौसल्याजीके विवेकमें 'प्रेमविसेषि' 'सनेहबस'की उपाधि बताकर भरतजी उनके मतमें अपना असन्तोष दिखा रहे हैं।

कौसल्याजीका प्रेमविशेष, सरलचित, स्नेहवस

दो० १६८ से चौ० ५ दो० १६९ में कही कौसल्याजीकी स्नेहवशतामें 'थनपय स्रवहिं' प्रेमविसेषि है। दूसरा भाव यह कि कौसल्याजीसे मिलनेमें भरतजीको विशेष प्रेमका स्वाद 'थन पय स्रवहिं नयन जल छाए'के अनुभावमें मिला, वह अपनी माता कैकेयीसे मिलनेमें नहीं प्राप्त हुआ यही प्रेमविशेषि है।

'सुठि'से भरतजीके प्रति कौसल्याजीके स्नेहानुभावकी शोभनीयताको व्यक्त किया है। 'सरलचित'से कौसल्याजीके ऋजु स्वभावको दिखाया है, जिसमें सौतपन-प्रयुक्त द्वेषभावना बिलकुल नहीं है जो 'काहुहि दोसु देहु जनि ताता'से प्रकट है। 'अतिहित मनहुँ राम फिरि आए'की जो अनुभूति भरतजीको हृदयसे लगानेमें होती चली आयी है, उसको कविने 'सरल सुभायँ' कहा है।

'सनेहबस'का भाव है कि भरतजीको पाकर 'अतिहित मनहुँ राम फिरि आए'के सुखमें चौ० ८ दो० १६५की व्याख्याके अनुसार माता कौसल्याजी भरतजीको छोड़ना नहीं चाहती, इसलिए 'तात न रामहिं सौंपेहु मोही'की भावनाकी उत्तेजनामें भरतजी कहीं वनमें श्रीरामजीके पास न चले जायँ ? अथवा 'परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलम्बा'से कौसल्याजी भरतजीको ही एकमात्र अवलम्ब समझकर दूर नहीं करना चाहती।

प्रेम व स्नेहमें अन्तर

प्रेम और स्नेहकी व्याख्याके अनुसार[१] प्रस्तुत प्रसंगमें भरतजीको (चौ० ६ दो० १७६ में) राजा रूपमें देखकर सुखास्वाद लेना प्रेम है, राज्यसंचालनको छोड़कर अपनेसे दूर होनेसे भरतजीको रोकनेमें स्नेह है। यही प्रेम और स्नेहका अन्तर है। प्रभुके प्रति प्रीतिको अनुराग तब कहा जायगा जब उसके वशीभूत हो भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामकी शरणमें जाना चाहेंगे।

दीनता

'मोरि दीनता'से भरतजीकी दीनता यही है कि एक ओर गुरुजी, माताजी आदिके आदेशको माननेपर भी राज्यपालनकर्तृत्वमें कृत्यसाध्यता देख रहे हैं, दूसरी ओर 'बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू'में रामवियोग-

---

१. यूनोः परस्पराह्लाद''''रहो विस्रंभकारिकाः। विदेशस्थे मृते वापि दुर्बले प्रतियोगिनि। धर्मिणः क्लेशकारी यः स प्रौढः स्नेह उच्यते। (भाव प्रकाशन ४)

जनितग्लानिमें प्रभुके पास जानेकी उत्कण्ठा है जैसा चौ० ७ दो० १७८में कहा है। इसी भाँतिकी दीनता कौसल्याजीने चौ० १ से ६ दो० ५५में प्रकट की थी। अर्थात् गुरुजी आदिके आदेशको माननेमें असन्तोष और आदेश माननेमें रामसेवकाईसे च्युति भरतजीका दीनताका विषय है।

संगति : गुरुजीके आदेशमें उपाधि समझा रहे हैं।

चौ०–गुर बिबेकसागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व करबदर समाना ॥१॥
मो कहँ तिलक-साज सज सोऊ। भएं बिधिबिमुख बिमुख सब कोऊ ॥२॥

भावार्थ : सब संसार जानता है कि गुरुजी विवेकके समुद्र अर्थात् महाज्ञानी हैं। उनको सम्पूर्ण जगत् करतलगत-बैरके फलके समान दृश्य या ज्ञात है। वह भी मुझको राजतिलक देनेकी तैयारी कर रहे हैं तो कहना पड़ता है कि विधाताके वाम या विपरीत हो जानेपर सभी लोग प्रतिकूल हो जाते हैं।

गुरु वसिष्ठजीका विवेकसागरत्व

शा० व्या० : 'विवेकसागर'से स्पष्ट किया है कि गुरु वसिष्ठ वेदमूर्ति हैं, परमार्थतत्वके ज्ञाता हैं भगवत्कृपाके पात्र हैं। विश्वामित्रजीके इतिहाससे वसिष्ठजीकी विवेकसागरता स्पष्ट है। 'बिस्व करबदर समाना'का भाव है कि उनको सम्पूर्ण विश्वका यथार्थ ज्ञान है। साथ ही विश्वमें होनेवाली तीनों कालकी घटनाएँ उनको दृष्टिगत हैं। ऐसे विवेकी महात्माओंके सम्बन्धमें कविने बा० का० चौ० ६-७ में कहा है—सब दरसी जानहि हरिलीला। जानहिं तीनि काल निजज्ञाना। करतलगत आमलक समाना।'

आमलक और बदरकी समानतामें अन्तर

'आमलकसमाना' व 'बदरसमाना'में विश्वका ज्ञान एकसमान है, अन्तर इतना ही है कि त्रिकालज्ञ सर्वदर्शी महात्मा जब विश्वको 'सियाराममय सब-जग जानी' की अनुभूतिमें हरिलीलाके रूपमें देखते हैं तब उनको विश्व रसायनगुणोपेत आमलकके समान गुणकारी ग्राह्य या सेवनीय प्रतीत होता है। जब गुणदोषविवेककी दृष्टिसे देखते हैं, तब वही विश्व बदरीफलके समान त्याज्य मालूम होता है।

गुरुजीके मतमें विधिवैमुख्य उपाधि है

गुरु वसिष्ठके निर्णयमें अल्पज्ञता या सदोषता नहीं है, इसको 'विवेकसागर'से स्पष्ट करते हुए भरतजी विधिकी प्रबलताको समझा रहे हैं। जिस प्रकार कौसल्याजी, सचिव, व महाजनोंके मतमें 'संसय सील प्रेम'को उपाधि बताया उसी प्रकार गुरुजीके मतमें विधिकी विमुखताको उपाधि बता रहे हैं। प्रभुके पास पहुँचनेपर 'बिमुख सब कोऊ'का पूर्ण निरास होगा। विधिकी विमुखतामें सबकी सम्मतिपर होनेवाला भरतजीका असन्तोष जब दूर होगा, तब गुरुजीका निर्णय ही अन्तमें सर्वमान्य होगा

यही गुरुजीका विवेकसागरत्व एवं त्रिकालज्ञत्व मन्त्रित्व बुद्ध्यष्टगुणसम्पत्तिमत्त्व हैं।

संगति : पूर्वमें कहे 'विमुख सब कोऊ'से क्या श्रीसीतारामकी भी विमुखता कही जायगी ? नहीं। इसको भरतजी आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—परिहरि रामु-सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥३॥
सो मैं सुनब सहब सुखु मानी। अन्तहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥४॥

भावार्थ : श्रीसीतारामको छोड़कर संसार भरमें दूसरा कोई नहीं है जो मेरे राजपदासीन होनेमें मेरा भी मत रहा होगा, ऐसा न कहे। इस मतको सुनूँगा, सुख मानकर सहूँगा। आखिर जहाँ पानी है वहाँ कीचड़ रहती ही है।

प्रश्न : तब यह पूछा जा सकता है कि 'देखों अब नयन भरि भरत राजअभिषेकु' व 'राखु राम कहु जेहि तेहि भाँती' उक्तिके अनुसार श्रीराम अयोध्यामें रहते और भरतजी राजपदासीन होते तो 'सुनब सहब सुख मानी'में वर्णित आपत्तिको भरतजी इष्टापत्ति रूपमें क्या स्वीकार करते ?

उत्तर : समाधानमें यही समझना होगा कि राजपदभूषित होनेपर यदि अहेतुक अव्यवहित सेवा प्राप्त है तो उनको राजपद इष्ट ही होगा। तब 'चहत न भरत भूपतहि भोरे' वचनका यही अर्थ होगा कि भक्तिके विरोधमें भरतजी राज्याभिलाषुक नहीं हैं। लोकमें भरतजीके प्रति राजपदाभिलाषाकी आपत्ति फैलेगी भी तो वह कीचड़-पानीके संग जैसी होगी अर्थात् राजपदासीनताप्रयुक्त दोष छिप जायेगा और सेवकाईकी निर्मलता प्रकाशित होगी, जैसे जलमें कीचड़ नीचे बैठ जाती है जलकी निर्मलता प्रकट हो जाती है। छिछले जलकी निर्मलताको कीचड़ बिगाड़ सकती है, पर अगाध-जलमें रहनेवाली कीचड़से जलकी निर्मलतामें विकार नहीं आता, ऐसे ही भरतजीकी स्थिति होगी। अगाध रामभक्तिमें राजपदप्राप्तिजनित दोषोंका विकार दृश्य नहीं होगा जैसा चित्रकूटमें गुरु वसिष्ठजीने 'भरत महा महिमा जलरासी'से व्यक्त किया है। श्रीमद्भागवतमें कदर्योपाख्यानमें उद्धवसे कही भगवदुक्ति स्मरणीय है—'बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनैरितैः। दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः।'

संस्कृत शास्त्रोंकी अविकृति

उपरोक्त 'कीच-पानी'के दृष्टान्तसे प्रसंगतः संस्कृत-भाषा और इतर भाषाओंका सम्बन्ध इस प्रकार कहा जा सकता है असंस्कृत-अपभ्रंशरूप अन्य भाषाओंसे संस्कृत-भाषामें विकृति उसी प्रकार नहीं आती जिस प्रकार अगाध जलमें कीचड़से कोई विकार नहीं होता। अर्थात् अन्य भाषाओंके प्रोत्साहनसे संस्कृतको कोई चिढ़ या घृणा नहीं कही जायगी। अथवा जिस प्रकार परंपराप्राप्त आयुर्वेदप्रणाली, नीति, न्याय, मीमांसा आदिके द्वारा विधिविहित शास्त्रशुद्ध वस्तुतत्त्वके सनातनत्त्वकी मान्यता, संस्कृत भाषाके विरुद्ध अपभ्रंशके सदृश वर्तमान अनेकों पंथ, चिकित्साप्रणाली, वैदेशिक नीति आदिके पनपनेसे दूषित नहीं होती। स्मरणीय है कि शास्त्रशुद्ध तत्त्व निर्मल जलके

समान स्थिर है, वही पर्यवसानमें एकमात्र अवलम्बनीय रहता है, अन्य सब अशुचि तामस एवं दुर्नयपूर्ण होनेसे विलीन हो जाते हैं।

संगति : भक्तिके पोषणमें अंगभूत नीतिका स्थापन बताकर उसकी स्थापनामें धर्मकी अवहेलना अपेक्षित हो तो उस दशामें तत्प्रयुक्त दोषोंको इष्ट बता रहे हैं।

चौ०—डरु न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू ॥५॥

भावार्थ : संसार मुझे नीच या कायर कहेगा तो उसका मुझे भय नहीं है, न परलोक बिगड़नेका सोच है।

शा० व्या० : रामस्नेहकी अतिशयिततामें कहे (चौ० १-२ दो० ४५) राजाके उद्गारके अनुरूप भरतजीके भक्तिगुणसे समन्वित यह उद्गार है।

भक्तिकी प्रतिष्ठामें अङ्गलोपप्रयुक्त दोषकी मान्यता

चौ० ३-४ की व्याख्यामें कही व दो० ३१में राजाकी बतायी 'नृपनीति'का यहाँ खण्डन होता है, धर्मके बलपर कैकेयीजीके 'भरतहि टीका'की वरयाचनासे चौ० ३ दो० १५ में कही 'कुलरीति' विनष्ट होती है, गुरु, माता, पिताके वचनका पालन न करनेमें 'धरमु जाइ सिर पातक भारू' (चौ० ४ दो० १७७)के फलस्वरूप परलोक बिगड़ेगा—ये सभी भक्तिके पोषणमें अनुकूल हैं तो इष्ट है।

भरतजीके उपर्युक्त कथनका भाव है कि पूर्वोक्त अवस्थामें रामसेवकाई स्थिर रहती है तो उनको संसारमें नीच कहे जानेका भय या परलोकमें दण्डभागी होनेका शोक नहीं है। ध्यातव्य है कि भक्तिसिद्धान्तसे समन्वित भरतजीकी उक्ति शोभनीय इसलिए है कि भरतजीको धर्मनीतिका निरादर अभिमत नहीं है, बल्कि भक्तिकी श्रेष्ठता अथवा प्रधानताको स्थापित करना व उसकी छत्रछायामें विद्याधर्मका आदर करना अभिमत है।

संगति : माता कौसल्या द्वारा दो० १६५ से १६६ तक वर्णित श्रीरामजीकी निर्विकारता, विषादशून्यता, व प्रसन्नताको सुनकर भी सीतारामजीके वनवासका स्मरण करके भक्तिनिपुण भरतजी दुःखी हो रहे हैं।

चौ०—एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय-राम दुखारी ॥६॥

भावार्थ : मेरे हृदयमें यही एक असह्य सन्ताप हो रहा है कि मेरे कारण सीतारामजीको वनवासका दुःख स्वीकार करना पड़ा है।

राजपरिवारको भेदसे रक्षित रखनेके लिए श्रीरामका वनवास

शा० व्या० : दो० १७८ में भरतजीने सब दोषोंका सारांश प्रकट कर दिया है जिसके रहते भरतजीका दुःख नहीं जा रहा है क्योंकि भरतजीके लिए श्रीरामजीने राज्यसम्बन्धी सप्रतिबन्ध दायको कैकेयीपुत्रत्वके कारण ही निरस्त करनेके हेतु वनवास-स्वीकार किया है जिससे राजपरिवारमें भेद न होने पावे। राजपरिवारको अभेद्य रखनेमें भरतजीके उपरोक्त उद्गार नीतिदृष्टिसे महत्वपूर्ण हैं।

भक्तकी योगसाधना

'एकइ उर बस दुसह दवारी'से रामवनवासके प्रति भरतजीका द्वेष गुरुजीके वचनपालनमें प्रतिबन्धक समझाया है। भगवद्वनवासविषयक दुसह दुःख भगवत्प्रीतिमें रहे भक्तके लिए एकाग्रयोगका साधन बना है, जैसा प्रभुको वनवासी देखकर सेव्यसेवकभावमें सीताजी और लक्ष्मणजीका दुःखी होना चौ० ६ दो० १४१ में 'लखि सिय लखनु बिकल होइ जाहीं'से कहा गया है। भक्त-भगवान्‌के सम्बन्धमें स्मरणीय है कि भगवान् भी भक्तके विरहमें दुःखी होते हैं जैसा चौ० ५ दो० १४१ में 'कृपासिन्धु प्रभु होहिं दुखारी'से स्पष्ट है।

ज्ञताव्य है कि भारतयुद्धमें स्वजनोंकी हत्या आदि दुःखोंका स्मरण करके जिस प्रकार अर्जुनको विषाद हुआ व श्रीकृष्णके वचनोंको प्रमाण माननेमें प्रथमतः मोह भी हुआ, उसी प्रकार गुरु आदिके वचनोंके तात्कालिक पालनमें 'मोहि लगि भे सियराम-दुखारी'को स्मरण करके भरतजीको मोह हो रहा है। आगे चलकर प्रभुके वचनसे सत्यसंध पिताके वचन-पालनमें भरतजीका दोषदर्शन मोह दूर होगा।

'एकइ'का भाव

'एकइ' कहनेका भाव है कि जनापवाद, कायरता, नरकरूपपरलोकभय आदिका उतना दुःख नहीं है जितना कि एकमात्र सीतारामजीके वनवासका दुःख है। और सब दुःख सह्य है, पर यह दुःख असह्य है। भरतजीका भक्तिगुण अभी बुद्धि-गुणसम्पत्ति विवेक आदिको अभिभूत कर रहा है, फिर भी उपधाशुद्धि होनेके बाद भरतजीकी भक्तिका पोषण उसीके द्वारा होगा। अतः भरतजीके बुद्धिगुण आदिको रक्षित ही समझना चाहिए। इस प्रकार कहीं विरोध नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि वनवासमें 'सिय राम दुखारी' कहनेमें लक्ष्मणजीका नाम क्यों नहीं लिया? इसके समाधानमें कहना है कि सेवकभावमें स्वयं रहते हुए भरतजी समझते हैं कि रामसेवामें वनवासका सुख लेते हुए लक्ष्मणजी अपना जीवन सफल बना रहे हैं, जैसा सुमित्रा माताने लक्ष्मणजीसे कहा है 'तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं' (चौ० ३ दो० ७५)।

संगति : इसीको अग्रिम चौपाईमें कहा जा रहा है।

चौ०—जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि रामचरन मनु लावा ।।७।।
मोर जनम रघुबर-बन-लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी ।।८।।

भावार्थ : लक्ष्मणजीने जीवनका फल अच्छी तरहसे पा लिया जो उसने सब कुछ त्यागकर केवल रामचरणोंकी सेवामें अपना मनस् लगाया है। एक मैं हूँ जिसका जन्म ही रघुपति श्रीरामजीके वनवासके लिए हुआ। मैं अभागी ही हूँ तो मेरा पछताना झूठा है, किसी अर्थका नहीं है।

वनवासीके स्मरणमें लक्ष्मणजीका सार्थक्य ?

शा० व्या० : लक्ष्मणजीके त्याग और रामसेवाको स्मरणकर भरतजी उनकी धन्यताका गान कररहे हैं। 'सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू'के अनुसार लक्ष्मणजीके सफलत्वको 'जीवन लाहु'से स्पष्ट किया है। 'सब मानिअहिं रामके नाते'के अनुसार लक्ष्मणजीने 'जहँ लगि जगत सनेह सगाई'का त्याग किया है और 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी'से एकमात्र श्रीरामकी शरणागतिको स्वीकार किया है।

'झूठ पछिताउँ'का भाव है कि अपने अभाग्यसे मुझे कैकेयीजीसे जन्म मिला है जिसके कारण श्रीरामको वनवास हुआ, ऐसी अपरिहार्य स्थितिमें पछतानेसे क्या लाभ है ?

संगति : पछताना झूठ कहा जायगा यदि भरतजी उक्त अपरिहार्य स्थितिके परिहारके लिए कोई प्रयत्न न करके पछताते रहेंगे—अर्थात् श्रीरामके शरणमें जाना ही एकमात्र उपाय है। उसीको समझा रहे हैं।

दो०—आपनि दारुन-दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथपद जियकै जरनि न जाइ ॥१८२॥

भावार्थ : मैं नतमस्तक होकर सबसे अपनी उत्कट दीनताको कहता हूँ कि श्रीरघुनाथजीके चरणोंको देखे विना मेरे हृदयका संताप दूर नहीं होगा।

भरतजीका दुःखहरणोपाय

शा० व्या० : अपने कारण प्रियतमको वनवास होनेपर स्वयं अपनेको प्रियतमके आगे उपस्थापित कर देना, प्रियतमको तदनुरूप पदपर समासीन कराना व्यावहारिक उपाय है। इससे हृदयको शीतलता मिलेगी। यहाँ दुःखकी असहनीय अवस्था ही 'दारुन दीनता' है।

'रघुनाथ पद'से प्रभुके चरणचिह्न एवं विश्रामस्थल भी भरतजीका अभिमत है जिससे 'जरनि जुड़ाऊ'को प्रतीति करेंगे (चौ० ६ दो० १९८)।

वनवासकारणमीमांसा

भरतजीने अपनेको रामवनबासके प्रति कारण कहकर दोषी ठहराया है, जनताने विधिको, देखनेमें तो आपाततः वनवासमें कर्त्री कैकेयी कारण है। इनमें वास्तविकताका विचार कर्तव्य है। उक्तीनों मतोंमेंसे विधान एवं कैकेयीका कारणत्व दोनों ही कैकेयीपुत्रत्वके माध्यमसे भरतके राज्यस्वत्वार्जनमें समन्वित हो रहे हैं। अतः कहना होगा कि न्यायभाषामें कैकेयीपुत्रत्व राज्यस्वत्वके प्रति व्यापारविधया कारण है जो कि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनक (कैकेयी व दैवने भरतजीका निर्माण किया, वही राज्यस्वामित्वोपधानमें स्वरूपतः कारण हुआ) है। कारणके अन्तर्गत

भरतजीने उक्त व्यापारको ही कारण मानकर कैकेयीजी और विधानको अन्यथासिद्ध समझा है जैसे कुलालपिता या रासभको घटप्रति अन्यथासिद्ध माननेका न्याय-संप्रदाय है। कैकेयीजी और जनताने भरतप्रसूत्वको व्यापार इसलिए समझा है कि विना उसके दोनों (रानी और विधि) सफल नहीं हो सकते थे। इस 'मतमें व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः' यह मत चिन्तनीय है जैसे अदृष्ट व्यापाररूप कारणके रहते स्वर्ग प्रति धर्मको अनन्यथासिद्ध माननेका न्यायसंप्रदाय है। निष्कर्ष यह कि सभी मतमें कैकेयीपुत्रत्वकी कारणता निर्विवाद है। इसमें यह तथ्य ज्ञेय है कि प्रभुकार्यका विरोध हुआ है, अतः न्यायाभिमत हेत्वाभासके सदृश कैकेयीपुत्रत्व भक्तिके अन्तर्गत दोष ही कहा जायगा, तद्वान् होनेसे भरतजो दुष्ट कहे जायेंगे। यदि भरतजी प्रत्याख्यान नहीं करेंगे तो भरतजी हेत्वाभाससदृश ही रह जाते हैं। इसी दोषको देखकर भरतजीको संताप हो रहा है, वह रहेगा तबतक, जबतक भरतजी प्रत्याख्यान नहीं करते व श्रीरामके तरफसे राज्यका स्वामित्व स्वीकृत नहीं होता। उसका निरास भरतजीद्वारा चित्रकूटकी यात्रा करने और श्रीरामके तरफसे अयोध्यामें लौटकर चौदह वर्षके बाद राज्यकी स्वीकृति करानेमें होगा।

संगति : प्रभुके समीप पहुँचनेके अतिरिक्त कोई उपाय दुःखनिवारणमें नहीं है, ऐसा समझा रहे हैं।

चौ०—आन उपाउ मोहि नहि सूझा। को जिय कै रघुबर बिन बूझा? ॥१॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ॥२॥

भावार्थ : रघुनाथजीके दर्शनके अतिरिक्त मुझे कोई दूसरा उपाय नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि रघुवर रामजीके सिवाय कोई दूसरा मेरे मानसकी[1] बातको नहीं समझ सकता। यही एकमात्र मेरे मानसका निश्चय है कि सबेरा होते ही प्रभुके पास जाना है।

चित्रकूट जानेमें प्रातःकालकी अपेक्षा

शा० व्या० : प्र०—भरतजीको इतना तीव्र सन्ताप है तो उसी समय चलनेकी बात क्यों नहीं कही ?

उ०—इसके समाधानमें कहना है कि राज्यकी व्यवस्थामें अधिक से अधिक जितना समय अपेक्षित होगा उसको समझते हुए प्रातःकाल चलनेको कहा है।

प्रभुके पास जानेका प्रयोजन

'चलिहउँ प्रभु पाहीं'से पिताजीके वचनप्रमाणके आधारपर धर्म, शास्त्रविधि,

---

१. 'रघुबर विन बूझा'से (चौ० १ दो० १८३)की व्याख्या स्मर्तव्य है अर्थात् भरतजीका आन्तरिक भाव प्रभु और भरत सम्वादके पूर्व कोई नहीं समझ सकता, जिसकी चरितार्थता राजा जनकादिके निर्णयसे व्यक्त होगी।

व पण्डितसम्मतिसे समन्वित गुरुजीके आदेशपालन धर्म भक्तिपन्थकी छत्रछायामें उस रीतिसे सुरक्षित होगा। जिस प्रकार 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' वचन अर्जुनकी समस्याओंके समाधानमें कार्यकारी हुआ अर्थात् भरतजीके उक्त प्रयोजनकी सिद्धि प्रभुकी शरणागतिसे होगी। सेवक तत्तद्धर्मों एवं विधियोंकी मर्यादाके अंगत्वमें भक्तिको अंगी मानकर सर्वस्वको समर्पित करता है तो भक्तिशास्त्र उसका रक्षक होता है। जैसे चित्रकूटमें गुरुजीकी उक्ति ('राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होई'। दो० २५४)से प्रभुके निर्णयको मानकर भरतजीका परितोष होगा, शास्त्रोंके समन्वयसे उचित-अनुचितके प्रश्नकी समाप्ति पर सब गुरुजनोंको सन्तोष होगा, तथा सब विद्याओं एवं धर्मोंकी मर्यादा बनी रहेगी। इसी प्रकार 'सर्वं धर्मान्परित्यज्य'की तत्परताको सीताजी और लक्ष्मणजीमें देखकर प्रभुकी प्रतिक्रिया ('परिहरि सोच चलहु बन साथा' 'आवहु बेगि चलहु बन भाइ') वैसी ही है जैसी 'मामेकं शरणं व्रज'के अनुष्ठानसे अर्जुनको प्रोत्साहित कर उसको 'भक्त्यंगत्वेन' युद्ध-धर्ममें प्रवृत्त कराते हुए अर्जुनके विशोकस्थितिकी प्राप्ति गीतामें कही गयी है।

संगति : शरणागतके बाद दोषोंके परिहारमें प्रभुकृपाकी कारणताको आगे बता रहे हैं।

चौ०—जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥३॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपाबिसेषी ॥४॥

भावार्थ : कैकेयीपुत्रत्वसे युक्त मेरा शरीर यद्यपि अपराधी होकर श्रीरामके राज्यारोहणमें बाधक हुआ है, मेरे ही कारण सब अयोध्या विषाद व उपद्रवसे ग्रस्त हुई है। इस रीतिसे मुझको न्यायमतके अनुसार स्वरूपतः कारण समझते हुए भी मुझे सन्मुख व शरणागत देखकर प्रभु अपनी विशेष कृपासे क्षमा करेंगे।

अपराधनिरासोपाय

शा० व्या० : 'जद्यपि'से भरतजी शरणागतकी सन्मुखता, 'जन्मकुमातु'से 'अनभल' दोष तथा उस दोषमें होनेवाले स्वामिद्रोहरूप अपराधको स्वीकार कर रहे हैं। वे क्या करते? स्वरूपतः कारणत्वप्रयुक्त 'अनभल अपराधी' होनेमें भरतजीका कोई वश नहीं है। अतएव वैसा होनेमें उन्होंने कोई उपाय किया हो अथवा उनका मत रहा हो, ऐसी बात नहीं है। रामसेवाको छोड़कर ननिहालमें रहना भी भरतजी अपना अपराध मान सकते हैं। इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि 'भै मोहि कारन सकल उपाधी'से भरतजी अपने कैकेयीपुत्रत्व तथा अनुपस्थितिको कुसमयका कारण मानते हैं। ऐसे ही समय प्रभुके प्रति भरतजीकी सन्मुखता एवं शरणागतिका भाव बहुत ही महत्त्व रखता है जो 'तात न रामहि सौंपेहु मोही'से व्यक्त कर चुके हैं। विभीषणशरणागतिके प्रसंगमें (सुन्दरकाण्ड) जीवकी सन्मुखतामें शरणागतके पाप-

दोषोंके नाशका विचार किया गया है। संक्षेपमें यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि घोर अपराधी जिनके पापका प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रके विधानसे भी परे हैं वे भी निर्वेदमें आकर प्रभुके सन्मुख होनेको व्याकुल होते हैं तो प्रभु उनके अघोंका नाश कर देते हैं। यही प्रभुकी 'कृपाविसेषी' है जैसा चौ० ५ दो० २६०में भी कहा है। इसी भावसे भावित होकर भरतजी श्रीरामकी शरणमें जाना चाहते हैं, क्योंकि दो० १७८में कहे दोषोंका परिहार अन्य विधिसे असामाधेय है। परशुरामजी द्वारा कहे 'क्षमहु क्षमामन्दिर दोउ भ्राता'से प्रभुकी क्षमाशीलता प्रसिद्ध है।

संगति : प्रभुके स्वभावको बताकर 'कृपाविसेषी'में भरतजी अपने विश्वासकी पुष्टिमें अप्रामाण्यज्ञानानास्कंदितत्व समझा रहे हैं।

चौ०—सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेहसदन रघुराऊ ॥५॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसुसेवक जद्यपि बामा ॥६॥

भावार्थ : रघुनाथजीका सरल स्वभाव है। वह शीलवान् संकोच शील आदि सुन्दर गुणोंसे युक्त हैं, स्नेह और कृपाके आगार हैं। जब श्रीरामने शत्रुका भी कभी अहित नहीं किया है तब मैं तो बालपनसे ही उनका सेवक हूँ, यद्यपि कुसमयने इस समय उनको विपरीत बना दिया है।

श्रीरामकी सहजद्रव्यता सरलता आदिका विवेचन

शा० व्या० : 'स्वभाव'से 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति न अद्रव्यं' 'शुश्रुषाश्रवण-ग्रहणधारणोहापोहतत्वाभिनिविष्टबुद्धि विद्या विनयति नेतरम्'के अनुसार श्रीरामकी विद्याविनीतता एवं शीलता स्फुट की है जो कृतक नहीं, पूर्वानुस्यूत है।

'सरल'से कायिक वाचिक मानसिक व्यापारमें विसंवादिताका अभाव बताया जिसमें दंभ कपटका लेश भी नहीं है।

'सुठि'से परदुःखके परिहारकी वृत्ति बतायी। यह वृत्ति ही सात्विकताका सौष्ठव है जो परपीड़ाके अनुभवसे व्यक्त होती है।

'सकुच'का भाव है कि दीनोपगतकी प्रार्थनाको सुनकर उसके दुःखको तत्काल न दूर करनेमें प्रभुको संकोच (लज्जाभाव) होता है।

'कृपा-सनेहसदन'से सेवकके प्रति प्रभुका द्रवीभाव और उसमें होनेवाली दयाकी अपरंपारता बतायी। भरतजीके प्रति प्रभुकी कृपासिन्धुता चौ० ५ दो० १४१में स्पष्ट है। भरतजीका विश्वास 'मो पर कृपा सनेहु विसेषी'से चौ० ६ दो० २६०में व्यक्त है।

'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'का भाव राजाकी उक्ति 'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला' (चौ० ८ दो० ३२) की व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

बालकाण्ड चौ० ४ दो० १९८ में 'प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई'से भरतजीका शिशुसेवकत्व दिखाया गया है। प्रभुके समक्ष चित्रकूटमें भरतजी अपना शिशुसेवकत्व

व प्रभुके स्वभावकी कृपासिन्धुता चौ० ५ से ८ दो० २६०में प्रकट करेंगे। अरण्यकाण्डमें चौ० ८ दो० ४३ में 'बालकसुतसम दास अमानी'से सेवकको शिशुरूपमें रहते स्वीकार किया है। 'जद्यपि बामा'से अज्ञ शिशुसेवककी अपराधस्थितिपर प्रभु सेवकको कृपापात्र मानेंगे, ऐसा भरतजी समझा रहे हैं।

सगति : पंचोंके आशीर्वादकी कामना करते हुए भरतजी उनके मतमें अपनेको उपेक्षणीय नहीं बनाना चाहते।

चौ०—तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥७॥

भावार्थ : आप सब पंच लोग मेरा भला समझकर मुझको अपनी सुन्दर वाणीसे आज्ञा और आशीर्वाद दीजिये।

आशिषकी प्रार्थना

शा० व्या० : नीतिसिद्धान्तमें पंचोंके निर्णयसे मतभेद होनेमें मन्त्रणा-सभा अधम मानी जाती है। इस दोषका परिहार करनेके लिए 'सुबानी' कहा है। 'भल मानी'से भरतजी पंचोंके आशीर्वादकी सफलता मानते हैं। 'आयसु आसिष देहु'— यह विधि प्रवर्तना नहीं कही जायगी, किन्तु प्रार्थना है। 'आसिष'से निःशंकता एवं तर्जनाशून्यतासे सहित प्रीतिसम्बन्धकी स्थापना और 'आयसु'से कार्यमें बलवदनिष्टाननुबन्धिता दिखायी है।

संगति : जिस कार्यके लिए पंचोंकी आज्ञा व आशीर्वाद माँग रहे हैं वह उद्देश्य बता रहे हैं। 'आवहिं बहुरि रामु रजधानी'में 'मोर भल'को स्फुट कर रहे हैं।

चौ०—जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी ॥८॥

भावार्थ : मेरी विनयपूर्ण प्रार्थनाको सुनकर अपना सेवक जानकर प्रभु श्रीराम अयोध्यामें लौटकर आ जायँ।

भरतजीकी आशा

शा० व्या० : अति आर्त वाणीको सुनकर जनकी पुकारपर प्रभु दौड़े आते हैं जैसा स्वधर्मनिष्ठ द्रौपदी, गजराज आदिकी कथाओंमें वर्णित है। दो० १८२में कही दारुण दीनतासे व्यक्त विनयको सुनकर अयोध्यामें श्रीरामजीके आनेकी आशा भरतजीको भी है।

'विनय सुनि'में भरतजीके पूर्वोक्त उद्गार हैं जो उन्होंने सभाके सामने व्यक्त किये हैं। आगे दो० २५९ से २६२ तक में भरतजीका विनय प्रदर्शित होगा जिसका निष्कर्ष कवि चौ० १ दो० २६३ में 'आरति प्रीति विनय नय सानी'से कहेंगे।

'आवहिं बहुरि रामु' पर विशेष वक्तव्य

श्रीरामजीको अयोध्यामें रखनेके लिए जिस प्रकार राजाने 'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँति'से तथा विप्रवधुओंने 'गुर गृह बसहुँ रामु तजि गेहू'से कैकेयीको राजी करनेका उपाय किया उसी प्रकार भरतजी 'आन उपाय मोहि नहिं सूझा'को

सोचकर अपने विनयसे श्रीरामजीको लौटानेका उपाय सोच रहे हैं क्योंकि भरतजीको आशंका है कि कैकेयी मातासे कही उक्तियोंके अनुसार हो सकता है कि प्रभु अयोध्यामें लौटें भी तो राजपदपर आसीन न होना चाहें।

प्रश्न : कौसल्या माताके वचन 'पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर' तथा गुरुजीके वचन 'तजे रामु जेहि बचनहि लागी'को सुनकर भी श्रीरामजीके लौटानेके उपायका आश्रय लेना भरतजीके लिए क्या उचित कहा जायगा ?

उत्तर : इसके समाधानमें कहना है कि गुरुजीके संकेत 'सौंपेहु राजु रामके आए'के आधारपर भरतजी समझते हैं कि पिताश्रीके वचनप्रामाण्यका उल्लंघन करके लौटाना प्रभुको इष्ट नहीं होगा जैसा दो० २५३ के अन्तर्गत भरतजीके विचारसे स्पष्ट होगा। इसलिए 'जनु जानी'से भरतजी अपने सेवकत्वको जनाकर प्रभुसे विनय करना चाहते हैं कि पिताश्रीके वचनका पालन करते हुए चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर प्रभु राजधानी अयोध्यामें आकर राजपदासीन हों[1]। ऐसा विनय करनेका तात्पर्य राजनीतिक दृष्टिसे यह है कि मन्थरा-कैकेयी द्वारा अर्जित भरतराज्यके षड्यन्त्रमें भरतजीके 'संमत मोरा' या 'मोर मत'की शंका निर्मूल हो जाय जिससे प्रभुको अयोध्यामें लौटकर राजपद लेनेकी रुचि रहे। इस मर्मको भरतजीने 'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा'में ध्वनित किया है।

यद्यपि चौ० ३ दो० ४६, दो० ५३ व चौ० १ दो० ६२में प्रभुने पिताश्री व माता कौसल्याजी और सीताजीसे चौदह वर्ष बाद लौटनेको कहा है, फिर भी 'सौंपेहु राजु रामके आए'को मानकर यदि भरतजी राजपदासीन हो जाते हैं तो सम्भव है कि पिताश्रीके वचन 'मोरे भरतु रामु दुइ आँखी। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई'की सत्यताको रखते हुए प्रभु अपने वचन ('भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू')को इष्ट मानकर अवधिकी समाप्तिपर अयोध्या न लौटें। अथवा रावणवधानन्तर किसी दूसरे निशाचर-नाशकी योजनामें कालविलम्ब कर दें। अथवा जिस प्रकार श्रीराममनोरथको जानकर रामराज्याभिषेकोत्सवमें सरस्वतीका विघ्नकार्य संपन्न हुआ उसी प्रकार श्रीरामजीके अयोध्या लौटनेपर राजपदासीन होनेमें श्रीरामजीके उपर्युक्त वचनके अनुसार दैवोपघात या सरस्वतीसे विघ्नकी आशंका हो सकती है इसी अभिप्रायसे कौसल्याजीकी उक्ति 'जौं एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा' पूर्वमें आयी है अर्थात् आज जैसे विघ्न हुआ वैसे ही प्रभुके अयोध्यामें लौटनेमें क्या ऐसा ही विघ्न देखना पड़ेगा ? कौन जानता है क्या होगा ? इस दृष्टिसे विचार करनेपर 'अतिहित मनहुँ राम फिरि आए' (चौ० १ दो० १६५)के तात्पर्यमें कौसल्याजीका ऐसा भाव मालूम होता है कि श्रीरामजीके लौटनेमें भरतजीका मिलन 'अतिहित'का सूचक है अर्थात् अवधिके अन्तमें प्रभुके आनेके

---

१. श्रीरामका राजपदासीन होना चौ० ६ दो० २५ (वा० का०) व चौ० ५ दो० २७३ से संगत है।

बाद राज्यारोहण करनेका पूर्ण विश्वास प्राप्त करनेमें भरतजी ही सहायक हो सकते हैं। अन्तोगत्वा 'आवहिं बहुरि राम रजधानी'के हेतु भरतजी उसी प्रकार अपने प्राणोंकी बाजी लगा देंगे, जैसा उत्तरकाण्ड चौ० ८ दो० १में 'बीते अवधि रहहिं जो प्राना'से स्पष्ट है या जिस प्रकार राजा दशरथजीने श्रीरामजीको अयोध्यामें रखनेके उपायमें प्राणोंकी आहुति दे दी है। अतः प्रभुके पास जानेमें भरतजीका यही उद्देश्य है कि प्रभु अयोध्यामें अवधि बीतते ही आने तथा राजपद सुशोभित करनेका आश्वासन दें। उसी सिद्धिके लिए चौ० ६ दो० ३१३में 'राखी नाथ सकल रुचि मोरी'से भरतजी अपने मनोरथकी पूर्ति व्यक्त करेंगे। श्रीरामजीको पदासीन करानेके उद्देश्यसे भरतजी अभिषेकसामग्री साथमें लेकर चित्रकूट जायँगे।

भरतजीका विनय क्या है ? जिसको सुनकर प्रभु अयोध्यामें लौटने एवं राज-पदासीन होनेका आश्वासन देंगे ? उस विनयको गुरुजी उत्साहित होकर स्वयं प्रभुको दो० २५८में सुनावेंगे, जिसका तात्पर्य होगा कि उस विनयको पूर्ण किये विना प्रभु वनगमनमें अग्रसर न हो सकेंगे।

संगति : भरतजी प्रभुके पूर्वचरित्रको देखकर पूर्वोक्त कथनमें श्रद्धा और विश्वास प्रकट कर रहे हैं।

दो०–जद्यपि जनम कुमातु ते मैं सठु सदा सदोस।
आपनि जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीरभरोस ॥१८३॥

भावार्थ : यद्यपि कुमातासे जन्म लेनेसे मेरी शठता व सदोषता प्रकट है फिर भी मुझे विश्वास है कि रघुवीर श्रीरामजी मुझको अपना समझकर मेरा त्याग नहीं करेंगे।

'बहुरि रजधानी'की पुष्टि

शा० व्या० : 'आवहिं बहुरि रामु'की उपर्युक्त व्याख्याकी पुष्टि भरतजीके 'न त्यागिहहिं कथन'से हो रही है अर्थात् प्रभुके पास जानेकी सफलता पर 'आवहिं बहुरि रामु रजधानी'से विश्वास प्राप्त करना है। दोहेके पूर्वार्धमें कहे दोषोंसे सन्देह उपस्थापित किया, उसका निरास 'रघुवीर भरोस'से किया। वाल्मीकि महर्षिने चौ० ३ दो० १३१में प्रभुके जनका आदर्श 'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा'से बताया है, उसीका अनुकरण भरतजीकी इस उक्तिमें दर्शाया गया है।

भक्तोंका स्वभाव है कि वे अपनी अल्पज्ञता, हीनता, सदोषतापर ही दृष्टि रखते हैं। उनको प्रभुसे अपनी दीनता (प्रभुके अधीनतामें पूर्ण परतन्त्रता वचन[1]) व्यक्त करनेमें सन्तोष होता है क्योंकि उनको एकमात्र प्रभुका ही भरोसा रहता है। इसी

---

१. 'आपनि जानि न त्यागिहहिं'में शरणागतके सम्बन्धमें कही प्रभुकी वाणी है—'कोटि विप्र-बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।' (चौ० १ दो० ४४ सु० का०)

भावमें भरतजी अपनेको 'अस मैं अवगुन उदधि अगाधू'के रूपमें प्रभुके समक्ष उपस्थापित करेंगे।

कुमातु आदिका आशय

'कुमातु'में 'कु'से कुत्सितत्व बताया है। अर्थात् भरतजी मातामें कुत्सितत्व अपने जन्मके कारण मानते हैं क्योंकि उसीसे माताजीको भरतजीके राज्यप्राप्तिकी भावना हुई जैसा 'मैं धिग अघ उदधि अगाधू। कुलकलंक करि सृजेउ विधाता'से व्यक्त करेंगे। कैकेयी माता पुनीता थी, श्रीरामजीको प्राणसमान और भरतजीको सेवक मानती थी, इसलिए वह कुमाता नहीं थी, मेरे ही जन्मसे वह कुत्सिता हो गयी। उसीके कारण माता, पिता और परिवारमें कलह हुआ[1]। इस प्रकार भरतजी अपनी अनुपस्थितिको प्रभुके कहे 'संग संग सब भयउ उछाहू'से भ्रातृसंघटनमें विभेदका कारण मानते हैं।

'मैं सठु'से भरतजी 'सब उतपात भयउ जेहि लागी। साँइ द्रोह मोहि दीन्ह कुमाता' कहकर अपनी शठता बता रहे हैं। रामवनवासमें स्वयंने कारण होना ही शठता है।

'सदा सदोष'—कैकेयीपुत्रत्व जीवनभर रहेगा तो तत्सम्बद्ध दोष भी सदा रहेगा ही, इस अपरिहार्य दोषत्वका निराकरण प्रभुकी शरणागतिमें गये विना नहीं होगा जैसा उक्त दोहेके उत्तरार्धमें 'रघुबीर भरोस'से व्यक्त किया है।

'आपनि जानि'को भरतजी प्रभुके समक्ष 'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुटकी नाईं'से चरितार्थ करेंगे। उस अवस्थामें शरणागत मानकर प्रभुकी प्रतिक्रिया ('न त्यागिहहिं')त्मक 'रघुबीर भरोस'का भरतजीको बल है जिसका आधार इस दोहेकी चौ० ४-५में कही व्याप्ति है जिसमें न्यायशास्त्रीयमतसे उपाध्यभावविशिष्टव्याप्तिमूलक तर्क भी है। अतः 'सदा सदोष' स्थितिमें भी प्रभुके शरणागत होनेपर उक्त व्याप्तिमें अव्यभिचरितत्व रहनेसे भरतजीको विश्वास है जो उनकी आत्मतुष्टिका आधार है। दो० १९८में कहे कैकेयीपुत्रत्व-दोषकी पुनरुक्ति उक्त व्याप्तिमूलक तर्ककी पुष्टिके लिए की है। उसीको भरतजी चित्रकूटमें सभाके सामने चौ० ५-६ दो० २६०में पुनः दोहरावेंगे।

संगति : दो० १७६में 'बचन अमिअँ जनु बोरि'से कहे भरतजीके वचनका अमृतरसत्व यहाँ कवि प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—भरतबचन सब कहँ प्रिय लागे। रामसनेह-सुधाँ जनु पागे ॥१॥
लोग बियोग-बिषम-बिष दागे। मन्त्र सबीज सुनत जनु जागे ॥२॥

भावार्थ : भरतजीके वचन सबको प्रिय लगे मानो रामस्नेहरूपी सुधामें पगे

---

१. माताको स्वल्पकालमें तारुण्य ही था, उसके विनाशमें प्रजाजन्म कारण माना जाता है। उस दोषका परिहार प्रभुभक्तिसे ही विद्वान् मानते हैं, वही दृष्टि यहाँ ज्ञातव्य है।

हों। सब लोग (विशेषतया माता कौसल्या) रामविरह एवं विषम शंका में पड़े हुए थे। वे भरतजीके सबीज मन्त्ररूप वचनको सुनकर ऐसे प्रफुल्लित हो गये मानों विषकी मूर्च्छासे जगे हों।

भरतवचनका अमृतत्व

शा० व्या० : 'भरत बचन'से दो० १७६से दो० १८३ तक भरतजीका वक्तव्य समझना चाहिए, जिसका निष्कर्ष 'जेहि सुनि विनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी'से व्यक्त है।

'सब कहँ प्रिय लागे'से भरतजीके भक्तिगुणका प्रभाव दिखाया है जो श्रीरामजीके प्रति भरतजीकी प्रीति और उस प्रीतिसे सने वचनसे प्रकट है।

'रामसनेहसुधापागे'का भाव

'रामसनेह-सुधा पागे'का भाव है कि भरतजीकी भक्ति और शुचितामें व्यक्त वाणीका प्रभाव सब लोगोंपर ऐसा पड़ा कि वे सब रामप्रीतिरसके आनन्दमें डूब गये। उसका ऐसा नशा चढ़ा कि अपनो विषादावस्थाको भूलकर भरतजीका अनुगमन करनेमें उत्साहित हो गये। इसका फल यह हुआ कि सब शंकाएँ समाप्त होकर जनमत भरतजीके अनुकूल हो गया।

शङ्कानिर्हरण व उसका फल

'विषमविष' वही शंकाविष है जिसका प्रकाशन कविने रामवनगमन सुनकर प्रजाजनोंके (चौ० ६से दो० ४८ तकके) उद्गारमें व्यक्त किया है। बीजाक्षर मन्त्रके प्रभावसे जिस प्रकार विषप्रयुक्त मूर्च्छादि दोष दूर होकर विषदग्ध व्यक्ति जग जाता है, उसी प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें हतोत्साहा प्रजा रामभक्तिसे संपृक्त भरतजीकी मन्त्रणासे शंकानिर्मुक्ता होकर उत्साहिता हो गयी जिसको 'जनुजागे'से व्यक्त किया है।

गुरु वसिष्ठजीके मन्त्रित्वकी यह कुशलता है कि भरतजीकी शुचिताको प्रकट करवाते हुए दो० १७८में कहे दोषोंकी कल्पनाको समाप्त कराकर भरतजीके प्रति प्रजाको प्रीतिमती बना दिया।

सबीजमन्त्रकी सफलता

राज्यशासनके निर्देशका स्मरण करते हुए कहना है कि गुरुजीका वचन बीज है, उससे संयुक्त भक्तियोगमें होनेवाली भरतजीकी मन्त्रणा 'मन्त्र सबीज' है जो भरतजी द्वारा अङ्कुरित हुआ है। जिस प्रकार बीजमें संस्काररूपसे स्थित सफल वृक्षका प्रस्फुटन निर्णीत है, उसी प्रकार भरतजीकी सबीज मन्त्रकी सफलता निश्चित है अर्थात् गुरुजी एवं भरतजी दोनोंके विचारोंके समन्वयसे मन्त्रणाकी सार्थकतामें प्रजाको विश्वास हो रहा है। किंवा भरतजीकी रामभक्तिको देखकर प्रजाको विश्वास है कि श्रीरामजीको लौटाकर उनको राज्याभिषिक्त करानेका सामर्थ्य भरतजीमें ही है।

जनसाहचर्यमें परपक्षपर प्रभाव

राजनीतिमें कहे मन्त्रणाके विधानके अनुरूप भरतजीकी मन्त्रणाका प्रभाव दिखाया जा रहा है। जैसे परिजन पुरजनोंको साथमें लेकर प्रभुके पास जानेमें भरतजीकी नीतिमत्ता प्रकट हो रही है अर्थात् अपनी मन्त्रणाको भरतजी अकेले आचरित करते तो उसका इतना कार्यकारी प्रभाव नहीं होता जितना सबको साथमें ले जाकर होगा जिसको 'सब कहँ प्रिय लागे' व 'जागे'से ध्वनित किया गया है। यह भक्तिगुणका प्रभाव है कि 'सब कहँ'में कैकेयीसहित विरोधी पक्ष भी अनुकूलतया सम्मिलित है।

संगति : 'सब कहँ प्रिय लागे'में मुख्यतया कौन-कौन हैं, इसको स्पष्ट करते हुए भरतजीकी मन्त्रणाका प्रभाव उनकी मनोवृत्ति व उद्‌गारसे कवि स्फुट कर रहे हैं।

चौ०—मातु सचिव गुर-पुरनर नारी। सकल सनेहँबिकल भए भारी ॥३॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। रामप्रेममूरति तनु आही ॥४॥

भावार्थ : माता कौसल्या, मन्त्री, गुरु, नगरके नर-नारी सभी भरतजीके प्रेममें बहुत उतावले हो गये। भरतजीकी बारम्बार प्रशंसा करते हुए वे कहने लगे कि शरीरधारी भरतजी साक्षात् रामप्रेमकी मूर्ति ही हैं।

सर्वसम्मतिसे निर्णयकी भक्तमण्डलमें महत्ता

शा० व्या० : चौ० २ दो० १७१में 'सचिव महाजन सकल बोलाए'से स्पष्ट है कि गुरुजी द्वारा बुलायी सभामें सचिवोंके साथ महाजन भी हैं। ये महाजन जनताके प्रतिनिधि हैं। इनके द्वारा बाहर खड़ी जनताको भरतजीकी मन्त्रणा अवगत हुई।

भारतीयराजनीतिसिद्धान्तके अनुसार राजाने लोकमत अपनाये विना निर्णय नहीं करना चाहिए। इसमें अर्थशास्त्रका मत मननीय है जैसे प्रजासे पूछकर मन्त्रि-मण्डल निर्णय नहीं करता, पर प्रजाके सुख-दुःखको ध्यानमें रखकर उसने ऐसा निर्णय करना है कि वह नीतिसम्मत माना जाता हो। बादमें वह निर्णय प्रजाको सुनाया जाय और उसका अनुमोदन प्रजा करती रहे इसलिए कि मन्त्र निर्णयमें वह अपना हित पूर्णतया समझती है। इस प्रकार 'सराहि सराही'से भरतजीके मन्त्रणाकी प्रशंसामें सबका एकमत व्यक्त किया गया है।

एकमत होनेका कारण प्रभुप्रसाद

अथवा 'प्रेम मूरति'से भरतजीकी शुचिताके साथ उनकी नीति भक्ति प्रकट है। ऐसे भक्त अहेतुक अव्यहित निश्छल प्रेमके कायिक वाचिक मानसिक व्यापारसे अन्तर्यामी साक्षीकी प्रसन्नता होती है जिसका संक्रमण प्राणिमात्रके हृदयमें होकर वहउनके एकस्वरसे व्यक्त होता है जिसको सम्पूर्ण प्रजाके प्रशंसोद्‌गारमें 'सराहि सराही'से कवि स्फुट कर रहे हैं। यही भक्तिपन्थके सेवक भरतजीकी नीतिमत्ताका आदर्श है। उससे ही वह 'राम प्रेम मूरति'के पात्रताका परिचायक होकर जनानुरागको प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। फल यह हुआ कि प्रजामें भरतजीके प्रति रही दोषोंकी कल्पना पूर्णतया

समाप्त हो गयी। इस प्रकार गुरुजनोंके वचनोंका तात्कालिक खण्डन करते हुए भी भरतजीने समस्त विद्याओंका आदर किया है फल यह कि विद्याएँ धर्मके साथ प्रतिष्ठित होगयी। राजनीतिका उद्देश्य भी भक्तिके पोषणसे सिद्ध हुआ उसको कविने भरतजीके चरित्रमें स्थापित किया है।

संगति : प्रजा भरतजीके प्रस्तावित विषयपर हर्षका अनुभाव प्रकट कर रही है।

चौ०—तात। भरत ! अस काहे न कहहू ?। प्रानसमान रामप्रिय अहहू ॥५॥

भावार्थ : भरतजीको 'तात' सम्बोधन करते हुए जनता कहती है 'हे भरतजी ! आप श्रीरामजीको प्राणके समान प्रिय हैं तो ऐसा क्यों न कहेंगे ?

भरतजीके प्रति प्रजाका निश्चय

शा० व्या० : भरतजीके प्रति प्रभुके प्रेमके अनुभाव भी कायेन वाचा मनसा व्यक्त हुए हैं यथा—प्रभुके अंगस्फुरणमें 'भरतसरिस प्रियको जग माहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं'से वाचिक, 'सुमिरि भरत सनेहु सील सेवकाई। कृपासिन्धु प्रभु होहिं दुखारी'से मानसिक एवं 'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी ?। कविकुल अगम करम बन बानी'से कायिक अनुभावका वर्णन किया गया है। 'प्रानसमान रामप्रिय अहहू'की यथार्थताको प्रभुने स्वयं अपने मुखसे गाया है। 'बीतें अवधि जाउँ जौ जिअत न पावउँ बीर'। 'अस काहे न कहहू'से भरतजीमे शुचिताका प्राकट्य जनताको अनुभूत हो रहा है। पुरवासियोंकी उक्त उक्तिसे दोनों भाइयोंमें राजनीत्युक्त 'काञ्चन सन्धिका विश्वास प्रकट हो रहा है जिससे भरतजी द्वारा आरोपित कैकेयीपुत्रत्व-दोषका परिहार करके अवधवासी भरतजीके जन्मको रामप्रीतिकी समृद्धिमें कारण मानते हुए उनके प्रति अपने विश्वासको स्थिर कर रहे हैं।

संगति : रामवनवासमें भरतजीका अन्यथासिद्धत्व प्रकट करते हुए जनता भरतजीकी शुचिताका गान कर रही है।

चौ०—जो पावँरु आपनि जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई ॥६॥
सो सठु कोटिकपुरुषसमेता। बसिहि कलप-सत नरकनिकेता ॥७॥

भावार्थ : जो व्यक्ति अपनी मूर्खताको दिखाते हुए माता कैकेयीकी कुटिलताको लेकर तुम्हारे ऊपर दोषारोपण करेगा वह दुष्ट नीच स्वयं तो नरकमें वास करेगा ही, अपने सैकड़ों पूर्वजोंको भी नरकवास करायेगा।

भरतजीके शुचिताकी स्वीकृतिमें गुरुजीको इष्टसिद्धि

शा० व्या० : चौ० ४ दो० १६९ में कौसल्याजीकी उक्ति ('मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं')से भरतजीकी शुचिता ऐकान्तिक रूपसे कही गयी थी, उसको कवि यहाँ प्रजाकी उक्तिसे प्रकाशित कर रहे हैं। उपधाशुद्धिके

द्वारा भरतजीकी शुचिताको प्रकट कराकर उनके प्रति जनानुरागको उत्पन्न कराना गुरु वसिष्ठको इष्ट है।

भरतजीको दोषी कहने पर अन्तमें ग्लानिके उद्गार

दो० ४९-४८के अन्तर्गत जनताने कैकेयीको गाली देते हुए 'कारन कवन कुटिल पनु ठाना' ? प्रश्न उठाया था। उसके उत्तरका तर्कपूर्वक विचार न करके एक वर्गने 'एक भरतकर संमत कहहीं'से भरतजी पर दोषारोपण किया था जिसका समाधान 'सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे'से परस्परमें हुआ था। किन्तु सर्वसाधारणके समक्ष उक्त समाधान प्रकट न होनेसे न्यूनता रह गयी थी, उसका परिहार यहाँ सब जनसमुदायके बीचमें किये निर्णयसे हुआ है।

भरतजीमें दोषारोप गुण है

'पाँवरु'का अर्थ मूर्खता या अविवेक है, अर्थात् कार्यकारण भावका विचार किये विना किसी मतका निर्णय करना पामरता है। फल यह हुआ कि भरतजी द्वारा अपने ऊपर रामवनवास प्रति कारणत्वेन आरोपित कैकेयीपुत्रत्वको रामवनवासमें अन्यथासिद्ध दिखानेसे गुरुजी व कौसल्याजीका जो उद्देश्य था वह सिद्ध हुआ। अतः कहना यह है कि 'भरतः कुटिलत्वाभाववान्'का परार्थानुमान लोकमें करानेके लिए भरतजीमें किया दोषोंका आहार्यारोप 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं विनिर्दिशेत्'के अनुसार दोष नहीं, गुण माना जायगा।

शुचिको अशुचि कहनेमें महादोष

शुचि वर्णाश्रम समाजके हृदयमें परलोकके प्रति इतनी अद्भुत श्रद्धा है कि परम शुचि भरतजीके प्रति दोषोंकी शंकाओंका पूर्ण उन्मूलन करनेके लिए वे कहते हैं कि जो कोई भरतजीमें कपट या कुटिलमतिमत्त्वदोष बतावेगा वह अपने पितृपक्ष एवं मातृपक्षके पूर्वज और उत्तरभाविनी पीढ़िके सहित नरकमें जायगा।

निष्पक्षपातितामें दृढ़ रहना बुद्धिका स्वभाव है

शंकाको तभीतक स्थान है जबतक सुदृढ़ तर्ककी उपलब्धि न हो। किन्तु देखा जाता है कि शंकाका समाधान हो जानेपर भी देहात्मवादी पुनः शंका करके सामाजिक स्थितिको बिगाड़ते हैं, यह उनका अन्धविश्वास है, वे पामर दोषी हैं। परलोकवादी ऐसा नहीं करते, उनका परलोक व शुचित्वके प्रति अन्धविश्वास नहीं है, शंका-समाधानके बाद उनको वस्तुतथ्यमें दृढ़ विश्वास है। उदाहरणार्थ रामवनगमनको देखकर जिन ग्रामवासियोंने राजा और कैकेयीको दोषी कहा था, उन्होंने शंकाकी निवृत्ति होनेपर 'कोउ कह दूषनु रानिहि नाहिन। कहहिं एक अतिभल नरनाहू। भरतहि बहुरि सराहन लागी' आदिसे अत्यन्त विश्वास प्रकट किया है।

लक्ष्मणजीकी पामरतासे मुक्ति

'भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभुपदप्रेमु सकल जग जाना'की उक्तिसे लक्ष्मणजीका विश्वास भरतजीकी शुचितामें पूर्ण है। राजपदको लेकर उनके प्रति आहार्यशंकाको उठाकर लक्ष्मणजीने भरतजीकी शुचिताको लोकमें उज्जवल बनाया है। अतः पामरताकी प्रसक्तिसे लक्ष्मणजी मुक्त हैं। विशेष दो० १८९ चौ० ७ में द्रष्टव्य है।

संगति : कैकेयीपुत्रत्वमें उक्त दोषत्वाभावको दृष्टान्तके द्वारा समझा रहे हैं।

चौ०–अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥८॥

भावार्थ : सर्पमणि साँपके विष और दुर्गुणोंको नहीं ग्रहण करता, बल्कि विषको हरण करके दरिद्रताको दूर करता है।

मणिसाधर्म्य

शा० व्या० : साँपका उदर्य-अग्नि उसके भुक्त अन्नको पचाकर सर्पमणि बनाता है, उसमें सर्पका विष व्याप्त नहीं होने देता। मणिका यही वैभव है कि वह सर्पके अवगुणोंको ग्रहण नहीं करता। सर्प विष उगीलकर दाह कराता है, फुत्कार मारकर भयभीत कराता है, मणि विषहर्ता है, दारिद्र्यदोषका नाशकर्ता है। इसी प्रकार कैकेयीके उदरसे जन्म लेनेपर भी 'कैकेयीसुअ कुटिलमति रामविमुख गतलाज' आदिसे आरोपित कैकेयीपुत्रत्वनिमित्तक दोष भरतजीमें नहीं है वे तो मणिसदृश हैं उन्होंने सबके शंकाविषको दूर कराकर अपने उत्तम विवेकसे प्रजा परिजनके दीनतारूप दारिद्र्यका हरण किया है व प्रभुके पास जानेकी मन्त्रणासे 'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे'की स्थितिमें सबको लाया है।

विशेष वक्तव्य

शुचित्वपरीक्षाके उद्देश्यसे भरतजीको राज्य लेनेकी प्रेरणा देनेमें गुरु वसिष्ठजीने त्रयीकी प्रमाणताके बलपर अपना पक्ष रखा। उत्तरमें दो० १९८में भरतजीने अपनेमें दोषोंकी शंका रहते त्रयीका ह्रास एवं राजनीतिका विनाश बताया उससे बचानेके लिए उन्होंने भक्तिपंथका आश्रय लेकर राजनीतिप्रभृति विद्याका रक्षण सोचा है। सब विद्याओंमें भक्तिका मूर्धन्य स्थान है, इसलिए भरतजीने भक्तिपंथकी स्थापनाका उपक्रम किया है जिसका अनुगमन करनेमें प्रजा सहर्ष उद्यता है। स्मरण रखना है कि भक्तिके पोषणसे ही उसकी छत्रछायामें राजनीति एवं त्रयीकी स्थापनाका सूत्रपात और गुरुजीके मतका पर्यवसान विद्याओंके रक्षण पोषणमें माननीय है।

'पर्जन्यइव भूतानां आधारः पृथ्वीपतिः। प्रेर्यमाणोप्यसद्वृतैः नाकार्येषु प्रवर्तते'के अनुसार त्रयीकी स्थापनासे राजनीति चिरस्थायिनी होगी—इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए भरतजीने प्रभुके पास जानेका निश्चय किया है।

संगति : राजासे कही कौसल्याजीकी उक्ति ('धीरजु धरिअ त पाइअ पारू।

नहिं त बूड़िहि सब परिवारू')को भरतजीने सार्थक करके दिखाया है जिसको वन-गमनकी स्वीकृतिसे प्रजा निम्नदोहेमें ध्वनित कर रही है।

दो०–अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोकसिन्धु बूड़त सबहि तुम्ह अबलंबनु दीन्ह ॥१८४॥

भावार्थ : सब जनता कह रही है 'हे भरतजी ! आपने बहुत अच्छा विचार किया है कि जहाँ वनमें श्रीराम हैं वहाँ अवश्य चलना चाहिए। शोकसमाज रूपी समुद्रमें डूबते हुए को आपने अपनी नीतिसम्मत मंत्रणासे सहारा देकर बचाया है।

शोकसे बचाव

शा० व्या० : मन्त्रकी व्याख्या इस प्रकार है—'पंचांगपरिपूर्णविचार (मतं) उपदेशः मंत्रः'। नेतृत्वस्थानापन्न व्यक्ति अपने सद्‌विवेकसे विवेकी हो अविवेकिनी जनताको सन्मार्गमें लगाता है। राजतन्त्रमें स्वायत्तबुद्धिक राजाका यहीं कौशल है कि जिस समय जनता निरुपाय हो शोकग्रस्ता हो उस समय उसको अपनी मन्त्रणाका अवलम्बन देकर दुःखसे बचावे।

संकल्पका बल

'बन रामु जहँ'में 'भरत मंत्रु भल कीन्ह'से भक्तके संकल्पका बल दिखाया गया है अर्थात् वनमें जहाँ भी श्रीराम होंगे, भक्त उस स्थानपर पहुँचेगे ही, प्रभु भी उस स्थान (चित्रकूट)को छोड़कर अन्यत्र तबतक नहीं जा सकते जबतक भरतजी वहाँ नहीं पहुँचेंगे, जैसा चौ० ८ दो० २३३में भरतजीकी उक्ति 'उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ'से ध्वनित होगा।

चौ०–भा सबके मन मोदु न थोरा। जनु घनधुनि सुनि चातक मोरा ॥१॥

भावार्थ : जैसे चातक और मोरको बादलकी आवाज सुनकर प्रसन्नता होती है वैसे ही भरतजीकी मंत्रणाको सुनकर जनमानसमें अत्यन्त हर्षोत्साह हो रहा है।

चातक और मयूर-दृष्टान्तका ध्वनितार्थ

शा० व्या० : 'सबके'के अन्तर्गत प्रजा, गुरु वसिष्ठजी, माता कौसल्याजी आदि हैं। उनके उत्साह और मोदका भेद बतानेके लिए चातक एवं मोरका दृष्टान्त दिया गया है। श्रीरामके पास चलनेके उल्लासमें प्रजाजनोंका उत्साह मयूरनृत्यके समान है। भरतजीकी शुचिताके प्राकट्यसे सम्पूर्ण प्रजा संगठित एकमत है, यह देखकर गुरुजी और माता कौसल्याजीको प्रसन्नता हो रही है जो चातकके समान है। अथवा जैसे मोर बादलके शब्दको सुनकर प्रसन्न होता है वैसे ही प्रजाजन भरतजीकी मन्त्रणारूप वाणीको सुनकर प्रसन्न हैं। जैसे चातक बादलको देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही गुरुजी व कौसल्याजी माताजी भरतके शुचित्वको देखकर प्रसन्न हैं।

संगति : सभाकी कार्यप्रणालीका उपसंहार कर रहे हैं।

चौ०—चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरतु प्रानप्रिय भे सबही के ॥२॥

भावार्थ : प्रातःकाल प्रभुके पास चलनेका निर्णय ठीक हो गया है, ऐसा जानकर सबको भरतजी प्राणके समान प्रिय लग रहे हैं।

प्रीतिका उत्कर्ष

शा० व्या : 'लखि निरनउ नीके'का भाव है कि अपनी उक्ति ('प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं')के अनुसार भरतजीने चलनेका निर्णय किया है उसमें तत्पर हैं। पूर्वोक्त दो० १८४में प्रजाकी भरतजीके प्रति जो प्रियता व्यक्त थी, उसकी स्थिरताको 'प्रानप्रिय'से प्रकट किया गया है। इसी प्रकार प्रजाके प्रेम, स्नेह, राग और अनुरागकी चर्चा कवि चित्रकूटतक करते रहेंगे।

संगति : सभा विसर्जित कर सभीने घर पहुँचकर चलनेकी तैयारी करना प्रारम्भ किया।

चौ०—मुनिहि बंदि भरतहि सिरु नाई। चले सकल घर बिदा कराई ॥३॥

भावार्थ : मुनि वसिष्ठजीकी वन्दना करके भरतजीको नमस्कार कर उनसे बिदा ले सब लोग अपने-अपने घरकी ओर चले।

गुरुजीके मन्त्रणाकी उत्तमता व सफलता

शा० व्या० : 'मुनिहि बंदि'से बड़ोंकी मर्यादामें प्रथम नमस्कार गुरुजीको करना उचित है। 'मन्त्र सबीज'की व्याख्यामें कहा गया है कि भरतजीकी मन्त्रणामें गुरुजीका वचन बीजरूपमें रहकर भरतजीकी शुचिताको प्रकट करानेमें कार्यकारी हुआ है, इसलिए मुनि वसिष्ठजीके प्रति जनताका विशेष आदर सूचित है। 'भरत मंत्रु भल कीन्ह'से सूचित है कि सभामें एकवाक्यतासे जो निर्णय हुआ है, उसमें गुरुजीकी मन्त्रणाका महत्त्व है। भरतजीके विनयको देखकर उनकी छलविहीन रामभक्तिसे प्रसन्न हो सब लोग गुरुजीके साथ भरतजीको नमस्कार कर रहे हैं। 'बिदा कराई' कहनेका भाव है कि मन्त्रणा के अनुसार प्रभुके पास चलनेकी तैयारीके लिए वे लोग घर जा रहे हैं।

संगति : हितावह मन्त्रणाकी पञ्चांगताको देखकर सभी वर्ग आड़में प्रशंसा कर रहा है।

चौ०—धन्य भरतजीवनु जगमाहीं। सीलु सनेहु सराहत जाहीं ॥४॥

भावार्थ : घर जाते हुए वे लोग भरतजीके शील-स्नेहकी प्रशंसा करते कहते हैं कि संसारमें भरतजी का जीवन धन्य है।

प्रशंसाकी वास्तविकता

शा० व्या : चौ० ४ दो० २४की व्याख्यामें शील स्नेहका विवेचन द्रष्टव्य है। पूर्वोक्त चौ० ४ दो० १८४में 'सराहि सराही'से भरतजीकी प्रत्यक्ष प्रशंसा दिखायी

थी। यहाँ 'सराहत जाही'की पुनरुक्तिका तात्पर्य परोक्षमें प्रशंसा दिखाने से उसकी वास्तविकताको प्रकट करना है।

लोकप्रियताकी पात्रता

शुचि सेवकके शीलस्नेहका स्मरण स्वयं प्रभु करते हैं जैसा चौ० ४ दो० १४१में स्पष्ट है। यहाँ 'सनेहु'से भरतजीकी रामप्रीति और 'सीलु'से विद्वत्संगतिका फल विवक्षित है जो गुरुजीकी सेवासे प्राप्त है जैसा उत्तरकाण्डमें चौ० ६ दो० ९०में 'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'से विवक्षित है। भरतजीके इस शीलको प्रभुने चौ० ५ दो० २२७में 'भरतु कहे महुँ साधु सयाने'से स्वीकार किया है। निष्कर्ष यह कि सत्वगुणप्रयुक्त उत्साह-स्थायिभाव जिस व्यक्तिमें रहता है वह शीलवान् लोकप्रियताका पात्र बनता है।

जीवनकी धन्यतासे दोषमार्जन

उत्तरकाण्ड चौ० ७ दो० ५४में[1] 'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद-माया'के अनुसार भरतजीके जीवनकी धन्यता है। 'भरतुजीवनु जग माहीं'से भरतजीके विमलवंशोत्पन्न जीवनकी धन्यता भी गायी गयी है। दो० १६१में भरतजीने कैकेयीजीके सामने हंसवंशोचित शुचित्वाभावका सोच प्रकट किया था, वह पुरवासियोंके साधुवादसे परिमार्जित हो रहा है।

संगति : जनता इतनी प्रीतिमती है कि वह उत्साहसे शोभायात्राकी तैयारी कर रही है।

चौ०—कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलै कर साजहिं साजू ॥५॥

भावार्थ : सब लोग आपसमें कहने लगे कि बड़ा भारी काम बन गया। अब सब लोग चलनेकी तैयारी करने लगे।

बड़ काजूका तात्पर्य

शा० व्या० : 'बड़ काजू'का तात्पर्य मुख्यतया 'जेहि सुनि विनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी'में है। भरतजीका विनय एवं शुचिताप्रयुक्त रामभक्तिका प्राकट्य, अराजक स्थितिमें शोकग्रस्त समाजको भरतजीके अवलंबनकी प्राप्ति, प्रजाका मतैक्य आदि 'बड़ काजू'से विवक्षित है। 'साजहिं साजू'से श्रीरामजीके पास जानेका उमंग व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि भरतजी यदि राजपदको स्वीकृत करते तो यह प्रीति जनतामें कभी न होती न उसमें निश्छल वृत्तिका भाव आता न तो अनुराग ही बनता।

---

१. सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत ॥ (उत्तरकाण्ड दो० १२७)

संगति : प्रजाकी चलनेकी उतावलीमें ग्रन्थकार दोहेको सात चौपाइयोंमें समाप्त करके अपना आवेग दिखा रहे हैं।

चौ०—जेहिं राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी ॥६॥
कोउ कह रहन कहिअ नहि काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू ? ॥७॥

भावार्थ : जिसको घरकी रक्षाके लिए घरमें रहनेको कहा जाता है, वह समझता है कि जबरदस्ती उसकी गर्दनपर छूरी चल रही है अर्थात् कोई भी घर रहनेमें मर्मान्तिक पीड़ाका अनुभव कर रहा है। इसलिए कोई किसीसे भी रहनेको नहीं कह रहा है। कौन ऐसा है जो कि जीवनका लाभ (रामदर्शन) नहीं चाहता ? कहनेका आशय है कि सब लोग स्वयं तो जाना चाहते हैं, दूसरेको रोकना भी नहीं चाहते न अकेले ही जाना चाहते हैं।

दास्य प्रीतिमें असूयादिका अभाव

शा० व्या० : 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु'की भावनामें प्रत्येक व्यक्तिके मनससे असूया, ईर्ष्या, द्वेष समाप्त है। इसलिए रामदर्शनके सुखसे एक दूसरेको वंचित कराना नहीं चाहते। इस प्रकार घर और नगरकी रक्षाकी समस्या खड़ी हो गयी।

संगति : समस्याका समाधान विश्वस्त नेता भरतजी अपने विवेकपूर्ण मतिसे करेंगे जो अग्रिम दोहेके अन्तर्गत कहा जा रहा है।

दो०—जरउ सो संपति सदनसुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ ॥१८५॥

भावार्थ : प्रभुके चरणोंके सन्मुख होनेमें जो सहर्ष सहायक न हो वह सम्पत्ति, भवनसुख, मित्र, माता, पिता, भाई आदि किस कामके हैं ? अर्थात् प्रभुदर्शनमें बाधक सम्पत्ति, भवन, परिवार आदिका त्याग या विनाश प्रभुप्रेमी उपासकोंको इष्ट है।

विषयत्याग

शा० व्या० : भक्तिसिद्धान्तके पक्षसे सांसारिक सुखोंकी परिगणनामें मुख्यतया कहे उक्त सुख प्रभुदर्शनमें बाधक होनेपर त्याज्य या हेय हैं। जैसा मीरा आदि भक्तोंके चरित्रसे स्पष्ट है। पुरवासियोंकी मनोवृत्तिसे स्फुट है कि कोई ऐसा नहीं है जो घर-परिवारके सुखमें फँसकर प्रभुके पास न जाना चाहता हो अथवा दूसरेको जानेमें सहर्ष सहायता करनेका इच्छुक न हो। 'सहस सहाई'से असूया, मात्सर्य आदिका अभाव दिखाया है।

अनुरक्त नेयवर्गको सन्त नेताकी अपेक्षा

सज्जन-संसर्ग या सन्तसंगका यह महत्त्व है कि उनके अनुगामी जनोंको उचित मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता है। उपासकोंकी अन्तर्वृत्तिकी वास्तविकताको लखकर ही सन्त उनकी वस्तुके ग्रहण या त्यागमें प्रवृत्त करते हैं। ध्यातव्य है कि अभी

पुरवासिंजनोंकी मनोवृत्तिमें जो उपर्युक्त उद्गार भावावेशमें निकल रहे हैं, वे स्थायी नहीं रहेंगे जैसा चित्रकूटमें चौ० ५ से ७ दो० ३०२में 'दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी'से प्रकट होगा। भरतजीके नेतृत्वमें पुरवासी इतने विश्वस्त होकर निश्चिन्त हो गये हैं कि उनका ध्यान घरपरिवारकी रक्षाके कर्तव्यसे निरपेक्ष है।

व्यवहाराध्यायके निर्देशानुसार जब युक्ति या प्रमाणके अभावमें धर्म, व्यवहार या चरित्र किसी समस्याके समाधानमें असमर्थ होते हैं तब व्यवस्थाका नियामक राजशासन है। अतः घर-नगरकी रक्षाविकल्पमें स्थिता प्रजा उत्तम नेता भरतजीके मतिविवेकका परिचय पाकर सन्तुष्टा होगी।

चौ०—घर घर साजहिं बाहन नाना। हरषु हृदयँ परभात पयाना ॥१॥

भावार्थ : सुबह चलना है, इस हर्षातिरेकमें घर-घरमें तैयारी होने लगी सब लोग अपने-अपने वाहनों (सवारियों) को सुसज्जित करने लगे।

संगति : 'धर्मश्च व्यवहारश्च चरितम् राजशासनम्'के अनुसार प्रजा एवं राज्यसम्पत्तिकी रक्षाकी इतिकर्तव्यताके निर्णयमें भरतजी विचार कर रहे हैं।

चौ०—भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि-गज-भवन-भंडारू ॥२॥
सम्पति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही ॥३॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पापसिरोमनि साँइ दोहाई ॥४॥

भावार्थ : भरतजीने घर जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, महल, कोष-भण्डार आदि सब रघुनाथजीकी सम्पत्ति है। उन सबकी रक्षाका उपाय किये बिना चलते हैं तो अन्तमें न उनका न अपना भला, ही होगा। तो मैं पापियोंके सरताज और स्वामि-द्रोही कहा जाऊँगा। अथवा 'दोहाई'से रामशपथ करके भरतजी ऐसा सोच रहे हैं।

कोशादिकी रक्षामें अध्यक्षप्रचारव्यवस्था

शा० व्या० : भरतजीके विचारमें राजनीतिशास्त्रोक्त प्रयोगविधिमें कहे सहाय, साधनोपाय, देशकाल-विभाग, विपत्ति-प्रतीकार, कार्यसिद्धिके कर्तव्यमें कोषागार, कोष्ठागार, पण्यागार पण्यागार आदिकी रक्षा अध्यक्ष-प्रचारके अन्तर्गत मननीय है।

सम्पत्तिरक्षामें भगवत्सेवाका भाव

शास्त्रोक्त रीतिसे सम्पत्तिके चतुर्विधवृत्तको भगवान्की आज्ञा मानकर अर्जन, रक्षण, वर्धन और सत्पात्रप्रतिपत्तिको भक्त अपना कर्तव्य समझते हैं। उसपर अपने स्वामित्वका अहंकार न रखकर भगवान्का स्व मानते हैं। उसकी उपेक्षामें दोष समझते हैं। 'सम्पति सब'के अन्तर्गत भरतजी राज्य, सम्पत्ति, पशुधन, कोष एवं प्रजाको रघुनाथजीकी सम्पत्ति मानकर उनके योगक्षेमको चलाना प्रभुकी सेवा समझते हैं क्योंकि श्रीरामकी अनुपस्थितिमें भरतजी प्रजापालनमें धर्मतः प्रतिभू हैं। प्रभुके सन्देशमें कहे 'नीति न तजिअ राजपदु पाए' का संकेत इसी ओर है।

भक्तिसे धर्मरक्षणकी प्रक्रिया

स्मरणीय है कि राजनीतिकी स्थापनामें सब विद्याओं और धर्मोंका रक्षण है। अतः रामदर्शनात्मक धर्मके नामपर प्रभुकी सम्पत्तिको उपेक्षित करके जाना प्रभुदर्शनके अधिकारसे वंचित होना है। चौ० २ दो० १८३ में 'भलमानी'से जो भलाई भरतजीको अभीप्सित है उसका लोप हो जागया जिसको यहाँ 'तौ परिनाम न मोरि भलाई'से व्यक्त किया है। अयोध्याकी सर्वसम्पत्ति प्रभुकी है, उसकी रक्षा वड़े यत्नसे करनी है, अन्यथा प्रमादवश उसका विनाश होगा तो भरतजीको स्वामिद्रोहरूप महत् पापका भागी होना पड़ेगा। इस विचारको लेकर नीतिका पालन करते हुए भरतजी अयोध्याकी राज्यसम्पत्ति एवं प्रजाकी सम्पत्तिकी समुचित रक्षा व अयोध्यावासि-समाजकी पूर्ण रक्षा करते हुए उसको प्रभुके पास ले जायँगे। प्रभुसेवाभावमें यही राजनीतिका रक्षण है।

संगति : राजनीतिमें स्वप्रकृति और स्वामिप्रकृति दो प्रकारके लोग कहे गये हैं[1]। इसमें अमात्यसे लेकर कोश पर्यन्त स्व हैं। दुर्गके अन्तर्गत साधारण प्रजाजन भी स्वप्रकृति हैं जिनका वर्णन चौ० ५ दो० १८५ से चौ० १ दो० १८६ तक हो चुका है। प्रजाके अन्तर्गत ऐसा भी एक वर्ग है जिसको प्रजाने अपने तरफसे कतिपयोंको स्वामीकी सेवामें सर्मपित किया है वे भृत्य हो कार्य करते हैं। उनको यथास्थान नियुक्त करनेके लिए अधिकृत स्वामिप्रकृतिका विचार चौ० २ से दो० १८६ तक दिखाया जायगा। ज्ञातव्य है कि राजा, युवराज, सेनापति (स्व होते हुए भी) स्वामिप्रकृति कहे गये हैं। वे रक्षाकार्यमें यथायोग्य व्यक्तिको नियुक्त करते रहते हैं।

चौ०—करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन-कोटि देइ किन कोई॥५॥

भावार्थ : सेवक वही है जो स्वामीके हितका कार्य करता है चाहे कोई उसमें करोड़ों दोष लगावे।

अनुजीवीका संक्षिप्त वृत्त

शा० व्या० : शास्त्रका निर्देश है कि स्वामी धर्मार्थसम्बन्धी अद्वेष्य कार्यमें प्रवृत्त हैं तो बुद्धिमान् सेवक अपना कर्तव्य समझकर स्वामीका अनुगमन करते हुए उसका हितसाधन करे तथा स्वामीको विपरीत प्रवृत्तिसे निवृत्त कराता रहे। इसी सिद्धान्तको भरतजीने विचारा है।

सेवाभक्तिमें दोषकी असोचनीयता

'दूषन कोटि देइ किन कोई'का भाव है कि स्वामीका हितकार्य करनेमें यदि कोई अन्यथा सोचकर दोषारोपण भी करे तोभी प्रभुकी सेवामें उसको नान्तरीयक मानकर स्वामीमें प्रीति रखनेवाले सेवक भक्तने आक्षेपोंपर ध्यान न देते उनको

१. द्रव्यप्रकृतयः पञ्च स्वत्वेनोदाहृताः। (वी० ज० स० १४)

सहनेके लिए तत्पर रहना चाहिए। स्मरणीय है कि राजकीय व्यवहारकी तुलना सामान्य नागरिक व्यवहारसे नहीं की जा सकती।

भरतजीके विचारपर वक्तव्य

उपरोक्त विचारसे ध्वनित होता है कि राज्यसंपत्तिकी सुरक्षाकी व्यवस्था 'संपति सब रघुपति कै आही'के भावसे करनेपर भी किसीके मनस्में विपरीत भाव आ-जाय अर्थात् माता कैकेयीके कथन ('सहित समाज राजपुर करहू') के अनुगमनमें स्वहितकी दृष्टिसे भरत राज्यसंपत्तिके रक्षणका यत्न कर रहे हैं तो इस दोषारोपको भरतजीने ('हित हमार सियपति सेवकाई। सो हर लीन्ह मातु कुटिलाई'से व्यक्त करके 'सो मैं सुनब सहब सुख मानी' से) पहले ही स्वीकार किया है। भरतजीकी उक्ति 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी'की एकवाक्यता प्रस्तुत चौपाईमें स्मरणीय है। 'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा'के अनुसार भरतजीको विश्वास है कि स्वामी श्रीराम शुचि सेवक भरतजीके 'स्वामि हित' कार्यकी सच्चाईको जानते हैं।

संगति : उक्त विचार करनेके अनन्तर अध्यक्षप्रचारव्यवस्थाके अनुसार रक्षकोंकी व्यवस्था भरतजीने की।

चौ०–अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥६॥
कहि सब मरमु धरमु भल भाषा। जो जेहि लायक सो तेहि राखा॥७॥

भावार्थ : भरतजीने ऐसा विचार करके उन शुचि (पवित्रात्मा) सेवकोंको बुलाया जो स्वप्नमें भी अपने धर्मसे डिगनेवाले नहीं हैं। उनको सब मर्मकी बात बताकर धर्मको अच्छी तरह समझाया। जो जिस कामके योग्य था उसको उसीमें नियुक्त किया।

स्वकर्तव्य ही प्रभुसेवा है

शा० व्या० : प्रभुका आदेश वेदशास्त्रों द्वारा प्राप्त है। वेदशास्त्रोक्त मर्यादामें प्रभुने जिसको जहाँ रखा है, उसने वहीं रहकर उसी प्रभुसेवाको अपनाना सेवाधर्म है जैसा केवटने स्वीकार किया है। 'धर्म ते बिरति'के अनुसार स्वधर्ममें स्थित रहने-वालेको वैराग्यसम्पन्न माना जायगा। अपने धर्मसे डिगनेवाला प्रभुकी प्रियपात्रताके योग्य नहीं है। 'सुचि सेवक' ऐसे ही विश्वस्त सेवक हैं जिनकी शुचिता पूर्व चरित्रोंसे ज्ञात हो चुकी है।

स्वामिद्रोहमें धर्मत्यागका पर्यवसान

'अस बिचारि'से चौ० २ से ५ तक कहा गया भरतजीका विचार है। 'सपनेहु न डोले' का भाव है कि जिस प्रकार जन्मतः शाकाहारीको मांसभक्षणमें सहज घृणा होती है, उसके शुचि संस्कारमें स्वप्नमें भी मांसभक्षणकी कल्पना जागृत नहीं होती उसी प्रकार स्वधर्मनिष्ठ शुचि सेवकोंको स्वामिद्रोहकी कल्पनामें सहज घृणा

है। 'बटु विस्वास अचल निजधर्मा'में कहा गया है कि स्वधर्ममें अडिग रहनेवालेमें ही विश्वासकी पूर्णता है।

'कहि सब मरमु धरमु'से भरतजीने शुचि सेवकोंको धर्मका उपर्युक्त मर्म समझाया कि स्वधर्मपालनमें प्रभुका आदेश समझकर अयोध्यामें रहनेपर भी उनको प्रभुप्रसादकी प्राप्ति उसी प्रकार है जिस प्रकार रामदर्शनके लिए जानेवालोंको है।

स्वस्वधर्मपालनमें लोकयात्रा

'भल भाषा'का भाव है कि धर्ममर्यादाके अनुसार शास्त्रने मंगल साधनके लिए जिस प्रकार पत्नीके लिएं पतिसेवाका विधान किया है, पतिसेवासे ही वह सर्वविधमंगलकी अधिकारिणी हो सकती है, उसी प्रकार प्रत्येक वर्णाश्रमीके लिए पृथक् विधान है। उस विधानमें रहनेमें ही सबकी भलाई है। तभी लोकयात्रा निर्बाध हो सकती है। सेवाधर्मका मर्म इस प्रकार समझाते हुए भरतजीने भलाईकी बात बता दी।

समाज संघटनाके प्रकार

स्व-स्वधर्मको ईश्वरसेवा भावमें अपनाया जाय तो वर्णाश्रमभेद प्रयुक्त उच्चनीच-भावप्रयुक्त अभिमान या ग्लानि किंवा असूया आदि दोषको समाजमें पनपनेका अवकाश नहीं रहता। शुचिताका भाव मर्यादापालनमें रहनेके कारण परस्परमें अविश्वास्यता अनेकता एकार्थाभिनिवेश निरस्त होते हैं।

कुलीनता व जातीयताका उपयोग

'जो जेहि लायक'का भाव है कि अर्थशास्त्रके अनुसार जाति-धर्मकी मर्यादामें जिसका जो काम है उसीके अनुसार उसको वहाँ नियुक्त किया गया। यह सामान्य-नियुक्तिका प्रकार है। जैसा राजनीतिसिद्धान्तानुसार कण्टकशोधन एवं धर्मस्थीय (दीवानी-फौजदारी)के व्यवहारमें नियुक्ति धर्मोपधाशुद्धकी, सन्निधातृ-समाहर्तृकर्ममें अर्थोपधाशुद्धकी और सर्वोपधाशुद्धकी मन्त्रिस्थानमें नियुक्ति विहित है। सर्वथा अशुचियोंको कर्मन्त क्षेत्र (जंगल, खान आदि)में नियुक्त करनेका विधान है। इसी आशयसे गीतामें 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' कहा गया है। राजकीय कार्यक्षेत्र अठारह पदोंमें विभाजित है। उन सब विभागोंकी गतिविधिकी जानकारी रखनेके लिए चरोंकी नियुक्ति है। उनके द्वारा समझकर प्रजाके कार्यक्रम-संचालनके लिए तत्तज्जातीय अध्यक्ष व आयुक्तोंकी नियुक्ति है।

नीति न तजिअकी चरितार्थता

शा० व्या० : भक्तिसे सुरक्षित राजनीति संघटनका आधार है। उसीमें त्रयीकी स्थापनाका क्रम सफल होता है। इसको भरतजीने प्रभुके आदेश 'नीति न तजिअ'को मानकर चरितार्थ किया है।

हठमें प्रभुसेवाप्रतिबन्धकता

'करि सब जतनु'से सूचित है कि स्वामी श्रीरामके प्रतिनिधि रूपमें भरतजीने निरभिमानितापूर्वक सेवकोंसे यथास्थान रहकर कार्य करनेका निर्देश देते हुए भी अहंताका भाव (हठ) नहीं किया किन्तु शास्त्रमर्यादाका यथावत् पालन किया है। भरतजीकी शुचितामें निश्शंक होकर सेवकोंने भी धर्म समझकर प्रसन्नतापूर्वक भरतजीके आदेशको स्वीकार किया। उसीमें प्रभुकी प्रसन्नताको मानकर श्रीरामजीके पास जानेका हठ नहीं किया।

शुचि सेवकोंकी सहज उपलब्धि

ज्ञातव्य है कि जहाँ विद्याओं और धर्मके संस्थापक वक्ता व प्रयोक्ता नहीं रहते वहाँ शुचि सेवकोंका अभाव हो सकता है। चतुर्विध विद्याओंके साथ भक्तिका साम्राज्य जिस देशमें है वहाँ शुचिसेवक दुर्लभ नहीं हैं। 'राखि रखवारे'से ध्वनित किया गया है कि राजविद्याकी उपासनासे भरतजी सहज उपलब्ध शुचिसेवकोंकी सेवा उपलब्ध करके राजकार्यकी व्यवस्थाको पूर्ण करनेमें कृतकार्य हुए हैं।

संगति : राज्यरक्षणकी बाह्यव्यवस्था करके अन्तःपुरकी सम्मति व व्यवस्था जाननेके उद्देश्यसे भरतजी माताओंमें अग्रगण्या परम-विवेकवती कौसल्या माताजीके पास जा रहे हैं।

चौ०—करि सब जतनु राखि रखवारे। राममातु पहिं भरतु सिधारे ॥८॥

भावार्थ : रक्षा-उपायके अन्तर्गत सब रक्षकोंकी यथावत् नियुक्ति करके भरतजी राममाता कौसल्याजीके पास पहुँचे।

संगति : माताओंका अभिप्राय व उनकी सम्मतिको समझकर भरतजी माताओंके लिए यात्राहेतु यानकी व्यवस्थाका निर्देश दे रहें हैं।

दो०—आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकीं सजन सुखासन जान ॥१८६॥

भावार्थ : रामदर्शन भावकी आकांक्षामें सब माताओंको आर्त्ता जानकर उनकी रामप्रीतिको समझते हुए भरतजीने माताओंको चलनेकी व्यवस्था करनेके लिए पालकीको सजाने तथा सुखपूर्वक बैठने लायक यान बनानेका आदेश दिया।

कैकेयीको साथमें ले जानेमें नीतिमत्ता

शा० व्या० : ऐसा अनुमान होता है कि सब माताएँ इस समय कौसल्याजीके भवनमें उपस्थित हैं। कौसल्या माताजीकी सम्मतिसे भरतजीने जान लिया कि कैकेयी सहित सभी माताएँ रामदर्शनके लिए आर्त्ता हैं। श्रीरामके प्रति सब माताओंकी वास्तविक प्रीतिको भरतजी पिताश्रीके दाहक्रियाके अवसरपर परख चुके हैं जैसा 'गहिपद भरत मातु सब राखी। रहीं रानि दरस न अभिलाषी' (चौ० २ दो० १७०)से स्पष्ट है।

दो० ९१में कही गुहकी शंकाको निर्मूलन करनेकी दृष्टिसे कहना है कि सब माताओंको साथ ले चलनेमें भरतजीकी नीतिमत्ता तब प्रकट होगी, जब गुह कैकेयीके प्रति की हुई शंकासे निर्मुक्त हो 'सादर सकल जोहारों रानी' (चौ० ४ दो० १९६)के अनुसार सब रानियोंके साथ कैकेयीजीको भी आदरपूर्वक नमन करेगा।

'भरत सनेह सुजान'से यह भी कहना है कि माता कैकेयीजीकी शुद्धिको प्रकाशित कराते हुए श्रीरामके प्रति उनकी प्रीतिको प्रकट कराना भरतजीके स्नेह सुजानताका परिचायक है। नगर की व्यवस्था होनेका फल यही हुआ कि जानपदोंके उत्साहमें कमी नहीं आयी।

संगति : प्रसंग प्राप्तको कहनेके बाद चौ० १ दो० १८६में पुरवासियोंके उत्साहका जो प्रसंग रह गया था, उसको यहाँ पूरा किया जा रहा है।

चौ०—चक्क चक्कि जिमि पुरनर-नारी। चाहत प्रात उर आरत भारी ॥१॥
जागत सब निसि भयउ बिहाना।

भावार्थ : अयोध्यापुरीके नर-नारी आर्त्त होकर सुबह होनेकी त्वरामें अत्यन्त आर्त्त बैठे हैं जैसे चकवा चकवी रात्रिमें प्रातःकालकी आशामें आर्त्त रहते हैं। सबको जागते रात बीत गयी सवेरा हो गया।

जनताका औत्सुक्य

शा० व्या० : 'चले सकल घर बिदा कराई'से पुरवासी अपने-अपने घर आकर अलग हो गये थे। रातमें चलनेकी तैयारी करके प्रातःकाल होते ही सब मिलकर चलनेमें औत्सुक्य प्रकट कर रहे हैं। 'औत्सुक्ये कृतत्वरा'के अनुसार जल्दी सवेरा होनेके लिए वे आर्त्त हैं। उनकी आर्त्तताका पर्यवसान रामदर्शनमें है जिसका चिन्तन करते वे रातभर जागते रह गये।

संगति : नगरकी रक्षा-व्यवस्थाको बताकर अब भरतजीके चलनेका क्रम कहा जा रहा है।

चौ०— भरत बोलाए सचिव सुजाना ॥२॥
कहेउ लेहु सबु तिलकसमाजू। बनहिं देब मुनि रामहि राजू ॥३॥

भावार्थ : भरतजीने कर्मसचिवोंको बुलाकर राजतिलककी सब सामग्री साथमें ले चलनेको कहा जिससे मुनि वसिष्ठजी वनमें ही श्रीरामजीको राज्यप्रदान करें।

अमात्यगुण

शा० व्या० : राजनीतिके अनुसार सचिवमें अभिजन, प्रज्ञा, शौच, शौर्य, अनुराग ये गुण कहे गये हैं—उनकी संपत्ति मन्त्रियोंमें सदा होनी ही चाहिए।[1]

---

१. 'अभिजन-प्रज्ञा-शौच-शौर्यानुरागयुक्तानमात्यान् कुर्वीत'। अर्थशास्त्र १

अभिषेकसामग्रीको लेनेमें मन्तव्य

वनवासको स्वीकृतिके बाद प्रतिज्ञा-भंग करके श्रीरामको वनसे लौटाना सम्भव न समझकर भरतजीने अभिषेक-सामग्री साथमें ले चलनेका विचार किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चौ० ८ दो० १८३में 'आवहिं बहुरि रामु रजधानी'में भरतजीका मन्तव्य अवधिकी समाप्तिपर श्रीरामजीसे लौटकर आनेका निश्चय करनेमें है।

गुरु वसिष्ठजी द्वारा वनमें श्रीरामजीपर राज्याभिषेक करनेकी सक्रियता भरतजीकी अर्थोपधाशुद्धिका महत्वपूर्ण द्वितीय चरण है जो नीतिदृष्टिसे प्रजाकी निश्शंकता एवं अनुरागका उपधायक तथा श्री भरतजीकी सर्वविध निर्दोषताका परिचायक है। श्रीरामजीके राज्यस्वामित्वकी यथार्थताको प्रकाशित करनेके लिए भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामजीके समक्ष अभिषेकसामग्रीके उपयोगका प्रस्ताव रखेंगे।

चौ०—बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे ॥४॥

भावार्थ : 'तिलकसामग्री लेकर शीघ्र चलो' ऐसा सुनकर मन्त्रियोंने स्वीकृति-सूचक भरतजीका अभिनन्दन किया तुरन्त घोड़े, हाथी, रथ आदिको तैयार किया।

शा० व्या० : राजोपचारसामग्रीमें 'तुरग रथ नाग'का मुख्यतया उल्लेख किया है।

विभागाध्यक्षोंको अमात्यपदसम्मान

ध्यातव्य है कि भारतीय राजनीतिमें विभागाध्यक्षोंको सचिवकी संज्ञा दी गयी है। उनका सम्मान आमात्यपदके तुल्य माना जाता है। यहाँ 'सचिव'से तत्तद्-विभागके अध्यक्ष समझने चाहिए।

संगति : यात्रियोंका पौर्वापर्य समझा रहे हैं।

चौ०—अरुंधती अरु अगिनि समाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ ॥५॥
विप्रवृन्द चढ़ि बाहन-नाना। चले सकल तप-तेजनिधाना ॥६॥

भावार्थ : सर्वप्रथम मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी अपनी पत्नी अरुन्धती व अग्निहोत्रकी अग्निके साथ रथपर चढ़कर चले। उनके पीछे सब तपस्वी तेजस्वी ब्राह्मणसमाज अनेक प्रकारके वाहनों (सवारियों)पर चढ़कर चले।

ब्रह्मतेजस्वियोंका आदर

शा० व्या० : वर्णाश्रम समाजकी मर्यादामें तपस् व तेजस्से युक्त ब्राह्मणोंका आदर दिखाया गया है। वसिष्ठ मुनि रविकुलके पुरोहित, गुरु व सर्वोच्च उत्तरमन्त्री हैं। उनकी योगनिपुणता 'मुनिराज' कहकर बतायी है। मुनिका विशेष आदर 'चले प्रथम'से दिखाया है। 'अगिनि समाऊ'से वसिष्ठमुनिके अग्निहोत्रका विशेष तेजस् कहा गया है।

'तपतेजनिधान'से विप्रोंका गुण दिखाया गया है। तेजस्के अन्तर्गत सात्विकता, शुचिता, त्याग, शील, ब्रह्मवर्चस्वित्व तथा तपस्के अन्तर्गत विद्याभ्यास एवं शास्त्रालोचन कहा है। स्वाध्याय ही विप्रोंका देवत्व है। श्रीमद्भागवतमें विप्रोंका लक्षण बताते हुए कहा गया है 'येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः। न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः'। बालकाण्ड दो० ३००-३०१के अन्तर्गत मिथिला जानेके लिए श्रीरामजीके बारातकी सजावटके अवसरपर 'तेज पुंज अति भ्राजा'से कहे विशेष रथकी व्यवस्था गुरु वसिष्ठजीके लिए तथा 'सिबिका सुभग सुखासन जाना। तिन्ह चढ़ि चले विप्रवर वृन्दा'से विप्रोंके वाहनकी व्यवस्था कही गयी थी। उसी प्रकारकी व्यवस्थाका यहाँ उल्लेख है।

चौ०–नगरलोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ॥७॥

भावार्थ : ब्राह्मणोंके पीछे नगरके लोग अपने-अपने वाहनोंको सजाकर चित्रकूटके लिए चले।

प्रभुदर्शनके उत्साहमें शोभायात्रा

शा० व्या० : प्रजाने सब राजशास्त्रोक्त लक्षण और स्वामिगुणसम्पत्तिसे युक्त श्रीरामजीको राजपदासीन बनानेके उत्साहमें आतुर होकर चलनेकी तैयारी की है, जिस प्रकार मनुको राजा बनानेमें प्रजा स्वयं उद्यता हुई थी उसी प्रकार बालकाण्डमें कहे 'चले जान चढ़ि जो जेहि लायक'के अनुसार पुरवासियोंने अपने-अपने यानको तैयार किया है। यही राजनिर्वाचनका क्रम है।

चित्रकूटका उल्लेख

भक्तका संकल्प सफल होता है। जहाँ जाना होगा भरतजी वहीं जायेंगे और सफल होंगे, यह भक्तसम्बन्धी महिमा है उसको ध्यानमें लेकर यात्राकी सफलता समझाने हेतुसे शिवजी यात्रारम्भमें ही चित्रकूटका कीर्तन कर रहे हैं।

चौ०–सिबिकासुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भई सब रानी ॥८॥

भावार्थ : दो० १८६में भरतजीके आदेश ('कहेउ बनावन पालकी')के अनुसार जो पालकियाँ तैयार की गयी थीं, उनकी सुन्दरता कही नहीं जा सकती। उनपर सवार होकर सब रानियाँ चलीं।

शा० व्या० : बालकाण्डमें जिस प्रकार 'सिबिकासुभग' (चौ० ३ दो० ३००में) विप्रवरोंके सम्बन्धसे कहा उसी प्रकार यहाँ पुनीता रानियोंके सम्बन्ध से कहा है।

'सिबिका-सुभग न जाइ बखानी'का उल्लेख दो० ११३के अन्तर्गत कही धन्यतासे संगत अर्थ 'रामदरसहित'से है। साहित्य सिद्धान्तसे इन शिबिकाओंको राजकीय सजावटमें इसलिए रखा गया कि उनका उपयोग अद्भुततामें जनाकर्षण होता रहे।

सुभगता

अन्तमें रानियोंका चलनेका क्रम दिखाकर स्पष्ट किया है कि मंगलकी दृष्टिसे स्त्रियोंको पीछे रखा है। सबके पीछे भरत-शत्रुघ्नजी दोनों भाई सम्पूर्ण यात्राकी रक्षा करते हुए चलेंगे।

सौत रानियाँ असूयाको छोड़कर रामप्रीतिके सद्भावमें एक साथ मिलकर एक-मत हो पालकियोंमें सवार हैं यही पालकीकि सुभगता है। ऐसा लोकमें देखनेको नहीं मिलता, इसलिए 'न जाहिं बखानी' कहा है।

संगति : पूर्वमें 'करि सब जतनु राखि रखवारे' कहनेके बाद यहाँ 'सौंपि नगर सुचि सेवकनि'के पुनरुल्लेखका तात्पर्य दुर्गद्वारकी विशेष रक्षा[1]—व्यवस्थाको बताना है जैसा राजशास्त्रसे सम्मत है। उसीको आगे दर्शा रहे हैं।

दो०—सौंपि नगर सुचि सेवकनी सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम-सियचरन तब चले भरत दोउ भाइ ॥१८७॥

भावार्थ : सर्वथा विश्वसनीय शुचि सेवकोंको नगरदुर्गकी रक्षाका भार सौंपकर भरतजीने सबसे चलनेकी सादर प्रार्थनाकी। इसके बाद भरत-शत्रुघ्नजी दोनों भाई श्रीसीता-रामके चरणोंका स्मरण करके चले।

शुभसूचना

शा० व्या० : 'सादर सकल चलाई'से सबका सुव्यवस्थित प्रयाण एवं भरतजीका विनय दिखाया है। 'सुमिरि रामसिय'से विघ्नोंका निरास एवं कार्यकी सफलताके लिए शास्त्रमर्यादामें भगवत्स्मरणका महत्त्व दिखाया है। यात्रामें चलते समय मंगलके रूपमें इष्टदेवका स्मरण शुभसूचक है। रामदर्शनार्थ यात्रामें श्रीसीता-रामजीके स्मरणका फल होगा कि श्रमका अनुभव न करते हुए सब लोग एकमत हो संघटित रूपमें पहुँच जायँगे।

भक्त होते हुए भी भरतजीकी पालनमें प्रवृत्ति

ज्ञातव्य है कि प्रजापालनकी प्रतिज्ञासे आबद्ध होनेके बाद राजपदासीन होनेपर प्रजा व नगरकी रक्षा करना अर्थ सिद्ध है। अतः रामविवाहके अवसरपर मिथिला जाते समय राजाके द्वारा किये गये राज्य एवं प्रजाकी सम्पत्तिकी रक्षाका क्रम 'सौंपि नगर सुचि सेवकनि'की व्यवस्थाके सदृश उल्लिखित नहीं हुआ। राज्याभिषेकसम्पन्न राजा न होते हुए भी भरतजीकी प्रजापालनमें प्रवृत्ति धर्म (भक्ति) एवं रामादेशके कारण हैं। वे भक्त होते हुए स्वधर्मका परित्याग नहीं कर रहे हैं। इस उपरोक्त वर्णनसे कविने शास्त्रमर्यादामें स्थित भक्त भरतजीकी इतिकर्तव्यताको स्पष्ट किया है। जो भगवदुपासकोंके लिए अनुकरणीय है।

---

१. द्वारेषु परमां गुप्तिं कारयेदासरक्षितैः। नीतिसार स० १७

संगति : रामदर्शनहेतुक शोभायात्रामें जनसमुदाय तथा भरतजीके मनोभावका वर्णन किया जा रहा है।

चौ०—रामदरसबस सब नर-नारी। जनु करि-करिनि चले तकि बारी ॥१॥

भावार्थ : रामदर्शनमें मनस्‌को लगाये अयोध्यावासी नर-नारी ऐसे चले जा रहे हैं मानो हाथी-हथिनी पानीकी ताकमें चलते हों।

रोगदृष्टिसे हस्तिसाधर्म्य व उपचार

शा० व्या० : गर्मीसे व्याकुल हाथी पानीके स्थानपर जानेके लिए दलबद्ध होकर एक साथ चलते हैं जबतक वे वहाँ नहीं पहुँच जाते, विश्राम नहीं लेते। 'करि-करिनि'के दृष्टान्तसे कविका उद्देश्य अयोध्यावासि समाजकी पीड़ाका परिहार दिखाना है। तापसे पीड़ित हाथीको पानी न मिले तो वे अन्धे या कुष्ठरोगसे ग्रसित हो जाते हैं[1]। इसी प्रकार रामवियोगसे संतप्त प्रजाका भरतजी द्वारा रामदर्शनात्मक औषधोपचार यथासमय न होता तो प्रजा और पशु कालकवलित या बीमार हो जाते जैसा सुमन्त्रको लौटाते समय गुहने कहा था 'जासु बिकल पशु ऐसे। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसे' (चौ० १ दो० १००)।

संगति : यात्रामें भी निरभिमानी भक्त भरतजीका सेवाभाव दिखा रहे हैं।

चौ०—बन सिय-रामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहि जाहीं ॥२॥

भावार्थ : श्री सीतारामके वनगमनको मनस्‌में सोचकर भरतजी छोटे भाईके साथ पैदल चल रहे हैं।

पदयात्रा-सेवामें सन्तोष

शा० व्या० : 'पयादेहि जाहीं'से देवदर्शन यात्राप्रकरणमें कहा पैदल चलनेका विधान स्मरणीय है। वनमें सीतारामजीके पैदल चलनेका स्मरण करके भरतजी स्वामि-सेवकभावमें अपने इन्द्रियसुख या सुकुमारतापर ध्यान न देकर अनेकविध यानोंका सुख प्राप्त होते हुए भी पैदल चलनेमें सन्तोषका अनुभव कररहे हैं। (चौ० ८ दो० १८३में) 'जेहि सुनि विनय मोहि जनु ज्ञानी'की उक्तिके अनुसार भरतजीका विनय पैदल चलनेमें प्रकट हो रहा है। स्मरणीय है कि विषयोंको भोग्य जाननेकी प्रवृत्ति या इन्द्रियतृप्तिकी ओर सेवकोंकी दृष्टि रहती ही नहीं।

संगति : भरतजीकी पदयात्राका प्रभाव दिखा रहे हैं।

चौ०—देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय-गय-रथ-त्यागे ॥३॥

भावार्थ : भरतजीको पैदल चलते देखकर प्रजाजन भरतजीकी रामप्रीतिके अनुरागमें भर गये और अपने-अपने वाहनों—घोड़ा, हाथी, रथ आदिसे उतरकर उन यानोंको छोड़ पैदल चलने लगे।

१. कुष्ठिनो भवन्त्यपिबन्तश्चान्धाः। का० नी० ज० १६

सेवाभिनयका फल

शा० व्या० : निश्छल भक्तका यही वैभव है कि वह विना बोले अपने चरित्रसे अनुयायियोंको प्रभावित कर देता है। भरतजीकी निश्छल रामप्रीतिका संक्रमण जनताको अनुरागिणी बनाकर उनकी आत्मीयताको उत्तेजित कर रहा है। उनको भरतजीके (अनुकरण) अनुगमनमें सुखानुभूति हो रही है।

संगति : भरतजीके अनुरागका अनुभव करते हुए भी विवेकवती माता कौसल्याजी उच्च सात्विक भावमें आकृष्टा हो प्रजाके पैदल चलनेमें असामर्थ्यका अनुभव कर रही हैं।

चौ०–जाइ समीप राखि निज डोली। राममातु मृदु बानी बोली ॥४॥
तात ! चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥५॥
तुम्हरे चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोककृस नहि मगजोगू ॥६॥

भावार्थ : राममाता कौसल्याजी भरतजीके पास जाकर अपनी पालकीको रोकती हुई मधुरवाणीमें बोली—'हे तात ! माता अपनी बलि देती है कि तुम रथपर चढ़ो, नहीं तो सब प्रिय परिजन दुःखी होंगे, क्योंकि तुमको पैदल चलते देखकर सब लोग पैदल चल रहे हैं। एक तो वे शोकसे निर्बल हैं ही, दूसरे कँकरीले वन-मार्गपर चलनेके योग्य अभ्यस्त नहीं है।

प्रयोगप्राशुभाव

शा० व्या० : राममाता कौसल्याजीको प्रजाके दुःख पर सदा ध्यान रहता है जैसा उनकी निम्न[1] उक्तियोंसे स्पष्ट है। प्रजा व परिवार राजाकी मृत्यु व रामवनवासके शोकमें विकल है, पैदल चलनेसे उनको उद्दिष्टस्थलपर पहुँचनेमें कष्टके अतिरिक्त विलंब होगा। प्रभुदर्शनकी उत्कट प्यासको बुझानेके लिए यथाशक्य जल्दीसे जल्दी पहुँचना इष्ट है, तभी यात्राका प्रयोगप्राशुभाव सफल होगा।

भरतजीकी सांकुशता

'राममातु मृदु बानी बोली'में कौसल्याजी जानती है कि भरतजी निरंकुश नहीं है, वृद्धसेवी हैं, राममाताजीके प्रति विशेष आदर रखते हैं उनसे जो कहा जायगा उसको मानेंगे।

अंगसंकोच

विधिकी इतिकर्तव्यतामें इसका सदा ध्यान रखना चाहिए कि उद्दिष्ट विनष्ट

---

१. 'प्रजहि प्रचंड कलेसु' (दो० ५५), 'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना (चौ० २ दो० ५७) 'नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू' (चौ० ७ दो० १५४), प्रजा पालि परिजन दुख हरहू' (चौ० ६ दो० १७६) आदि आदि।

न हो, अतएव विधिपालनमें सामर्थ्यका विचार करते हुए प्रत्येक अवस्थामें सम्पूर्ण अंगविधिका पालन करते रहना शास्त्रका उद्देश्य नहीं है, किन्तु सामर्थ्यके अनुसार इतिकर्तव्यताविधिमें अंगका लोप कभी कभी इसलिए शास्त्रसम्मत होता है कि उद्दिष्ट सिद्धिमें बाधा न हो। प्रस्तुत प्रसंगमें चित्रकूट पहुँचकर रामदर्शनयात्राविधिका भाव्य (उद्दिष्ट) रामदर्शन है। इस विधिकी इतिकर्तव्यतामें पैदल चलना, आदि अंगभूत हैं। 'सकल सोकक्कस नहिं मगजोगू'से पैदल चलनेका विधि-पालन यात्रियोंमें सामर्थ्यभावसे होना नहीं है। भरतजी पैदल चलते हैं तो उसको विधेय (कर्तव्य) मानकर प्रजा अनुगमन करनेमें मनोयोग दे रही है तो रामदर्शन उद्दिष्टमें बाधा हो सकती है। अतः यात्राविधिमें पैदल चलनेकी इतिकर्तव्यताको असमर्थतामें लुप्त करना माताकी दृष्टिमें इष्ट है यह अंगका लोप उद्दिष्टकी पूर्तिमें सहायक होनेसे दोष नहीं है।

माताजीके विचार

इस प्रसंगमें यह भी ध्यातव्य है कि दो० ८६में कहा 'रामदरसहित नेम व्रत लगे करन नर नारी'से प्रजाजनोंके 'नेमव्रत'से होनेवाली उनकी शारीरिक दुर्बल स्थिति एवं दीनताका स्मरण करते हुए कौसल्याजी इस रहस्यको जानतो हैं कि रामदर्शनार्थं 'नेमव्रत' द्वारा प्रजाका योगदान भरतयात्राकी सफलतामें अंगभूत है। अतः प्रजाके उपकारको भूला नहीं जा सकता। इसी तत्त्वको कौसल्याजीने रामवनवासके प्रसंगमें 'सबकर आजु सुकृत फल बीता' (च.० ५ दो० ५७)से व्यक्त किया है।

संगति : माताजीके वचनको शिरोधार्य कर यानपर सवारी कर भरतजी अंगसंकोच कर रहे हैं।

चौ०–सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई ॥७॥

भावार्थ : माता कौसल्याजीके वचनको शिरोधार्य करके उनके चरणोंमें प्रणाम कर दोनों भाई रथपर चढ़कर चले।

सामान्यधर्ममें अनुपेक्षणीयता

शा० व्या० : भगवतोक्ति ('धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं')को माननेवाले भरतजी वैसे धार्मिक नहीं है जिनमें (साधारणधर्म) भूतदया न हो। भक्तिका यही वैशिष्ट्य है वह धर्मके प्रति आदर रखते हुए उसके उपनिवेशमें अहिंसा, सत्य, दया आदि साधारण धर्मके प्रति उदासीनता या उपेक्षा होने नहीं देते। जिस प्रकार राजाके द्वारा भेजे रथपर बैठनेमें श्रीरामजीने वनवासात्मकधर्मके पालनमें विनयको रखते हुए पिताश्रीके तदविरुद्धआदेशको स्वीकार किया उसी प्रकार भरतजी रामदर्शनात्मक धर्ममें माताजीकी आज्ञा मानकर पैदल चलनेसे विरत हो रथपर बैठ रहे हैं।

अन्तरङ्गका बलीयस्त्व

भक्तिकी प्रधानतामें राजनीतिको अन्तरंग धर्म समझकर क्षत्रियके लिए

स्वधर्मोचित प्रजापालन कर्तव्य है। अतः प्रजापालन मुख्यधर्म है, पैदल चलना बहिरंग धर्म है। अतरंग धर्मको बनाये रखनेमें बहिरंगका लोप हो जाय तो शास्त्रदृष्टिसे अनुचित नहीं माना जायगा। भक्तिमें त्रयीकी मान्यता रखते हुए भरतजीने माताजीकी आज्ञाको माननेमें शास्त्रसम्मत अन्तरङ्ग और बहिरङ्गविवेकका परिचय दिया है।

नीतिकी प्राधानतामें त्रयीका आदर व रक्षण

प्रश्न हो सकता है कि गुरुजी द्वारा आयोजित सभामें माता कौसल्याजीके वचन 'सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुख हरहू'को भरतजीने क्यों नहीं स्वीकार किया ?

इसके उत्तरमें कहना है कि भक्तिके साथ राजनीतिकी स्थापनाके पूर्व ही त्रयीकी स्थापनामें उसीका ह्रास समझकर भरतजीने माताजीके वचनको उस समय कार्यान्वित करना उचित नहीं माना। प्रस्तुत अवसरपर 'रामसनेहसुधा जनु पागे'से भक्ति तथा दो० १८४में व्यक्त प्रजानुरागसे राजनीतिकी स्थापनाके अनुगुण त्रयीधर्मपालनकी स्थिति है।

संगति : यात्रियोंके निवासका क्रम समझा रहे हैं।

चौ०—तमसा प्रथमदिवस करि बासू। दूसर गोमतितीर निवासू॥८॥

भावर्थ : पहले दिन तमसा नदीके तीर पर निवास करके दूसरे दिन गोमती नदीके किनारे सबने निवास किया।

भरतजीकी यात्राक्रमका भेद

शा० व्या० : भरतयात्राका क्रम श्रीरामजीकी यात्रासे भिन्न है। इसमें दो कारण हैं। एक पक्ष यह है कि भक्तिभावमें भरतजी श्रीरामजीके मार्गकी प्रदक्षिणा करते हुए जाना चाहते हैं। दूसरा नीतिदृष्टिसे इतने बड़े सैन्य और नागरिक समाजको वनमें सीधे राजमार्गसे ले जाना दुष्कर होगा, इसलिए नदीतटके प्रशस्त मार्गसे यात्रा जा रही हैं। ज्ञातव्य है कि अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार सेनाने नगरमें प्रविष्ट होकर या गावोंके वीचसे जाना अनुचित कहा गया है। संगमें रनिवास सहित स्त्री-समाज है, उनकी भी सुविधाका ध्यान रखते हुए भरतयात्राके पड़ावकी संख्या भी श्रीरामजीके विश्रामसे अधिक है।

संगति : रामदर्शनार्थियोंकी यात्रामें यात्रियोंका व्रत समझा रहे हैं।

दो०—पय-अहार फल-असन एक निसिभोजन एक-लोग।
करत रामहित नेम व्रत परिहरि भूषनभोग॥१८८॥

भावर्थ : श्रीरामजीके दर्शनके निमित्तसे सव लोग वस्त्रालंकर एवं भोग्य-पदार्थोंका त्याग करके फलाहार एवं नक्तव्रतके नियम-व्रतका पालन कर रहे हैं। 'एक-लोग'से सूचित है कि अलग-अलग लोगोंने अलग-अलग उक्त नियमव्रतको अपनाया

है। अर्थात् कोई केवल दूध पीकर, कोई फल खाकर, कोई एक बार रात्रिमें भोजन करनेका नियम लिये हुए हैं।

यात्रा-विधान व रामहितका विचार

शा० व्या० : तीर्थयात्रा-विधिमें भोजन आदिके नियम व्रतका उद्देश्य यह है कि सात्विकता बनी रहे और शरीरमें आलस्य न आवे।

'रामहित'में मध्यम पदलोपी समास मानकर रामदर्शनको अत्यन्तहित मानकर यात्रा करना यात्रिसमाजका उद्देश्य श्रीरा के द्वारा अयोध्यामें लौटकर अभिषेककी स्वीकृति है। अथवा कवि 'रामहित'से यह भी ध्वनित करा रहे हैं कि जिसमें श्रीरामका हित (वनवासकी सफलता) होगा उसीको उद्दिष्ट माननेपर रामहितकी सिद्धि होगी क्योंकि 'सब कर आजु सुकृत फल बीता'के अनुसार सबके दुर्भाग्यसे श्रीराम वनवासी हुए हैं इसलिए 'रामहित'से रामवनवासकी सफलता उद्देश्यतया आकांक्षित कही जायगी। गुरुजी, कौसल्याजी व भरतजीके लिए उद्देश्यके अन्तर्गत प्रजारक्षण एवं उनके दुःखकी निवृत्ति तथा रामहित है इसी हतुसे भरतजीने सब समाजको साथ लिया है।

व्रतमें ग्राह्य और त्याज्य

ग्रन्थकार उक्त दोहेमें व्रतमें अंगतया ग्राह्य एवं निषिद्ध विधिको स्पष्ट कर रहे हैं। अर्थात् 'पय अहार, फल-असन' ग्राह्य एवं 'परिहरि भूषन भोग' निषिद्ध विधि है। व्रतमें जो नियम अनुकूल हों उन्हीं विधिको अपनानेसे व्रतका निर्वाह सुचारुरूपसे होता रहता है।

संगति : यात्रियोंका तोसरा पड़ाव (विश्राम स्थल) समझा रहे हैं।

चौ०—सईतीर बसि चले बिहाने। शृंगबेरपुर सब निअराने ॥१॥

भावार्थ : सब लोग सई नदी के किनारे रात्रिनिवास करके सुबह चले और शृंगवेरपुरके निकट पहुँच गये।

प्रातःयात्राक्रमका सार्थक्य

शा० व्या० : राजशास्त्रानुसार नगर-निर्माणमें नदो, पर्वत दरी आदिको सीमा बनाना विहित है, तदनुसार शृंगवेरपुरकी सीमा सई नदी है। सुबह हो जाने पर ही अग्निहोत्र-समाज, रानियों एवं व्रतस्थ समाजको लेकर चलना अनुकूल है। सूर्योदय हुए विना अग्निहोत्र हो नहीं सकता। इन सबको दृष्टिमें रखकर 'चले बिहाने' कहा है। मालूम होता है कि श्रीरामके पास पहुँचनेकी आतुरताका विचार करके ग्रन्थ-कारको यात्राके मार्गका वर्णन करना इष्ट नहीं है, केवल पड़ावका उल्लेख करते हुए चित्रकूट पहुँचाना उद्देश्य है। ध्यातव्य है कि 'बन सियरामु समुझि मन माहीं'से

श्रीसीतारामके वासस्थलोंका दर्शन करना भरतजीको इष्ट है, कवि उसीका वर्णन कर रहे हैं।

संगति : शरणागतभक्तके रक्षणमें चित्रकूटमें बैठे प्रभुके स्मरण ('धीरजु धरहिं कुसमय बिचारी')से 'विधिबाम'में भी किस प्रकार प्रतिबन्धक निरस्तहोते है ? दिखानेके लिए ग्रन्थकार 'शृंगवेरपुर निअराने'से गुहसंवादका प्रसंग यात्राके बीचमें उपस्थापित करके विपत्तिका निरास चौ० १ दो० १७७ (शृंगबेरपुर दीख जव) तक गा रहे हैं। अथवा लक्ष्मणजीके 'नहि कीजिय रोषू' शब्द प्रमाणसे गुहकी शंकाका समूल उन्मूलन नहीं हुआ था, अतः गुहकी शंकाका पुनरुत्थान कराकर उसको प्रत्यक्षप्रमाणसे निरस्त करानेके हेतुसे अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ कर रहे हैं।

अथवा भरतयात्राके साधन-व्यवस्थामें सहायक साधनोपाय देशकालविभाग आदिका वर्णन करनेके बाद प्रतिबन्धक (विपत्ति) एवं उसका प्रतीकार भक्तिके रक्षणमें कैसे होता जा रहा है ? उसका स्वरूप गुहचरित्रसे आरम्भ करके चित्रकूट पहुँचनेतक ग्रन्थकार वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सबिषादा ॥२॥

भावार्थ : भरतयात्राका सब समाचार निषादराजने सुना तो अपने मनस्में दुःखके साथ वह विचार करने लगा।

राजाकी चक्षुष्मत्ता व समाचार

शा० व्या० : राजनीतिसिद्धान्तानुसार 'समाचार सुने'का अर्थ होगा कि गुहने अपने चरों द्वारा सुना कि भरतजी चतुरंगिणी सेनाके साथ आ रहे हैं। क्योंकि अर्थशास्त्रमें चरविधानके द्वारा समाचार प्राप्त करनेका उल्लेख है।

रामनिवाससे सम्बन्धित कैकेयीजीकी कुटिलता और अयोध्यावासियोंके दुःखका समाचार सुमन्त्रके साथ सीता-लक्ष्मणसहित प्रभुके आगमनके अवसरपर गुहको ज्ञात हो चुका था। भरतजीके आनेपर अयोध्यामें होनेवाली घटनाओंका उसको पता नहीं लगा होगा जैसा चौ० २ दो० १५७की व्याख्यामें कहा गया है कि राज्यहितमें नीतिसिद्धान्तानुसार उत्तराधिकारके अभावमें राजाकी मृत्युका समाचार वसिष्ठजीके आदेशसे गुप्त रखा गया था। शृङ्गबेरपुरकी सीमाके निकट भरतदलके पहुँचनेपर सीमापर नियुक्त निषादराजके चरोंने जो देखा-सुना, उसीको 'समाचार सब'से विवक्षित समझना चाहिए। यात्रा होनेसे समाजमें सब व्रतस्थ हैं, 'रामदरसबस' अनुराग भावमें चलते हैं, अनावश्यक भाषण या चर्चा नहीं करते, इसलिए भरतजीके ससैन्य-यात्राके उद्देश्यकी वास्तविकता चरोंको ज्ञात न हो सकी। भारी सैन्यदलके आगे गुरु वसिष्ठजीका आगमन शान्ति अभियानके संकेतरूपमें उभरकर दृष्टिगत न हो सका।

गुहके विषादका कारण

'बिचार करइ सविषादा'से गुहके मनस्की अनिर्णीत स्थितिको दर्शाया है।

गुह-लक्ष्मण-संवादमें (दो० ९१में) कही कैकेयीकी कुटिलतासे वनवासमें श्रीसीतारामके भूमिशयन आदिको देखकर 'भयउ विषादु निषादहि भारी' कहा गया था, उसी प्रकार यहाँ कैकेयीकी कुटिलताको स्मरण करके भरतजीके ससैन्य आगमनको सुनकर गुहको विषाद हो रहा है। सविषादा होनेका कारण यही है कि गुह अनुमानके द्वारा भरतजीकी साधुताका निर्णय नहीं कर पा रहा है।

भरतजीके आगमनको सुनकर गुहविषाद व प्रभुविषादमें अन्तर

'हृदय सविषादा'में गुहके विचार, अनुमान व असमाधेयस्थितिका वर्णन आगे होगा। चौ० १से दो० २२७में 'बहुरि सोचबस भे सियरवनू'से प्रभुके हृदय खभारु'को दर्शाते हुए 'समाधान तब भा यह जाने'से कविने श्रीरामकी सर्वज्ञताको स्फुट किया है। अर्थात् जो समाधान प्रभुको स्वार्थानुमानसे ही हो गया वह गुहको चौ० १ दो० ९३में कहे लक्ष्मणजीके शब्दप्रमाण और अनुमानसे भी तबतक न हो सका, जबतक प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध नहीं होगा। यही जीव और ईश्वरमें भेद है।

नीतिका शाश्वतीत्व

अर्थशास्त्रमें राजनीतिको शाश्वती कहा है। प्रमाणपरतन्त्र नैतिक कार्यक्रम विघ्नोंसे उच्छिन्न नहीं होता[1]। उपधाशुद्ध भरतजी भक्तिके संरक्षकत्वमें राजनीतिको लेकर चल रहे हैं। ग्रन्थकार राजनीतिके उक्त शाश्वतत्वको दर्शानेके लिए स्व एवं परके द्वारा दृष्ट-अदृष्ट विघ्नोंका उपस्थापन व उनका निरास दिखाते हुए भरतजीको चित्रकूटतक प्रभुके समीप पहुँचा भक्तिप्रधान राजनीतिकी शाश्वतता स्थापित करेंगे।

संगति : गुहके हृदयमें होनेवाले विचारमें 'सविषादा'का कारण कवि स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ०—कारन कवन भरतु बन जाहीं ? । है कछु कपट भाउ मन माहीं ॥३॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई । तौ कत लीन्ह संग कटकाई ? ॥४॥
जानहिं सानुज रामहि मारी । करउँ अकंटक राजु सुखारी ॥५॥
भरत न राजनीति उर आनी । तब कलंकु अब जीवनहानी ॥६॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा । रामहि समर न जीत निहारा ॥७॥

भावार्थ : 'किस कारणसे भरतजी वनमें जा रहे हैं ?'—इसके उत्तरमें गुह सोच रहा है 'भरतजीके मनस्में कुछ कपट भाव है। यदि उनके हृदयमें कुटिलता न होती तो सङ्गमें सैन्यदल क्यों लेते ? कुटिलताके ही कारण भरतजी समझते हैं कि लक्ष्मणजी सहित श्रीरामको मारकर कण्टकको दूर करके सुखपूर्वक राज्य करें। भरतजीने अपने हृदयमें राजनीतिका अच्छी तरह विचार नहीं किया है। पहले तो राज्य लेनेका ही

---

१. दण्डनीतिश्च शाश्वती, नित्यस्थितिका। तस्याः प्रवर्तमानायाः विघ्नेन अनुच्छेदात्। इतराश्च अशाश्वत्यः इत्यर्थोक्तम्। (नी० स० २)

कलङ्क था, अब उनको जानसे भी हाथ धोना पड़ेगा। क्योंकि देव और असुर सब मिलकर भी युद्ध करें तो भी श्रीरामको लड़ाईमें जीतनेमें वे पार नहीं पा सकते।'

निषादकी विचारप्रणालीमें तर्कधारा

शा० व्या० : न्यायभाषामें गुहकी विचारप्रणाली इस प्रकार कही जायगी—'भरतोऽयं रामं प्रति गन्तुकामः शत्रुर्वा मित्रं वा सन्देह है। इस सन्देहके अनन्तर प्रथमकोटि 'अयं भरतः शत्रुः' है। इस अनुमितिके पूर्व हेतुको देखकर परामर्श कर्तव्य है जो सबल हेतुके अधीन है, वह हेतु कौटिल्य है इसकी प्रबलता सैन्य संचालनसे सिद्ध है। उक्त हेतुसे गुहको इस प्रकार अनुमिति हो रही है कि 'अयं शत्रुः कैकेयीसूनुत्वे सति राज्याधिकारप्राप्त्यनन्तरं सैन्यसञ्चालनकर्तृत्वे सति कुटिलत्वात्।' भरतजीमें राज्यप्राप्तिका अनुमान आगे चौ० ४में 'भरत भाइ नृपु'से कही गुहकी उक्तिसे स्पष्ट है।

भरतजीके जयोपायकी कल्पना

राजशास्त्रमें युद्ध करनेका फल कोष आदिकी प्राप्ति और शत्रुका विनाश कहा गया है। 'तब कलंकु' का भाव है कि प्रथम फल (राज्य प्राप्ति)में भरतजीको कलंक मिल ही चुका है, अव दूसरा फल शत्रुविनाशके उद्यममें उनको अपनी जीवनहानि (मृत्यु) ही हाथ लगेगी। क्योंकि अनुज लक्ष्मणजीको ही जीतना कठिन है, फिर श्रीराम तो अजेय हैं ही। पुराणकथाओं एवं उपनिषदके आख्यानोंसे प्रमाणित है कि ईश्वर असुरों और देवताओंके लिए अजेय अगम्य हैं। गुहकी कल्पनामें श्रीरामके प्रभुत्वमें स्थिर हुआ विश्वास लक्ष्मणजीके संवादमें चौ० ३-८ से दो० ९३में कही उक्तियोसे पुष्ट है।

'न राजनीति उर आनी' व नीत्याभास

'न राजनीति उर आनी'का भाव है कि नीतिविद्या पढ़नेपर भी उसका तत्वाभिनिवेश हृदयमें न होना, या राजनीतिका वास्तविक प्रकाश न होना है। माता कैकेयीकी कुटिलताके माध्यमसे राज्यप्राप्तिरूप कलंकको मिटानेमें प्रभुके समाप जाना नीतिसम्मत कहा जा सकता है, पर सैन्यबल लेकर 'सानुज रामहि मारी। करउँ संकट राजु सुखारी'के उद्देश्यस 'तापसवेषविसेषि उदासी'का स्थितिमे रहे श्रीरामजीके विरोधमें कार्य करना नीत्याभास है, क्योंकि पूर्वोक्त कुटिलाइके कलंकको वह स्वजीवन-हानिसे स्थिर करेगा। अर्थशास्त्रोक्त दायाधिकारप्रयुक्त भाई-भाइयोंमें होनेवाले एकार्थाभिनिवेशमें एक भाईने दूसरे विपक्षी भाईका उच्छेद करना तभी नीतिसम्मत कहा जायगा जब प्रतिपक्षमे अर्थरुचि हो या धर्महीनता हो। श्रीराम स्वेच्छासे राज्यत्याग करके मुनिव्रत लेकर पिताश्रीकी आज्ञासे वनवासकर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें भाईके प्रति भरतजीका शुत्रुता-व्यवहार नीत्याभास है जिसको 'राजनीति न उर आनी'से व्यक्त किया है।

गुह और लक्ष्मणजीकी शंकासमाधानमें तुलना

चौ० ३ से ८ दो० १८९में कथित गुहकी शंका ठीक वैसी ही हैं जैसी लक्ष्मणजीकी चौ० १ से दो० २२८में कही गयी है। चौ० ३ दो० ९६में लक्ष्मणजीकी 'कटुबानी'की व्याख्यामें कहा गया है कि 'प्रभु बरजे'से लक्ष्मणजीकी जो शंका दब गयी थी, उसका पूर्ण उत्थान चित्रकूटमें भरतागमनके अवसरपर कराकर ग्रन्थाकारने उसका उन्मूलन कराया है। उसी प्रकार दो० ९१से चौ० २ दो० ९२में कैकेयीके प्रति गुहकी उदबुद्ध शंका लक्ष्मणजीके वचन 'नहिं कीजिअ रोषु, न देइअ दाषू'से दव गयी थी, उसका समूल उन्मूलन करनेके लिए ग्रन्थकारने यहाँ गुहकी शंकाका पुनः उत्थापन कराया है। अन्तर इतना ही है कि लक्ष्मणजीको भरतजीकी साधुसेवा और रामभक्तिमें शंका नहीं है (चौ० २ दो० २८८), गुहको भरतजीमें कुटिलतासे साधुसंगति एवं रामभक्तिका अभाव प्रतीत हो रहा है (चौ० ७-८ दो० १९०) लक्ष्मणजीकी शंकाका समाधान सुरवाणीप्रमाण द्वारा श्रीरामके वचनसे हुआ। गुहकी शंका-निवृत्ति वयोवृद्धके वचन 'बूढ़ एक कहइ सगुन बिचारी' (चौ० ५ दो० १९२)से होनेपर भी उसका पूर्ण समाधान भरतजीके शीलस्नेहके प्रत्यक्षपूर्वक शुचितानुमानसे दिखाया गया है। लक्ष्मणजीके 'एतना कहत नीतिरस भूला'के अनुरूप गुहकी कल्पना 'भरत न राजनीति उर आनी' है। इतना अवश्य कहा जायगा कि 'कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह'से कल्पित 'नहिं विष बेलि अमिअ फल फरहीं'से भरतजीके प्रति गुहका दोषारोपण कैकेयीकी कुटिलतासे सम्बन्धित कैकेयीसूनुत्वमें है। 'अस बिचारि नहिं कीजिअ रोषू। काहुहि बादि न देइअ दोषू'से लक्ष्मणजीका रोष कैकेयीके प्रति नहीं है अपितु श्रीरामको न्यायसम्मत राज्यधिकारसे वंचित कर उसके द्वारा निर्णीत भरतजीकी राज्यप्राप्ति स्वामि-भक्त लक्ष्मणजीकी उद्विग्नताका कारण है। वचनप्रमाणसे भरतजीकी शुचिता निर्णीत होनेपर लक्ष्मणजी पूर्ण आश्वस्त हो जायँगे। अभी गुह हो रहा है।

गुहमें दोषाभाव

कैकेयीचरित्रकी समीक्षामें कहा जा चुका है कि कैकेयीका मतिफेर प्रभुकार्यमें साधक होनेसे कैकेयी प्रभुकी दृष्टिमें दोषमुक्त है, उसी प्रकार यहाँ कहना है कि भरतजीके प्रति गुह और लक्ष्मणजीकी दोषारोपकल्पना भरतजीकी शुचिताको प्रकट करनेमें साधक हुई है, इसलिए कौसल्याजीकी उक्ति 'मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं' तथा अयोध्यापुरवासियोंकी उक्ति 'तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई, बसिहि कलपसत नरक निकेता'से निरूपित दोप या पापको प्रसक्ति गुह एवं लक्ष्मणजीमें नहीं मानी जायगी।

संगति : कारणगुण कार्यमें आते हैं, ऐसा सोचकर गुह निर्णय कर रहा है।

चौ०—का आचरजु ? भरतु अस करहीं। नहिं विषबेलि अमिअ फल फरहीं ॥८॥

भावार्थ : भरतजी ऐसा कर रहे हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है ? विषकी लतामें अमृत नहीं फलता।

गुहकी असंदिग्धता

शा० व्या० : 'अस करहीं' में चौ० ३ से ६ तक कहा गुहका विचार विवक्षित है। 'का आचरजु'से भरतजीके कुटिलताप्रयुक्त-कार्यमें गुहका सन्देहाभाव प्रकट हो रहा है।

'विषबेलि'से चौ० १ दो० ९२ में कही ('भइ दिनकर कुल विटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी') कुटिलताकी आधाक्रिया कैकेयीको संकेतित करते हुए 'नहिं अमिअ फल फरहीं'से भरतजीके कैकेयीपुत्रत्वकलंकको युक्तियुक्त मानकर भरतजीकी साधुतामें अविश्वास प्रकट किया गया है। भरतजीने पहले ही दो० १३८ में 'कैकेइसुअ कुटिलमति रामबिमुख गतलाज' कहकर अपनेमें कैकेयीपुत्रत्वकी अधमता दिखायी है। दो० १३९ में भरतजीकी उक्ति कारन तें 'कारजु कठिन होइ' में जिस प्रकार कार्यकारण-भाव दिखाया था, उसीकी प्रक्रिया गुहके उपरोक्त विचारमें प्रकट है।

बुद्धिविकास

बुद्धि विकासमें चार कारण माने गये हैं—जन्मतः, शास्त्रतः, संसर्गतः और परिणामतः। अतः जन्म चतुष्टयसे बुद्धि शुश्रुषादि अष्टांगगुणसे समृद्धा होती है। भरतजीकी बुद्धिमें अविवेककी कल्पना गुहकी उक्ति ('नहिं विष बेलि अमिअ फल फरहीं')के अनुसार विपरीतार्थमें इस प्रकार संगत कही जा सकती है—

जन्मतः—कुमति कैकेयी से भरतका जन्म है।

संसर्गतः—कुटिला मन्थराका संसर्ग है।

शास्त्रतः—उक्त दोनोंसे मलिन बुद्धिपर कूटशास्त्रका प्रभाव है।

परिणामतः—अभीतक सुख-दुःख-भोगका प्रसंग भरतजी पर नहीं आया। अन्तमें 'तब कलंकु अब जीवन हानी' रूप फल भोगना पड़ेगा।

संगति—भरतजीमें कुटिलताका निर्णय कर गुह सैनिकोंको सुविग्रहकी तैयारीमें भरतयात्रामें प्रतिबन्ध करनेका उपाय समझा रहा है।

दो०–अस बिचारि गुहँ ग्याति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजिअ घाटारोहु ॥१८९॥

भावार्थ : ऐसा विचार करके अपने बन्धु-बान्धवोंसे गुह बोला 'सब लोग सावधान हो जाओ। पतवार-डाँड़ा हटा दो, नौकाओं को डुबा दो, घाटोंको रोकनेमें लग जाओ'।

जलदुर्गकी अगम्यता

शा० व्या० : 'अस बिचारि'से ससैन्य भरतजीके आनेका समाचार सुननेके बाद निषादराजका पूर्वोक्त विचार कहा गया है।

अर्थशास्त्रके अनुसार चतुरंगिणी सेनाके संचालनका प्रयोजन युद्ध और शत्रु-विजय कहा गया है। अतः युद्धके अवसरके अनुकूल निषादराज पूर्वोक्त व्यवस्था करनेको कह रहा है। शत्रु बलवान् होगा तो नावोंपर जबरदस्ती कब्जा करके नदीपार जानेका उपक्रम करेगा। इसलिए भरतजीके बलाधिक्यको समझकर निषादराज नावोंको डुबा देनेकी आज्ञा दे रहा है।

चौ०–होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा ॥१॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥२॥

भावार्थ : 'तुम्ह सब संघटित होकर घाटोंको रोको। सब लोग स मझ लो कि मरनेकी तैयारी करना है। मैं सामने जाकर भरतजीसे मुकाबला करूँगा। अपने जीतेजी उनको गंगापार करके उतरने न दूँगा।'

प्रबलसे युद्धमें प्राणबलिका विधान

शा० व्या० : 'सँगोइल'से युद्धमें कही मोर्चाबन्दीकी व्यवस्था समझनी चाहिए। सन्मित्रके रक्षणार्थं बलवान् शत्रुसे युद्ध करना अनिवार्य हो तो युद्धमें प्राणबलिका समर्पण शास्त्रसम्मत माना गया है[1]। इसको 'मरै के ठाटा'से संकेतित किया है।

संगति : भरतसे युद्धमें जीत नहीं सकते तो प्राणबलिसे क्या लाभ होगा? इसको गुह बता रहा है।

चौ०–समरमरनु पुनि सुरसरितीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा ॥३॥
भरतभाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू ॥४॥
स्वामिकाज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दसचारी ॥५॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें ॥६॥

भावार्थ : युद्धमें मरण वह भी गंगाजीके किनारे, फिर श्रीरामकार्यमें क्षण-भंगुर शरीरका काम आना सब भला ही भला है। कहाँ श्रीरामके भाई और अयोध्याके राजा भरतजी, कहाँ मैं नीच जातिका सेवक, उनके हाथसे मेरी मृत्यु हो तो ऐसी मृत्यु बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है। स्वामी (राम)के कार्यके लिए मैं युद्धमें लड़ूँगा तो चौदहों भुवनमें उजवल यशस् प्राप्त करूँगा। रघुनाथजीकी दोहाई देकर प्राणत्याग करता हूँ तो दोनों हाथ लड्डू है।

संदिग्धोभयकोटिमें लाभ

शा० व्या० : 'मित्रगोब्राह्मणार्थेषु सद्यः प्राणान् परित्यजेत्'के अनुसार मित्र (राम)की रक्षामें प्राणत्याग श्रेयस्कर है। स्वामी श्रीरामके प्रति सखा निषादराज रामहितमें प्राणत्यागको इष्ट मानता है। इसलिए कि नीतिदृष्टिसे वह लोकमें कीर्ति तथा

---

१. मित्रगोब्राह्मणार्थेषु सद्यः प्राणान् परित्यजेत्। नी० स० १०

धार्मिक दृष्ट्या गंगाजीके सान्निध्यमें होनेवाली मृत्यु परलोकमें पुण्यका साधन मानता है। जैसे धर्मशास्त्रके अनुसार गंगातीरपर शरीरका त्याग शुभ है वैसे ही युद्धमें वीरगति उत्तम लोकको प्राप्त करनेवाली कही गयी है। नीतिशास्त्रके अनुसार स्वामिहितकी उपेक्षा करके प्राणके लोभमें युद्धसे मुँह मोड़ना स्वामिद्रोह है जिसके फलस्वरूप अनन्तकलाकी यातनाका भोग है। इसलिए स्वामी रघुनाथजीकी दोहाई देकर युद्धमें मरनेकी ('जस धवलिहउँ भुवन दसचारी') चर्चा कर रहा है। अर्थशास्त्रमें युद्धविग्रहमें दो प्रकारका फल तात्कालिक और भविष्यत् कहा गया है जिसको 'दुहूँ हाथ मुद मोदक'से व्यक्त किया गया है। लोकाचारमें भी देखा जाता है कि योग्य व्यक्तिके मस्तकपर दोनों हाथोंमें लड्डू क[illegible]कर सन्त 'बड़े भाग असि पाइअ मीचू'को दिखानेमें प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। 'दुहूँ हाथ' कहकर लोक-परलोक दोनोंकी सद्गति बतायी है।

संगति : युद्धादिविधेयकप्रवृत्ति रामकार्यार्थं न हो तो जीवन वृत्तिके लिए बोझ कैसी है ? समझा रहे हैं।

चौ०—साधुसमाज न जाकर लेखा। रामभगत महुँ जासु न रेखा ॥७॥
जायँ जिअत जग सो महिभारू। जननीजीवन बिटप कुठारू ॥८॥

भावार्थ : साधुजनोंमें जिसकी गिनती नहीं है या रामभक्तोंकी श्रेणीमें जिसके लिए कोई स्थान नहीं है, उसका संसारमें जीना भार है। वह जन्म लेकर माताजीके यौवनको व्यर्थ नष्ट करता है।

जीवनको सफलता होनेका क्रम

शा० व्या० : विद्वत्संगति अथवा साधुसेवाका क्रम इस प्रकार है—प्रथमतः विनयसम्पन्न होकर विद्वानोंकी संगतिमें बैठे। उनके उपदेशोंको अपने जीवन व आचरणमें उतारता हुआ नैतिक कर्तव्य एवं अकार्यके औचित्यानौचित्यको भली प्रकार समझे। उसमें जो शंकाएँ या समस्याएँ खड़ी हों उनको विद्याभ्यासके द्वारा तर्कपूर्वक विचार कर उसपर साधुओं (सन्त-विद्वानों)की सम्मतिसे समाधान करता रहे। विद्याओंको प्राप्त करके अपने अन्तःकरणको भगवद्भक्तिमें लगाना अन्तिम ध्येय है। साधुसमाजसे प्रशंसित शीलका अर्जन रामभक्तोंकी श्रेणीमें बैठनेकी योग्यता प्रदान करता है यही जीवनकी सफलता है। इसीमें विश्रान्ति है, अन्यथा जीवन पृथ्वीका भार है।

असफलतामें दोष

जो साधुसेवी नहीं हैं रामभक्तिसे दूर हैं, उन्होंने माताजीके हृदयसे जन्म लेना उसके यौवनको नष्ट करनेके समान व्यर्थ है जैसा सुमित्रा माताजीने लक्ष्मणजीसे कहा था 'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपतिभगतु जासु सुतु होई। न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी'।

अपनी शंकामें सबलता

गुहके उद्‌गारसे स्पष्ट है कि वह साधुसेवी है, रामभक्तिमें प्रीतिमान् है, रामसेवामें जीवनकी सार्थकता को सफल समझता है। इससे यह भी ध्वनित है कि भरतजीमें साधुसंगति एवं रामभक्तिका अभाव समझकर 'जौ पै जियँ न होति कुटिलाई'की शंकाको सबल मानता है।

संगति : ज्ञातव्य है कि चौ० २ दो० १८९में 'हृदयँ बिचार करइ सविषादा'में गुहका जो विषाद वर्णित था वह उपरोक्त विचारसे चला गया। गुहके उपर्युक्त विचारोंमें न रौद्र, न वीररस है अपितु वीराभास है जो चौ० ७-८ दो० १९२में स्पष्ट होगा। शिवजीके द्वारा उसके अनुभाव वर्णित हो रहे हैं।

दो०—बिगतबिषाद निषादपति सबहि बढ़ाइ उछाहु।
सुमिरि राम मागेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु ॥१९०॥

भावार्थ : गुहने सबसे कहा, हे भाइयों! शीघ्र युद्धका साज सजा लो। आज्ञा सुनकर कोई भी कायरता न दिखावे।

युद्धप्रस्थानके पूर्व कर्तव्य

शा० व्या० : राजनीतिका कहना है कि 'प्रकृष्ट सैन्योत्साहनार्थं'के अनुसार युद्धके अवसरपर सैन्यके उत्साहवर्धनके लिए नायक या राजाको सेनाके सामने हर्ष प्रकट करते हुए आना चाहिए जिसको 'सबहि बढ़ाई अछाहु'से प्रकट किया है। 'सुमिरि राम'से इष्टदेवका स्मरण दिखाया है जो प्रस्थानमें मंगलका सूचक है। विषादजनित उद्वेग अपशकुन माना जाता है, इसलिए 'विगतविषाद' कहा है।

सूर्यवंशके प्रति गुहकी रति स्थायीभाव है, उस रतिभावमें गुहका यह विषाद व्यभिचारिभाव है जो भरतके कुटिलमतिमत्त्व और सैन्यसञ्चालनकी कल्पनासे उद्‌भूत है।

संगति : 'भलेहि नाथ'से व्यक्त वाचिक स्वीकृतिको कार्यरूपमें प्रकट करनेमें गुहके सैनिकोंका उत्साह दिखाया जा रहा है।

चौ०—बेगहु भाइहु! सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ ॥१॥
भलेहिं नाथ! सब कहहिं सहरषा। एकहिं एक बढ़ावइ करषा ॥२॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचइ रारी ॥३॥
सुमिरि रामपदपंकज पनहीं। भाथीं बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं ॥४॥
अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं ॥५॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़े। कूदहि गगन मनहुँ छिति छाँड़े ॥६॥

भावार्थ : विषादको दूर करके वीराभासमें निषादराज गुहने युद्धके लिए सबको उत्साहित किया। स्वयं श्रीरामका स्मरण करके अपनेको सुसज्जित करनेके लिए धनुष, तरकस और कवचको लानेके लिए कहा। 'हे स्वामिन्! बहुत अच्छा' ऐसा सब लोग हर्षके साथ कह रहे हैं। सब सैनिक एक दूसरेके उत्साहको बढ़ा

रहे हैं। 'सुनि रजाई'के प्रत्युत्तरमें 'भलेहि नाथ'से आज्ञाकी सहर्ष स्वीकृति व्यक्त है। सब सैनिक निषादराजकी सादर वन्दना करते हुए जा रहे हैं। सब शूर वीर हैं, लड़नेका चाव रखते हैं। प्रभु श्रीरामके चरणकमलके पादत्राणका स्मरण करके युद्धका साज सजा रहे हैं। देशकालके अनुरूप आटविकोंके तत्सामयिक हथियारोंके वर्णनमें, भाथी (तरकस), धनुही (छोटे-बड़े धनुष), अँगरी (कवच), कूँड़ी (लोहे टोप), फरसा, लाठी, भाला आदिका उल्लेख कविने किया है। प्रभु श्रीरामका स्मरण करके कोई तरकस बाँध रहा है, कोई धनुष चढ़ा रहा है, कोई कवच पहन रहा है, कोई शिरस्त्राण लोहेका टोंप मस्तकपर रख रहा है, कोई अपना फरसा भालाका बाँस सीधा करके ठीक कर रहा है, तलवार चलानेमें चतुर अपनी तलवार ठीक कर रहा है। सब योद्धा ऐसी उमंगमें भरे हैं मानो धरणीको छोड़कर आकाशमें कूदना चाहते हैं।

शा० व्या० : 'जोहारि जोहारी'से ग्रामीणोंके द्वारा प्रचलित 'पाँव लागी' कहकर वन्दनापूर्वक बड़ोंके प्रति आदर प्रकाशनका प्रकार दिखाया है।

पदपंकज-पनहिस्मरणका औचित्य

धर्मशास्त्रने अस्पृश्योंको मन्दिरप्रवेशका निषेध बतलाते हुए उनको मन्दिरके कलशदर्शनका निर्देश दिया है, उसी मर्यादामें सैनिक अपनी आस्था प्रकट कर रहे हैं। प्रभुके चरणकमलतक पहुँचनेमें वे अपनेको अधिकारी न मान प्रभुके पादत्राणतक ही पहुँचनेमें धन्य मानते हुए श्रीरामके प्रति आटविकताका विनय और दीनभाव व्यक्त कर रहे हैं जो उनके लिए कर्तव्य कहा गया है यही भक्तिपन्थ है। उस दृष्टिसे यह आटविकोंका चरित्र प्रभुकृपाका साधक है।

प्रश्न : दृष्टार्थमें यदि यह शंका उठायी जाय कि लक्ष्मणजी सीताजीके साथ श्रीराम विना पनहीं नंगे पैर वनमें गये हैं। आटविकोंको पनहींकी कल्पना कैसे हो रही है?

उत्तर : इसके निरासमें 'पनहीं'का अन्वय अग्रिम अर्धालीसे कहे युद्ध सज्जाके साथ करनेसे विवाद मिट जाता है क्योंकि युद्धको सामग्रियोंमें पादत्राणकी भी गणना संगत है। अथवा जिस आशयसे भरतजी पनहींकी कल्पना करेंगे वैसे ही गुहकी यह कल्पना है जो वहींपर द्रष्टव्य हैं।

संगति : शिवजी कह रहे हैं कि सैनिक सुसज्जित हो गुहके समीप आ पहुँचे। गुहने भी उनका सम्मान किया।

चौ०—निज निज साजुसमाजु बनाई। गुह राउतहि जोहारे जाई ॥७॥
देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने ॥८॥

भावार्थ : उक्त प्रकारसे सज्जित हो अपना-अपना दल बाँधकर सब निषादराजके सामने जाकर उसकी वन्दना करने लगे। निषादराजने सबको सुभट रूपमें देखा उनमें जो योग्य सुभट थे उनका नाम ले लेकर सन्मान किया।

सुखोपगम्यतामें प्राण-समर्पण

शा० व्या० : 'जोहरे'से वर्तमान समयमें सैनिकोंने सलामी देना और 'सनमाने'से सेनानायक या शासनरूढ़ मन्त्रीने सलामी लेनेका क्रम दिखाया है। 'सकल सनमाने'में 'लै लै नाम'से सुभटताके लिए दिया जानेवाला सम्मान वर्तमानमें पदवीप्रदान, पदक आदि समझना चाहिए। राजनीतिमें राजा, सामन्त, सेनापतिके द्वारा सैनिकोंको उक्त रीतिसे सम्मान देनेका विधान है।

संगति : सैनिकोंको सुसज्जित देखकर राजा गुह सबको धीरतामें उत्साहसे बढ़ा रहा है।

दो०—भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।
सुनि सरोष बोले-सुभट बीर अधीर न होहि ॥१९१॥

भावार्थ : राजा गुह सैनिकोंको सम्बोधन करते हुए कह रहा है कि 'हे भाइयों आज बहुत बड़ा काम आ पड़ा है, धोखा मत देना। यह सुनकर वीरतापूर्ण रोषमें व सुभट बोले 'वीर युद्धमें अधीर नहीं होते'[1]।

शा० व्या० : राजसम्बोधन और योद्धाओंके उत्तरमें राजनीतिसम्मत पारस्परिक प्रेम और संघटनका स्वरूप दिखाया गया है।

संगति : 'लावहु धोख जनि'के उत्तरमें सुभट वीरतोचित अनुभावको प्रकटकर रहे हैं।

चौ०—रामप्रताप नाथ! बल तोरे। करहिं कटकु बिनभट बिनुघोरे ॥१॥
जीवत पाउ न पाछे धरहीं। रुंड-मुंडमय मेदिनि करहीं ॥२॥

भावार्थ : 'हे नाथ! श्रीरामजीके प्रतापसे और आपके बलसे शत्रुसेनाको योद्धा एवं घोड़ोंसे विहीन कर देंगे। जीतेजी हम लोग पीछे पैर नहीं रखेंगे। रणभूमिको शत्रुके शिरस् और धड़से भर देंगे।

संगति : युद्धके तयारीमें वाद्य बजानेका शासन दे रहा है।

चौ०—दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाउ ढोलू ॥३॥

भावार्थ : निषादके राजाने अपने सैनिक दलोंको रण-उत्साहित देखकर लड़ाईका बाजा बजानेकी आज्ञा दी। रणभेरीका उपयोग सैनिकोंको सन्नद्ध करने एवं रणोत्साहमें उत्तेजित करनेके लिए है।

संगति : दैवानुकूल्यका विचार करते हुए वृद्धजन वृद्धसेवी गुहको पूर्वोत्तर पक्ष समझा रहे हैं। जो प्रतिवन्धकका निरासक है।

चौ०—एतना कहत छीक भइ बाँए। कहेउ सगुनि अन्हि खेत सुहाए ॥४॥
बूढ़ एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी ॥५॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं ॥६॥

---

१. सुनिच्छिद्रं वलं व्यूह्य द्विषतोऽभिमुखं व्रजेत्। का० नी० १९
विख्यातपौरुषो जन्यः कुशलः कुशलैर्वृतः॥ नी० स० ४

भावार्थ : युद्धका कार्यक्रम बनानेके अन्तर्गत निषादराजके 'बजाउ' कहते ही वायीं ओर छींक हुई। उसी समय शकुनका विचार करनेवालोंने कहा कि रणक्षेत्र शोभनीय होगा। उनमें दूसरे वयोवृद्धने शकुनका विचार करके कहा कि भरतजीसे मेल होगा युद्ध नहीं होगा, भरतजी श्रीरामको मनाने जा रहे हैं। सगुन ऐसा कह रहा है कि कोई लड़ाई या विरोधकी सम्भावना नहीं है।

शकुन (निमित्त) विचारमें वृद्धानुशासन

शा० व्या० : बायी ओरकी छींक शुभसूचक मानी जाती है। 'खेत सुहाए'का भाव है कि रणक्षेत्रमें विना लड़ाई हुए काम बन जायगा। 'बूढ़ एक'से शकुन विद्याके वयोवृद्ध विचारकका उल्लेख किया है। वह निषादराजका नीतिकुशल वृद्ध मन्त्री हो सकता है। अथवा राजनीतिशास्त्रोक्ति ('वने वनचरा कार्याः श्रमाणटविका जनाः')के अनुसार ऐसी कल्पना हो सकती है कि रघुवंशी राजाका वह वृद्ध चर हो, अपने चरस्वरूपको छिपाते हुए भरतजीके आनेका स्पष्ट हेतु न कहकर शकुनके माध्यमसे चरकार्य कर रहा हो। इस चरकार्यका उद्देश्य भरतयात्रामें विघ्न-बाधाको हटाकर यात्राका मार्ग प्रशस्त करना है।

निमित्तफलके विचारमें शकुनशास्त्रियोंका मत है कि शकुन व अपशकुन कार्यकी सफलता या असफलताका द्योतक है। उनमें शुभनिमित्त होगा तो कार्य सफल होगा अन्यथा कार्य असफल होगा। इस प्रकार उपर्युक्त चौपाइयोंमें अदृष्ट विचारकके मतसे शकुनका फल कहा गया है।

राजनीतिके निर्देशानुसार दोनों पक्षोंमें होनेवाले शकुन-अपशकुनको देखते हुए सामदानादिके समुचित प्रयोगकी असफलताके अनन्तर ही युद्धका निर्णय करना चाहिए[1]। प्रथमतः नीति शास्त्र जयोपायके लिए उपायचतुष्टयके अन्तर्गत दृष्टोपायभूत सामका प्रयोग बताता है। उसीको गुह कार्यन्वित करेगा।

संगति : शकुनसे कार्यकी सफलता जानकर नीतिसम्मत दृष्टोपाय सामको अपनाना गुहकी नीतिमत्ता है जिसको कवि अग्रिम ग्रन्थमें प्रस्तुत कर रहे हैं। अथवा लक्ष्मणजीके द्वारा चौ० ६ दो० ९३ में उपदिष्ट, सेवाभक्तिको समझा रहे हैं।

चौ०—सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा ॥७॥
भरत-सुभाउ-सीलु बिनु बूझे। बड़ि हित हानि जानि बिनु बूझे ॥८॥

भावार्थ : निषादराजने कहा कि वृद्ध ठीक कह रहे हैं मूर्ख लोग एकाएक विना विचारे काम करते हैं तो पछताते हैं। भरतजीका स्वभावशील बिना समझे लड़ना, बड़ा अहित जान पड़ता है।

गुहमें वृद्धसेवित्व गुण

शा० व्या० : 'नीक कह बूढ़ा'से गुहमें शास्त्रोक्तवृद्धोपसेवित्व गुण प्रकट

---

१. सामादीनामुपायानां त्रयाणां विफले नये विनयेन्नयसंपन्नो दण्डं दण्डयेषु दण्डवित्। का. नी. १९

किया गया है। इस गुणका परिचय गुहको लक्ष्मणचरित्र ('प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी') के अनुगमनसे हो चुका है। वृद्धोपसेवा यही है कि विद्यावृद्धकी बातको मानना है अपनी बुद्धिमानीका गर्व नहीं करना चाहिए यही रामभक्तिका फल है। ज्ञातव्य है कि एक ओर 'सहसा करि पछिताहिं विमूढ़ा'का विवेक कराकर गुहको भरतजीके प्रति सक्रिय विरोध करनेसे उपरत कराया। दूसरी ओर चित्रकूटमें बैठे प्रभुने अपने चिन्तन (संकल्प) ('धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी')से सेवक भरतजीकी विघ्नबाधाको दूर किया है।

अविमर्श

बिना ठोस युक्तिके कोई निर्णय करना अविमर्श है जिसको 'सहसा करि' कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि बिना ठोस युक्ति अर्थात् सबल (व्याप्ति-पक्षधर्मता)हेतुके बिना भरतमें कुटिलमतिमत्त्वका निर्णय करना मूढ़ता होगी।

आटविकका भक्तिधर्म

नीतिशास्त्रके अनुसार यहाँ स्वभावका अर्थ जन्मजात गुण और शीलका अर्थ अर्जित गुण समझना है। आटविकोंके लिए कहे अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार वनमार्गस्थ पथिकोंके स्वभाव-शीलको जानकर उनके साधुत्वासाधुत्वकी परीक्षा करके व्यवहार करना समझाया है। चोर-डाकुओं या अनधिकृत व्यक्ति सीमाका अतिक्रमण करनेवाले हैं उनके साथ मारकाट या लूटपाटका व्यवहार आटविकोंके लिए विहित माना गया है। वनप्रान्तमें आटविकोंकी नियुक्ति इसी कार्यके लिए है। इस कार्यको करते उनको सावधानी यही रखनी है कि किसी साधुपुरुषके साथ कोई दुर्व्यवहार या पीड़ा-दायक कार्य न हो। इस दृष्टिसे वनाधिपति गुहके लिए राज्यरक्षणमें परीक्षाका अवसर उपस्थित है।

संगति : निषादराजाकी नीतिकुशलताको कवि प्रकट कर रहे हैं।

दो०—गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र-अरि-मध्यगति तस तब करिहउँ आइ ॥१९२॥

भावार्थ : 'सब योद्धा संघटित होकर घाटोंकी रखवाली करते रहें। मैं जाकर शत्रुपक्षसे मिलकर उनका मर्म समझता हूँ। उनकी गतिविधिसे मित्र, शत्रु और उदासीनकी स्थिति समझकर आता हूँ तब जैसा उचित होगा वैसा करूँगा।'

नयकुशलता

शा० व्या० : 'मरम'से शत्रुदलके छिद्रका पता लगाना है। 'बूझि मित्र अरि मध्य गति'का अर्थ है कि उपकारित्व (मित्रभाव) होगा तो मेल करना है, अपकारित्व (शत्रुभाव) होगा तो युद्ध करना है। दोनों नहीं है तो उदासीन रहना होगा। अभी प्रकाश-युद्धको प्रकट नहीं करना है, इसलिए सैनिकोंको छिपे रहने और सावधान रहनेको कहा गया है।

संगति : दो० १११में गुहको घर लौटानेमें 'राम रजायसु' कहा था उसका प्रयोजन यहाँ ग्रन्थकार प्रकाशित कर रहे हैं। अथवा जिस प्रकार राम-सखाके रूपमें गुहकी शुचिता अयोध्यावासियोंके बीच गुरु वसिष्ठजीके द्वारा प्रकट कराना इष्ट है, उसी प्रकार भरतजीकी शुचिताका परिचय कराकर गुहके द्वारा उनको निर्विघ्न प्रभुके पास पहुँचाना इष्ट है जैसा उक्त दोहेमें वर्णित है। अतः परीक्षाका उपक्रम कर रहे हैं।

चौ०—लखब सनेहु सुभायँ सुहाएँ। बैरु प्रीति नहिं दुरइ दुराएँ ॥१॥

भावार्थ : मैं (गुह) भरतजीके प्रेम और स्वभावकी शोभनीयताकी परीक्षा करूँगा क्योंकि वैर या प्रीति छिपानेसे नहीं छिप सकती।

गुहका परीक्षकत्व

शा० व्या० : पूर्वोक्त दोहेमें 'बूझि मित्र अरि मध्य गति'की व्याख्यामें कहा गया है कि आटविकोंका राजा अभ्यागतके साधुत्व-असाधुत्वकी परीक्षा करनेमें कुशल है। इसलिए भरतजीके स्नेह स्वभावकी वास्तविकताको जान लेनेमें वह विश्वास प्रकट कर रहा है। आटविक-आचारको कार्यान्वित करते हुए परीक्षा करते समय उसके अनुभवसे शत्रु या मित्रभावको कोई छिपा नहीं सकता।

पवित्रोंके परीक्षणमें सरलता

राजनीति पतिव्रता या सतीके चरित्रका पता लगानेके लिए चरोंकी नियुक्ति अपेक्षित नहीं मानती क्योंकि उनकी पतिव्रतता एवं सच्चरित्रता स्वाभाविक है, उसमें दम्भ-कपट नहीं है। इसी प्रकार 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथु पगु धरइ न काऊ'के अनुसार निषादराज रघुवंशियोंकी सहज शुचिताको जानता है। इस जातिगत स्वभावको समझकर गुह भरतजीके सम्बन्धमें 'बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराएँ' कह रहा है। ध्यातव्य है कि कौसल्या माताजी एवं गुरुजीके समक्ष भरतजीकी उपधाशुद्धिके प्राकट्यमें पारस्परिक सम्बन्धको उपाधि मानकर उनपर पुनरपि शंकित अशुचिताकी कल्पनाका परिहार निरपेक्ष आटविकोंके परीक्षण द्वारा कराकर भरतजीकी शुचिताको अयोध्यावासियोंके बीच प्रकट कराना ग्रन्थकारको इष्ट है।

संगति : शकुन-फलमें कहे ('सकुन कहइ अस बिग्रह नाहीं' से) प्रतिषेधका उपसंहार 'अस कहि'से शिवजी कर रहे हैं।

चौ०—अस कहि भेंट सजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे ॥२॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥३॥

भावार्थ : ऐसा कहकर गुह भरतजी व उनके समाजके लिए भेंट सजाने लगा। भेंटकी वस्तुओंमें कन्द, मूल, फल, पक्षी, मृग, पुष्ट मछलियाँ व पुरानी पाठीन जातिकी मछलीको मँगवाया। इन सब वस्तुओंको कहार लोग भार भर-भर कर लाने लगे।

उपहार

शा० व्या० : भरतजीके साथ चलनेवाले समाजमें ब्राह्मण, मुनि, शाकाहारी मांसाहारी आदि सभी प्रकारके वर्ग हैं, इसीलिए कंदमूल फल पशु-पक्षी और मत्स्यका उल्लेख है।

संगति : शुभ शकुनमें गुह विश्वस्त हो आगे बढ़ रहा है।

चौ०–मिलन साजु सजि मिलन सिधाए। मंगल मूल सगुन सुभ पाए ॥४॥

भावार्थ : भेंटका सब समान सजाकर निषादने भरतजीसे मिलनेके लिए ज्योंही प्रस्थान कियां। उसी समय मंगलसूचक शुभ शकुन दिखायी पड़े।

कार्यसिद्धिका चिह्न

शा० व्या० : प्रभुकृपाका अवलम्ब लेकर चलनेवाले भक्त भरतजीके लिए अदृष्टकी अनुकूलता गुहके शुभ शकुनके दर्शनसे सूचित हो रही है। भक्तमिलनकी प्रतीति करानेके लिए स्वयं प्रकृति प्रसन्ना होकर 'मंगल सगुन'के रूपमें प्रस्फुटित होती है।

संगति : प्रथमतः गुरुजीसे भेंट होनेसे युद्धाभावको सोचकर गुह उनको प्रणाम कर रहा है।

चौ०–देखि दूरि तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दण्डप्रनामू ॥५॥

भावार्थ : दूरसे ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको देखकर गुहने अपना नाम वताकर उनको साष्टांग दण्डवत् नमस्कार किया।

शा० व्या० : रघुवंशके पुराण पुरुषोंके कालसे ही चले आते वसिष्ठ मुनिसे गुहका परिचय होना स्वाभाविक है। उसने गुरजीको दूरसे ही पहचान लिया। पहले कहा जा चुका है कि गुरु वसिष्ठजी सबके आगे चल रहे हैं इसलिए गुहने सर्वप्रथम उनको देखा।

गुरुदर्शन व गुहका विनय

विप्रवरोंके आगे निम्न वर्गने निरभिमानिताको वनाये रखनेके लिए दूरसे अपनेमें ग्लानिका अभाव और अपनी जाति और नामका उच्चारण करते हुए नतमस्तक हो प्रणाम करना या दण्डवत् करना शिष्टाचार (भक्ति-विनय) है। वर्णाश्रमोचित आचारका पालन करनेमें सात्त्विक सत्यका यह प्रभाव है।

चौ०–जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥६॥

भावार्थ : मुनिने गुहको श्रीरामका प्रियपात्र जानते हुए आशीर्वाद देकर भरतजीको गुहका परिचय समझाया।

शा० व्या० : अग्रिम चौ० ७में 'राम सखा सुनि'से मालुम होता है कि गुहके परिचयमें गुरुजीने भरतजीको वताया होगा कि यह श्रीरामका सखा है। 'राम प्रिय'से गुहकी शुचिता, शील, सेवकाई गुरुजीको ज्ञात है क्योंकि चौ० ४ दो० १४१में

रामस्मृतिविषयतासे भरतजीके 'सनेहु शीलु सेवकाई'को स्फुट करके उसकी पुष्टि चौ० ३ दो० २१७में कविने की है।

सन्तोंके आशीर्वचनकी अमोघता

ऋषियोंका वाक्य अमोघ होता है, इसलिए कि उनके आशीर्वचनमें प्रमाद नहीं होता। गुहको रामप्रिय कहकर वसिष्ठमुनिके आशीर्वादकी यही सफलता है कि गुहकी शंकाएँ दूर होंगी और गुह श्रीरामके सुहृत् सखाके रूपमें यात्राकी सफलतामें भरतजीके लिए सहायक सिद्ध होगा।

गुहकी रामप्रियताका परिचय

प्रश्न : गुरु वसिष्ठजीने गुहको रामप्रिय कैसे जाना ?

उत्तर : इसके उत्तरमें कहना है कि 'कहेउ बुझाइ'से मुनिने समझाया होगा कि निषादराज अयोध्यापतिका मित्र राजा है। इस नाते उसका अयोध्यामें आना-जाना रहा होगा। इसलिए परस्परमें परिचित होना युक्तिसंगत है अथवा त्रिकालदर्शीका अपना दर्शन भी प्रमाण है उसीसे गुहकी रामप्रियता सिद्ध है। राजनीतिके अनुसार सुमन्त्र द्वारा कहे सन्देशमें 'केवट कीन्ह बहुत सेवकाई'से भी गुहकी रामप्रियता ज्ञात है।

सुमन्त्रका अवधमें निवास

भरतयात्रामें सुमन्त्रका कहीं उल्लेख नहीं है। इससे कल्पना होती है कि प्रभुके आदेश 'सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे' तथा अन्तमें कहे 'जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हे। मेटि जाइ नहिं राम रजाई'के अनुसार सुमन्त्र अयोध्यामें ही रहे होंगे और 'सौंपि नगर सुचि सेवकनि'से भरतजी द्वारा प्रेरित सुमन्त्र अयोध्याके रक्षणात्मक ('राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती'को) प्रभुसेवाको यथार्थ करनेमें तत्पर रहे होंगे।

सन्तोंका भद्रता गुण

राजनीतिके अनुसार राजासे मिलनेवालेकी सद्भावना व शुचिताकी परीक्षा पहले मन्त्रीद्वारा होना उचित है। इसलिए गुरु वसिष्ठजी द्वारा गुहका परिचय कराना नीतिसंगत है। अपने नामका उच्चारण कर विनीतभावमें परिचय देनेमें गुहकी कोई प्रतारण नहीं है, इसकी परिक्षा गुरुजीके द्वारा हुई है, इसमें वसिष्ठ मुनिका भद्रता-गुण प्रकट किया गया है। गुरुजीकी उक्ति 'सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई'के अनुसार भरतजीको गुहकी सर्वविध उपधाशुद्धिका परिचय 'रामप्रियजाना'से हुआ है।

सेवकोंका गुणविशेष

प्रभुके भक्त सेवकोंका यही गुण है कि वे अपने जाति, धर्म, नाम, स्वभाव, आचरण आदिको प्रकट करनेमें संकोच या दुराव नहीं करते जैसा सुन्दरकाण्डमें

विभीषण शररणागतिमें कहा गया है (चौ० ७-८ दो० ४५)।

संगति : गुहके 'लखब सनेहु सुभायँ सुहाए'की भावनाके समाधानमें कवि भरतजीकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रदर्शित कर रहे हैं।

चौ०–रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा ॥७॥

भावार्थ : गुहके परिचयमें गुरुजी द्वारा रामसखा सुनते ही भरतजी रथसे उतर पड़े और प्रेममें उमंगित होते हुए चले।

उमगत अनुरागा आदिका भाव

शा० व्या० : प्रियदर्शन जन्य आवेगमें 'उमगत अनुरागा'से भरतजीका स्नेह-भाव प्रकट है। 'संदनु त्यागा'से शील-स्वभाव प्रकट है। 'रामसखा'से भरतजीको गुहकी शुचिताका प्रतिभान होना सहज है।

संगति : भरतजीका चलना ही था कि इतनेमें गुहने अपने प्रणामसे सेवकोचित विनय व्यक्त किया।

चौ०–गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥८॥

भावार्थ : पृथ्वीपर अपना शिरस-टेककर गुहने अपने गाँव, जाति व नामको सुनाकर भरतजीको नमस्कार किया।

नमनकी उपयोगिता

शा० व्या० : अपना परिचय देनेमें नाम-गोत्रादिका उच्चारण करना अर्थ-शास्त्रोक्त लेखशासनसे सम्मत है। भरतजीके 'सनेहु सुभायँ'की परीक्षाकी दृष्टिसे कहा जा सकता है कि कवि गुहके नमनसे व्यक्त करना चाहते हैं कि गुहका नीतिसंगत विनय भी स्पष्ट हो जाय और नीचजाति व नामको सुनकर भरतजीके स्नेहभावमें कोई प्रतारणा हो तो प्रकट हो जाय।

संगति : भरतजीके व्यवहारमें कहींसे भी स्नेहभावमें प्रतारणा प्रकट नहीं हुई।

दो०–करत दण्डवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहु लखनसन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ ॥१९३॥

भावार्थ : गुहको दण्डवत करते देख भरतजीने उसको हृदयसे लगा लिया। भरतजीको ऐसा आनन्द मिला मानो लक्ष्मणजी मिल गये हों। उनका प्रेम मनसमें समा नहीं रहा है। (इस दोहेमें वर्णित विषयका समन्वय चौ० ३ दो० १९६से है।)

गुहको 'लखन सन' कहनेका भाव

शा० व्या० : 'लखन सन'का भाव कवि (शिवजी) एवं भरतजीकी दृष्टिसे मननीय है।

कविकी दृष्टिसे गुह और लक्ष्मणजीका साधर्म्य 'लखन सन'में विवेचनीय है। जिस प्रकार दो० ७५में 'बागुर विषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भागबस'के अनुसार विषयवन्धनसे छूटकर श्रीराम-सेवाकी प्राप्तिमें लक्ष्मणजीने अपना भाग्य समझा उसी

प्रकार चौ० ५-६ दो० ८८में परिवारसहित अपने नीचजाति शरीरको प्रभुसेवामें समर्पित करते हुए गुह अपनेको 'भागभाजन' मानता है। प्रभुसेवाके उद्देश्यसे प्रवृत्त दोनोंके मानसमें भरतविरोधिनी कल्पना जागृत हुई—गुहके मनस्में 'जौ पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई'को लेकर युद्धकी उत्तेजना हुई, लक्ष्मणजी राजमदकी शंकाको लेकर भरतजीसे युद्ध करनेमें तत्पर हुए। युद्धसे विरत करानेमें गुहको वृद्धका वचन सहायक हुआ, लक्ष्मणजीको आकाशवाणी द्वारा संकेत हुआ। भरतजीकी परीक्षामें 'लखबि सनेहु सुभायँ'का समाधान गुहको भरतमिलनसे हो गया, लक्ष्मणजीको भरतजीमें 'राजमद'का समाधान प्रभुके वचनसे हुआ।

भरतजीकी दृष्टिमें 'लखनसन'का भाव लक्ष्मणजी और गुहमें श्रीराम-सेवाकी एकरूपताको देखना है। लक्ष्मणजीके सेवकत्वमें भरतजीकी आस्था पूर्वानुस्यूत है। गुरु वसिष्ठजीसे गुहके सम्बन्धमें 'रामप्रिय रामसखा' सुनकर भरतजीकी शुचिमतिमें गुहका निश्छलशुचिताप्रयुक्त सेवकत्व प्रतिभात हुआ। वही प्रातिभप्रत्यक्ष 'मनहुँ लखन सन भेंट भई'से स्पष्ट किया है। सन्तकी यही विलक्षणता है कि वह उसीको अपनायेगा जो शुचि होगा। अतः परम सन्त भरतजीसे मिलते ही गुहकी शंका समूल नष्ट हो गयी, इतना ही नहीं, गुह परीक्षणादिका भाव भूल गया। परीक्षार्थ आया गुह स्वयं भरतजीके मिलनेसे शुचित्व-परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया।

बालकाण्डके प्रारम्भमें भक्तिकी स्थापनामें ग्रन्थकारने साधुसमाजकी महिमाका जो गान किया है उसका विचार यहाँ प्रयोजनीय है। 'तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धं'की परिभाषाको याद करते हुए कहना है कि अयोध्यावासी समाज 'साधुसमाज प्रयाग' स्थानीय है जिसके नायक अलौकिक सन्त भरतजी हैं। जिनके आश्रयसे रामभक्ति-सुरसरिधाराका प्रवाह हो रहा है जिसमें 'मुदित मन जन मज्जहिं अति अनुराग'का स्वरूप दृष्टिगोचर होता रहेगा। 'मज्जन फल पेखिअ तत्काला काक होहिं पिक बकउ मराला'के अनुसार काक-बगुला-वृत्तिका आचरण करनेवाला चौर्यधर्मावलम्बी गुह भरतजीसे मिलकर उनकी भक्तिके प्रभावसे तत्काल शंकानिवृत्त हो पिकके समान मधुर विनीत वचन बोलनेवाला एवं मरालके समान शुद्ध विवेकसम्पन्न हो गया जिसका प्रकाशन गुहचरित्रमें दिखाकर ग्रन्थकार उसके स्नेहशील सेवकाईको प्रकट करेंगे।

दो० १४१के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रभु भरतजीके 'सनेहु सील सेवकाई'का स्मरण करते रहते हैं। उसीका प्रभाव है कि भक्त भरतजीकी प्रतिभामें यथार्थदर्शन होता है। यदि भरतजी नीतिका सहारा लेकर गुहकी परीक्षामें प्रवृत्ति रखते तो रामभक्तिकी छत्रछायामें 'सहज सनेह बिबस रघुराई' (चौ० ४ दो० ८८) 'सहज सनेह राम लखि तासू' (चौ० ९ दो० १०४)से गुहके प्रति प्रभु द्वारा स्थापित प्रेमकी मर्यादाको सुरक्षित रखनेमें वेद एवं भक्तिमर्यादाकी सार्थकता न होती जो 'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई। सो जानब सतसंग-प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ'के विरुद्ध होता। इस दोषकी प्रसक्ति दूर होनेसे गुह-भरत-मिलन मंगलमूल है।

'पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'के अनुसार गुहकी कही 'भाग भाजनता' तथा 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'के अनुसार रामकृपाप्राप्तिने गुहको मुनि वसिष्ठके मधुरदृष्टिका विषय बनाया है। अतः वह सन्तमिलनका पात्र है जो 'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा'में ध्वनित समझना चाहिए। गुहकी शुचितामें कार्यकारण-भावका विचार करते हुए सन्तकी स्निग्धादृष्टिका जो विषय होगा वह शुचि होना ही चाहिए इस वक्ष्यमाण व्याप्तिको ध्यानमें रखकर कहना है कि 'देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ'से गुहनेसन्त भरतजीकी स्निग्धादृष्टिका विषय होना उसकी शुचिताका अनुमापक है। गुहके सहज स्नेहका निर्णायकत्व 'राम लाइ उर लीन्हा'से स्पष्ट है जिसको गुरु वसिष्ठजीने 'रामप्रिय राम सखा'से स्फुट किया है।

संगति : 'भरत लीन्ह उर लाइ'से नीच जाति गुहकी शुचिता और अशुचिताका यथोचित समाधान प्रभुभक्तिकी छत्रछायामें वैदिक एवं नैतिक मर्यादासे समन्वित करनेके लिए शिवजी बीचमें ही दोनोंके प्रीतिकी अतिशयिततामें शुचित्वाशुचित्वके स्वरूपको समझा रहे हैं।

चौ०—भेंटत भरत ताहि अतिप्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती ॥१॥
धन्य धन्य धुनि मंगलमूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला ॥२॥

भावार्थ : अत्यन्त प्रेममें भरकर भरतजी गुहका आलिंगन कर रहे हैं। प्रेमकी इस रीतिको देखकर सब लोग प्रशंसा कर रहे हैं। धन्य-धन्यकी मंगलकारक ध्वनि गूँज रही है। देवता उसकी सराहना करते हुए पुष्पवर्षा कर रहे हैं।

गुह-मिलनमें भरतजीकी अतिप्रीति

शा० व्या० : भरतजीकी 'अतिप्रीति'में 'उमगत अनुरागा' तथा 'प्रेमु न हृदय समाइ'का योग दिखाया है। गुहके परिचयमें 'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा'की सार्थकताको 'अतिप्रीति'से स्पष्ट किया है जिसमें प्रीत्याभासकी कल्पनाको कोई स्थान नहीं है। अतिप्रीतिका मूल रामप्रियत्व है जिसका आस्वाद लेते हुए भरतजीको ईशभक्तिकी छत्रछायामें गुहकी जाति वर्ण, शरीरकी स्पृश्यता आदि नीतिशास्त्रके अनुसार ग्राह्य हो रही हैं तथा उसी भानमें 'षाड़वरस'के समान स्वाद्य हो रही है।

प्रीतिका संक्रमण

'प्रेम कै रीति'से भरतजी और गुहकी उपधाशुद्ध प्रीतिका अभिनय दिखाया है जिसमें नैतिक अस्पृश्यता समाप्त है जैसा कि चौ० ४-५ दो० १९५में द्रष्टव्य है। शुद्ध प्रीतिके संक्रमणसे भावापन्न अयोध्यावासी व वनवासी दोनोंकी सराहना कर रहे हैं। देवताओंके धन्यवाद एवं पुष्पवर्षासे कवि भरत-गुह-मिलनका औचित्य सूचित कर रहे हैं अर्थात् निश्छल व निष्काम सेवासे प्रसन्न श्रीरामकी प्रीतिका भाजन होकर नीच-जाति सर्वोपधाशुद्ध गुह भक्त भरतजी द्वारा दृश्य रूपसे निस्संकोच अनुगृहीत हो रहा है, ऐसी घटना देवलोकमें भी देखनेको नहीं मिलती।

प्रीतिकी मंगलमूलता

भरत-गुह मिलनकी मंगलमूलता यही है कि प्रभुकी प्रसन्नतामें गुहकी नैतिक उपधाशुचिता मुनिवसिष्ठजी व अयोध्यावासिसमाज द्वारा परिगृहीत होगी (चौ० ५ दो० २४४), भरतजीके साथ सब समाजकी रामदर्शन-लालसा पूर्ण होगी, पिताश्रीका वचनप्रामाण्य सुरक्षित रहेगा, वनवास सफल होगा, सीताजी व लक्ष्मणजीके साथ श्रीरामजीका सकुशल अयोध्यामें प्रत्यागमन होगा। राजनीतिक दृष्टिसे मंगल यही है कि सम्पूर्ण गुह जातिकी मित्रता होगी, गुहकी उग्रताको शमन करनेमें भक्त (भरतजी)का सामप्रयोग सफल होगा; यात्रा निर्बाध होगी।

न्यूनतापरिहार

भरत-गुह मिलन-प्रसंगमें यह प्रश्न उठ सकता है कि यहाँ वसिष्ठ मुनि द्वारा गुहका आलिंगन न दिखानेसे क्या ग्रन्थकी न्यूनता कही जायेगी? इसका उत्तर चौ० ६ दो० २४३में 'रामसखा ऋषि बरबस भेंटा'की व्याख्यामें द्रष्टव्य होगा।

संगति : गुहकी नैतिक सम्मानना व शुचिताकी प्रतिष्ठापर 'सुर सराहि'में देवोंका विचार (सन्तमिलन हेतुक अनुमान) शिवजी व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥३॥
तेहि भरि अंक रामलघुभ्राता। मिलत पुलकपरिपूरित गाता॥४॥

भावार्थ : लोकमें तथा वेदमें निषादको जाति-वर्ण-शरीरकी दृष्टिसे नीच या अधम माना गया है। उसकी छाँहभी छू जावे तो स्नानद्वारा प्रायश्चितसे शुद्धि होती है। ऐसे अस्पृश्यको भी श्रीरामके छोटे भाई भरतजी बाहोंमें भरकर आलिंगन कर रहे हैं। प्रेममें उनका शरीर रोमांचित हो रहा है।

लघुभ्राताका गौरव

शा० व्या० : 'रामलघुभ्राता'का गौरव चौ० १-२ दो० १८१की व्याख्यामें स्पष्ट है। गुहसे मिलनमें भरतजी के प्रेमके अभिनयकी वास्तविकताको 'पुलक परिपूरित गाता'से स्पष्ट किया है।

नीतिदृष्टिसे नीचजातिके शुचित्वका विचार

पूर्वपरंपरागत असंकीर्ण वर्णाश्रम व्यवस्था वेदशास्त्रोंमें बतायी गयी है। 'लोक'से वर्णाश्रमसमाज विवक्षित है। वेदको प्रमाण मानकर उक्त समाज सर्वोपधामें अशुद्ध आटविक जातिमें उत्पन्न गुहकी जातिस्वभाव, खान-पान, रहन-सहन, शारीरिकगुण आदिको प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे तमःप्रधान मनोवृत्तिक समझकर निषाद जातिको अशुचि मानता है, उसमें भ्रान्ति नहीं है। अशुचि-संसर्ग हो जाय तो उसका परिहार शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त (स्नानादि) से दूर करनेमें वर्णाश्रमी प्रवृत्त होते हैं, इसलिए कि नीतिसारकी उक्ति ('प्रकृत्या अधार्मिकाः लुब्धाः अनार्याः सत्यभेदिनः')के

अनुसार निषाद आटविक हैं, उनमें जातिगत, देहगत, जन्मान्तरीय संस्कारगत एवं नीतिगत अशुचित्व जन्मसिद्ध है। इसीलिए राजनीतिमें उनको पुरसमाजसे दूर कर्मान्तिक्षेत्र (वनप्रान्त)में रखनेका विधान है। किन्तु ध्यातव्य यह है कि जाति, शरीर, कर्म, नीति आदि भेदसे अशुचित्त्वके कई भेद हैं। केवट-प्रसंगमें स्पष्ट होगा कि स्वधर्म-मर्यादामें राजशासनका पालन करनेवाले केवटमें तमःप्रधान नीतिविरोधी संस्कार लुप्त हैं। इसी प्रकार गुहकी रामप्रियतामें त्रयी एवं नीतिमर्यादाके पालनके फलस्वरूप उसकी नैतिकशुचिताका आदर यहाँ प्रकट किया गया है।

सिद्धान्तरूपमें कविकी उक्ति 'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा' अथवा गुहकी स्वीकारोक्ति 'लोक बेद बाहेर सब भाँती'से स्पष्ट किया है कि अशुचिजातिमें उत्पन्न गुहमें अशुचिता किस अंशमें कैसी है ? इसके निरासका निर्णय ईशभक्तिकी छत्रछायासे हटकर वेदवचनोंसे संभव नहीं हो सकता, इसलिए वेदमान्य प्रभु या शिवजीके द्वारा ही निष्कामभक्ति (स्वकुलोचितधर्म)के आधारसे शुचिताका निर्णय होनेपर वह मान्य हो सकती है। बा० का० चौ० ८ दो० ११४में शिवजीसे कहे पार्वतीके वचन 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना'के अनुसार कहना है कि वेदशास्त्रोंने श्रीरामके प्रभुत्वको मान्यता दी है। अतः श्रीरामके प्रभुत्वके बलपर गुहकी शुचिताकी नीतिमें मान्यता मानी जायगी जिसकी पुष्टि देवोंने 'धन्य-धन्य धुनि मंगलमूला। सुर सराहि तेहि बरसहिं फूला'से की है। गुहकी शुचिताकी लोक-मान्यता 'भेटत भरतु ताहि अति-प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेमके रीती'से समझाकर कविने स्पष्ट की है। इसमें युक्ति यह कही जायगी कि 'यत्र-यत्र शुचि महात्मनः कृपया आलिंगनं स स नैतिक शुचितावान्' सारांश यह है कि राजनीति-क्षेत्रमें अस्पृश्यमें नैतिक अशुचिताका अभाव परीक्षित हो जाय तो अर्थशास्त्रानुसार उसका स्पर्श नीतिमें लोकव्यवहार्य कहा गया है। आटविकों का राजा गुह अयोध्यापतिका मित्र है, शुचि है। अतः मित्रताकी दृष्टिसे भी श्रीराम व भरतजी द्वारा मित्र राजाका आलिंगन उचित है। भक्तिदृष्टिसे सेवक भरतजी द्वारा गुहके आलिंगन-स्पर्शका विवेचन आगे किया जायगा।

संगति : कर्महीन होने पर भी नैतिक कर्मकर्ता यदि रामशरणागत हो नीत्युचित धर्मका अनुष्ठाता है तो भक्तिशास्त्र प्रभुत्वसे रामनाम-कीर्तनको उसकेनैतिक या पारलौकिक शुद्धयर्थ प्रायश्चित्तरूपमें पर्याप्त मानता है, यह समझानेके लिए कवि आगे कह रहे हैं। अथवा सत्संगति औरईशकृपाकी व्याप्तिको कार्यकारणभावके आधारपर समझा रहे हैं।

चौ०—राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पापपुंज समुहाहीं ॥५॥
यह तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुलसमेत जगु पावन कीन्हा ॥६॥

भावार्थ : जम्हाइ भी लेते हुए जो राम राम कहते हैं, उनको पापोंका समूह नहीं घेरता। इसको (गुहको) तो प्रभु रामने हृदयसे लगाया है, इसलिए उसने अपने कुलके साथ संसारको भी पवित्र किया है।

कीर्तनकी प्रायश्चित्तता

शा० व्या० : सर्वसाधारणके लिए पापसे निवृत्ति एवं सद्गति प्राप्त करनेके लिए स्वधर्माचरण ही अनुष्ठेय है। ऐसे घोर पातकी जो पापपुंजके प्रभावसे कोइ विधिका पालन नहीं कर सकते अथवा जिनके पापोंका प्रायश्चित वेदशास्त्रोंमें नहीं है, वे अपने पापोंकी ग्लानिमें स्वकुलागत जीविका व धर्मको निष्कपट भावसे इतिकर्तव्यताके रूपमें अपनाते हुए प्रायश्चित करनेके लिए यदि उतारू हों तो सब ओरसे अपनेको निराश्रित और उपेक्षित पाकर तमोगुणप्रयुक्त आलस्यमें कथंचित् जम्हाईके समयमें स्वभावतः मुख खुलनेपर भी रामनामोच्चारणका सहारा लें तो रामनामके प्रभावसे उनके पाप कट सकते हैं। 'जमुहाहीं'का भाव है कि पापोंके प्रभावसे नामोच्चारण या नामजप करनेमें ऐसे पापियोंकी प्रवृत्ति संभव नहीं है, अपितु पापप्रयुक्त आलस्यमें जम्हाइ लेते नाम कहेंगे। सुन्दरकाण्ड चौ० १ से दो० ४४ में विभीषणशरणागतिके प्रसंगमें प्रभुकी वाणीमें यह विषय स्पष्ट है। बालकाण्डके नाममहिमाप्रकरणमें ग्रन्थकारने 'भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ'से इस विषयका उपक्रम किया है।

'राम लाइ उर लीन्हा'से स्पष्ट किया है कि प्रभुने गुहकी अधम जन्मजात नैतिक अशुचिता (प्रकृत्या अधार्मिकाः लुब्धाः अनार्याः सत्यभेदिनः) दोष निरस्त मसझाते हुए राजनीतिक शुचिताको स्थापित करके गुहको विश्वासार्ह बनाया है। जिस प्रकार आयुर्वेद रोगीके उपचार या परीक्षण हेतुक, अशुचि स्पर्शमें भी वैद्यको स्पर्शदोषी नहीं मानता, उसी प्रकार नैतिक शुचितामें गुहके शरीरगत धार्मिक अशुद्धिमें आलिंगन-स्पर्श प्रतिबन्धक दोष मान्य नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गुहशरीर धर्मशास्त्रसे निर्दिष्ट वर्णाश्रम-मर्यादाका अतिक्रमण करे या नैतिक सम्मानके अतिरिक्त व्यवहारके बारेमें शास्त्रोक्त शुचिताके नियमपालनके कर्तव्यसे अनुशासित न रहे। उदाहरणार्थ कबीर, रविदास आदि उच्चकोटि के सन्त होते हुए भी अपनी जातिवर्णकी मर्यादाका पालन करनेमें प्रभुकृपाका अनुभव करते थे। इसी प्रकार मर्यादाका पालन करते हुए गुह 'राम लाइ उर लीन्हा'के अनन्तर भी वे अपनेको नीच जाति व अधम शरीर कहनेमें संकोच नहीं करता किंबहुना स्वधर्मोचित सेवामें ही कृतार्थता मानता है। 'जग पावन कीन्हा'से गुहके चरित्रकी पावनता दिखायी है जिसका गान करके संसार भक्तिभावान्वित हो हृदयको निर्मल बनायेगा जैसा लंका चौ० ३ दो० ६६में 'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं' कहा है।

प्रभुकृपा व सज्जनदृष्टिका कार्यकारणभाव

चौ० ५ दो० ८८में प्रभुसे कहे गुहके वचनसे 'भयउँ भाग भाजन जन'से गुहकी उक्त योग्यताको स्मरण रखते 'कुलसमेत पावन कीन्हा'की यथार्थता दिखायी है। सेवककी निश्छल सेवाको श्रीरामही समझ सकते हैं। वे जिसपर प्रसन्न हैं उसपर सज्जनोंकी स्निग्धदृष्टि पड़ती है—यह कार्यकारणभाव है। ऐसा होनेसे भरतजीने

गुहको स्निग्धदृष्टिसे देखा है। उसीको 'यह तो' कहकर कविने समझाया है।

भक्तके जन्मसे लाभ

वेदोंमें 'एकत द्वित त्रित'की चर्चामें पिताजीका पाप पुत्रपर, पुत्रका उसके पुत्रपर आदि क्रमसे पापोंका संचय कुलमें होता रहता है।[1] पूर्वज आकांक्षा लगाये रहते हैं कि उसके निस्स्वार्थ कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानी या भक्त उत्पन्न हो तो पूर्वप्राप्त पापपुंजका क्षय हो। कुलमें एक भी ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न हो जाय तो वह कुलका क्रमागत पापपुंजका भार अपने ऊपर लेकर भगवान्‌को समर्पण करके कुलको पापोंसे मुक्त कर देता है।

संगति : गुहकी नैतिक पारलौकिक शुचिताके पुष्टिमें कवि दो दृष्टान्त दे रहे हैं अथवा उपर्युक्त व्याप्तिमें कार्यकारणभावको समझानेके लिए भक्ति शास्त्रके प्रभुत्वको समझा रहे हैं।

चौ०—करमनास जलु सुरसरि परई। तेहो को कहहु सीस नहिं धरई ? ॥७॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्मसमाना ॥८॥

भावार्थ : कर्मनाशा-नदीका निषिद्ध पानी गंगाजीमें मिल जाता है तो कौन उसको पवित्र मानकर शिरस् पर नहीं चढ़ाता ? संसार जानता है कि उलटा नाम जपते-जपते वाल्मीकि ज्ञानी मुनि हो गये।

गुहकी शारीरिक व आन्तरिक शुचिता

शा० व्या० : जैसे कर्मनाशाका जल अस्पृश्य व निषिद्ध माना गया है, पर गंगाजीमें मिलनेपर उसकी अशुचिता समाप्त होकर पवित्र जलके रूपमें ग्रहणीय हो जाता है, वैसे ही नीचजाति गुहका अस्पृश्य शरीर प्रभुके आलिंगनसे नैतिक शुचिताको प्राप्त कर अग्रिम पीढ़िके लिए सबके स्पर्शयोग्य सम्मान व परलोकका अधिकारी हो रहा है। जिसको 'को सीस नहिं धरई'से स्पष्ट किया है कि ऐसा कौन है जो उसका स्पर्श नहीं करेगा ? अर्थात् भरत-शत्रुघ्न ही नहीं, 'बड़ वसिष्ठ समको जग माहीं' (चौ० ८ दो० २४३)के अनुसार वसिष्ठ जैसे महामुनि भी उसको हृदयसे लगा लेंगे। वाल्मीकिजीके दृष्टान्तसे गुहकी आन्तरिक शुचिता स्फुट की है।

बालकाण्डमें नाममहिमाप्रकरणमें ग्रन्थकारने 'वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू'से जो सिद्धान्त निरूपित किया है, उसके अनुसार रामभक्तिको मूल आधार रखकर गुहकी आन्तरिक शुचिता मननीय है। प्रभु श्रीरामके आलिंगनसे गुहकी पावनतामें वेदसम्मतिको प्रकट किया, कर्मनाशा व वाल्मीकिके दृष्टान्तसे इतिहास बताकर पुराणसम्मति स्पष्ट की तथा भरतजीके आलिंगनसे संतसम्मति स्पष्ट की है। सर्वोपरि महामान्य वसिष्ठ मुनिके आलिंगनसे उक्त तीनों सम्मतिकी पुष्टि विद्वत्-सम्मतिके रूपमें आगे प्रकट करेंगे (चौ० ६ दो० २४३)। इस प्रकार गुहकी

---

१. तैत्तरीय ब्राह्मण ३, अष्टक २, प्रश्न ८, अनुवाक् ।

लोकवेद-संमत शुचिताको सुरवाणी द्वारा भी पुष्ट कराया है। इसके उदाहरणमें श्रीमद्भागवतमें उद्धवजी द्वारा स्तुत्य वेदाध्ययनादिमें अनधिकृत स्त्रीशरीर होते भी गोपियोंमें कृष्णभक्तिसमन्वितलोकपूजितत्व कहा है[1]।

कर्मनाशा और वाल्मीकि दृष्टान्तका तात्पर्य

उक्त दोनों दृष्टान्तोंमें स्मरणीय है कि अशुचिताका समूल नाश होकर वाल्मीकिजी 'ब्रह्मसमाना' अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी विप्रवर हो गये। कर्मनाशाका जो जल गंगाजीमें मिला वह पवित्र हुआ, बाकी जल अपवित्र बना रहा। उसी प्रकार गुहका शरीर प्रभुके आलिंगनसे नीतिसम्मानादि योग्य शुचि हुआ, पर उससे गुह जातिकी शुचिता नहीं मानी जा सकती—उदाहरणार्थ हनुमानजीके शुचि एवं पूज्य होनेसे सम्पूर्ण वानरजातिकी शुचिता नहीं कही जा सकती।

गोस्वामी तुलसीदासजी कलिकालमें शुचितापूर्ण वर्णाश्रमोचित महान् धर्म एवं शास्त्रोक्त (कलि वर्ज्य) कर्मोंकी विनष्ट दशाको देखते हुए नीत्युक्त विशेषधर्म व साधारण धर्म कर्मको रामकैंकर्यमें समाविष्ट कराकर शुचिताकी रक्षा करते हुए नामोपासनाका सरल मार्ग उपासकोंके लिए प्रशस्त समझाना चाहते हैं, जिसको कर्मनाशा सुरसरिके दृष्टान्तसे बता रहे हैं। जिस प्रकार सत्यनारायण कथामें सत्यनारायण व्रत बताकर नारदजीने कलिजीवोंके क्लेशनाशक उद्धारका सरल मार्ग प्रकाशित किया। ग्रन्थकारने उक्त उद्देश्यको सारांशरूपमें ग्रन्थके उपसंहारमें दोहराया है अर्थात् 'कलि प्रभाव चहुँ ओरा'की स्थितिमें कर्मनाश होनेपर भी सेवकोंको उद्धार-मार्ग नामोपासना द्वारा 'रामभक्ति सुरसरि धारा'में सुलभ है।

दूसरे दृष्टान्तमें 'ब्रह्मसमाना'से सेवकोंने यह भी समझना होगा कि कलिमें संभाव्य धर्मको अपनाते हुए ब्रह्मपद-प्राप्तिमें अवरोध नहीं है। ज्ञातव्य है कि सन्तोंकी स्निग्ध दृष्टिविषयता प्रभुप्रसादसे सम्भावित है। गुहने स्वकुलोचितमर्यादामें रामकैंकर्य अपनाया है जिसका फल रामकृपा रूपमें प्राप्त है। यह 'राम लाइ उर लीन्हा'से प्राप्त प्रभुकृपाको ग्रन्थकारने गुह-राम मिलनमें गुप्त रखकर भरतजीके आलिंगनके अनन्तर प्रकट करके सन्त-महिमाकी प्रतिष्ठाको रखा है।

संगति : गुहकी जगत्पावनताको सामने रखकर जातिवर्णसे हीन पात्रोंकी पावनतामें रामनामका प्रभाव कवि गा रहे हैं अथवा कर्मनाशाका प्रभाव दिखा रहे हैं।

दो०—स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥१९४॥

---

१. अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः। वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः। श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा। भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥

भावार्थ : श्वपच (चाण्डाल), शवर, खस, यवन जड़ जातियाँ व कोल किरात आदि अधम जातियाँ हैं, पर उनमें ऐसे भक्त हो गये हैं जो रामनाम कहते-कहते परम पावन होकर लोकप्रसिद्ध हो गये हैं।

कर्मनाशा व श्वपचादिमें साधर्म्य

शा० व्या० : उक्त जड़ पामर जातियोंका उल्लेख करनेमें ग्रन्थकारका अभिप्राय कलिजीवोंके मनस्‌का खल-सठ-अघरूप दिखाना है जिसके उद्धारका मार्ग स्वधर्मके इति-कर्तव्यतामें कैंकर्यभावमें रामनामको अपनानेके अतिरिक्त दूसरा कलिमें नहीं है जैसा कि ग्रन्थके अन्तमें उत्तरकाण्डके अन्तिम छन्दमें समासरूपमें वर्णित है।

उक्त अधम जातियोंकी वासनाप्रेरित मति अधर्ममें प्रवृत्त रहती है। आत्मोन्नतिके लिए बताये विधि-विधानमें अनधिकारी होनेसे उनके उद्धारका मार्ग अवरुद्ध है। उनमें कोई पापकर्मसे निवृत्त होनेकी प्रबल आकांक्षा रखें तो उसके लिए राम-नाम एकमात्र सहायक है। शर्त यही है कि नीत्युचित विशेष धर्म व सामान्य धर्मकी इतिकर्तव्यताको रामदासतामें उन्होंने अपनाना होगा। जन्मान्तरीयसंस्कारगत वासनाओंसे विकर्मकी ओर प्रवृत्त होते समय उससे उस व्यक्तिको रोकनेमें नीतिकी ओर प्रवृत्त करनेमें रामनाम सक्षम है। रामनामका प्रभाव है कि उसकी प्रतिभामें न्यायतः स्वधर्मप्रेरित मति जागृत होगी जो अन्तःकरणकी शुचिताको प्रगतिशील बनाते हुए परमपावनकी स्थितितक पहुँचा देगी। एकमात्र धर्मसंवलित रामनामके आश्रयसे प्रभुकृपाप्रसूत प्रतिभासे अधम नीचका उत्थान लोकमें विस्मयकारक होता है जिसको 'भुवनविख्यात'से व्यक्त किया है।

वर्णाश्रमियोंको रामनामसे लाभ

उक्त अधम जातियोंसे इतर वर्णाश्रम समाजके लिए ध्यातव्य है कि उनके उन्नतिका मार्ग शास्त्रोक्त विधानसे प्राप्त है जिसमें उनकी स्वभावतः गति है। अतः स्वधर्मका पालन करते हुए वे रामनामका संबल लेते हैं तो उनकी पावनता प्रभुकृपा-साध्य होगी, अन्यथा स्वधर्मसे च्युत हो अधर्म या विकर्ममें प्रेरित होंगे तो उनकी जातिवर्णोचित शुचिता नष्ट हो जायगी, तो रामनामके प्रभावसे वे वंचित होंगे। निष्कर्ष यह है कि अपने पापोंका प्रायश्चित्त करनेमें जो किसी विधिके पालनमें असमर्थ होकर सब ओरसे निराश हो चुका है और पाप-प्रक्षालनकी उसको प्रबल वेदना उदित है तो वह अपने अन्तःकरणसे एकमात्र पूर्वोक्त धर्मेतिकर्तव्यतासहित रामनामका अवलंबन लेकर अपना उद्धार प्रभुकृपासे बना सकता है। धर्मशील राजा दशरथके चरित्रसे स्पष्ट है कि धर्मनीतिका पालन करते हुए उन्होंने नामस्मरणका संबल लिया।

चौ०—नहि अचरजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्ह रघुबीर बड़ाई ? ॥१॥

भावार्थ : गुहकी पावनता व भुवनविख्यात गतिको देखकर आश्चर्य नहीं करना

चाहिए क्योंकि युगयुगान्तरसे ऐसा होता आया है। ऐसा कौन नामोपासक है जिसको रघुबीर श्रीराम प्रभुने बड़ाई नहीं दी ?

नामकीर्तनकी प्रतिष्ठा

शा० व्या० : नामकीर्तनात्मक भागवतसिद्धान्तको बताते हुए कवि कहते हैं कि प्रत्येक युगमें ऐसे नामोपासकको भागवतधर्मके अन्तर्गत प्रभुकृपासे बड़प्पन प्राप्त हुआ है। आज गुहको ऐसी बड़ाई मिल रही है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसमें कवि रघुवीर रामजीकी प्रभुताका स्मरण करा रहे हैं।

चौ०—रामनाममहिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवधलोग सुखु लहहीं ॥२॥

भावार्थ : इस प्रकार रामनामकी महिमाका गान देवगण कर रहे हैं जिसको सुनकर अवधवासी सुखी हो रहे हैं।

अवधसमाजके कीर्तनका कारण

शा० व्या० : 'अवधलोग'के विशेष उल्लेखसे उद्देश्य यह दिखाना है अयोध्याका वर्णाश्रमसमाज स्व-स्वधर्मोचित व्रतनियमादि विधिपालनमें तत्पर है। रामनाम-कीर्तनमें वेदशास्त्रोंकी मर्यादा जिस प्रकार बनी रहे वैसी नाममहिमाका देवताओंने गान किया है, इसलिए उसको सुनकर अयोध्यावासी सुखका अनुभव कर रहे हैं। यह नामकीर्तनात्मक भागवतधर्मका सुख है जो शास्त्रमर्यादाके अतिक्रमणमें असूया, राग, द्वेषादिकी प्रसक्ति होनेपर नहीं प्राप्त हो सकता।

संगति : चौ० १ दो० १९४में कही ग्रन्थसंगतिको ध्यानमें रखते कवि भरत-गुह-मिलन-क्रमका प्रसंग पुनः उपस्थापित कर रहे हैं।

चौ०—रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा ॥३॥

भावार्थ : भरतजी रामसखा गुहसे प्रेमसहित मिलकर उसका कुशल-मंगल-क्षेम पूछ रहे हैं।

शा० व्या० : श्रीराम-गुह मिलनमें प्रभुको 'सनेह बिबस' कहा गया था, यहाँ भरतजीको 'सप्रेमा' कहा गया है। वहाँ गुहकी सेवाके अनुरूप स्नेह है यहाँ उसकी प्रीति भरतजीकी प्रीतिवश हैं। वहाँ 'पूछी कुसल' कहा गया था, यहाँ भरतजीने 'कुसल सुमंगल खेमा' कहकर पूछा है। 'भयउँ भागभाजन जन'से क्रमप्राप्त विशेष मंगल दिखाया है। 'खेमा'का अर्थ क्षेम है अथवा खेमासे परिवारसहित सम्पूर्ण गुहदल भी विवक्षित हो सकता है।

संगति : प्रीतिपरीक्षा दूर रही। स्वयं गुह ही देहकी सुधि भूल गया।

चौ०—देखि भरतकर सील-सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥४॥

भावार्थ : भरतजीका शील स्नेह देखकर गुह उसी समय विदेहावस्थामें पहुँच गया।

शा० व्या० : चौ० १ दो० १९३ में 'लखब सनेहु-सुभायँ सुहाए'से गुह भरतजीके स्नेह-स्वभावकी परीक्षा लेने आया था। भरतजीसे मिलकर उसपर भरतजीके निश्छल प्रेमका ऐसा संक्रमण हुआ कि भरतजीकी ओर देखने मात्रसे वह देहकी सुधि बुधि भूल गया। सन्तके शुचिताका यह प्रभाव है कि उसके संसर्गमें आनेवाला 'तेहि समय' अर्थात् सद्यः शुचि हो शंकारहित हो जायगा। विनयमें ही शील स्नेहकी पहचान होती है। भरतगुह-मिलनमें दोनों विनयसे पूर्ण हैं, दोनोंको परस्परमें शील-स्नेहका परिचय स्वतः प्रतिभात हो रहा है।

संगति : गुहके देहविस्मरणका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—सकुच सनेहु मोदु मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥५॥

भावार्थ : गुहके मनस्में संकोच, प्रेम और आनन्द ऐसा बढ़ा कि वह भरतजीको टकटकी बाँधकर (निर्निमेष दृष्टिसे) देखता खड़ा रह गया।

सकुच आदिका भाव

शा० व्या० : 'सकुच'से गुहको अपनी अधमताका स्मरण करके परम भागवत रामलघुभाई द्वारा आदर पानेमें संकोचका अनुभव हो रहा है। 'भरत लीन्ह उर लाइ' से भरतजीका आदर प्रेम उसके स्नेहभावको उद्दीप्त कर रहा है। युद्ध आदि अकार्यसे निवृत्ति तथा भरतजीके प्रति कुटिलताकी शंकाके निर्मूलनमें 'मोदु मन बाढ़ा'की दशामें गुहको आनन्द हो रहा है। 'चितवत एकटक ठाढ़ा'से गुहका विस्मयभाव तथा प्रेमके स्तब्धता प्रकट की है।

संगति : थोड़े देरके बाद जागृति होनेपर गुहने विनती की।

चौ०—धरि धीरजु पद बंदि बहोरि। विनय सप्रेम करत कर जोरी॥६॥

भावार्थ : फिर गुहने धैर्य धारण करके भरतजीके चरणोंकी वन्दना की और दोनों हाथ जोड़कर प्रेम सहित विनती की।

गुहका विनय

शा० व्या० : 'विदेहू एकटक ठाढा'की अवस्थासे निकलकर अपने कर्तव्यका विचार करके गुहने धैर्य धारण किया क्योंकि परमभागवत सन्त भरतजी अतिथि रूपमें सामने आये हैं, उनका उचित आदर-सत्कार कर्तव्य है। सप्रेमसे भरतजीके शीलमें गुहका पूर्ण विश्वास प्रकट है। प्रेम और विनयके अनुभावमें गुहका चरित्र 'पद बन्दि बहोरी'से दिखाया गया है, यद्यपि 'करत दंडवत'से उसका नमन प्रकट है। फिर भी 'विनय करत'से स्पष्ट किया है कि भरतजी द्वारा सम्मानित होने व देवों द्वारा प्रशंसित होनेपर भी गुहको अपनेमें उत्कृष्टताका भान नहीं है।

संगति : सत्संगसे स्वसमेत कुलकी कुशल समझा रहा है।

चौ०—कुसलमूल पदपंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥७॥
अब प्रभु ! परम अनुग्रह तोरें। सहितकोटिकुल मंगल मोरे॥८॥

भावार्थ : सम्पूर्ण कुशलके मूल सन्त शुचिके चरणकमल हैं, उनका दर्शन करके मैं तीनों कालमें अपना कुशल मानता हूँ। अब आपकी असीम कृपासे कुलसहित मेरा सब प्रकारका मंगल ही है।

सन्तसंगतिसे कुशल-मंगलका समुच्चय

शा० व्या० : सन्त एवं भक्तकी संगति विना पुण्यपुंज (रामकृपा)के नहीं मिलती। पुण्यसे सुख होता है। सन्तमिलन पुण्योदयका सूचक है। 'तिहुँ काल कुशल'का भाव है कि पूर्वपुण्यके प्रभावसे सन्तका दर्शन होना भूतकालीन मंगलका अनुमापक है, सन्त भरतजी द्वारा सम्मान व देवों द्वारा प्रशंसित होना वर्तमान मंगल है तथा पूर्वजोंका व स्वयंका सर्वतोभावेन उद्धार होना भावी मंगल है। 'परम अनुग्रह तोरें'से भरतजी द्वारा गुहको आत्मीयत्वेन अंगीकार करना है जिसका फल जन्म-जन्मके कोटिकुलोंका मंगल है। 'पदपंकज'से भरतजीकी शास्त्रानुयायिता, विद्याओंके प्रति आदर, विवेकसम्पन्न आचार आदि विवक्षित है।

संगति : उत्तमत्व या अधमत्वको परिच्छेदक मानकर शुचितापूर्वक रामसेवाको न अपनाया जाय तो रामसेवाके अभावमें कुशलसे वंचित होना समझाता है।

दो०—समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभुमहिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर-पद जग बिधिबंचित सोइ ॥१९५॥

भावार्थ : गुह कह रहा है 'अपने निकृष्ट कर्म व नीच कुलको देखते मैं प्रभु की महिमाको हृदयमें विचार करके यही कहता हूँ कि जो रघुवीर श्रीरामजीके चरण-कमलकी सेवा नहीं करता वह संसारमें भाग्यहीन है अर्थात् विधाताद्वारा सुख व मंगलसे वंचित है।'

प्रभुमहिमा

शा० व्या० : अपने पापप्रयुक्त जातिगत-तामसस्वभाव व कुलपरम्पराप्राप्त गर्हित कर्म (लूटपाट, हिंसा आदि) का स्मरण करके गुह 'राम लाइ उर लीन्हा'में प्रभुकी महिमाको जानकर द्रवीभूत हो रहा है। अर्थात् ऐसे नीचको अपनाकर सन्त भरतजी-द्वारा लोकमें सम्मानित कराना, देवताओं द्वारा प्रशंसित कराना प्रभुकी महिमा है। प्रभुकी ऐसी (करुणा) दयालुताके रहते लोग सांसारिक वृत्तियोंमें फँसकर रघुवीरके चरणोंमें मनस् नहीं लगाते इस अन्यथासिद्धिसे वे संसारमें अभागी ही रह जाते हैं। जिसको न्यायप्रणालीके अनुसार इस प्रकार कहा जायगा 'यत्र यत्र प्रभुकर्मकसेवकर्तृत्वा-भावः तत्र तत्र विधिवंचितत्वम्'। 'भजइ रघुबीर पद'से गीतासिद्धान्तके अनुरूप ('स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवः') स्वकर्मप्रयुक्त स्वधर्माचरण ही प्रभु-महिमा अथवा प्रभुकृपाकी सिद्धिका जनक है। भागवतधर्मावलम्बियोंको स्मरण रखना है कि शास्त्रविधिमें निष्ठा रखते हुए स्वधर्मपालनसे नीच गुहको प्रभुके कार्यका सुयाग प्राप्त हुआ है। 'रघुवीर पद'से स्पष्ट किया है कि शास्त्र भगवान्‌के चरण हैं।

प्रभुविधि के अनुगमन का फल

प्रभुके स्वतन्त्र प्रेरणात्मक विधानमें दो प्रकार की शक्ति या गति है। उसके अनुष्ठाताओंको अपने विधिक्रममें प्रेरित करके जीवनकालमें उन्हें मोहसे बचाना एक है। दूसरा काम्य फलकी आकांक्षा रखनेवाले राजस-तामस उपासकोंको मोहमें डालना है। जो विकर्म (शास्त्र विपरीत कर्म) में लगे हैं उनकी दुर्गतिके बारेमें कहना ही क्या ? ईश्वरप्रसादके उद्देश्यसे जो विधिमें प्रवृत्त हैं उनको ईशकृपारूप फल प्राप्त होता है जैसा गुह और केवटको प्राप्त है। इससे इतर अनुष्ठाताओंको प्रभुप्रसादसे वंचित हो मोहग्रस्त होना पड़ता है जैसे वेन आदि। जो विधिकी आलोचना करते ऊँच-नीचका भाव मनस्में लाते हैं, व प्रभुप्रसादसे वञ्चित होते हैं। विधिकी मर्यादाका पालन करनेवाले भरद्वाज मुनि और केवट प्रभुके समान-कृपापात्र हैं।

संगति : उक्त अन्यथामिद्धत्वको अधिक स्फुट कर रहे हैं।

चौ०—कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक-वेदबाहेर सब भाँती ॥१॥
राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवनभूषन तबही तें ॥२॥

भावार्थ : मैं कुत्सित नीच (नाम-रूपकृत) जातिका होनेसे कपटी, कायर, कुबुद्धि हूँ और सब प्रकारसे लोक-वेदबाह्य हूँ। परन्तु जबसे प्रभु श्रीरामने मुझको अपनाया तभीसे संसारमें सम्माननीय हो गया हूँ।

कपटी आदिका अर्थ

शा० व्या० : कपटीका अर्थ दाम्भिक है, कायरका दुर्बल, कुमतिका अवैध या निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्ति रखनेवाला, कुजातिसे कुत्सित जाति जिसमें स्वभावगत हिंसा, अनृत आदि हैं। 'बेदबाहेर'से वेदविधानके पालनमें सर्वथा अयोग्य कहा गया है। 'लोकबाहेर'से उपधामें उनुत्तीर्ण होनेसे वर्णाश्रमसमाजद्वारा बहिष्कृत अशुचि जातिका स्पर्श अशुद्ध कहा गया है।

निश्छल सेवककी स्वदोषदृष्टि

प्रभुकी कृपामात्र भरतजीसे अंगीकृत व देवताओंसे प्रसंशनीय होते हुए भी गुहको अपनी नीच जाति जन्म व स्वभावगत दोषोंपर ग्लानि या लज्जा नहीं है, अपितु वैसा होना प्रभुप्रीति एवं विनयका द्योतन है न तो वह उत्तम बननेकी इच्छा रखता है। 'भयउँ भुवनभूषन'का भाव है कि उक्त दोषोंका विनियोग शास्त्रविहित स्वकर्ममें होनेसे वे दोष भूषणस्वरूप हो गये। 'राम कीन्ह आपन'का भाव है कि स्वकुलानुरूप वैधकर्म के अनुष्ठानात्मक राम-कैंकर्य साधनसे गुहको भागवतधर्मका संबल मिला जिससे वह नैतिक विश्वासपात्र शुचि होनेसे जनका प्रिय आकर्षक हो गया।

स्मरणीय है कि रामसेवामें चित्रकूट जाते हुए भरतजीने भी इसी प्रकार अपने दोषोंका प्रकाशन करके सेवककी दीनता दीखायी है—'मैं धिग धिग अघउदधि

अभागी। सब उतपातु भयउ जेहि लागी। कुलकलंकु करि सृजेउ विधाता। साइँ दोह मोहि कीन्ह कुमाता।' (चौ० ५-६ दो० २०१)

राजनीतिमतसे निषाद, कोल, भीलादि अशुचिजातियोंको उनके स्वभावगत दोषोंके कारण, समाजसे बाहर वनप्रान्तमें रखना राज्यहितमें साधक हैं क्योंकि उनके सम्पर्कका प्रभाव समाजपर बुरा नहीं पड़ता है। उनकी संघबद्धताको स्थायिनी न समझकर वर्णाश्रमसमाजने तामसप्रकृतिको कर्मान्तक्षेत्रमें रखकर उनके जीवन-अर्जनकी व्यवस्था बना दी है जिसमें उनका चौर्यादि धर्म-कर्म राजाद्वारा अनुमोदित व राज्य हितसाधक ठहराया है। सोचना इतना ही है कि वे राजद्रोही न हों। वर्णाश्रमकी रक्षा एवं विद्याओंके पोषणमें यह राजनैतिक व्यवस्था मननीय है।

संगतिः : भक्तिकी दृष्टिसे गुहकी नैतिक शुचिताको भरतजी द्वारा स्थापित करा कर चौ० १ दो० १९४में वर्णित प्रीतिविषयकी व्याख्या पूर्ण कर कवि गुहके आन्तरिक दोषोंके निर्मूलनकी पुष्टि शत्रुघ्नजीद्वारा करा रहे हैं।

चौ०—देखि प्रीति सुनि विनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरतलघु भाई ॥३॥

भावार्थ : गुहकी रामप्रीति, विनय एवं सराहनाको देख-सुनकर भरतजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजी उससे मिलें।

शत्रुघ्न-मिलनसे दोषनाशका प्रकाशन

शा० व्या० : देववाणीमें 'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा' सुनकर तथा प्रेमातिशयिततामें 'भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा 'देखकर शत्रुघ्नजीको गुहकी दो० १९४ चौ० १ में वर्णित प्रीतिका परिचय मिला। 'विनय सप्रेम करत कर जोरी'से गुहने अपनी विनतीमें जो विनम्र भाव व्यक्त किया, उससे गुहके विनयका परिचय मिला। देवों द्वारा गुहकी सरहनामें उसकी बड़ाईका परिचय मिला। बालकाण्डमें कहे 'जा के सुमिरन ते रिपुनासा। नाम सत्रुहन वेद प्रकासा'के अनुसार आन्तरिक अनैतिक रिपुओं—(काम, क्रोध, लोभ, मत्सर आदि) के नाशक व परीक्षक शत्रुघ्नजी हैं। शत्रुघ्नजीके मिलनसे कवि गुहके आन्तरिक दोषोंका वास्तविक नाश समझाकर उसके अन्तःकरणकी नैतिक शुचिताको प्रकट करा रहे हैं। दो० १०७ में मुनि भरद्वाजजीके वचनानुसार रामप्रियत्वका परिचय गुहकी कायिक वाचिक मानसकी निश्छलतासे स्फुट हो रहा है।

'रामानुज'से लक्ष्मणजीका भाईके अनुगमनमें जो आदर्श है वही 'भरत लघु भाई' से भाई भरतजीके अनुगमनमें शत्रुघ्नजीने दर्शाया है। इसी आदर्शको मानकर शत्रुघ्न जीने भरतजीके आलिगनको गुहकी शुचितामें हेतु माना जिस प्रकार भरतजीने गुहके रामप्रियत्व या रामसख्यको।

संगति : शत्रुघ्नजी माताओंकी सेवामें नियुक्त हैं। अतः उनकी दृष्टिसे कहना है कि गुहको विश्वास्यताके प्रति शत्रुघ्नजीके आश्वस्त हो जानेके वाद ग्रन्थकार गुहको माताओंके सामने उपस्थापित करा रहे हैं।

चौ०—कहि निषाद निजनाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी ॥४॥

भावार्थ : सुन्दर वाणीसे गुहने अपना नाम लेकर सब रानियोंको आदरपूर्वक नमस्कार किया।

गुहके रोषकी समाप्ति

शा० व्या० : 'कहि निजनाम'से गुहकी निश्छलता प्रकट है। 'सुबानी'से उसका विनय प्रकट है। 'सकल रानी'में कैकेयीजी भी है। गुहके सम्मानपूर्वक नमनसे स्पष्ट है कि दो० ९१में कहा कैकेयीजीके प्रति उसका रोष या प्रीत्यभाव समाप्त है। तथा चौ० १ दो० ९३में लक्ष्मणजीके कहनेसे (अस बिचारि नहिं कीजिय दोषू। काहुहि बादि न देइअ दोषू) उसका द्वेषभाव जो कुछ शेष था या दब गया था, उसका समूल उन्मूलन होना गुहकी निश्शंकता व शुचिताका प्रकाशन है 'सादर जोहारी'से रानियोंका राजनीतिसम्मत सम्मान भी प्रदर्शित है।

संगति : गुहकी शुचिता व अनुरागको देखकर रानियाँ गुहको लक्ष्मणसदृश देखकर आशिष दे रही हैं।

चौ०—जानि लखनसम देहिं असोसा। जिअहु सुखी सयलाख बरीसा ॥५॥

भावार्थ : गुहको लक्ष्मणजीके समान प्रिय समझकर माताएँ आशीर्वाद देती हैं कि सौ लाख वर्ष सुखसे जियो।

गुहमें लक्ष्मणजीका साम्य

शा० व्या० : लक्ष्मणजीके सेवकत्वगुणका साम्य गुहमें जानकर गुहके प्रति माताओंका 'लखनसम'भाव है। मातृत्वमें लक्ष्मणजीको आशीर्वाद देनेमें माताओंको जो शुभेच्छाप्रयोजक स्नेहभाव है वही रामसखा गुहके प्रति है।

सयलाख वर्ष जीवनकी उपपत्ति

नीतिदृष्टिसे 'लखनसम'के विचारमें कहना होगा कि 'भर्तुः चित्तानुवर्तित्व'से धी, सत्व, उद्योग आदि सेवकके गुण दोनोंमें समान हैं। सती माताओंके आशीर्वादमें कहे 'जिअहु सय लाख बरीसा'की यथार्थता यही होगी कि जब-जब रामावतार होगा तब-तब उसमें भुवनविख्यात गुहचरित्रका भी गान होनेसे निषाद यशश्शरीरसे करोड़ोंवर्ष जीवित रहेगा।

संगति : गुरुजी, भरतजी, शत्रुघ्नजी तथा माताओं द्वारा सम्मानित होनेके बाद अब निषाद अयोध्यावासीनी जनता द्वारा सम्मानित हो रहा है।

चौ०—निरखि निषादु नगरनर-नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी ॥६॥

भावर्थ : अयोध्याके स्त्री-पुरुष निषादको देखकर ऐसे सुखी हुए मानों लक्ष्मणजीको ही देखा हो।

अयोध्यावासियोंको मित्रप्राप्तिका सुख

शा० व्या० : 'बारेहि ते निजहित पति जानी। लछिमन रामचरनरति मानी'से लक्ष्मणजीके प्रसिद्ध स्वामिसेवकभावमें उनके भ्रातृप्रेमको याद करके अयोध्यावासियोंको निषादकी श्रेयःप्राप्ति और सेवाको देखकर लक्ष्मणजीके अनुरूप स्वभावगुणकी प्रतीतिमें सुख मिल रहा है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे मित्रसंपत्तिकी प्राप्तिमें होनेवाला सुख कहा गया है।

संगति : सत्संग और प्रभुकृपाके कार्यकारणभावको ध्यानमें लाकर अवधवासी गुहकी प्रशंसा कर रहे हैं।

चौ०—कहहिं लहेउ एहिं जीवनलाहू। भेंटेउ रामचन्द्र भरि बाहू ॥७॥

भावार्थ : जिसको श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंमें भरकर आलिंगन किया उस निषादके बारेमें अयोध्यावासी कह रहे हैं कि जीवनका लाभ (जीनेका फल) तो उसीने लिया है।

गुहको जीवनका लाभ

शा० व्या० : तमसातीरसे श्रीरामका साथ छूटनेपर अयोध्यावासी 'तजे राम हम जानि कलेसू' कहते लौट आये। निषाद ही भाग्यवान् है जिसको प्रभुने हृदयसे लगाया। 'एहिं'से निषादकी शुचिता व सेवापरायणता व्यक्त है। 'देहंभृतामियानर्थो हित्वा दंभं भियं शुचम्। संदेशाद् यो हरेर्लिंगदर्शनश्रवणादिभिः' इस भागवतोक्तिके अनुसार निषादका 'जीवनलाहू' स्पष्ट है जिसमें हेतु प्रभुका आलिंगन है। 'रामभद्र'से गुहकी शुचितापरीक्षा व श्रीरामकी 'भुवनविख्यात' भद्रता आदि गुणोंको स्पष्ट किया है।

संगति : सन्तमिलनमें मनस्की निश्शंकता तथा मोदकी प्राप्ति होती है, इसको भरतमिलनसे स्पष्ट करते हुए कवि गुहकी मनःस्थिति प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—सुनि निषादु निजभाग बड़ाई। प्रमुदितमन लइ चलेउ लेवाई ॥८॥

भावार्थ : निषादने सब सुनकर अपनेको बड़भागी माना। अब प्रसन्न मनस्से सब समाजको लेकर चला।

गुहकी क्षमता

शा० व्या० : 'सुनि'से गुरु वसिष्ठजी व भरतजीके कहे वचन, देवताओंकी वाणी, उपस्थित लोगोंकी सराहना, भरतजीका कुशलक्षेम पूछना, माताओंका आशीर्वाद विवक्षित है। 'निजभाग'से गुह अपनी भाग्य-भाजनताका स्मरण कर रहा है जैसा चौ० ५ दो० ८८में कहा है। सबकी सराहनाका मूल रामसेवाको समझते हुए वह यात्रियोंकी प्रशंसा (आदरसे अपनी बड़ाईको)से अपनी अधमताको धन्य मानता है।

चौ० २ दो० १८९ में भरतागमनके समाचारको सुनकर 'हृदय बिचार करइ सविषादा'में कहे गुहके विषादका कारण पूर्णरूपसे निरस्त हो जानेसे उसकी निश्शंक

प्रमुदित मनस्‌की यथार्थता गुहकी सेवासे आगे प्रकट होगी जिसका स्वरूप ग्रन्थकारने प्रभुको भेंटमें गुहद्वारा सुनाया है (चौ० ५ से ७ दो० ८८) ।

मित्रप्राप्ति का फल

अर्थशास्त्रोक्त मित्रसम्पत्तिको प्राप्त करनेमें भरतजीकी नीतिमत्ताको यहाँ दर्शाया गया है । गुहको मित्र बनाकर इतने बड़े समाजकी सुख-सुविधाकी व्यवस्था भरत-गुहमिलनका फल है अपने धन, धाम, परिवारको रामसेवामें लगाना मुख्य कर्तव्य है, ऐसा निर्णय होना 'प्रमुदितमन'का सम्मान है ।

संगति : सेनाको सुसज्जित रहनेके लिए कहा था उसका उपयोग भक्तसेवामें परिणत होना समझा रहे हैं ।

दो०—सनकारे सेवक सकल चले स्वामिरुख पाइ ।
घर, तरुतर-सर-बाग-बनवास बनाएन्हि जाइ ॥१९६॥

भावर्थ : संकेतपर काम करनेवाले 'सनकारे सेवक' हैं । गुहराजका इशारा पाकर सेवक चल दिये । उन्होंने जाकर पेड़ोंके नीचे, तालावके पास, बागों और वनस्थलोंमें रहने योग्य घरोंको बना दिया ।

स्निग्धा दृष्टि का उदय

शा० व्या० : जिस प्रकार पूर्वमें भरतजीकी स्निग्धादृष्टि कही गयी थी उसी प्रकार यहाँ 'प्रमुदित' व 'स्वामिरुख'से गुहकी शंकितादृष्टिकी समाप्ति और स्निग्धादृष्टिका उदय कहा जा रहा है । प्रभुके सन्देशमें कहे 'नीति न तजिअ'को भरतजीने अपनाकर गुहकी मित्रताको प्राप्त किया है । मित्रभावमें स्वतः प्रेरित होकर गुह यात्रिसमाजके वास व भोजनकी व्यवस्था कर रहा है ।

राजनीति का रक्षण

त्रयी (धर्म) प्रसूत कर्तव्यके अनुष्ठानसे जो भक्तिका उद्रेक होता है, उससे राजनीतिका पोषण होता है । भरतजीने आन्वीक्षिकी विद्या द्वारा समस्याओंका समाधान करते हुए भक्तिका सहारा रक्षकरूपमें लिया है जिसका फ़ल है कि शंकाओंका उन्मूलन होकर विघ्नोंका निरास हो रहा है । ध्यातव्य है कि धर्मका अतिक्रमण करनेसे भक्तिके अभावमें मित्रता एवं संघबद्धता विनष्ट होती है (बा० दो० १९ में देखे) ।

संगति : गुहकी रामप्रीति एवं शुचिताका निरूपण करके ग्रन्थकार चौ० २ दो० १८९ में कहे यात्राप्रसंगको प्रीतिके अनुभावनिरूपणसे जोड़ रहे हैं ।

चौ०—सृङ्गबेरपुर भरत दीख जब । भे सनेहँ सब अंग सिथिल तब ॥१॥

भावार्थ : भरतजीको जब शृंगवेरपुर दिखायी पड़ने लगा तब वह श्रीरामस्नेहसे सम्बद्ध गुहके प्रेममें शिथिलांग हो गये ।

प्रीति के अनुभाव में विश्वास का उन्मीलन

शा० व्या० : भरतजीके 'सब अंग सिथिल' होनेका भाव है कि रामसखा गुहके मिलनसे स्नेहका वातावरण फैला उसमें रामसखा गुहके आश्रयसे रामदर्शनमें निश्चिन्तता और प्रेमार्द्रता आ जानेसे अंगोंमें शिथिलता आ गयी। अथवा शृंगबेरपुरके निकटस्थ तीर्थरूप रामवासस्थानके स्नेहाकर्षणमें भरतजी भक्तिप्रयुक्त अंगशिथिलतामें आये हैं। अथवा गुहके आश्रयमें भरतजीका शिथिल अंग होकर रुकना युक्तियुक्त है क्योंकि रामवासस्थानका पता लगाने व उसका दर्शन करानेमें गुहही सहायक होगा।

'सिथिल अंग'से भरतजीकी उच्च अनुरागावस्था दिखायी है जिसमें नसोंका तनाव समाप्त होनेसे अंगोमें शिथिलता स्वयं आयी है।

संगति : शिथिल अंग होनेसे भरतजी सखाका सहारा ले रहे हैं।

चौ०—सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरे बिनय अनुरागू ॥२॥

भावार्थ : शिथिल-अंग होकर भरतजीने निषादका सहारा लिया है। उस समय दोनोंकी ऐसी शोभा हो रही है मानों विनय और अनुराग शरीरधारी होकर आये हों।

अनुराग व विनयका आधार

शा० व्या० : 'जनु तनु धरे अनुरागू'से भरतजीकी पूर्ण अनुरागावस्था दिखायी जिसमें शुचि रामप्रिय भक्त गुहका संग उद्दीपक है। 'जनु तनु धरे विनय'से गुहकी विनयभावावस्था दिखायी। स्मरणीय है कि गुहको विनयकी मूर्ति बनानेमें कथाश्रवणके माध्यमसे आन्वीक्षिकी-राजनीतिप्रभृति विद्याओंसे समन्वित भक्तिका उदय है जिससे गुहकी नैतिक अशुचिता समाप्त होकर पूर्ण विनय और नय प्रकट हुआ है।

संगति : भरतजीके प्रति शंकामें गुहका विषाद, भरतमिलनसे विषादकी समाप्ति, गुहकी शुचिता और उसमें गुहकी प्रीति व विनयका प्रकाशन, गुहकी मित्रतासे यात्राकी सुव्यवस्था आदि को 'एहि बिधि'से बताकर ग्रन्थकार उसमें उद्दीपकदेशरूपमें गंगा-जीके पावनताकी निमित्तता भरतजी एवं यात्रिसमाजमें रामदर्शनयोग्यताप्राप्तिको दिखाते हुए अग्रिम ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

चौ०—एहिबिधि भरत-सेनु सबु संगा। दीखि जाइ जगपावनि गंगा ॥३॥

भावार्थ : इस प्रकार सेना व सब समाजके साथ भरतजी आगे बढ़ते हुए संसारको पवित्र करने वाली गंगाजीको देख रहे हैं।

जगत्पावनताका भाव

शा० व्या० : गंगाजीकी जगत्पावनता पुराण-इतिहास कथाओंसे प्रसिद्ध है। यहाँ जगत्पावनताका उपयोग भरतजीकी शुचिता, गुहकी शुचिता, अयोध्यावासियोंकी रामदर्शन-योग्यता आदिमें है। जिनको देखकर गंगाजी भी प्रसन्ना होंगी।

संगति : दर्शन होते ही रामघाट पहुँचकर सभीने प्रणाम किया।

चौ०–रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू ॥४॥
करहिं प्रणाम नगर नर-नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी ॥५॥

भावार्थ : रामघाटको सबने प्रणाम किया। सबके मनस्में ऐसी प्रसन्नता हुई मानों श्रीराम ही मिल गये। गंगाजीके जलको ब्रह्मद्रव (रामपथ) देखते हुए सब प्रणाम कर रहे हैं।

रामघाटकी महिमा

शा० व्या० : व्रतनियमसे शुचिभूत अयोध्यावासी स्त्री-पुरुषोंको भक्त भरतजीके रामप्रेम एवं शुचिगुहके विनययोगसे 'मिले जनु रामू'की प्रतीति हो रही है। भाव यह है कि श्रीरामघाटको ध्यानका केन्द्रबिन्दु बनाकर उसमें मनोयोगसे रामघाटपर तेजस्सम्पन्न गंगाजी उनको ब्रह्ममयी दिखायी पड़ी।

रामघाट गंगातीरका वही सिद्धस्थल है। जहाँ प्रभुने नहाकर मुनिव्रत लिया और प्रभुके चरणोंका प्रक्षालन केवटने किया है। दो० ११३के अन्तर्गत कहा रामपदस्पृष्ट स्थलोंका तीर्थत्व यहाँ प्रकट किया गया है। दो० ८३के अन्तर्गत प्रभुकी गायी गंगाजीकी महिमा यहाँ प्रकट है।

'भा मगनु'से ध्वनित है कि सबके मनस्में ऐसा मोद हो रहा है कि रामदर्शन अवश्य मिलने वाला है।

नीतिका विचार करते हुए ग्रन्थकार यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि राजनीति भक्तिकी स्थापनामें किस प्रकार सहायक होती है ?।

रामघाटके सम्बन्धसे यह भी कहना है कि वसिष्ठ मुनि, भक्त भरतजी तथा अयोध्यावासी शुचिसमाजको स्नानार्थियोंके रूपमें प्राप्त करनेकी गंगाजीको भी आकांक्षा है जैसा मुनिभरद्वाजजीको श्रीरामसे मिलकर भरतदर्शनकी आकांक्षा है (चौ० ५ दो० २१०)।

चौ०–करि मज्जनु मागहिं कर जोरी। रामचन्द्रपदप्रीति न थोरी ॥६॥

भावार्थ : गंगाजीमें स्नान करके सबलोग हाथ जोड़कर वर माँग रहे हैं कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम घटे नहीं।

गंगाजीसे जानपदकी प्रार्थनाका फल

शा० व्या० : 'करि मज्जनु'से विधिवत् स्नानकी क्रिया दिखायो है। विधिके फलकी कामनाके अन्तर्गत उनकी याचना 'प्रीति न थोरी'से व्यक्त हैं क्योंकि चौ० ४से ६ दो० ८६में प्रजाजनोंके उद्गारसे व्यक्त है कि उनकी रामप्रीतिमें कमी है। प्रसंगवशात् स्मरण रखना है कि चित्रकूटमें इन्द्रकी मायासे अयोध्यावासियोंका रामप्रीतिमें उच्चाटन होगा जिसकी पूर्वध्वनि उनकी उक्त शंकासे संगत कही जायगी। अतः रामदर्शनके

लिए नियमव्रत करते हुए गंगाजीसे 'प्रीति न थोरी'की याचनामें प्रमादकी शंकाको दूर करनेंके निमित्तसे रामप्रीतिकी शुचिताके लिए प्रार्थना कर रहे हैं। इस प्रार्थनाका यह फल होगा कि सभाकी चर्चा होनेके पूर्व उक्त शंकाका उदय नहीं हो सका।

संगति : भरतजीकी प्रार्थनापर गंगाजीके मौनका प्रयोजन कवि आगे दो० २०५में त्रिवेणीकी वाणीमें प्रकट करेंगे। तीर्थराजके द्वारा परम शुचि सेवकका उच्चतम भाव प्रकट कराना जगत्पावनी गंगाजीको इष्ट है उसको आगे समझा रहे हैं। गंगाजीके मौनका दूसरा कारण चौ० २ दो० १९८की संगतिमें द्रष्टव्य है।

चौ०—भरत कहेउ सुरसरि ! तव रेनू। सकलसुखद सेवकसुरधेनू ॥७॥
जोरि पानि बर माँगउ एहू। सीयरामपद सहजसनेहू ॥८॥

भावार्थ : भरतजीने गंगाजीकी प्रार्थना करते हुए कहा 'हे गंगे ! आपकी बालू प्रभुसेवकोंको कामधेनुके समान सब प्रकारका सुख देने वाली है। मैं हाथ जोड़कर यही वर माँगता हूँ कि सीतारामजीके चरणोंमें मेरा सहज प्रेम हो।'

भक्तकी विशेष प्रार्थना

शा० व्या० : चौ० ५ दो० १०१में 'पदनख निरखि देवसरि हरषी'से गंगाजीकी प्रसन्नता प्रकट की गयी है। रामघाट गंगाजीका वही तीरस्थल है जहाँ प्रभुके पदरजसकी प्राप्ति होकर सेवक केवटका मनोरथ पूर्ण हुआ है। अतः भरतजी प्रभुपदसे स्पृष्ट 'सुरसरिरेणु'की महिमा गा रहे हैं। अयोध्यावासियोंको गंगाजीका जल ब्रह्ममय दिखायी पड़ा, भरतजीको जलशरीरमें साक्षात् गंगादेवी निज स्वरूपमें दिखायी पड़ी, इसलिए उनके पदरेणुकी वन्दना की है।

'सकल सुखद'की योग्यता अयोध्यावासियोंके 'प्रीति न थोरी'में और भरतजीके 'सहज सनेहू'में है। 'सेवकसुरधेनू'से भरतजीका सेवकत्व व 'सीय-रामपद'से दास्य प्रकट है। 'सहजसनेहू'का भाव है औचित्यकी दृष्टिसे होनेवाली अकारणप्रीति, जैसे प्रतिव्रताका स्वाभाविक पतिप्रेम।

सीतारामका नैतिक देवत्व

नीतिदृष्टिसे 'सहज सनेहू'से भाई-भाईका सततमित्रताप्रयुक्त प्रेम तथा 'सिय रामपद'से नीत्यात्मक धर्मोपासनामें राज्य-महालक्ष्मी-नीतिरूपा सीताजी एवं साक्षात् धर्मरूप श्रीराम विवक्षित हैं।

दो०—एहिबिधि मज्जनु भरतु करि गुरअनुसासन पाइ।
मातुनहानी जानि सब डेरा चले लवाइ ॥१९७॥

भावार्थ : स्तुतिपूर्वकविधिसे भरतजीने स्नान किया। सब माताओंने भी स्नान कर लिया है, ऐसा जानकर गुरुजीके आदेशसे सबको भरतजी निवासस्थानकी ओर लेकर चले।

गुर्वनुशासन

शा० व्या० : साधु सन्तोंका जिस विधिसे स्नान होता है, वही विधि यहाँ 'एहि बिधि'से विवक्षित है ध्यातव्य है कि सन्त कामनापूर्ति या शरीरारोग्यके लिए गंगास्नान नहीं करते बल्कि स्नानका फल प्रभुभक्ति चाहते हैं। तीर्थयात्रा, तीर्थनिवास अथवा तीर्थस्नान और तीर्थसे विदाईमें शास्त्रविधिके पालनार्थ गुरु या आचार्यका आदेश अपेक्षित है जिसको 'एहि बिधि'के अन्तर्गत 'गुरु अनुशासन'से भरतजीने शास्त्रानुयायिता दिखायी है। नीतिदृष्टिसे कार्यके औचित्यको दिखानेके लिए 'गुरु अनुशासन'से वृद्धोपसेवित्व गुणको प्रकाशित किया है।

गुरुजीका स्नान

गुरु वसिष्ठजीके स्नानकी चर्चा कहीं नहीं है। उसका कारण यह है कि अग्निहोत्रके निमित्तसे उनका स्नान यथासमय हो जाता था। दो० १९६में 'घर तरुतरसर बाग बनवास बनाएन्हि जाई'के अनुसार गुहने वहाँ निवासका प्रबन्ध किया था, उसीको यहाँ डेरा कहाँ है।

संगति : चतुर्थ दिनमें किये निवासकी विशेषता समझा रहे हैं।

चौ०–जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरतु सोध सबहीकर लीन्हा ॥१॥

भावार्थ : जहाँ तहाँ सब लोगोंके निवासकी व्यवस्था यथास्थान हो गयी है, उसकी देख भाल भरतजीने स्वयं की है।

चतुर्थदिनके निवासकी व्यवस्था

शा० व्या० : यात्राके नायक भरतजी हैं। नेताका कर्तव्य है कि वह अपने अनुगामी समाजकी सुख सुविधाका ध्यान रखे जिसको 'सोध लीन्हा'से स्पष्ट किया है। पूर्वमें शुचि सेवक व्यवस्थापक थे, ये राजवंशके अनुकूल शुचितासे परिचित थे, इसलिए वहाँ भरत-सोधकी जरूरत नहीं थी। अयोध्याकी सीमाको पार करके मित्रराज्यमें प्रवेश किया है, इसलिए यहाँ राजनैतिक दृष्टिसे 'सोध लीन्हा'का विशेष उल्लेख है।

संगति : भरतजीके शुचिताकी पूर्णतामें मातृसेवाकी पूर्णता यहाँ होनेवाली है उनसे बिदा माँगनेके लिए जा रहे हैं शत्रुघ्नजीको अपने स्थानपर नियुक्त कर रहे हैं।

चौ०–सुरसेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिं गे दोउ भाई ॥२॥

भावार्थ : देवपूजन करके उनका आदेश पाकर दोनों भाई (भरत-शत्रुघ्न) राममाता कौसल्याजीके पास गये।

देवपूजनका पश्चात्क्रम

शा० व्या० : 'सुरसेवा'से देवपूजन समझना चाहिए। राजनीतिमें राजाके लिए राज्यरक्षण या प्रजापालन-धर्म प्रधान है। इस दृष्टिसे 'सोधु सबही कर लीन्हा'से अर्थसाधन पहले कहा और देवपूजनरूप धर्मसाधन बादमें कहा।

आयसु पाइके अन्तर्गत देवभक्ति

'आयसुपाइ'से गंगाजीके बीच सुरधुनि द्वारा माताओंके पास जानेका आदेश संगत मालूम होता है। इसका स्पष्टीकरण विद्वानोंके लिए चिन्तनीय है। जिस प्रकार सीताजीके मनोरथपूर्तिके वरदानमें गंगाजीके 'विमल बारिबर बानी' (चौ० ४ दो० १०३) द्वारा सीताजीकी शुचिता एवं योग्यता सिद्ध हुई उस प्रकार भरतजीकी वरयाचनामें गंगाजीके मौन होनेसे सुरवाणीद्वारा ध्वनित 'आयसु पाई'से भरतजीकी उपादेयता सिद्ध हुई। अब भरतजीमें शुचिताप्रयुक्त रामदर्शनयोग्यताकी प्राप्तिके लिए माताओंके पास जानेसे उसकी सार्थकता प्रकट है। भरतजीकी पूर्वकथित उपधाशुद्धिकी परीक्षाका यह अन्तिम चरण कहा जा सकता है। माता कैकेयीजीकी भर्त्सनारूप दोषके परिहारार्थ ग्रन्थकारको माताओंकी सेवामें भरतजीको उपस्थापित कराकर उनके निर्विकारतापूर्ण साधुत्वको प्रकट कराना इष्ट है।

इसके बाद भरतजी पैदल चलेंगे अर्थात् यहाँसे माताजी दूर होंगी इसलिए राममातु कहा है।

संगति : कौसल्याजीके सान्निध्यमें सभी माताएँ थी वे सभी मित्रभावमें स्थित हैं। भरतजी कैकेयीसमेत सबका चरण दबा रहे हैं।

चौ०—चरन चापि कहि कहि मृदु बानी। जननीं सकल भरतसनमानी ॥३॥

भावार्थ : भरतजीने सब माताओंके पैर दबाकर उनको मृदवाणीसे समझाते हुए माताओंका सम्मान किया।

कैकेयीसमेत मातृसेवाफल

शा० व्या० : 'जननी सकल'से सब माताओंमें कैकेयीजी भी है। 'चरनचापि' और 'कहि मृदु बानी'का भाव है कि भरतजीने सुमन्त्र द्वारा कहे श्रीरामजीके सन्देशमें 'सेएहू मातु सकल सम जानी'को मानकर कैकेयीसहित सब माताओंका एक-समान सम्मान किया है। इसकी सार्थकता चित्रकूटमें भरतजीकी उक्तिमें 'अज्ञासमन सुसाहिब सेना'से स्पष्ट होगी। 'कहि कहि मृदु बानी'से भरतजीका सब माताओंसे पृथक् पृथक् कहनेका आशय यही है कि उनकी सेवासे ही रामदर्शनका योग निर्विघ्न सुलभ होगा।

भरतजीमें भर्त्सनाप्रयुक्तदोषका परिहार

कैकेयी माताजीका गौरव दिखानेके उद्देश्यसे ग्रन्थकारने जिस प्रकार कैकेयीजीके प्रति कुटिलता (दो० ९१) का अभाव दिखानेके लिए 'कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी'से गुहकी हृद्गत शुचिताको स्थापित किया उसी प्रकार कैकेयी माताजीकी भर्त्सनासे भरतजीमें आरोपित सूक्ष्म दोष या दुर्भावनाकी कल्पनासे उनकी शुचितामें जो अल्पता भासित हो रही है, उसका पूर्ण निरसन कराया है। पृथग् रूपसे कहना है कि 'चरन चापि'से भरतजीकी कायिक, 'मृदु बानी'से वाचिक

निदोषताको प्रकट किया है। 'राममातु पहिं गे दोउ भाई'में राममाताका विशेष उल्लेख करनेका तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकार भरतजीकी उक्त निर्विकारताको परमशुचि कौसल्याजीके साक्षित्वमें ही प्रकट कराना चाहते हैं।

ऊपर भरतजोकी हृदयकी कायिक वाचिक निर्दोषतासे सम्बन्धित पूर्ण शुचिताको कवि आगे त्रिवेणीके आशीर्वचनसे प्रकाशित करेंगे जैसा चौ० २ का संगतिमें कहा गया है।

उक्त चौपाईसे गोस्वामीजीने भरतजीके प्रति किये जानेवाले उस आक्षेपका निराकरण किया है जो कि भरतजी माता कैकेयीजीसे जीवनभर न मिले, न बोले, समझा जाता था। 'चरन चापि कहि कहि मृदु बानी'से भरतजीकी कैकेयीसहित सब माताओंकी सेवा और संभाषण यहाँ स्पष्ट है।

संगति : भरतजीका गुहके प्रति रामसखोचित व्यवहार समयप्राप्त होनेसे प्रकट किया जा रहा है।

चौ०—भाइहि सौंपि मातुसेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥४॥
चले सखाकर सों कर जोरे। सिथिलसरीरु सनेह न थोरे ॥५॥

भावार्थ : भाई शत्रुघ्नजीको माताओंकी सेवाका भार सौंपकर भरतजीने निषादको अपने पास बुला लिया वह उसका हाथ अपने हाथसे पकड़कर चले। गुहके प्रति अपने स्नेहको जरा-सा भी कम न करते भरतजीने उसके सहारे अपने शरीरको शिथिल कर दिया।

गुहसेवोत्तरमें प्रतिक्रिया

शा० व्या० : गुहकी मित्रतासे यात्रिसमाजको जो सुव्यवस्था प्राप्त हुई, उसकी कृतज्ञताके प्रकाशनसे नीतिसंगत प्रतिक्रिया 'कर सो कर जोरें' कहो जायगी। भक्ति-पक्षसे रामसखाके प्रति आदरभावमें भरतजीका सहज स्नेहानुभाव प्रकट है। 'सनेह न थोरे'से रामसखामें 'अयं मम हितसाधनं'का विश्वास व्यक्त है। प्रभुके प्रिय सेवक भरतजीके रक्षणमें 'कर सोंकर जोरे' शुचि सेवक गुहके लिए उत्साहवर्धक है। सब कामसे निश्चिन्त होनेपर भरजीके स्मृतिपथमें श्रुत दृश्य घटनाओंसे जो भाव उदित हो रहे हैं, उसके प्रभावसे 'सिथिल सरीरु'की अवस्था हो रही है जो पूज्यजनोंके लिए भी आदरणीय व स्पृहणीय है।

संगति : दो० १८२ में प्रकट उद्गारके ('देखे बिनु रघुनाथ पद जियकै जरनि न जाइ') अनुरूप भरतजी सखा गुहसे अपने हृदयकी वेदनाको कह रहे हैं।

चौ०—पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु-नयन मन-जरनि जुड़ाऊ ॥६॥
जहँ सियरामु लखन निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए ॥७॥

भावार्थ : भरतजी सखा गुहसे पूछ रहे हैं कि वह कौन-सा स्थान है ? जहाँ सीतारामजी सोये थे लक्ष्मणजीके साथ। उस स्थानको दिखाओ जिससे मैं अपने नेत्रों

और मनस्की तड़पनको जरा शीतल करूँ। ऐसा कहते भरतजीके नेत्रोंके कोनोंमें अश्रु भर गया।

मनजरनीका निष्कर्ष

शा० व्या० : चौ० ६ दो० १७९ में 'बिनु रघुबीर बिलोकिअबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू'से भरतजीकी 'नयनजरनि' स्पष्ट है। चौ० ६ दो० १८२ में भरतजीने 'एकइ डर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियरामु दुखारी'से। अपनी 'मनजरनि' को प्रकट किया है। कैकेयी माताजीकी मनोरथपूर्तिमें उदासीभाव रखते पिताजीके वचनको प्रमाण मानकर लक्ष्मणजीके साथ सीतारामजीने वनवासमें कैसे रात्रिशयन किया ? इसको देखकर भरतजीको पिताश्रीके वचनप्रमाणके पालनमें प्रेरणा मिलेगी—यह भी 'मन जरनि जुड़ाऊ'का एक प्रकार है।

संगति : चौ० ५ दो० में 'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदयँ विषादू'से सीतारामजीका महिशयन देखकर गुहको जो विषाद हुआ था, उसका स्मरण भरतजीके 'जहँ सिय रामु लखनु निसि सोय' पूछने पर हुआ तो गुहका वही विषाद जागृत हो गया। लक्ष्मणजीके समझानेसे गुहको जो प्रबोध हुआ था, उसके बलपर वह धैर्यको रखनेमें समर्थ होकर भरतजीको मार्गदर्शन करानेमें सचेतस्क है।

चौ०—भरतबचन सुनि भयउ विषादू। तुरत वहाँ लइ गयउ निषादू ॥८॥

भावार्थ : भरतजीके वचनको सुनकर निषादको विषाद हो गया। पर सेवकका कर्तव्य ध्यानमें आनेसे वह सचेतस्क हो तुरतभरतजीको वहाँ तत्काल ले गया।

शा० व्या० : सीतारामजीके महिशयनमें बिधिबाम (चौ० ७ दो० ९१) का विचार करनेपर भी गुहका विषाद लक्ष्मणजीके परमार्थ ज्ञानके निरूपणसे दूर हुआ। उसका उपयोग प्रभुका महिशयनस्थान भरतजीको दिखानेमें विलम्ब नहीं करना है, इस उद्देश्यसे 'तुरत लइ गयउ' कहा है।

संगति : भरतजीके उत्तरमें उनको रामशैया दिखा रहा है।

दो०—जहँ सिसुपापुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दण्ड-प्रनामु ॥१९८॥

भावार्थ : जहाँ श्रीरामने विश्राम (रात्रि निवास) किया था, उस पुनीत शिशिपाके वृक्षके नीचे गुह भरतजीको ले गया। भरतजीने अत्यन्त प्रेममें भरकर आदरपूर्वक उसको दण्डवत् नमस्कार किया।

तरुतलकी कल्पवृक्षता

शा० व्या० : चौ० ४-५ दो० ८९में 'कहेउ राम सब भाँति सुहावा'से गुहके दिखाये 'तरु सिसुपा मनोहर'को प्रभुने विश्रामस्थल बनाया था। प्रभुके विश्रामसे उस शिशिपाके वृक्षकी पुनीतता गाते हुए कवि यहाँ उसकी सार्थकता भरतजीके प्रेमार्द्रतामें दिखा रहे हैं जिसको 'सब भाँति सुहावा'से ध्वनित किया है। 'जेहि तरु

तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई' (चौ० ७ दो० ११३)के अनुसार 'सिसुपापुनीत'की कल्पतरुता भरतजीकी रामदर्शनकामनाको पूर्ण करनेमें सिद्ध होगी। प्रभुके सेवकका स्वाभाविक आदर्श है कि वह स्वामीके भुक्त पदार्थके प्रति प्रीति व आदर रखता है।

संगति : 'देखे बिनु रघुनाथपद जियकै डारनि न जाइ'के अनुसार भरतजीको 'अति सनेह'का अनुभाव प्रकट हो रहा है।

चौ०—कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई ॥१॥
चरनरेख-रज आँखिन लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥२॥

भावार्थ : सुन्दर कुशाकी गद्दी देखकर भरतजीने उसको परिक्रमा करके प्रणाम किया। प्रभुके चरणोंकी रेखाओंसे अंकित धूलको आँखोंसे लगाया। उस समय भरतजीके प्रीतिकी अतिशयितताका वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रभुभुक्तका पूजन

शा० व्या० : 'सुहाई'का भाव है प्रभुकी विश्रामस्थलीको सुरक्षित रखकर गुहने पूजनयोग्य शोभाको बनाकर रखा है। जैसा देवमन्दिर या तीर्थस्थलकी परिक्रमाका विधान है उसी प्रकार प्रभुकी विश्रामस्थलीको परम पवित्र मानकर भरतजीने उसकी प्रदक्षिणा की है। 'चरनरेख'से प्रभुपदके वज्रध्वजांकुश चिह्नितरेखाओंकी शोभा कही है।

चरणरजस्की महिमा

गुहसे कही उक्ति 'पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ'के अनुरूप भरतजी प्रभुपदअंकित धूलको आँखोंसे लगा रहे हैं और मनस्के सन्तापको 'प्रीति अधिकाई'से निकाल रहे हैं। प्रभुके चरणरजस्के स्पर्शका स्वाद भक्तको कैसा मिलता है ? यह श्रीमद्भागवतमें अक्रूरजीके भावसे व्यक्त है—"तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकुलाकुलेक्षणः। रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति"।

संगति : प्रभुके पदरेखायुक्तरजस्का दर्शन करनेपर 'जहँ सिय रामु लखन निसि सोए'के दर्शनकी आकांक्षामें भरतजीको सीताजीके पादचिह्नोंका दर्शन हो रहा है।

चौ०—कनकबिन्दु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीयसम लेखे ॥३॥

भावार्थ : सीताजीके पैरके आभूषणसे गिरे हुए दो-चार सोनेके दानों (कनकमणि)को भरतजीने देखा। उनको माथेसे लगाकर ऐसा अनुभव किया मानो सीताजीके चरणोंका ही स्पर्श हुआ हो।

भरतजीको सान्त्वना

शा० व्या० : जैसे हनुमान्‌जीने दी हुई प्रभुकी स्वर्णमुद्रिकासे सीताजीको

सान्त्वना हुई, उसी प्रकार सीताजीकी कृपासे गिरायी हुई कनकमणियोंसे भक्त भरतजीको प्रभुदर्शनकी सान्त्वना मिल रही है। सुवर्ण महालक्ष्मीका प्रतीक माना जाता है, इस भावसे 'सीयसम'का तात्पर्य कहा है।

रजोवन्दनाका फल

चरित्र-दृष्टिसे सीताजी द्वारा गिराये कनकमणियोंसे शिक्षा है कि सेवाकार्यमें कनक आदिके प्रति आसक्तिका त्याग करना चाहिए। भक्तिदृष्टिसे स्मरणीय है कि प्रभु-पदरजस्का दर्शन होनेपर ही अर्थात् प्रभुकी कृपा होनेपर सीताजीकी कृपाके द्योतक कनकबिन्दुओंका दर्शन प्राप्त हुआ है. जो सीताजीकी अनुकूलताका सूचक है जिसको भरतजी चित्रकूटमें साक्षात् सीताजीके चरणोंका स्पर्श करते हुए प्रकट करेंगे 'सब बिधि सानुकूल लखि सीता'। (चौ० ६ दो० २४२)।

चौ०—सजल बिलोचन हृदयँ गलानी। कहत सखासन बचन सुबानी ॥४॥

भावार्थ : आँखोंमें अश्रु भरकर हृदयमें ग्लानिका अनुभव करते हुए भरतजी सखा गुहसे सुन्दर वाणीमें कहने लगे।

वाणीका सौष्ठव

शा० व्या० : चौ० ६ दो० १८२में 'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगिभे सियराम दुखारी'के भावमें सीतारामजीकी 'कुस साथरी'को देखकर भरतजीके हृदयकी ग्लानि उत्तेजित हो गयी। सखासे मनस्की बात कहनेमें शान्ति मिलती है। अव्यभि-चरित अर्थको समझानेवाली शोभन वाणीको सुबानी कहा है जो भरतजीकी अग्रिम उक्तियोंमें व्यक्त होगी।

गुहविषाद व भरतविषादमें अन्तर

गुहके विषाद और भरतजीकी ग्लानिमें इतना अन्तर है कि गुहने 'सोवत महि बिधि बाम न केही' ? से विधाताको कारण बताते हुए भी कैकेयीजीको दोषी ठहराया (दो० ९१) जिसका समाधान लक्ष्मणजीके परमार्थ निरूपणसे हुआ। भरतजी कैकेयीजीके सम्बन्धसे अपनेको ही सब अनर्थका मूल कहेंगे (चौ० ६ दो० २०१)।

ज्ञातव्य है कि प्राचीन न्यायमतमें जिस प्रकार ज्ञायमान बाध अनुमतिका प्रतिबन्धक होनेसे उसको हेत्वाभास कहा जाता है उसी प्रकार कैकेयीप्रसूत्व राम-राज्योत्सवका प्रतिबन्धक होनेसे रामभक्तिके प्रति कैकेयीप्रसूत्वको भरतजी भक्तिपक्षसे दोष कह रहे हैं। भरतजीकी 'हृदय गलानी'का मूलस्वरूप दो० २००में प्रकट करेंगे।

संगति : श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजीकी गुणयोग्यता, सामुद्रिकलक्षणों व नीत्युक्त गुणोंसे ऐसी है कि सब प्रकारको भोग-सुख सामग्री उनके लिए सर्वत्र उपस्थित होनी चाहिए तथापि कुशशैयाको देखकर उन पदार्थोंकी अभोग्यतामें भरतजी श्रीरामप्रभृति तीनोंके रूप-गुणका प्रकाशन कर रहे हैं।

चौ०—श्रीहत सीय विरहँ दुतिहीना। जथा अवधनर-नारि बिलीना ॥५॥

भावार्थ : सीताजीसे अलग होकर ये कनक-बिन्दु श्रीहीन होकर शोभासे रहित हो गये हैं जैसे अयोध्याके नर-नारी शोकनिमग्न हैं।

आभूषणोंकी शोभाहीनता

शा० व्या० : सीताजीके शरीरपर इन आभूषणों (कनक मणियों)की जो शोभा थी वह उनसे अलग होनेपर नहीं है मानो सीताजीके विरहमें ये तेजोहीन हो गये हैं। श्रीसम्पन्न राजाओं अथवा महात्माओंके स्पर्शसे मणियोंमें तेजस् आता है। वे मणि उनके शरीरपर देदीप्यमान रहते हैं। विवाहके बाद सीताजीके आनेसे सीतारामजीके साथ अयोध्यावासियोंकी 'मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती'की जो कान्ति थी वह सीतारामजीके विरहसे विलीन हो गयी है जिसको भरतजीने अयोध्यामें आनेके बाद देखा है (चौ० ४ ८ दो० १५८)।

संगति : सीताजीकी उच्च भोगयोग्यता ससुरजी और पिताश्रीके सम्बन्धसे समझा रहे हैं।

चौ०—पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु-जोगु जग जेही ॥६॥
ससुर भानुकुलभानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावतिपालू ॥७॥

भावार्थ : सीताजीके पिता राजा जनकजी हैं जिनको संसारमें सम्पूर्ण भोगके साथ योग उपलब्ध है। उनकी उपमा मैं किससे दूँ ? अर्थात् उनकी बराबरीका कोई नहीं है। सूर्यवंशमें सूर्यके समान प्रतापी राजा दशरथजी ससुर हैं जिनकी इन्द्र भी सराहना करते है उनके ऐश्वर्य व पराक्रमका अभिलाषुक होकर इन्द्र भी प्रशंसा करते हैं।

भोग और योग

शा० व्या० : 'करतल भोगुजोगु'से ध्वनित है कि पिता जनकजीको भोगके साथ योगकी प्राप्ति परम्परागत अनायास सुलभ है। सांसारिक सुख सम्पत्तिके भोगमें उनके मनस्की चञ्चलता नहीं है अर्थात् उनके मनोयोगमें कोई विक्षेप नहीं होता। जिस अमरावतीमें सब प्रकारका सुख और ऐश्वर्य भरा है उसके स्वामी इन्द्र सूर्यवंशके राजा दशरथश्रीके ऐश्वर्यको अधिक मानते हैं। ऐसे पिताश्री और ससुरजीके होते सीताजीको 'भोग जोग'का करतलगतत्व व देवाधिपतिका अनुकूलतामें भोग्य सामग्रीकी उपलब्धि नहीं हो रही है, यह भरतजीकी ग्लानिका विषय है।

संगति : स्त्रीके सुखभोगमें संसारमें पिता व ससुरजी के बाद पतिका सम्बन्ध विशेष महत्त्व रखता है। अतः भरतजी पतिका बड़प्पन गा रहे हैं।

चौ०—प्राननाथु रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाई ॥८॥

भावार्थ : सीताजीके प्राणप्रिय रघुनाथजी गोस्वामी पति हैं, वह जिसको बड़प्पन देते हैं, वही संसारमें बड़ा होता है।

पतिकी प्रसन्नतासे लाभ

शा० व्या० : 'रघुनाथ'से श्रीरामचन्द्रजीकी वंशोद्भूत कुलश्रेष्ठता दिखायी है। 'गोसाईं'से पुरुषार्थप्रयुक्त जितेन्द्रियता दिखायी है। 'राम वड़ाई'से प्रभुत्वसूचक बड़प्पन दिखाया है।

'यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप। इव स्वयं' इस भागवतोक्तिके अनुसार जो प्रभुप्रसादसे जगद्वन्द्य हो जाता है, उसकी सेवामें पञ्चभूतात्मक प्रकृति स्वयं उपस्थिता रहती है। ऐसे प्रभुको प्राणके समान पतिरूसमें वरण करनेवाली सीताजी बड़ाईकी अधिकारिणी हैं।

संगति : सीताजीसे रहितभूषणदर्शनप्रयुक्त विलापका उपसंहार कर रहे हैं।

दो०—पतिदेवता सुतीयमनि सीय साथरी देखि।
बिहरत हृदय न हहरि हर! पबि तें कठिनविसेषि? ॥१९९॥

भावार्थ : पतिको देवता माननेवाली पतिव्रताओंमें शिरोमणि सीताजी कुश-शैयापर सोती हैं, ऐसा देखकर भी मेरा हृदय एकाएक नहीं फटता तो, हे शिवजी! क्या वह वज्रसे भी कठोर है?

विलापमें भरतजीका शिव कहना

शा० व्या० : महद् ऐश्वर्यप्राप्ति करके यदि उसका भोक्ता स्वधर्मसे विमुख हो तो भोग्यसुखसे वंचित माना जा सकता है। पर सीताजी तो स्वधर्म-पातिव्रत्यमें पूर्ण स्थिरा हैं जैसा दो० १०३में गंगाजीकी वाणीसे पुष्ट है तथा अरण्यकाण्डमें पतिव्रता श्रेष्ठ अनुसूयाजी द्वारा स्तुत्य है। ऐसी सौभाग्यशालिनी सीताजीका कुशाशैयापर सोना स्मरण करके तीव्र ग्लानिमें भरतजीके मुँहसे 'हा शिव' निकल रहा है। ध्यातव्य है कि सूर्यवंशके इष्टदेव शंकरजी हैं, इसलिए शिवजीका नाम सहज निकल रहा है।

'पबि ते कठिन बिसेषि'से कही हृदयकी कठोरताको भरतजीने दो० १७९में स्पष्ट किया है। भक्तके हृदयकी विशेषता है कि प्रभुकृपासे वह प्रभुके विधानसे होनेवाली बड़ी से बड़ी कठोरताको सहनेमें धैर्यशील रहता है।

संगति : लक्ष्मणजीकी रामसेवागत शुचिताको प्रकट करते हुए भरतजी उनके भ्रातृत्व व पुरजनप्रियता आदिसे नीतिगत गुणोंका गान कर रहे हैं।

चौ०—लालनजोगु लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने ॥१॥
पुरजनप्रिय पितु-मातु-दुलारे। सिय-रघुबीरहि प्रान पिआरे ॥२॥
मृदुमूरति सुकुमारसुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ ॥३॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती ॥४॥

भावार्थ : छोटे सुन्दर बालककी तरह लक्ष्मणजी लालन-पालनयोग्य हैं। ऐसा भाई न हुआ न है और न होनेवाला है। वह नगरवासियोंको प्रिय हैं, माताजी पिताजीके दुलारे हैं और सीतारामजीके प्राणप्यारे हैं। वह देखनेमें कोमल, सौम्य और सुकुमार-

स्वभावके हैं। उनके शरीरमें कभी गरम हवाका ताप भी नहीं लगा, पर अभी वह वनमें सब प्रकारका कष्ट सह रहे हैं। ऐसा जानकर मेरा हृदय फटा जाता है, पर वह इतना कठोर है कि करोड़ों वज्रको भी मात करता है।

भ्रातृप्रेमसे विलाप

शा० व्या० : छोटे बालकमें स्वाभाविक सुन्दरता, कोमलता व लालन पालनार्हता होती है जिसको 'लघु लोने'से व्यक्त किया है। ऐसा बालक प्यारके साथ सँभालकर रखने योग्य होता है। 'मृदु मूरति'से मुखाकृतिकी निर्विकारता व 'सुकुमार सुभाऊ'से स्वभावका भोलापन दिखाया है।

भ्रातृप्रेमके आदर्श (मौल) लक्ष्मणजी बड़े भाईकी सेवामें कृतसंकल्प होकर राज्यके प्रति उदासीन हो लम्बी अवधिके वनवासमें सब प्रकारके वनके कष्टोंको सहते हुए सेव्यगुणसम्पन्न ज्येष्ठ भाईका साथ दे रहे हैं। ऐसा उदाहरण खोजनेपर भी नहीं मिलेगा'। न तो ऐसा आदर्शचरित्र कभी देखा-सुना गया। भरतजी 'भे न भाइ अस अहइ न होने'। (सन्त)का वचन आशिषरूपमें लक्ष्मणजीके लिए अव्यर्थ सिद्ध होगा जो भक्तके रूपमें भरतजीके अमोघ सौहादका प्रकाशक है।

श्रीरामकी मानवता शास्त्रानुयायितामें ही है। नीतिप्रतिपालक श्रीरामजीके अनुगामी लक्ष्मणजीमें नीत्युचित गुण—वल, सत्व, शील, आरोग्य, अस्तब्धता, अचपलता आदि परिपूर्ण होनेसे वह भी पुरजनों एवं माताजी पिताजीके प्रिय हैं। लक्ष्मणजीके सेव्यसेवक भाव-वृत्तिको ध्यानमें रखकर कविने 'पुरजन प्रिय'से पुरजनत्वेन परिजन गुरु आदिका संग्रह करते हुए सेवक व स्वामी श्रीरामका सेवाक्रियाकारक भाव स्पष्ट किया है। इसीलिए स्वामीकी क्रियाओंका भेद होनेसे उनका पृथक्त्वेन आगे चौ० ६में निरूपण किया है।

रामवचनकी एकवाक्यता

लंकाकाण्ड दो० ६१ अन्तर्गत लक्ष्मणशक्तिके प्रसंगमें प्रभुके उद्गारकी एकवाक्यता भरतजीके उक्त वचनोंसे स्मरणीय है जिससे श्रीरामकी लक्ष्मणजीके प्रति प्राणप्रियता सुस्पष्ट है। किष्किन्धाकाण्डमें हनुमानजीसे कहे वचनमें प्रभुने "सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ" (चौ० ८ दो० ३) से सेवककी प्रियताको स्वयं स्वीकार किया है। लक्ष्मणजीको सीता-रामजीका प्राणप्रियता अनन्यसेवासे उपलब्ध है, रामप्रीतिके उद्देश्यसे सेवारत लक्ष्मणजीको 'लालन जोगु' 'पुरजनप्रिय पितु-मातु दुलारे'की सिद्धि हुई है।

लक्ष्मणजीकी उग्रता

बा० का० चौ० ५-६ दो० १७ के वन्दना प्रकरणमें लक्ष्मणजीको 'सतिल सुभग

---

१. जथा पंख विनु खग अति दीना। मनिविनु फनि करिवर करहीना।
अस मम जीवन बन्धु बिनु तोहीं।

भगत सुखदाता' कहा है, उसीको 'मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ' कहकर लक्ष्मणजीका स्वरूप और स्वभाव बताया है। जहाँ प्रभुके विरोधकी आशंका होती है वहाँ लक्ष्मणजीकी तात्कालिकी उग्रता दिखायी पड़ती है, वह उनके सेवास्वभावका द्योतक है जिसकी सँभाल प्रभु करते रहते हैं जैसा 'लालनजोगु'से ध्वनित है।

लक्ष्मणजीको प्रकृतिकी अनुकूलता

'तात बाउ तन लाग न काऊ'से लक्ष्मणजीकी 'लालनजोगु' सुकुमारता दिखायी है। इसका सूक्ष्म अर्थ यह भी है कि किसीकी कोपाग्निका प्रभाव उनके ऊपर नहीं होता क्योंकि 'रघुपतिकीरति बिमलपताका। देउ समान भयउ जस जाका'की स्थितिमें प्रभुके आश्रयसे वह अभय हैं। गूढ़ार्थ यह भी है कि प्रभुसेवाकी तन्मयतामें पञ्चभूतोंकी अनुकूलता उनके लिए उपलब्ध है।

वनवासमें अक्लेश व भ्रातृप्रेममें विपत्तिका उद्गार

ध्यातव्य है कि सेवाभावमें लक्ष्मणजीको कोई वनका क्लेश नहीं है। भूतदया और सौहार्दमें भरतजी लक्ष्मणजीके वनवासमें सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं। 'विपति सब भाँती'से वनके वे सब क्लेश विवक्षित हैं जो प्रभुने सीताजीसे दो० ६२-६३ के अन्तर्गत कहे हैं।

भ्रातृसंगठनका परिचय

इस प्रकार प्रभुकी सेवामें संलग्न लक्ष्मणजीकी सराहना करते हुए अपनेको उससे वंचित समझकर भरतजीको ग्लानि हो रही है जैसा 'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनहुँ सचेतू' आदिसे अपने हृदयकी कठोरताको व्यक्त कर चुके हैं। नीतिदृष्टिसे यह उद्गार भ्रातृसंघटनका परिचायक है।

संगति : 'जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए'की जिज्ञासामें तीनों मूर्तियोंका ध्यान भरतजी करते हुए सीताजी और लक्ष्मणजीका रूपगुण स्मरण करनेके बाद श्रीरामका गुणगान कर रहे हैं।

चौ०—राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप-सील-सुख-सब गुनसागर ॥५॥

भावार्थ : श्रीरामने जन्म लेकर अपने रूप, शील, सुखदातृत्व आदि सबगुणोंके समूहको कार्यान्वित करके संसारको प्रकाश दिया है।

रामावतारका प्रयोजन

शा० व्या० : परशुरामजीके अवतारने राजाओंको अनुशासित करके धर्मपालनके लिए बाध्य किया, पर उनके द्वारा नीतिकी सफलताको मानवताकी स्थापनामें प्रकट करनेवाला मीमांसासम्मत सर्वांगोपसंहारका प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ अथवा इतरानाकांक्ष नीतिके आचरणार्थमें सन्देह बना रहा। अयोध्यादि पुरियोंमें भी देवकृपासाकांक्ष नीतिधर्म था, अथवा धर्मका अस्तित्व धर्ममात्रके नामपर था,

अथवा यों कहा जाय कि नीतिके लिए अपेक्षित धर्मानुष्ठान तो था पर उसका विनियोग नीतिके अभेदमें पर्यवसित नहीं था। उस आवरणको हटानेके लिए रामावतार हुआ।

'राम जनमि जग कीन्ह उजागर'का भाव है कि धर्मतत्त्वको रूप, गुण, शील आदि दैवी सम्पत्तिके योगसे नीतिमें स्थापित करके श्रीरामने शास्त्रानुयायितामें स्फुट होनेवाली मानवता अपनी सात्विकता एवं नीतिमत्तासे प्रकट किया। इस मानवताका स्वरूप जगत्‌में अज्ञाततया ज्ञात था, उसको श्रीरामजीने उजागर किया। सत्यसंध पिताश्रीके वचनको प्रमाण मानकर वनवासद्वारा प्रमेयसिद्धिमें दृढ़ विश्वास रखकर पितृशुश्रुषात्मक मानवधर्मानुष्ठानको शास्त्रविहित तपस्‌के तुल्य फल देनेवाला सिद्ध कर दिया अर्थात् पितृभक्तिरूप तपःशक्तिद्वारा वरदृप्त रावणके बलका सामना करने योग्य तपस् बना दिया। उक्त धर्मानुष्ठानका फल केवल परलोकके लिए ही हितावह नहीं, व्यावहारिक जीवनके लिए भी मंगलकारी है, इस प्रकार पितृशुश्रूषणात्मक मानव धर्मको समस्त विद्याओंसे संबद्ध रूप गुण शील आदि नीतिके अनुष्ठानमें लगाकर भारतीयराजनीतिसे परिपोषित भक्तियोगको स्थिर किया। इसपर दो० २०८किया विचार भी द्रष्टव्य है। (परशुरामजीकी स्तुतिमें श्रीरामके उक्त गुणोंका गान स्मरणीय है)

संगति : श्रीरामके रूप गुण शीलका व्यावहारिक स्वरूप दिखा रहे हैं।

चौ०—पुरजन परिजन गुर पितु माता। रामसुभाउ सबहि सुखदाता ॥६॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि-मिलनि-विनय मन हरहीं ॥७॥
सारदकोटि कोटिसतसेषा। करि न सकहिं प्रभुगुनगन लेखा ॥८॥

भावार्थ : श्रीरामका स्वभाव नगरवासियों, परिजनों, गुरुजी, पिताश्री, माताजी आदि सबको सुख देनेवाला है। यहाँ तक कि शत्रु भी श्रीरामकी बड़ाई करते हैं। उनका बोलना, मिलना और विनयभाव सबके मनस्‌को आकृष्ट करनेवाला है। करोड़ करोड़ सरस्वती और शेषनाग हों तो भी प्रभु श्रीरामके गुणगणोंका वर्णन[1] नहीं कर सकते। इसमें राजा दशरथ वचनकी एकार्थता भी स्मरणीय है।

लोकसंग्रह

शा० व्या० : अर्थशास्त्रकी उक्ति 'शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेत् देवताः सदा' के अनुसार गुणवान् सहृत् स्वामीको पाकर सभी वर्ग सुखी होते हैं। श्रीराम अपने स्वामित्वके निर्वाहमें नीत्युचित व्यवहारसे देवता, गुरुजन, सुहृद, मित्र, शत्रु, बन्धु-बान्धव, स्त्री, भृत्य, साधारणजन आदिकोंसे बोलने मिलनेमें शास्त्रमर्यादित विनयको

---

१. विनयसील करुनागुनसागर। जयति वचनरचना अति नागर॥
सेवकसुखद सुभग सब अंगा। जय शरीर छबिकोटिअनंगा॥
(चौ० ६-४ दो० २८५ बा० का०)

अपनाकर सभी वर्गोंके मनस्‌को आकृष्ट किया है[1]। इसप्रकार अर्थशास्त्रोक्त नीतिसारकी पद्धतिके अनुसार लोकसंग्रहात्मक कार्यमें धर्मकी उपादेयताको प्रकट किया है। धर्मप्रधानमनोवृत्ति एवं वीररसमें स्थायी उत्साहभाव रखनेवालेके सभी कार्य स्वाभाविक तथा लोकप्रीतिके साधक हैं। अर्थप्रधानतामें ऐसा देखनेको नहीं मिल सकता।

कवि संकेतित कोटि-कोटिकी उपपत्ति

'कोटि कोटि'की उक्ति कविसमयसिद्ध है। यह अभूतोपमा है अथवा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके नायक प्रभु श्रीराम हैं। उनके चरित्र अनन्त हैं। सरस्वती और शेषनाग प्रत्येक ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे कोटि-कोटि रूप धारण करके भी प्रभुका गुण वर्णन करना चाहें तो भी सम्भव नहीं है। उत्तरकाण्डमें दो० ८०के अन्तर्गत कागभुशुण्डिजीने 'बहु ब्रह्माण्डनिकाया'का वर्णन करते हुए 'कोटि सुरानन गौरीसा' अगनि उड़गन रवि रजनीसा' आदिसे सृष्टिका विस्तार कहा है। तदनुसार 'सारद कोटि कोटि सत सेषा'की उक्ति संगत समझनी चाहिए।

संगति : लोकसंग्रहाक श्रीरामजीका कुशमें शयन देखकर भरतजीका विलाप समृद्ध हो रहा है।

दो०—सुखस्वरूप रघुबंसमनि मंगल-मोदनिधान।
ते सोवत कुस डासि महि बिधिगति अति बलवान॥२००॥

भावार्थ : रघुवंशके भूषण श्रीराजी स्वयं सुखस्वरूप हैं, मंगल-मोदके धाम हैं। ऐसा होते हुए भी वे कुश और पत्तोंकी शैयापर भूमिशयन करते हैं तो कहना पड़ता है कि विधाताका विधान अत्यन्त प्रबल है।

शा० व्या० : 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म'से श्रुतियोंने ब्रह्मको 'रसो वै सः' कहा है जिससे श्रीरामजीका आनन्दस्वरूप स्पष्ट है। वही आत्मस्वरूप रघुनाथ श्रीरामजीके रूपमें प्रकट हैं। 'मंगल मोद निधान'से स्पष्ट किया है कि आत्मगुणसंपत्तिसे सम्पन्न श्रीरामजीको न तो भोगसुखसामग्रीकी दुर्लभता है और न तो नीतिदृष्टिसे मित्र या सेवकसम्पत्तिकी कमी है। 'मंगल मोदनिधान'के संसर्गमें रहनेवालेको भी सुखसामग्रीकी सुलभता अर्थ प्राप्त है ही। अभिलाषाका सदा परिपूर्ण रहना ही सुखस्वरूप होना है।

सांसारिक जीवोंकी गति अदृष्टके अधीन होना शास्त्रसम्मत है, पर श्रीरामको अदृष्टकी प्रसक्ति है ही नहीं। तब भोगैश्वर्यसम्पन्नने सुखशैया प्राप्त न होकर कुशशैयापर सोना आश्चर्यजनक कहा जायगा। इस अद्भुत विधानको देखकर भरतजी 'विधिगति अति बलवान' कहकर विधाताकी इच्छाको कारण मान रहे हैं। अथवा

---

१. श्रीरामकी सर्वप्रियता सुमित्राजीको उक्तिमें स्पष्ट है 'गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रानकी नाईं' (चौ० ५ दो० ९४)

शास्त्रका अनुगमन करनेवाले रघुनाथजीने विधिकी प्रबलता दिखानेके लिए सत्यसंधके वचनप्रमाणको स्थापित करते हुए स्वेच्छासे स्वसुखका त्याग किया है। इसका निष्कर्ष यह है कि विधिको आदर देने और वचनप्रमाणकी प्रतिष्ठा रखनेके लिए श्रीरामने सुख-दुःखका स्पर्श न होते हुए भी विधिकी अधीनतामें मानवधर्मको चरितार्थ किया है।

संगति : भरतजी बाल्यकालमें श्रीरामजीके दुःखाभावसमानाधिकरणसुखभोगकी सुलभताका स्वरूप दिखा रहे हैं।

चौ०—राम सुना दुखु कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥१॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती॥२॥
ते अब फिरत बिपिन-पदचारी। कंद - मूल - फल - फूल अहारी॥३॥

भावार्थ : श्रीरामने दुःखको कभी कानसे सुना भी नहीं (देखना तो बहुत दूर रहा) पिताश्री राजा दशरथ जीवनके कल्पवृक्षके रूपमें श्रीरामकी सदा सँभाल रखते थे। सब माताएँ दिन-रात श्रीरामजीकी ऐसी देखरेख रखती थीं जैसे नेत्रकी रक्षा पलक करती है और मणिकी साँप करता है। ऐसे गुणसम्पन्न सर्वप्रिय श्रीरामजी अभी जंगलमें नंगे पैर घूम रहे हैं। कंद, मूल, फल, फूलका भोजनकर रहे हैं।

दुःखासमानाधिकरण सुख

शा० व्या० : बाल्यकालसे ही श्रीरामजीको ऐसा सुखभोग प्राप्त था कि दुःख नामक वस्तुसे उनको कभी परिचय ही नहीं रहा। इसलिए राजाके दुःखको देखनेपर श्रीरामजीके सम्बन्धमें कविने 'प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ' कहा (चौ० ३ दो० ४०)।

'जननि सकल'से सब माताओंमें कौसल्याजीका पूर्वजन्मवृत्तान्तको स्मरणमें रखते हुए कहना है कि 'फनि मनि'के दृष्टान्तसे उनको मणिरूप श्रीरामजीसे जो प्रकाश मिला है[1] उसको वह सदा सँभालकर रखना चाहती हैं। पिता श्रीदशरथके जीवनमें तो 'मनि बिनु फनि'की स्थिति स्पष्ट ही है। अन्य माताओंके सम्बन्धमें 'जोगवहिं पलक नयन जेहि भाँति' चरितार्थ है। स्वयंप्रकाशरूप नेत्रके समान श्रीरामजीकी सेवामें सब माताओंकी स्वाभाविक वृत्ति है जैसा कैकेयीजीके वचन 'प्रानसमान रामु प्रिय मोरे' तथा सुमित्राके 'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के'से स्पष्ट है।

संगति : सीतारामजीके महिशयनमें विधाताको विधया कारण बताते हुए भी दृष्ट कारणको स्मरण करके भरतजी अपनी ग्लानिका स्वरूप रामसखा गुहसे छिपाना नहीं चाहते।

---

१. मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥
(चौ० ३ दो० १५१ बा० का०)

चौ०—धिग कैकइ असंगलमूला । भइसि प्रानप्रियतम प्रतिकूला ॥४॥
मैं धिग धिग अघउदधि अभागी । सबु उतपातु भयउ जेहि लागी ॥५॥
कुलकलंकु करि सृजेउ बिधाता । साईं दोह मोहि कीन्ह कुमाता ॥६॥

भावार्थ : सब अमंगलोंकी मूला कैकेयीजीको धिक्कार है कि वह प्राणके प्रियतम श्रीरामके विपरीता हो गयी । पापोंके समुद्र मुझ अभागीको बार-बार धिक्कार है क्योंकि सब उपद्रव मेरे लिए ही हुआ । ब्रह्माजीने मुझको कुलकलंकरूपमें रचा है और कुमाताजीने स्वामिद्रोहका अपयशोभागी मुझे किया है ।

भरतजीके दुष्टत्व शंकापुनरुक्तिका परिहार

शा० व्या० : प्रश्न—चौ० ३ दो० १९८ की व्याख्यामें कैकेयी माताजीके प्रति भरतजीकी पूर्ण भावशुद्धि कही गयी है, दो० २००में 'विधिगति अति बलवान' कहकर भरतजीने विधाताको कारण ठहराया है । फिर यहाँ कैकेयीजीकी कुमति एवं तत्संबंधित अपनेमें दोषकी चर्चा करना कुछ असंगत-सा दीखता है ।

उत्तर—भरतजीद्वारा अपनो ग्लानिको प्रकट करनेमें उक्त चर्चाको उठानेका कारण यह कि उद्दीपनके परिणाममें भी भक्त परंपरया विरोध नहीं सहन करते इस वर्णनका उद्देश्य यह कहा जा सकता है कि कवि श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजीके संगमें रहनेवाले गुहके द्वारा वनवासके कारणका विचार व्यक्त कराना चाहते हैं । भरतजीके द्वारा अपनी अन्तर्हित जिज्ञासाको आहार्यशंकाके रूपमें उठाकर गुहके विचारसे तीनोंका भरतजीके प्रति प्रीतिभाव प्रकट कराकर उसकी मनस्की सन्तुष्टि दिखाना चाहते हैं । अर्थात् जिस प्रकार चौ० २ दो० १९८में 'सुर सेवा करि आयसु पाई'की व्याख्यामें कैकेयी माताजीके प्रति भरतजीके मनोभावकी पूर्ण शुद्धिकी बात कही गयी है उसी प्रकार वनवासके दुःखमें कैकेयीको कारण माननेवाले (दो० ९१) गुहके मनोभावकी पूर्ण शुद्धिके प्रकट होनेका प्रसंग कविने उपस्थापित किया है ।

धिगधिगकी उक्तिका तात्पर्य

सीतारामके वनवाससे अयोध्याकी 'नित नव मंगल मोद बधाएँ' की स्थितिका अभाव फैलानेमें दृष्टि कारण कैकेयीजी हैं, इसलिए 'अमंगलमूला' कहा है । कैकेयीजीको एक बार 'धिग' और अपनेको दो बार 'धिग धिग' कहनेका भाव है कि भरतजी अपनेको कैकेयीजीसे अधिक धिक्कृत मानते हैं जिसमें 'अघउदधि अभांगी' व 'सबु उतपातु भयउ जेहि लागी' हेतुवाक्य है । कैकेयीजीको राजाने जैसे 'तोर कलंक कहा वैसे ही भरतजी अपनेको कुलकलंक' बता रहे हैं । यह दो० २०८में द्रष्टव्य है ।

स्वामिद्रोह (अघउदधि)

पूर्वमें कहा गया है स्वामिद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है । जिस प्रकार समुद्रमें सब नदियाँ समा जाती हैं उसी प्रकार सब पाप स्वामिद्रोह रूप पाप समुद्रमें समाये हुए हैं । माताजीकी कुत्सित मतिसे स्वामिद्रोह रूप 'अघ-उदधि'के भागी भरतजी अपनेको मानते हैं ।

विधातामें सृजेउत्व

सृष्टिके रचयिता ब्रह्माजी हैं, इसलिए भरतजीने अपने जन्मको 'सृजेउ बिधाता' कहा है। यदि कहा जाय कि पुत्रकामेष्टिके फलस्वरूप चरुके प्राशनसे माता कैकेयीजी द्वारा जन्म हुआ, तो भी उसमें ब्रह्माजीकी प्रेरणा सन्निहित कही जायगी।

संगति : श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजीके मतके साक्षी गुहके द्वारा वास्तविकताका परिचायक समाधान कवि करवा रहे हैं।

चौ०—सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ! करिअ कत बादि बिषादू ॥७॥
राम तुम्हहि प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि। यह निरजोसु दोसु बिधि बामहि ॥८॥

भावार्थ : भरतजीके वचनको सुनकर गुह प्रेमपूर्वक समझा रहा है 'हे नाथ! आप व्यर्थ क्यों विषाद कर रहे हैं मनस्में क्यों दुःख मान रहे हैं? आपको श्रीरामजी प्रिय हैं श्रीरामजीको आप प्रिय हैं—यह निर्दोष निर्णय है दोष तो वाम विधाताका है।

दोनों भाईके प्रेममें गुहका साक्षित्व

शा० व्या० : सप्रेमसे निषादका विश्वास भरतजीके प्रति व्यक्त है। ग्लानिमें भरतजीने जो उपर्युक्त दुःख प्रकट किया है वह व्यर्थ है क्योंकि श्रीरामजी सहित तीनोंमें माता कैकेयीजी व भरतजीके प्रति जरा भी दुर्भावना या आशंका नहीं है। सब उत्पातका कारण वाम विधाता है, वही दोषी है।

श्रीरामजी और भरतजीकी पारस्परिक प्रीतिकी वास्तविकताको साक्षिरूपमें बताकर रामसखाके पक्षसे तीनोंकी आन्तरिक प्रीतिका भाव प्रकाशित किया है। शास्त्रानुमोदित पुरुषार्थमें किसी ओर कमी नहीं है तो अर्थशास्त्रसिद्धान्तनुसार दैव (विधि) ही उपालभ्य है। लक्ष्मणजीके परमार्थनिरुपणको सुनकर गुहका मोहनाश हुआ था और समाधान भी प्राप्त था, उसका उपयोग 'समझाउ निषादू'में गुहके द्वारा हो रहा है।

नीतिदृष्टिसे श्रीरामजी और भरतजीकी पारस्परिक प्रीतिकी अभेद्यता भ्रातृ-संघटनका परिचायक है उसकी स्थिरताको बनानेमें सखा गुहका योगदान मित्रता-स्थैर्यका पोषक है, सखाधर्मका यही सार्थक्य है जैसा काव्यप्रकाशमें 'सुहृद' शब्दकी व्याख्यामें कहा गया है।

संगति : 'समझाउ निषाद'का स्पष्टीकरण कवि अग्रिम छन्दमें प्रस्तुत कर रहे हैं।

छ०—बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सराहना रावरी ॥
तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहतु हौं सौहें किए।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरजु हिएँ ॥२०१॥

भावार्थ : वाम विधाताके कठोर कार्यकी यह प्रतिकूलता है जिसने माता

कैकेयीजीको पागल या कुमति कर दिया। शिंशुपा वृक्षके नीचे प्रभुके रात्रिनिवासको 'तेहि राति'से संकेत करते हुए निषाद कहता है कि उस रात्रिमें प्रभु बारम्बार बड़े आदरसे भरतजीकी प्रशंसा कर रहे थे। निषाद शपथ लेकर कहता है कि भरतजीके समान श्रीरामजीका प्रेमपात्र दूसरा नहीं है। इसलिए रामदर्शनयात्रा फलमंगल-दायक जानकर भरतजी अपने हृदयमें धैर्य रखें।

विधिकी अप्रतीकार्यता

शा० व्या० : माता कैकेयीजीका कुमति होना विधाताके कार्यकी कठोरता 'करनी कठिन'से विधिके वामताकी प्रबलता कही है। विधि पौरुषेय नहीं है, अतः पुरुषार्थके बलपर उसका प्रतीकार नहीं हो सकता। शास्त्रका अनुसरण करते हुए भी 'विधि बाम' विषम परिस्थितिमें डाल देता है। विधि ईश्वरप्रसूत होनेसे उसके विधानमें अमंगलकी सम्भावना नहीं है। विधिने तत्कालमें रघुवंशको मंगलसे वंचित किया है, पर परिणाम मंगलदायक करेगा। प्रभुके सन्देशमें कहे 'नीति न तजिअ'के अनुसार नीतिका पालन करते शास्त्रानुयायी भरतजी माताओं, परिजनों, पुरजनोंकी रक्षा करते हुए रामभक्तिके स्थापनार्थ रामदर्शनयात्रा कर रहे हैं जिसका फल 'परिनाम मंगल'से रामदर्शनकी प्राप्ति एवं विधिकी वामतासे होनेवाली विषम समस्याओंका सन्तोषप्रद समाधान ध्वनित कराते हुए निषाद भरतजीको आश्वस्त कर रहा है।

गुहके साक्षित्वका मूल्य आहार्यशंकासमाधान

गुह प्रभुका प्रिय सखा है। 'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा'से विश्वासपात्र है, पवित्रात्मा है। उसके साक्ष्यका मूल्य है। साक्ष्य प्रकट करनेमें शपथ लेना वास्तविकताको प्रकट करनेमें न्यायसम्मत व्यवहार है। प्रभुके रात्रिशयनमें गुहका सान्निध्य रहा। उसके द्वारा भरतजीके प्रति प्रभुका प्रकट मनोभाव विश्वसनीय माना जायगा। अतः गुह शपथपूर्वक कहता है कि उस रातमें प्रभुने बारम्बार भरतजीकी सराहना करते हुए जो कहा है उससे स्पष्ट है कि भरतजीके समान श्रीरामजीका प्रियपात्र दूसरा नहीं है। उसका प्रमाण लक्ष्मणजीसे कहे प्रभुके वचन 'सुचि सुबन्धु नहि भरतसमाना' (चौ० ४ दो० २३२) से संगत है। इस प्रकार कविने भरतजीकी आहार्यशंकाको समाप्त होनेका प्रकार समझाया।

रामप्रीतिके आश्वासनमें गुहके कथनकी वही प्रामाणिकता है जो मुनि भरद्वाजजीके चौ० ३ से ६ दो० २०८में कहे वचनकी है। इससे कविने गुहकी शुचिता स्थापित की है।

संगति : अपनी आश्वासनात्मक उक्तिका उपसंहार करते हुए गुह भरतजीको विश्राम लेनेकी प्रार्थना कर रहा है।

सो०—अन्तरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिअ करिअ बिश्रामु यह बिचारि दृढ़ आनि मन ॥२०१॥

भावार्थ : श्रीरामजी अन्तर्यामी प्रभु है अर्थात् घट-घटको जाननेवाले हैं। वह संकोची हैं, प्रेमी और कृपानिधान हैं। मनस्में ऐसा विचार करके प्रभुप्रीतिका दृढ़ निश्चय रखिये। अब चलकर विश्राम करें।

श्रीरामका अन्तर्यामीना आवरण

शा० व्या० : 'ईश्वर अंस जीव अविनासी। सत चेतन घन आनन्दरासी'से स्पष्ट है कि ईश्वरका अंश जीव माया-अविद्यामें आवृत हो जाग्रदा अवस्थामें शरीरका प्रवर्तक होता है, स्वप्नावस्थामें वह विविधरूपोंका दर्शन करता है, सुप्तावस्थामें निष्क्रिय होता है, इन तीनों अवस्थामें अन्तर्गतिको प्रेरणा देता हुआ ईश्वर जीवकी रक्षा करता है जो तुरीय है। साक्षिरूपसे विद्यमान ईश्वर अन्तर्यामी है। वही अन्तर्यामी साक्षी तत्त्व श्रीरामरूपसे रघुवंशमें अवतरित है। 'सकुच'का भाव है कि सबका प्रवर्तक सर्वज्ञ साक्षी होते हुए भी वह अपने स्वरूपको प्रकट करनेमें संकोची है। जो उपासक शरीरके अन्तर्यामी संरक्षक साक्षीकी शरणमें रहता है, उसे वह सर्वज्ञ ईश्वर यथार्थ अर्थका बोध या साक्षात्कार कराता है—यही उसका 'सप्रेम कृपायतन' स्वरूप है।

श्रीरामका 'सकुचत्व'

रघुकुलमें जन्म लेकर जीवोंको नीतिकी शिक्षा देनेके लिए श्रीरामने प्रयोग-विधिकी सफलताके प्रकाशनार्थ अनुचित कार्यमें संकोच दिखाया है[1] तथा प्रतिज्ञा-तार्थके अनिर्वहणमें कुलीनोचित लज्जासे बचनेके हेतु माता कैकेयीजीके मनोरथको पूर्ण करनेके लिए वनवास स्वीकार किया है अथवा सुमन्त्र द्वारा वनसे लौटनेके लिए राजाका सन्देश सुननेपर सत्यसंधपितृवचनपालनात्मक धर्मसे विरत होनेमें धर्मसम्मत संकोच (दो० ९५ के अन्तर्गत) दिखाया है इत्यादि तत्त्व 'सकुच'से ध्वनित हैं।

कृपायतन

भक्तों व सेवकोंके मनोरथको पूर्ण करनेमें प्रभुका 'सप्रेम कृपायतन' प्रसिद्ध ही है जैसा 'राम सादर सेवक रुचि राखी'से स्पष्ट है। भरतजीके प्रति प्रभुके 'सप्रेम कृपायतन' भावको चौ० ४-५ दो० १४१ में प्रभुके चिन्तनसे कविने स्पष्ट किया है। भरतजीके प्रति प्रभुके रुखका विशेष परिचय गुहको है। जैसा उपरोक्त छन्दमें प्रकट कर चुका है। अत. उसका पुनः साक्षित्व देते हुए भरतजीको रामप्रीतिपर दृढ़ विश्वास करा रहा है। 'विश्राम'का भाव है कि सब शंकाओंको दूर करके मनस्को स्वस्थ रखकर 'बिचारि'के द्वारा प्रभुकृपाके चिन्तनमें स्थिर रहना।

---

१. विमल बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥ चौ० ७-८ दो० १०

संगति : 'रामसखा सुनि स्यंदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा'से रामप्रीतिके उमंगमें जिस सखिभावसे भरतजी गुहकी ओर बढ़े थे, उसका सार्थक्य पूर्ण देखकर कवि हर्षमें भरकर गुहको 'सखा' पदवीसे अलंकृत कर रहे हैं।

चौ०—सखाबचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा ॥१॥

भावार्थ : सखा निषादके वचनोंको सुनकर भरतजी हृदयमें धैर्य धारण कर रघुवीर श्रीरामका स्मरण करते हुए डेरेकी ओर चले।

मानस्का स्थैर्य

शा० व्या० : अपनी ग्लानिमें प्रकट शंकाओंका समुचित समाधान उपरोक्त छन्दमें कहे निषादके वचनसे सुनकर भरतजीका मानस् स्थिर हुआ और धैर्य प्राप्त हुआ 'सखा'से यहाँ निषादके सख्यधर्मकी सरलता व्यक्त की है जिसमें मुनि वसिष्ठजीके कहे 'रामप्रिय'का आशिष सहायक रूपमें अमोघ सिद्ध हो रहा है। इसका उपयोग एक ओर गुहके सख्यधर्मकी प्रार्थनामें है, दूसरी ओर भरतजीके 'उर धरि धीरा'में है। चौ० ४-५ दो० १४१में कहे प्रभुके चिन्तनसे स्पष्ट है कि प्रभुकी प्रेरणासे भरतजीके हृदयमें धैर्यकी स्थिति होनेसे अग्रिम कर्तव्यको समझकर भरतजी भी रघुवीरका स्मरण करते हुए पड़ावकी ओर चल रहे हैं।

भरतजीके हृदयमें गुहके समाधानसे धैर्य प्राप्त होनेपर इसके अनन्तर पूर्वकी तरह मनःसंताप नहीं रहेगा। अतः आगे होनेवाला उनका तत्सम्बन्धी उद्गार प्रमादा भावहेतुक कहा जायगा जो कि उत्तरपक्षके उपस्थापनके उद्देश्यसे होगा और सर्वसाधारणकी शंकाओंके समाधानके लिए होगा।

संगति : भरतजीका शैयास्थलसे आना सुनकर अन्य यात्री उस तीर्थके दर्शनार्थ चल पड़े।

चौ०—यह सुधि पाइ नगरनरनारी। चले बिलोकन आरत भारी ॥२॥

भावार्थ : भरतजीको पड़ावकी ओर आते देखकर अयोध्यावासी नरनारियोंको पता लगा कि वह प्रभुके रात्रिनिवासस्थानको देखकर लौट रहे हैं। तब वे भी उस स्थानको देखनेके लिए आतुर हो उठे।

शा० व्या० : अयोध्याके नरनारीसमाजके 'आरत भारी'का कारण सीता-रामजीके कुशशैयापर रात्रिशयनको सुनना है। वे इतने आर्त हो उठे कि प्रभुकी कुशशैया देखनेहेतु तुरन्त चल दिये।

संगति : रामशैयाको देखते ही अयोध्यावासियोंको दृष्टकारणत्वेन कैकेयीमें दोषत्व स्मृत हो गया जैसा दो० ४८–४९के अन्तर्गत रामवनगमनके अवसरपर जनताका उद्गार कहा गया था।

चौ०—परदखिना करि करहिं प्रनामा। देहिं कैकइहि खोरि निकामा ॥३॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बामबिधातहि दूषन देहीं ॥४॥
एक सराहहिं भरतसनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू ॥५॥
निंदहि आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि ? ॥६॥

भावार्थ : रामशैयाकी प्रदक्षिणा करके वे उसको नमस्कारकर रहे हैं। कतिपय कैकेयीजीको व्यर्थ दोष दे रहे हैं। दूसरेआँखोंमें आँसू भरकर विधाताकी प्रतिकूलताको ही दोषी बता रहे हैं। कोई वर्ग भरतजीके स्नेहभावकी प्रशंसा कर रहा है। कोई कह रहा है कि राजाने अपनी प्रीतिका खूब निर्वाह किया है। कोई अपनेको निन्दित मानकर निषादकी प्रशंसा करते हैं। कवि कहते हैं कि उस समय जनको जो व्यामोह (अज्ञान) और दुःख हो रहा था, वह कहा नहीं जा सकता।

प्रदक्षिणा व निकामा

शा० व्या० : प्रभुकी कुशशैयाकी विधिपूर्वक प्रदक्षिणा व नमस्कार करते हुए पुरवासीजन परम तीर्थस्थलके उसका रूपमें आदर कर रहे हैं।

'निकामा'का अर्थ व्यर्थ या निष्काम है। कविके कहनेका आशय है कि पुरजनोंने कैकेयीका दोष देना व्यर्थ है क्योंकि वे 'वाम विधाता'को दोषी बता रहे हैं या उनके मनस्की निष्कामता (निर्विकारता)का द्योतक है। अतः कहना है कि सत्यसंध राजाके वचन 'तोर कलंक'की प्रसक्तिमात्र दिखानेके लिए कैकेयीको 'देहिं खोरि निकामा' कहा गया है।

सर्वमतकी एकता

पूर्वमें दो० ४९।१से ४९तक पुरवासियोंके विभिन्न मतोंका उल्लेख किया गया है, उनमें केवल दो मतों—(भरतजीकी रामप्रीति व राजाकी प्रीतिका वास्तविक निर्वाह)का यहाँ प्रकाशन करके कैकेयीके प्रति. दोषारोपणको व्यर्थ सिद्ध करते हुए सब मतोंका पर्यवसान 'बाम विधातहि दूषन देहीं'में किया है। 'सराहहि भरत सनेहू'से स्पष्ट किया है कि अयोध्यावानिसी जनता भरतजीकी निर्दोषता एवं रामप्रोतिसे पूर्ण संतुष्ट है। प्रभुके आदेश 'नीति न तजिअ'के पालनमें भरतजीकी यही सफलता है।

निषादकी प्रशंसासे जनताका व्यामोह

पुरवासी अपनेको रामसेवासे वंचित जानकर निन्दित समझते हैं और निषादको प्रशंसायोग्य मानते हैं। इन पुरवासियोंके मनस्में जो व्यामोह और विषाद व्याप्त है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। सुखनिधान प्रभुको वनका दुःख उठाना उनका कुशशैयापर महिशयन आदि देखकर जनताको विषादमें रोना आता है, इसमें किसीका कुछ वश न समझकर व्यामोह हो रहा है अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ताकी स्थितिमें उनको भरतजी ही एकमात्र आश्रय है।

ज्ञातव्य है कि रामवनगमनको सुनकर पुरवासियोंके मनस्की खलबलीमें होनेवाले 'दुसह दाहु' (चौ० २ दो० ४९)में शोकका प्राचुर्य था। यहाँ 'बिमोह विषादहि में 'भरत सनेहू' व 'नृपति निबाहेहुनेहू'से उदीप्त राम स्नेहकी प्रचुरता है।

संगति : चतुर्थ दिनकी .पूर्णता समझा रहे हैं।

चौ०—एहिबिधि राति लोगु सबु जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा ॥७॥

भावार्थ : इस प्रकार सोचते हुए सब लोगोंने रात्रिजागरण किया। सबेरा हाते ही खेवा आरम्भ हो गया।

गुहकी दक्षता

शा० व्या० : रामशैया रूप तीर्थस्थलमें रात्रिजागरण 'एहि बिधि'के अन्तर्गत कहा जा रहा हैं जिसमें रामस्नेहकी चर्चा मुख्य है।

सखा गुहकी दक्षताका उपयोग इससे स्पष्ट है कि उसके द्वारा रात्रिमें ऐसी सुव्यवस्था हो गयी कि प्रातःकाल होते ही गंगापर जानेका कार्यक्रम शुरू हो गया।

संगति : पंचम दिवसकी यात्राका विशेष क्रम समझा रहे हैं।

चौ०—गुरहि सुनावँ चढ़ाइ सुहाई। नई नाव सब मातु चढ़ाई ॥८॥

भावार्थ : एक सुन्दर सुशोभित नावपर गुरुजीको चढ़ाकर माताओंको नयी नावपर चढ़ा दिया गया।

नौकायान सम्बन्धमें अर्थशास्त्रकी दृष्टि

शा० व्या० : 'सुनावँ सुहाई'से विशेष सुशोभित नावपर गुरुजीका अग्निहोत्र-सामग्री सहित सर्व प्रथम चढ़ना कहा गया है तथा अर्थशास्त्रमें कहे नियमको ध्यानमें रखकर राजमाताओंके लिए सर्व प्रकारसे मौलाधिष्ठित अन्यनौनिरपेक्ष-सुरक्षित नावपर चढ़ाना दर्शाया है। अयोध्यापतिके आवागमनके सम्बन्धसे राजाके लिए विशेष सुदृढ़ नौकाओंकी व्यवस्था थी, इसलिए वैसी नौकाओंको 'नयी नाव' कहा जा सकता है।

संगति : अति उत्साहसे सभी गुहकी सहायतासे गंगापार हो गये हैं समयमें।

चौ०—दंड चारि महँ भा सबु पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा ॥८॥

भावार्थ : चार दंड (करीब दो घंटेके लगभग) में सब लोग गंगापार हो गये। पार उतरकर भरतजीने सबकी सँभाल की।

मित्रताका फल

शा० व्या० : गुहकी मित्रता एवं समाजके प्रीति संघटनका परिणाम है कि गंगाजीके पार होनेकी सुव्यवस्था शीघ्रतासे सफल हुई। चौ० १ दो० १९८ में कहे 'भरत सोधु सबहीकर लीन्हाके अनुरूप यहाँ भी रक्षाविधानके अन्तर्गत भरतजीने 'सबहिं सँभारा' कहा है।

पदार्थ परिचय

ध्यातव्य है कि कविने यहाँ यात्राको समझानेमें पदार्थ समझाया है यात्रा क्रमको आगे कहेंगे।

संगति : जिस क्रमसे यात्रियोंका दल अयोध्यासे चला था, उस क्रमसे शृङ्गबेर पुरतक पहुँचा है। यहाँसे यात्रियोंके चलनेका परिवर्तित क्रम कवि प्रथमतः सैन्यदलकी देखरेख समझा रहे हैं।

दो०—प्रातक्रिया करि मातुपद बंदि गुरहि सिरु नाइ।
आगे किए निषादगन दीन्हेउ कटुक चलाइ ॥२०२॥

भावार्थ : नित्य नियमके अनुसार प्रातःकालीन क्रियाको पूर्ण करके भरतजीने माताओंकी वन्दना एवं गुरुजीको प्रणाम किया। फिर निषादके सेवकोंको आगे रखकर उनके देखरेखमें स्वसैन्यदलको चला दिया।

संगति : गुरुजी व माताजीकी यात्राक्रमविशेष समझा रहे हैं।

चौ०—कियउ निषादनाथु अगुआईं। मातुपालकीं सकल चलाईं ॥१॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा ॥२॥

भावार्थ : निषादराजको आगे करके सब माताओंकी पालकियोंको चला दिया और शत्रुघ्नजीको बुलाकर उनको रानियोंके साथ रहनेको कहा। ब्राह्मणोंके साथ गुरुजी चले।

सन्ध्याविधान

शा० व्या० : अर्थशास्त्रोक्त विधान (प्रतिष्ठितऽह्नि सन्ध्यामुपासीत्)के अनुसार भरतजीकी 'प्रातक्रिया' कही गयी है।

यात्राक्रमका परिवर्तन

निषादराजका सहयोग मिल जानेपर भ·तजीके यात्राक्रममें परिवर्तन हो रहा है। पूर्वक्रममें सबसे आगे गुरुजी, उनके पीछे ब्राह्मणसमाज, उनके पीछे नगरवासी उनके पीछे माताएँ सबके पीछे भरतजी थे। भरतजीका सैन्य नवागत है, गुहसैन्यके उत्साहमें उत्साहित है। इसलिए यहाँसे आगे चलनेके क्रममें गुहके विश्वस्त मार्गदर्शक सेवक सबसे आगे हैं, उनके पीछे सेना है, उसके घिरावमें शत्रुघ्नजीके साथ माताओंकी पालकियोंकी व्यवस्था देखता हुआ निषाद चल रहा है, इसलिए कि भरतजी यहीसे पैदल धीरे-धीरे पहुँचेगे। उसके पीछे गुरुजी विप्रसमाजके साथ जा रहे हैं। सबको अनुशासित करनेका कार्यभार गुरुजीके संरक्षकत्वमें है। सबके पीछे अकेले भरतजी हैं।

अतिदेशप्राप्ति व उसका बाध

यहाँ अतिदेशिक न्याय (मीमांसोक्त) मननीय है। उसके अनुसार प्रथम दिनके उक्त यात्राक्रमका अतिदेश आगेके तीन दिनकी यात्रामें प्राप्त है। इसलिए उन दिनोंमें यात्राक्रमकी आकांक्षा निवृत्त है। पंचम दिनके यात्रामें उक्त अतिदेशके कारण क्रमकी अकांक्षा नहीं है फिर भी प्रस्तुत दो चौपाइयाँ उस दिनकी यात्राका क्रम उपदेशसे समझा रही हैं जो कि अतिदेशके पूर्व ही प्राप्त हैं। अतः उपदेशकी सार्थकताके लिए उक्त अतिदेशको बाधित समझना होगा। उसका प्रयोजन अग्रिम शीर्षकोंमें द्रष्टव्य है।

क्रमपरिवर्तनका औचित्य

यात्राक्रमके अन्तर्गत चिन्तनीय है कि अवधवासिसमाज बहुत बड़ी संख्यामें

है। प्रथमतः उनको सैन्यकी सहायतासे गंगापार उतारनेका आदेश भरतजीने दिया होगा। माताओंकी ओर विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है, इसलिए भरतजीने उनको वन्दित करके निषादराज और शत्रुघ्नजीकी देखरेखमें छोड़ दिया।

गुहको आगे करके उसके प्रति रामसखित्वप्रयुक्त विश्वास्यताको भरतजीने अक्षुण्ण रखा है। फिर भी सैनापत्यका पूर्णाधिकार शत्रुघ्नजीमें है।

प्रयागमें बिलम्बसे भरतजीके पहुँचनेका कारण

'अभिषेकसमाजू'को लेकर चलनेमें भरतजीने मुहूर्त्तका विचार किया होगा जैसे ज्योतिषशास्त्रके अनुसार शुक्लपक्ष, उसमें भी नवमी या तदुपरान्त तिथि मंगलकार्यके लिए उत्तम मानी गयी है इससे कल्पना होती है कि भरतजी कृष्णपक्षमें चले होंगे और शृङ्गबेरपुरमें अमावस्याको पहुँचे होंगे। अमावस्योत्तर दिन प्रतिपदा अग्निहोत्र—इष्टिकी पर्वतिथि होती है, उसमें कालबिलम्ब होना है। इसलिए भरतजी रुक गये होंगे, इष्टिसमाप्तिके बाद गुरुजी चले होंगे। अतः भरतजीको आगे बढ़नेमें विलंब भया। पत्नी अरुन्धती व अग्निहोत्रअग्निको साथमें लेकर चलनेसे गुरुवसिष्ठजीकी उक्त इष्टिकी कल्पना विद्वानोंके लिए मननीय है।

संगति : चलनेके समय भरतजी गंगाजीसे अनुज्ञा लेना अपना कर्तव्य समझते हैं।

चौ०—आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लखनसहित सियरामू ॥३॥

भावार्थ : स्वयं भरतजी पीछे रहे, गंगाजीको प्रणाम कर लक्ष्मणजी सहित सीतारामजीका स्मरण करके चले।

मूर्तित्रयका ध्यान

शा० व्या० : ध्यानविधिमें वनवासिश्रीरामसहित तीनों मूर्तियोंका ध्यान विधिसंगत है जैसा पहले कहा जा चुका है। भरतजीके उक्त स्मरणसे रामदर्शन फलप्राप्तिके लिए उक्त विधिका अनुसरण स्फुट है।

संगति : सेवाधर्मकी शिक्षा अनुष्ठानतः जनपदको दे रहे हैं।

चौ०—गवने भरत पयादेहिं पाए। कोतल संग जाहिं डोरिआए ॥४॥

भावार्थ : नंगे पैरोंसे भरतजी पैदल चल रहे हैं। कोतल घोड़े सँगमें किनारे-किनारे चल रहे हैं।

श्रीरामका अनुगमन

शा० व्या० : प्रभुने सीताजी व लक्ष्मणजीके साथ यहींसे पैदल यात्रा की है, ऐसा स्मरण करके भरतजी घोड़े साथमें होनेपर भी स्वामिसेवकभावकी मर्यादासे पैदल चल रहे हैं। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि ये घोड़े वहीं होंगे जो रामरहित रथको लेकर अयोध्या लौटनेमें 'रामतन हेरि हेरि हिहिनाहिं' (दो० ९९) से विकल थे जैसा

निषादने उनको देखकर कहा था—'जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु-पितु जिइहहिं कैसे'? और प्रजाके बारेमें चौ० १ दो० १८८ की व्याख्यामें कहा है। श्रीरामके विरहतापसे विकल इन घोड़ोंके प्राणरक्षणके लिए भरतजीने उनको भी साथ-में लिया है।

संगति : सेवाधर्मको समझानेके हेतुसे भरतजी एवं भृत्यका संवाद सुना रहे हैं।

चौ०—कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ! अस्व असवारा ॥५॥
रामु पयादेहिं पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए? ॥६॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवकधरमु कठोरा ॥७॥

भावार्थ : सेवक लोग बार-बार कह रहे हैं हे स्वामिन्! घोड़ेपर चढ़कर चलिए। भरतजीने उत्तर दिया 'स्वामी श्रीराम तो नंगे पैर पैदल गये, हमने रथ, हाथी या घोड़ेपर चलना क्या शोभनीय है? उचित तो यही है कि मैं मस्तकके बल जाउँ अर्थात् रामपदचिह्नोंको शिरस् टेककर प्रणाम करते हुए जाउँ। सेवक धर्म सबसे कठिन है'।

आपत्तिकी इष्टता

शा० व्या० : अपने पैदल चलनेमें सेवकोंकी आपत्तिको भरतजी सेवाधर्मके अन्तर्गत इष्टापत्ति मानकर स्वीकार कर रहे हैं। सेवकोंके शिक्षार्थ भरतजीकी उक्ति 'सब ते सेवक धरमु कठोरा'का तात्पर्य विवेचनीय है।

सेवाधर्म

अनुजीवीका अर्थशास्त्रोक्त लक्षण—दक्षता, भद्रता, दाढर्य, शान्ति क्लेशसहिष्णुता, सन्तोष, शील, उत्साह आदि सेवक गुणसे स्पष्ट है। स्वामीको अधर्म्य, अनर्थ्य और द्वेषविषयसे निवृत्त कराकर धर्म्य, अर्थ्य और अद्वेष्यमें प्रवृत्त कराना अनुजीवीका धर्म है। स्वामीके भोग्य वेषभूषा, गृह आदि पदार्थोंसे अधिक सुन्दर सुशोभित पदार्थोंको सेवक अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिए। भागवतधर्मावलम्बिसेवकोंकी ऐसी प्रवृत्ति मायासे बचनेके लिए बनी है कि वे प्रभुसे उपभुक्त भोग्यपदार्थोंका ही उपभोग करते हुए अन्यत्र रुचि रखते ही नहीं। सेवोपासनामें जैसे-जैसे सेवककी उदर्याग्नि शुचि होती जाती है वैसे-वैसे भगवत्कृपासे उनकी उदर्याग्नि भगवदुपभुक्त पदार्थों-के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंको ग्रहण करती ही नहीं जैसे राजा अम्बरीष। भरतजीकी इस प्रवृत्तिका परिचय आगे भरद्वाजमुनिजीने किये सत्कारमें मिलेगा (दो० २१५)।

सेवाकाठिन्यकी आस्वाद्यता

वेदशास्त्रोक्त भागवतधर्मान्तर्गत सेवकधर्मकी यही विशेषता है कि फलभोग और स्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे सेवकने कोई आकांक्षा न रखते हुए सदा ईश्वरके परतन्त्र रहना है। यद्यपि स्वामीके प्रति परवशतामें सेवकको कठिन दुःख सहना पड़ता है ऐसा लोकमत है किन्तु सेवकाईकी कठोरता सेवकके लिए दुःख नहीं बल्कि आस्वाद्य होती है।

संगति : सेवककी निश्छलसेवासंक्रमणका प्रभाव समझा रहे हैं।

चौ०–देखि भरतगति-सुनि मृदु बानी। सब सेवकगन गरहिं गलानी ॥८॥

भावार्थ : भरतजीकी सेवा प्रक्रियाकी अस्वाद्यताके अनुरूप उनकी मृदु वाणीको सुनकर सब सेवक मूर्खताकी ग्लानिका अनुभव करके लज्जित हो गये।

सेवककी निर्दम्भताका प्रभाव

शा० व्या० : 'मृदुबानी'का भाव है कि भरतजीको बोलनेमें जैसी प्रसन्नता है वैसी ही सुननेवालेको प्रिय है। वाणीमें स्वाभाविक उच्चार है, दंभप्रयुक्त कोई श्रम नहीं है। 'गरहिं गलानी'का भाव है कि उन सेवकोंके मनसमें लज्जा आ रही है कि सेवकाई भावमें भरतजी कठोरताको सहन करनेमें जेसे प्रसन्न हैं वैसा उन लोगोंसे नहीं बन पड़ रहा है। अतः उन सेवकोंको स्वकृत सेवामें ग्लानि हो रही है।

संगति : निषादके नेतृत्वमें सब समाज भरतजीसे पहले प्रयागमें पहुँच गया। भरतजीको पैदल चलकर आनेमें विलम्ब हुआ जिसका वर्णन कवि कर रहे हैं। भरतजीको भजन करते चलनेके आनन्दमें विलम्बका भान नहीं हो रहा है।

दो०–भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत रामसिय रामसिय उमगि उमगि अनुराग ॥२०३॥

भावार्थ : (पंचम) दिनके तीसरे प्रहरमें भरतजीने प्रयागमें प्रवेश किया। रामप्रेममें उमंगित हो होकर भरतजी 'रामसिय'का कीर्त्तन करते जा रहे हैं।

उमगिकी पुनरुक्ति

शा० व्या० : 'उमगि उमगि' दोबार कहनेका भाव है कि श्रीराजी और सीताजी दोनोंके प्रति भरतजीका अनुराग एकात्मभावमें प्रकट हो रहा है। वर्णनकी दृष्टिसे कहना है कि दाँया और बाँया पैर उठानेमें तालगतिके क्रमसे 'रामसिय रामसिय'का उच्चारण रामप्रीतिमें मनोयोगको बना रहा है। किंबहुना कवि उसकी शोभाका वर्णन कर रहे हैं।

संगति : सेवाके स्वादमें पैरमें फफोले होनेपर भी वे भरतजीको भान नहीं हो रहे हैं। ध्यातव्य है कि पैदल चलते हुए प्रयागमें पहुँचनेके पहले भरतजीने प्रभुके विटपतरुवासका दर्शन भी किया।

चौ०–झलका झलकत पायन्ह कैसें ?। पंकजकोस ओसकन जैसें ॥१॥

भावार्थ : पैदल चलनेसे भरतजीके पैरमें फफोले पड़ गये हैं। वे ऐसे चमक रहे हैं मानो रक्तकमलके कोषमें ओसकी बूँदे चमक रही हों।

चलनेमें श्रमका अनुभव नहीं

शा० व्या० : सेवाभावमें सीताजीकी उक्ति 'नहि मगु श्रमु भ्रम दुख मन मोरें' के अनुरूप सेवाधर्मको आचरित करते हुए भरतजीको पैदल चलनेमें फफोला आदिके

कष्टका अनुभव नहीं है। किंबहुना 'पंकजकोस ओसकन'के दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि भरतजीको शीतलता ही प्रतीत हो रही है। साहित्यिकशैलीसे भरतजीके चरणोंकी कोमलता व शोभाको कविने व्यक्त किया है।

संगति : भरतजीके अद्भुत चरित्र जो कष्टसह हैं उनको देखकर सभीको व्यथा हो रही है।

चौ०–भरत पयादेहि आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥२॥

भावार्थ : आज भरतजी पैदल चलकर ही आये हैं, ऐसा सुनकर सब समाज दुःखी हुआ।

शा० व्या० : भरतजीके प्रति जनानुरागको प्रदर्शित कराते हुए भरतजीके पैदल चलनेको सुनकर सब समाजका दुःख कहा जा रहा है।

संगति : प्रभुने अपनी आकांक्षापूर्ति गंगाजीके अपौरुषेय वचनसे पूर्ण की है। उनके बनवासकी सफलतामें अब सन्देह नहीं रहा। भरतजीने तर्कसे अपना पक्ष प्रस्तुत किया, प्रजाने उसको माना। फिर भी भरतजीकी प्रस्तुत कृतिकी सफलतामें सन्देह हो सकता है जिसका निरास त्रिवेणीके अपौरुषेय वचनसे हुआ, यह समझानेके लिए त्रिवेणीके संवादका प्रसङ्ग प्रस्तुत हो रहा है। उसके उपक्रममें प्रथमतः शिवजी त्रिवेणीके प्रति भरतजीका आदर सुना रहे हैं।

चौ०–खबरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहिं आए ॥३॥

भावार्थ : प्रयागमें पहुँचकर भरतजीने सबका हाल-चाल पूछा। यह पता लगनेपर कि सबलोग नहा चुके हैं, तब भरतजी त्रिवेणीपर आये उन्होंने प्रणाम किया।

भरतजीकी अनुपेक्षा

शा० व्या० : समाजके चलने और पहुँचनेपर उनके सार-सँभालका जो क्रम शृङ्गवेरपुरसे दिखाया गया है, उसी रक्षणक्रमको यहाँ 'खबरि लीन्ह'से कहा गया है।

चौ०–सबिधि सितासितनीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने ॥४॥
देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे। ५॥

भावार्थ : गंगाजीके श्वेत और यमुनाजीके श्याम जलवाले संगममें भरतजीने विधिपूर्वक स्नान किया, तदनन्तर दान देकर ब्राह्मणोंका सत्कार किया। गंगा-यमुनाके श्वेत-श्याम तरंगोंको देखते हुए पुलकायमान शरीरसे प्रसन्न हो भरतजीने हाथ जोड़कर विनती की।

तीर्थविधि व सीतारामकी झाँकी

शा० व्या० : शास्त्रोक्त धर्मपालनक्रियाको अपनाते हुए भरतजीने तीर्थस्नान-विधिको सम्पन्न कर दान व ब्राह्मणोंका पूजन किया है।

सियारामके कीर्तन-स्मरणमें अनुरागजनित पुलकसे भरकर भरतजीको गंगाजीके

श्वेतलहरमें सीताजीका तथा यमुनाजीके श्याम तरंगमें श्रीरामका रूप प्रतिभासित हो रहा है।

संगति : तीर्थराज प्रयागकी प्रार्थना करते हुए भरतजी अपने मनोरथ प्रकट कर रहे हैं।

चौ०—सकलकामप्रद तीरथराऊ। वेदविदित जग प्रगट प्रभाऊ॥६॥
माँगउँ भीख त्यागि निजधरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ?॥७॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचकबानी॥८॥

भावार्थ : हे तीर्थराज ! आप सब मनोरथको देनेवाले हैं। आपका प्रभाव वेदोंमें विदित है, संसारमें भी प्रकट है। मैं अपना धर्म छोड़कर आपसे भीख माँगता हूँ। आर्त्त प्राणी क्या कुकर्म नहीं करता ? ऐसा हृदयमें लाकर हे सुजान ! आप अपने 'सुदानी'—नामकी महिमाको स्मरण करके संसारमें याचकोंकी वाणीको सफल करते हैं।

त्रिवेणीदेशकी महिमा

तीर्थराज प्रयागकी वेदविदित महिमासे आकृष्ट हो ऋषि-मुनियोंने गंगा-यमुनाके बीच प्रयागस्थलको ऋषिनिवास बनाया है जहाँ सब प्रकारकी साधनसिद्धि सुलभ है। स्मरण रखना है कि इसी स्थलपर श्रीरामके प्रभुत्वका यथार्थ अनुमान तापसमिलन द्वारा हुआ है। सांसारिक लोगोंकी फलकामनासिद्धि दिखानेके लिए 'जग प्रकट प्रभाऊ' कहा है। तीर्थराजकी स्तुतिमें चौ० ५ दो० १०६में श्रीरामकी वाणीमें 'सुमिरत सकल सुमंगल देनी'से प्रभुने अपने प्रभुत्वको तिरोहित कर ईशप्रसन्नताकी सापेक्षता दिखाते हुए त्रिवेणीकी जगन्मंगलताक्रिया दर्शायी है। भरतजीकी उपर्युक्त वाणीमें 'सकल कामप्रद'से जीवभावप्रयुक्त मनोरथ (रामदर्शन) कहा गया है।

आर्तिमें निजधर्मका त्याग

क्षत्रियके लिए याचना निषिद्ध होनेसे 'त्यागि निज धरमू' कहा है। निजधर्मको छोड़कर परविहित याचनाधर्मकाअवलम्बन विकर्म होनेसे 'कुकरमू' कहा है। 'आपत् काले मर्यादा नास्ति'—नियमके अनुसार भरतजी अपनेको आर्त्त मानकर याचनारूप विकर्मको आपत्कालीनस्थितिमें अपनानेमें 'काह न करइ'से अपनी विवशता दिखा रहे हैं। जिस प्रकार जीवनकी कीमतको देखकर आयुर्वेद अभक्ष्य या निषिद्धका सेवन उसी अवस्थामें बताता है जब रोगके उपचारमें औषधरूपमें उसका सेवन अपरिहार्य है, उसी प्रकार भरतजी सदाके लिए संभावित रामराज्योत्सवभंगकी आर्त्तताको दूर करने व रामदर्शनके लिए याचनाको निन्दित समझते हुए भी उक्त दोषनिरसनसूचक रामभक्तिकी याचना चाहते हैं। इस प्रकार आत्मरक्षणार्थ भरतजी द्वारा कहा 'कुकरमू' श्लाघ्य माना जायगा भागवतधर्ममें उसका पर्यवसान होनेसे धन्य भी कहा जायगा।

भरतजीकी आर्ति व लोकतन्त्र

'आरत'का यह भी भाव है कि माता कैकेयीजीके सम्बन्धसे भरतजीमें जो कुटिलाईका आरोप है वह रघुवंशके लिए कलंक है, राजोत्सवभंग दूसरी आर्ति हैं। अथवा रामप्रीतिके प्राप्तिसे उद्देश्य 'नीति न तजिअ'के अनुगमनसे प्रजाको शंकाको निर्मूल करते हुए भरतजी प्रभुके शरणमें पहुँचनेको आर्त्त हैं इस आर्त्त अवस्थाको भरतजी चौ० ६ दो० १८२ व चौ० ३ दो० १८३में प्रकट भी कर चुके हैं। फलतः एकतन्त्र (राजतन्त्र)में लोकतन्त्रकी स्थापना होकर नीतिकी शुद्धिसे भक्तिकी स्थापना होगी।

'जिय जानि'से रामभक्तिकी याचनामें भरतजीके मनस्की निश्छलताको 'सुजानी' तीर्थराज जानते हैं।

संगति : भरतजी अपना मनोरथ प्रकट करते हुए तीर्थराजसे याचना कर रहे हैं।

दोहा—अरथ न धरम न कामरुचि गति न चहउं निर्बान।
जनम-जनम रति रामपद यह बरदानु न आन ॥२०४॥

भावार्थ : भरतजी कहते हैं "मेरी किसी अर्थ धर्म व तत्प्रयुक्त कामनामें रुचि नहीं है, न निर्वाणगति चाहता हूँ। मैं यही वर माँगता हूँ कि जन्म-जन्ममें मेरी प्रीति श्रीरामके चरणोंमें बनी रहे—इसके अतिरिक्त दूसरा नहीं चाहिए।

भरतजीकी प्रीति

शा० व्या० : राजनीतिमें अर्थ प्रधान है, इसलिए अर्थका उल्लेख सर्वप्रथम किया है। अतः भरतजीने नीतिमय चरित्रमें अर्थ पहले कहा है। पितृवचनार्थ पालनधर्मको सामने रखकर श्रीरामने वनवास स्वीकार किया है जैसा दो० ४१ में स्पष्ट है। चौ० ३-४ दो० १९४में गुरुजीने वचनप्रमाणके आधारपर ही राजाका प्राणत्याग व श्रीरामका राज्यत्याग कहकर भरतजीको 'करहु तात पितु वचन प्रवाना'से 'करहु राजु परिहरहु गलानी'की प्रेरणा भरतजीको दी है। इसीको भरतजीने 'कामरुचि'से व्यक्त किया है। राज्यरूप अर्थ और कामको लेकर सब उपद्रव हुए हैं, उसमें नियामक वचनार्थ धर्मको इस प्रकार तीनों रुचिका निषेध कर अपना मनोरथ त्रिवेणीके सामने भरतजी प्रकट कर रहे हैं।

शास्त्रोंने धर्म आदिको ईश्वरभक्तिमें अंग होनेपर बाधक नहीं कहा है। ये बाधक तभी होते हैं जब अनुष्ठाता अपने कामनाविषय स्वार्थसिद्धिमें उनका उपयोग करता है। भगवदुपासक वैसा नहीं है वह अर्थ-धर्म-कामका युक्तियुक्तसेवन उसी रूपमें करता है जिस प्रकार वे भक्तिमें सहायक हों, अतएव भक्त उनको रामपदप्रीतिका विषय बनाता है जिससे बुद्धिमें व्यामोह न हो। शास्त्रानुयायी भरतजी उक्त पुरुषार्थोंको उपेक्षित नहीं समझते, न तो स्वतन्त्र उद्देश्य कहकर उनको स्वीकार करते हैं। 'न आन'से स्पष्ट किया है कि प्रभुपदप्रीतिके अतिरिक्त चारों पुरुषार्थोंसे सम्बद्ध विषय प्रीतिविषय

नहीं है। इसलिए रामपदप्रीतिके प्राप्तिके बाद दूसरे वरकी याचनामेंउनकी रुचि नहीं, ऐसा भरतजीका दृढ़ निश्चय प्रकट हो रहा है।

'गति न चहउँ निर्बान'से स्पष्ट किया कि अद्वैतसिद्धान्तसे प्राप्त होनेवाला मोक्ष सेव्य-सेवक भावापन्न सगुणापासनाकी भक्तिमें वांछित नहीं होता, न तो धर्मार्थ कामकी समुचित साधनासे जो गति प्राप्त होती है वह भरतजीको इष्ट है।

रामरतिकी अक्षुण्णता

दो० १९८ में भरतजी द्वारा स्वयंमें आरोपित दोष रूप 'या कलंक'के फलस्वरूप उनको जन्म लेना पड़े तो सांसारिक विषयान्तरमें प्रवृत्ति न हो, इसलिए 'रति राम पद'का वरदान माँग रहें हैं। अथवा रामपदप्रीतिको प्राप्त करनेमें असफल होनेपर अनेक जन्म लेना पड़े तो भी उनकी याचना यही है कि तत्तत् जन्ममें रामपदमें रति अक्षुण्ण रहे।

संगति : रामदर्शनप्राप्तिसाधनमें जो न्यूनता रह गयी हो, उसको दूर करके रामप्रीतिकी समृद्धिके लिए भरतजी प्रार्थना कर रहे हैं।

चौ०—जानहुँ रामकुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरसाहिबद्रोही ॥१॥
सीतारामचरनरति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे ॥२॥

भावार्थ : चाहे श्रीराम मुझे कुटिलरूपमें समझें या लोग मुझको गुरु व स्वामिका द्रोही कहें, तो भी आपकी कृपासे श्रीसीता-रामजीके चरणोंमें मेरा प्रेम नित्य प्रति बढ़ता रहे।

श्रीसीता-रामके तरफसे प्रीत्यभावकी आशंकामें प्रार्थना

शा० व्या० : दो प्रेमियोंके बीचमें दौर्जन्य या क्रूरताकी शंका प्रीतिबाधामें कारण मानी गयी है। चौ० ५ से दो० २०० तक अपनी उक्तिमें भरतजीने श्रीरामकी निर्दोषता प्रकट की है। अतः वे सीतारामजीकी प्रीतिविरोधी कारण अपने दोषको ही मानते हैं। दो० १७८ में कहे कुटिलताप्रयुक्त दोषोंके अतिरिक्त गुरुजी व माता कौसल्याजीके वचनोंका उल्लंघन तथा 'साइँ दोह मोहि दीन्ह कुमाता'से स्वामिद्रोहकी कल्पना करते हुए स्वामी श्रीरामकी ओरसे अपने प्रति प्रीतिका अभाव होनेकी आशंकामें त्रिवेणीसे 'सीतारामचरनरति'की उत्तरोत्तरवृद्धिकी याचना कर रहे हैं।

त्रिवेणीका महत्त्व

'अनुग्रह तोरे'से स्फुट किया है कि गंगा-यमुना-सरस्वती-तीनोंके गुणोंका समुच्चयस्वरूप त्रिवेणी संगममें है जैसा बालकाण्डके आरम्भमें 'साधु समाज प्रयाग'में निरूपित है। अतः 'रामभक्ति सुरसरि धारा'से रामप्रीतिको बढ़ाने, 'विधिनिषेध मय कलिमल हरनी यमुनारूपमें भरतजीके उक्त दोषोंको हरने एवं 'सरसइ ब्रह्मविचार-प्रचारा'के रूपमें विमल विवेकको देनेमें त्रिवेणी समर्था है। चौ० ८ दो० १९७में

गंगाजीसे प्रार्थना करते हुए 'सीयराम पद सहज सनेहू'की याचनाको भरतजी यहाँ 'अनुदिन बढ़उ'से पुष्ट कर रहे हैं।

प्रीतिमें अन्यूनता

प्रीतिमें आजीवन कभी न्यूनता न हो, 'प्रीतिं प्रति प्रीतिः'के साध्यसाधनभावके नैरन्तर्यको 'अनुदित बढ़उ'से स्पष्ट किया है। साहित्य शास्त्रमें प्रीतिके अनुभावोंका जैसा क्रम कहा गया है, उसके अनुसार प्रीति-उत्कर्षकी क्रमोन्नति 'अनुदिन बढ़उ'से स्फुट की गयी है।

सेवककी प्रीति

नीतिदृष्टिसे भरतजीकी उक्तिका तात्पर्य इस प्रकार है—सेवकका कर्तव्य है कि यदि स्वामी उसको निमित्तसे दूर रखे या सेवककी प्रीतिके परीक्षार्थ उसके दोषोंको स्वामी प्रकट कराता है तो भी स्वामीकी उपेक्षा समझकर उसके प्रति अपनी प्रीतिको दूर न करे किन्तु उसे बनाये रखे और सेवक अपनेमें ही दोषोंकी कल्पना करके स्वामीमें दोषदृष्टि न रखे।

संगति : स्वामीमें दोषदर्शनाभाव प्रकट कराकर सेवक (भरतजी) का अत्युत्कृष्ट सेवाभाव कवि दिखा रहे हैं। इसमें उद्देश्य वरप्राप्तिकी उपपत्ति दिखाना है।

चौ०—जलदु जनमभरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥३॥
चातकु रटनि घटे घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥४॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतमपद नेम निबाहें॥५॥

भावार्थ : जैसे चातक जन्म भर 'पीउ-पीउ' रटता रहे बादल उसकी याद भुला दे, या वह स्वातिबूँदकी याचना करता रहे उसके बदलेमें बादल बिजली गिरावे या ओला बरसावे, उसके परिणामस्वरूप चातककी रटन घट जाय तो भी उसका बादलके प्रति प्रेम बढ़ता रहता है, इसीमें उसकी सब प्रकार भलाई है। जैसे तपानेसे सोनेकी चमक बढ़ती है उसी प्रकार प्रियतमके प्रति प्रेमका निर्वाह करते रहनेसे प्रेम बढ़ता रहता है।

चातकदृष्टान्तसे सेव्यसेवकभाव

शा० व्या० : चातकके दृष्टान्तसे अर्थशास्त्रोक्त स्वाम्यनुजीविवृत्तको दर्शाया है। स्वामी कल्पवृक्षके समान है, सेवक अथार्थी याचकरूपमें है। यदि अनेकविध याचक उपस्थित हों तो किसी एक याचकका योगक्षेम बनानेमें विलम्ब अथवा उस सेवककी निष्ठाके परीक्षार्थ स्वामीकी ओरसे होनेवाला विलम्ब सेवकके लिए दण्ड या उपेक्षित दिखायी पड़ सकता है, किन्तु सेवकने स्वामीके हितमें ही सदा लगा रहना चाहिए। स्वामीके प्रति उसकी प्रीतिमें कमी न होना सेवकको भलाईमें सहायक है अर्थात् कालविशेषमें स्वामीका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेमें सफलता देनेवाला है।

यहाँ चातक सेवकरूपमें है, बादल स्वामी है। बादलके द्वारा चातककी उपेक्षा या उपलवर्षादिसे दण्डित होनेपर भी चातक अपनी पुकार बन्द नहीं करता। 'पबि पाहन डारउ'से चातककी रटन कम भी हो जाय तो भी स्वातिकी बूँदके लिए उसकी तृष्णा बढ़ते हुए है मेघके प्रतिं आन्तरिक प्रीतिमें उसकी स्वाभाविक वृत्ति बनी रहती है अर्थात् चातकके समान सेवककी रुचि होनी चाहिए। यदि उसमें असंभावनाका उद्रेक होकर स्वामीके प्रति निष्ठा या एकात्मक चिन्तन घट जाय तो प्रोतिपरीक्षामें असफलता होनेसे सेवककी भलाई नहीं होगी। भरतजी की रामपदरतिकी याचना तत्कालमें पूर्ण हो अथवा कालान्तरकी अवधिके बाद हो, उनकी आन्तरिक प्रीतिमें कमी न होगी। नन्दिग्राममें राम-राम रटते हुए भरतजो स्वाति-बूँदके समान प्रभुके दर्शनकी आशामें रामप्रीतिमय रहेंगे जैसा प्रभुके अवधमें आनेकी सूचना देतें हुए हनुमानजी ने कहा है 'जासु विरहँ सोचहु दिन-राती। रटहु निरन्तर गुनगन पाँती' (चौ० ३ दो० २ उ० का०)।

भरतजीका द्रव्यत्व

सुवर्णके दृष्टान्तसे भरतजी का नीतिशास्त्रके मतसे द्रव्यस्वरूप प्रकट किया है। जैसे खूब तपाये जानेके बाद सोना निखरता है उसी प्रकार चौदहवर्ष तक रामविर-हाग्निमें तपते कठोर व्रत करते हुए भी भरतजीके रामप्रेमकी निर्मलता-उज्वलता बढ़ती जायगी जैसा अयोध्याकाण्डकी समाप्तिमें ग्रन्थकारने दो० ३२५के अन्तर्गत वर्णन किया है जिससे भरतजी का 'प्रियतम पद नेम निबाहें' सुप्रकाशित होगा।

संगति : प्रभुके मन:संकल्प ('भरत सीलु सनेहु सेवकाई') युक्त शुचिता (चौ० ४ दो० १४१)को शिवजी त्रिवेणीकी अपौरुषेय वाणीसे प्रमाणित करा रहे हैं। इस संदर्भमें चौ० २ दो० १९८में 'आयसु पाई'की व्याख्या ध्यातव्य है।

चौ०–भरतबचन सुनि माझ त्रिबेनी। भइ मृदुबानि सुमंगलदेनी ॥६॥

भावार्थ : भरतजी के वचनको सुनकर त्रिवेणोजलके भीतरसे सुमंगल देनेवाली अपौरुषेय मृदुवाणी ध्वनित हुई।

सुमंगलदेनी

शा० व्या० : चौ० ५ दो० १०६में त्रिवेणीमहिमागानमें प्रभुके वचनार्थ सुमंगल देनी'की उपधायकता भक्त भरतजीके लिए 'सुमंगलदेनी'से कवि प्रकाशित कर रहे हैं। गंगाजी, यमुनाजी व सरस्वतीजीका संगम त्रिवेणी है, उन तीनोंकी प्रसन्नता भरतजीमें रामभक्तिकी परिपूर्णता, विधिनिषेधकलिमलहरण तथा आन्वीक्षिकीप्रयुक्त विवेक त्रिवेणीकी 'मृदुबानी'से स्फुट है। 'सुमंगल देनी'से प्रभुके निमित्तसे किये गये मनोरथकी पूर्तिमें ही सेवक मंगल मानता है अथवा भरतजीके मनोरथ (रामदर्शनकी आकांक्षा)की पूर्ति ध्वनित है।

अपौरुषेयवाणीसे शुचितासिद्धि

त्रिवेणीजलमध्यसे निकलनेवाली 'मृदुबानी' अपौरुषेय वाणी है जैसे शिवजीके

ढक्कानिनादसे निकलनेवाले 'अ इ उण्' आदि व्याकरणके चौदह सूत्र हैं। तनुरूपमें प्रकट होकर न बोलना अपौरुषेयताका अनुमापक है। इसी प्रकार अपौरुषेय वेदवाणीको ब्रह्माजीने समाधिमें ग्रहण किया। वायुलहरीसे निकलनेवाली उस वेदवाणीको ऋषियोंने ध्यानमें पकड़ा उसके यथार्थं दृष्टादृष्ट फलको देखकर घुणाक्षरन्याय न होनेकी उन्हें प्रतीति हुई। इसी आधारपर वर्णाश्रमसमाज वेदवचनको प्रमाण मानकर शास्त्रविधिका पालन करता हैं। शास्त्रविधानका अनुष्ठान नीतिमें परिणत होनेपर प्रत्यक्षानुमानसे समन्वित हो मंगलदायक सिद्ध होता है। उसी आधार पर विश्वासके साथ कहना है कि वचनप्रमाणका अनुगमन करनेवाले श्रीराम और भरतजीके चरित्रसे परिपूत रामचरितमानसकी वाणी कलिकालमें शास्त्रवचनके समान आदरणीय है, साधु-सन्त तथा वर्णाश्रम समाज सबके लिए अनुष्ठेय एवं लोकपरलोकके लिए मंगलदायक है।

चौ०—तात भरत ! तुम्ह सबबिधि साधू। रामचरन-अनुराग अगाधू ॥७॥

भावार्थ : 'हे तात भरतजी ! तुम सब प्रकारसे साधु हो। तुम्हारा रामचरणोंमें अगाध प्रेम है।'

साधुकी व्याख्या

शा० व्या० : 'तात !' प्रीतिका गौरवसूचक सम्बोधन है। 'साधु'की परिभाषा इस प्रकार कही गयी है—उपधाचतुष्टयसे जिसकी शुचिता परिज्ञात है, वह साधु है। प्रमाणत्रयसे प्रमित स्व-पर हितसाधनताप्रयुक्त क्रियाकलापोंका अनुष्ठाता साधु है।

सबविधिसाधुत्व विद्यास्थानमें

प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर लोकमें भरतजीके प्रकट साधुत्वकी शब्द प्रमाणद्वारा पुष्टि त्रिवेणीकी वाणीसे होनेपर 'सब बिधि' साधू कहा है जिसका समर्थन प्रभुके बचनसे चित्रकूटमें होगा'। तात्त्विक दृष्टिसे 'सब बिधि'का तात्पर्य आन्वीक्षिकीके माध्यमसे विद्याओंके बलाबलके निर्णयमें भरतजीका समुचित विचार, त्रयीका आदर नीतिका अनुष्ठान आदि विवक्षित है। 'सब बिधि'के अन्तर्गत चौ० २ दो० १९८में 'आयसु पाई'की व्याख्यामें कहा विषय ध्यातव्य है। सर्वविध साधुत्वकी प्रतिपत्ति भक्तियोगमें करना ही भरतजीका 'राम चरन अनुराग अगाधू'का साधक है। भरतजीके 'अनुराग अगाधू'का स्वरूप प्रभुके भावमें—'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ'से चौ० ८ दो० २३२में स्पष्ट होगा।

भारतीय चरित्रमें अनुरागावस्था

जिस प्रकार सीताजीके मनोरथपूर्तिमें गंगाजीने सीताजीके पातिव्रत्यप्रयुक्त गुणोंको आधार मानकर उसकी सफलताको अपौरुषेयवाणीसे पुष्ट किया उसी प्रकार त्रिवेणीने भरतजीकी 'रामचरनरति' याचनाकी सफलतामें भरतजीकी शुचिताप्रयुक्त रामप्रीतिको सम्पूर्ण समाजके सामने अपौरुषेय वाणीसे प्रमाणित किया है।

इस प्रकार भरतजीके चरित्रसे ग्रन्थकारने यह स्फुट किया कि भारतीय

समाजका ध्येय अनुरागकी अन्तिम अवस्था तक पहुँचाना है जब कि वर्णाश्रमसे भिन्न इतर समाजकी पहुँच रागावस्था तक ही है।

संगति : त्रिवेणीकी अपौरुषेयवाणीमें भरतजीका अपने प्रति कल्पित दोष तथा स्वामीकी ओरसे कल्पित दोष दोनोंका निराकरण किया जा रहा है।

चौ०—बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्हसम रामहि कोउ प्रिय नाहीं ॥८॥

भावार्थ : तुम मनस्में व्यर्थ ग्लानि कर रहे हो। श्रीरामको तुम्हारे समान प्यारा दूसरा नहीं है (जो धर्मयुत चरणरतिसे संभव है)।

शंकानिरसनसे प्रीतिकी पूर्णता

शा० व्या० : त्रिवेणीकी वाणीसे भरतजी 'सब बिधि साधू' हैं तो अपने दोषोंकी कल्पनामें ग्लानि करना उचित नहीं है। 'मन माहीं'का भाव है कि 'राम चरन अनुराग अगाधू'से स्फुट शुचि भरतजी मनस्से स्वामीके गुणोंमें अनुरक्त हैं। इस प्रकार पूर्व अर्धालीसे भरतजीके स्वदोषकी कल्पनाको निरस्त किया है उत्तर अर्धालीसे स्वामीकी ओरसे होनेवाली चौ० १ दो० २०५में कहे दोषशंकाकी कल्पनाको निरस्त किया है।

प्रत्यक्षसे असम्भावनाका पूर्णनिरास

प्र०—त्रिवेणीकी वाणीसे दृढ़ बोध होनेपर भी प्रभुके पास पहुँचनेतक अपने दोषोंका प्रकाशन करना भरतजीके लिए कहाँतक उचित है ?

उ०—इसके उत्तरमें कहना है कि जबतक प्रभुकी प्रसन्नता प्रत्यक्षतया व्यक्त नहीं होती तबतक भरतजीके मनस्में पूर्ण सन्तोष नहीं होगा जैसा चौ० ६ दो० १७७में "जद्यपि यह समुझतहउँ नीके। तदपि होत परितोषु न जी के'से भरतजी व्यक्तकर चुके हैं। भरतजीकी निर्दोषता एवं रामप्रियताको लोकमें प्रत्यक्षप्रमाणसे चित्रकूटमें सिद्ध कराकर ग्रन्थकार उसकी वास्तविकताको नीतिके अन्तर्गत मान्यता देना चाहते हैं जो भरद्वाज ऋषिके वचन ('प्रेमपात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं' चौ० ३ दो० २०८)से और 'तुम्ह सम रामहि प्रिय कोउ नाहीं'की पुष्टि स्वयं प्रभुके वचनसे चित्रकूटमें व्यक्त होगी (दो० २३२)।

सन्तोष

नीतिसिद्धान्तके अनुसार समस्त प्रकृतियोंके अनुगमनसे सेवकके प्रति स्वामीको सुख होता है। स्वामी श्रीरामकी प्रियता स्वप्रकृति भरतजीपर पूर्ण इसलिए है कि भरतजीके आश्रयमें समस्त प्रजा रघुवंशके प्रति एकता बनाये हुए रघुनाथ श्रीराममें अनुरक्ता है। भरतजीमें प्रभुकी प्रियताका यह मर्म ग्रन्थकारने चौ० ८ दो० ७ तथा चौ० ४-५ दो० १४१में स्फुट किया है।

संगति : अपौरुषेय वाणीके द्वारा भरतजीकी शुचिताका प्रामाण्य सिद्ध हुआ देखकर देव फूल बरसा रहे हैं।

दो०—तनु पुलकेउ हियँ हरषु सुनि बेनिबचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल ॥२०५॥

भावार्थ : अपने मनोरथके अनुकूल त्रिवेणीके वचनको सुनकर भरतजी प्रेममें शरीरसे पुलकायमान व हृदयसे हर्षित हो गये। देवता लोग प्रसन्न होकर फूल बरसाते हुए 'धन्य भरत, धन्य भरत' कह रहे हैं।

धर्मकी प्रतिष्ठामें प्रशंसा

शा० व्या० : प्रभुके आदेश ('नीति न तजिअ')का पालन करते हुए अपने नीत्युचित व्यवहारसे भरतजीने प्रभुप्रीतिका अर्जन किया है। देवताओंके हर्ष एवं साधुवादसे भरतजी द्वारा होनेवाली धर्मकी प्रतिष्ठा ध्वनित है। चित्रकूटमें स्पष्ट होगा कि प्रभुकी प्रेरणासे भरतजी त्रयीकी स्थापनामें तत्पर हैं। 'अनुकूल'का भाव है कि त्रिवेणीके अपौरुषेय वचन से भरतजीको प्रभुकृपाका विश्वास और देवोंकी पुष्पवर्षासे रामदर्शनमें देवानुकूलताकी अनुभूति हुई।

संगति : उपर्युक्त विषयका उपक्रम करते हुए कवि उसका उपसंहार चौ० ८ दो० २१० में करेंगे। उपक्रममें धर्मप्रतिष्ठाप्रयुक्त यशस्का विस्तार आगे दिखाया जा रहा है।

चौ०—प्रमुदित तीरथराजनिवासी। बैखानस - बटु - गृही - उदासी ॥१॥
कहहिं परसपर मिलि दस-पाँचा। भरतसनेहु-सीलु- सुचि - साँचा ॥२॥

भावार्थ : तीर्थराज प्रयागके निवासी जिनमें वानप्रस्थ, बटु-ब्रह्मचारी, गृहस्थ और उदासी मुख्य हैं, दस-दस पाँच-पाँच एकत्रित होकर आपसमें चर्चा करते हैं कि भरतजीका स्नेह, शील और शुचिता सच्ची है।

दमनकी सफलता व प्रयागवासियोंको सूचना

शा० व्या० : राजशास्त्रके अनुसार धर्मसंबद्ध दण्डप्रणयनकी सफलता यही है कि भरतजीने विकट स्थितिमें राज्यकी समस्याओंका समाधान करते हुए समाप्रयोग द्वारा शृंगवेरपुरपर्यन्त वनवासियोंको एकसूत्रमें बाँधकर राजसमाजको प्रयागमें पहुँचाया है जिसकी प्रशंसा प्रयागवासी चतुराश्रम समाज 'भरत सनेहु सील सुचि साँचा'से कर रहा है। दूरवर्ती समाज द्वाराकी सराहना राजनीतिक दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भरद्वाजमुनिके पास श्रीराम सीधे पहुँच गये, इसलिए प्रयागवासियोंको उनके आनेका पता बादमें लगा जैसा चौ० ५-६, दो० १०८से स्पष्ट है। भरतजीका दल प्रयागमें पहले ही पहुँच गया है, इसलिए प्रयागवासी भरतजीके आनेके पहले ही इकट्ठे हो गये हैं। एक तत्त्व यह भी है कि प्रयागवासियोंको भरतजीके शील-स्नेह-शुचिता-प्रयुक्त प्रेम स्वरूपको समझनेमें देर न लगी, क्योंकि 'भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरसहिं फूल'से भरतजीके रामप्रीति, सेवकत्वसाधक शुचिता, सर्वविध स्वामिद्रोहका अभाव, सत्व, शील, सत्य आदि गुण तीर्थवासियोंको परिज्ञात हुए, जिस प्रकार

भरद्वाजजीको 'निसि सब तुम्हहि सराहत बीती' (चौ० ४, दो० २०८)से भरतजीके प्रति प्रभुके स्नेहका मर्म परिज्ञात हुआ।

संगति : भरतजीके द्वारा सभामें गुरुजीके मतपर असन्तोष प्रकट करनेपर उसके सांधकहेतुकी जिज्ञासा होना प्रसिद्ध है। उसका निराकरण करनेके लिए अग्रिम गन्थ प्रारम्भ हो रहा है।

चौ०–सुनत रामगुनग्राम सुहाए। भरद्वाजमुनिबर पहिं आए ॥३॥

भावार्थ : श्रीरामके सुन्दर गुणगणोंको सुनते हुए भरतजी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीके पास आ गये।

भरद्वाजाश्रमकी ओर भरतजीका आकर्षण

शा० व्या० : १०६ दो० ७ चौ०में 'तब प्रभु''''आए' कहा है वैसा न कहकर 'भरद्वाजमुनिवर पहि आए' कहा इससे मालूम होता है कि सेवक अपने गुणोंको सुननेसे निरपेक्ष रहकर स्वामीके गुणोंको ही सुननेमें रुचि रखता है। तीर्थवासियों द्वारा 'भरतसनेहु सील सुचि साँचा'की चर्चामें भरतजी प्रभुके गुणोंको ही ध्वनित मानते हैं। अतः 'रामगुन ग्राम सुहाए' भरतजीको आकर्षित करके भरद्वाज-आश्रममें ले जा रहा है। न कि स्वयं भरतजी गये अर्थात् भरतजीमें इच्छापूर्वक आगमनकर्तृत्व नहीं है। इसकी उपपत्ति ६ चौ०में देखें।

अथवा राजनीतिक विधिसे राजाकी यात्रामें मार्गको व्यवस्था सुरक्षा करते हुए जिस प्रकार बलाध्यक्ष आगे-आगे जाता है, उसी प्रकार 'निषादनाथ अगुआई'से जो मार्गकी व्यवस्था होगी उससे भरतजीको भरद्वाज-आश्रममें पहुँचना युक्तिसंगत कहा जायगा क्योंकि भरतजीके सन्तोषके लिए प्रभुके रात्रिनिवासस्थानका दर्शन एवं प्रभुके संसर्गमें रहनेवाले भरद्वाजमुतिका मिलन कराना गुहको इष्ट है।

भरतेतर और मुनिभरद्वाजजीका मिलन

ज्ञातव्य है कि भरतजीने 'रसारसातल जाइ' ऐसी प्रतिज्ञा की उसका साधकहेतुका निरूपण नहीं हुआ। उसीके निरूपणार्थं ग्रन्थकारको भरत-भरद्वाज-सम्वादका निरूपण करना मुख्यतया इष्ट है, गुरु वसिष्ठजो माताओं, शत्रुघ्नजी आदिका भरद्वाजजीसे मिलन नहीं कहा गया है इससे यह निर्णय करना असंगत है कि वे भरद्वाजजीसे नहीं मिले या भरद्वाजजी उनसे नहीं मिले। जैसे चित्रकूटमें राम-भरत मिलापमें भरतजीसे मिलनेके बाद श्रीराम स्वयं आकर गुरुजी, माताओं आदिसे मिले वैसा ही यहाँ समझना है।

संगति : भरतजीकी प्रतिक्षामें उनको अचानक देखकर भरद्वाजमुनिकी प्रीतिका वर्णन कर रहे हैं।

चौ०–दंड - प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत भाग्य निज लेखे ॥४॥

भावार्थ : भरतजीको दंडवत नमस्कार करते देखकर भरद्वाजमुनिको ऐसी प्रतीति हुई मानो अपना भाग्य ही मूर्तिमान् उपस्थित हुआ है।

भरद्वाजजीका भाग्योदय

शा० व्या० : भरतजी जैसे महान् शुचि साधु भक्तका दर्शन दुर्लभ है। भरतजी-के प्रति श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीका अतिप्रेम एवं प्रभुद्वारा भरतजीकी- प्रशंसासे भरद्वाजमुनिको भरतजीके दर्शनकी आकांक्षा जागृत थी, उस आकांक्षामें भरतजीको मुनिने देखा है। भाग्योदय होनेपर जैसे भाग्यसे फलित होनेवाला लाभ अनायासेन उपलब्ध होता है उसी प्रकार स्वयं आश्रममें आकर भरतजीका दृष्टिगोचर होना प्रभुकृपाका मूर्तिमान् स्वरूप है जिसको 'मूरतिमन्त भाग्य' कहा है।

संगति : भरद्वाजजीसे बिदा होते समय प्रभुके वचन 'सो बड़ सो सब गुनगुन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू' (चौ० ३ दो० १०८)का संकेत सेवक भरतजीके लिए ध्वनित माना जाय तो अति उपयुक्त होगा क्योंकि भरत-हितमें उसका उपयोग करनेकी तत्परता मुनिकी अग्रिम इतिकर्तव्यतामें 'कृतार्थ कीन्हे'से स्पष्ट हो रही है।

चौ०–धाइ उठाई लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे ॥५॥

भावार्थ : मुनिने दौड़कर भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया और आशीर्वाद देकर कृतार्थ किया।

धाइउठाइका भाव

शा० व्या० : श्रीरामके मिलनके अवसरपर भरद्वाज मुनिको 'उर लाए' (चौ० ९ दो० १०६) कहा गया था—जिससे मालूम होता है कि मुनि ध्यानमें बैठे होंगे उसीमें प्रभुकी उपस्थितिकी अनुभूति होनेपर आँख खोलकर प्रभुको समीप देखकर मुनिने हृदयसे लगा लिया। यहाँ जाग्रद् अवस्थामें भरतजीके दर्शनकी आकांक्षामें मुनि बैठे हैं इसलिए आवेगमें 'धाइ उठाइ'की विशेष क्रिया हो रही है। 'कृतारथ कीन्हे'का भाव है कि मुनिने अपने प्रेमालिंगन और आशीर्वादसे भरतजीको राममिलनका विश्वास करा दिया अथवा भरतजीके स्वयं कृतार्थता-योग्यताको 'दीन्हि असीस'से प्रकट किया।

संगति : दोषी होकर मुनिके सामने उपस्थिति भयी है ये क्या कहेंगे ? इसलिए भरतजीको संकोच हो रहा है।

चौ०–आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच ग्रहँ जनु भजि पैठे ॥६॥

भावार्थ : मुनिने बैठनेके लिए आसन दिया तो भरतजी सिर नवाकर बैठ गये। उनके मनस्में ऐसा संकोच होने लगा कि भागकर घरमें छिप जाय।

भरतजीका दोषसे झुकना

शा० व्या० : 'बाम बिधाता'से अदृष्टको कारण ठहराया गया है, पर दृष्ट कारण कैकेयी तथा उससे सम्बन्धित (दो० १९८में कहे) स्वदोषको मानते हुए भरतजीको अभी संकोच है इसलिए अशुचि बनकर मुनिके सामने मुँह दिखानेसे छिपनेका भाव अच्छा समझते हैं। यह भरतजीका संकोच है।

संगति : भरतजीके मनसके उक्त सोच-संकोचको कवि आगे स्पष्टकर रहे हैं।

चौ०–मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सील सँकोचू ॥७॥

भावार्थ : मुनि कुछ पूँछेगे तो क्या जवाब देंगे ? यही भरतजीको बड़ा सोच है। भरतजीका ऐसा शील और संकोच देखकर भरद्वाज ऋषि बोले।

संकोचपर भरतजीको आश्वासन

शा० व्या० : चौ० ४से६ दो० २०१में 'सब उतपातु भयउ जेहि लागी'से अपनेको मूल कारण मानते हुए कैकेयी माताजीकी अदृष्टप्रेरित कुमति एवं उसकी वर्तमान निर्विकारताको कैसे कहें ? इसका भरतजीको बड़ा भारी सोच है। क्या राम-प्रीतिका आवरण लेकर सब समाजको जोड़कर वह प्रभुसे मिलने जा रहे हो ? ऐसा पूछेंगे तो इसका उत्तर क्या देंगे ? आदि बातोंको सोचकर भरतजीके मनस्में संकोच है जिसको मुनिने जान लिया। भरतजीका शील संकोच देखकर 'धाइ उठाइ लिए उर लाई'से अपनाकर आश्वस्त किया है भरतजीको जैसा रावणभ्रातृत्व, निशिचरवंश, तामसशरीर आदिके संकोचमें दूरसे प्रणाम करते हुए विभीषणको प्रभुने गले लगाया।

आर्षज्ञान

'ऋषि लखि सीता संकोचू'से मुनि भरद्वाजजीका ऋषित्वप्रयुक्त ज्ञान दिखाया है। ऋषिगण अपने ध्यानसे वातावरणमें गूँजनेवाली वेदध्वनिको पकड़नेमें समर्थ होते हैं तो भरतजीके मनस्का संकोच जानना कठिन नहीं है। आगे 'सुधि पाई'से स्पष्ट होगा कि भरद्वाज ऋषिको सब घटनाएँ ज्ञात हैं। अतः तटस्थरूपमें उन घटनाओंकी युक्ति-युक्त अन्वीक्षा करते हुए ऋषि भरतजीके संकोचको दूरकर उनकी ग्लानिका समाधान करेंगे।

संगति : अपने आर्षज्ञानको मुनि प्रकटकर रहे हैं।

चौ०–सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। विधिकरतब पर किछु न बसाई ॥८॥

भावार्थ : हे भरतजी ! सुनो। हमें सब बातोंका पता है। विधाताके विधानपर कुछ वश नहीं चलता।

भरतजीकी ग्लानिका समाधान

शा० व्या० : कैकेयीप्रसूत्व दोषपर मुनि क्या कहेंगे ? ऐसा सोचते भरतजी शिरस् नीचा करके संकोच और ग्लानिमें बैठे हैं, इसलिए 'सुनहु'से ऋषि उनको सावधान होकर सुननेके लिए कह रहे हैं। ऋषिके 'सब सुधि पाई'में विशेष बल है क्योंकि घटनाओंकी वास्तविकता समाधियोग द्वारा ज्ञात है। भरतजीके पूर्वमें कहे 'बड़ सोचू'में ग्लानिके दो मुख्य विषय हैं—एक कैकेयीजीकी कुमतिसे होनेवाली कुटिलता जिसका परिणाम रामवनगमन है, दूसरा पिता श्रीके वचनको आधार मानकर राज्य लेनेकी प्रेरणामें गुरुजनोंके वचनकी अवहेलना। किन्तु इसपर ग्लानि करना यह ठीक नहीं है। क्योंकि इसके पीछे विधिकी करतूत है। वह पौरुष नहीं है किन्तु वैदिक है। वेदविधि (गंगावचन) अपौरुषेय अपरिवर्तनीय निर्दोष, अविकल तथा इष्टकर

है। 'विधि करतब'से ऋषिका तात्पर्य है कि पूर्वनियोजित विधिका विधान ही प्रेरक एवं शासक यहाँ हुआ है, उसपर किसीका वश नहीं है। चिन्तनीय है कि कौसल्याजी, गुरु वसिष्ठजी, विचारवान् पुरवासियों आदिने विधिको ही सब घटनाओंका कारण स्थिर किया था, उसीका समर्थन मुनि भरद्वाजजीने भी किया है।

संगति : भरतजीको निर्दोषी कह रहे हैं।

दो०—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु समुझि मातुकरतूति।
तात! कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति॥२०६॥

भावार्थ : 'हे तात! तुम अपने मनस्में माताजीकी करनीको सोचकर ग्लानि मत करो। उसमें कैकेयीजीका दोष नहीं है। सरस्वती ही उसकी बुद्धिको बिगाड़कर लौट गयी थी।

प्रस्तुत घटनाके कारणका प्रकाशन

शा० व्या० : 'सब सुधि पाई'की उपरोक्त व्याख्यानुसार स्पष्ट है कि भरद्वाज मुनिको दो० १२में कहा सरस्वतीका कार्य समाधियोगसे प्रत्यक्ष हो गया है। अतः उसकी वास्तविकताको सर्वोपधाशुद्ध भरतजीके सामने प्रकट करनेमें भय नहीं है।

वसिष्ठजीका मौन

प्रश्न : इस रहस्यको गुरु वसिष्ठजीने पहले ही क्यों नहीं उद्घाटित कर दिया?

उत्तर : भरतजीकी शुचिता प्रकाशित होनेके पूर्व गिराको प्रकाशित करना गुरुजीको इष्ट नहीं था क्योंकि तटस्थ उदासीन ऋषिके द्वारा इसका प्रकट होना भरतजी एवं समाजके लिए अधिक मूल्य रखता है। इसी हेतुसे मुनि भरतजीके साथ चल रहे हैं।

संगति : रामवनवास प्रति भरतजीने कैकेयीप्रसूत्वको कारण 'भै मोहि कारन सकल उपाधी'से व्यक्त किया है। जनताने 'एक विधातहि दूषन देहीं'से विधिको कारण ठहराया है। भरद्वाजजीने कैकेयीप्रसूत्वको दोषी न मानकर कैकेयीके कुमति-मत्त्वमें गिराको दोषी बताया, यह कैसे संगत है? इसका समाधान ऋषि कर रहे हैं।

चौ०—यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु वेदु बुधसम्मत दोऊ॥१॥

भावार्थ : यह कहना भी कोई अच्छा नहीं कहेगा क्योंकि जो भी हुआ है वह विद्वानोंकी सम्मतिसे लोक और वेद दोनोंको मान्य है।

शा० व्या० : 'लोकु वेदु सम्मत'से प्रत्यक्षानुमानवादी एवं शब्द-प्रमाणवादी दो प्रकारके विद्वान् विवक्षित हैं। 'लोक'के अन्तर्गत प्रत्यक्षानुमानवादी हैं और 'वेद'के अन्तर्गत शब्दप्रमाणवादी हैं। आपाततः सरस्वतीके उक्त कार्यको कोई भला नहीं कहेगा, पर सरस्वतीकी उक्ति 'आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कवि मोरी'के अनुसार प्रमाणत्रयसे प्रमित कार्य जगद्धितसाधनताको समझकर हुआ है। अतः विद्वानोंकी सम्मतिमें वह कार्य लोक और वेद दोनोंसे मान्य होगा।

नीतिलक्षणसमन्वय

संगतिमें कहे तीनों पक्षमें प्रमाणबल होनेसे सरस्वतीको दोषी ठहराना उचित नहीं है। इसमें 'यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ' ऋषीका प्रतिज्ञावाक्य समझना चाहिए, 'लोक वेद बुधसम्मंत दोऊ' हेतुवाक्य है, जिसका आशय है कि रामवनवासकी फलसाधनता लोकवेदप्रमाणसे सिद्ध है। इसके स्पष्टीकरणमें कहना है कि चौ० १, दो० १७७में 'प्रजा सचिवसम्मत सबहीका'से भरतराज्यमें सर्वसम्मति होनेसे रामवनवासमें लोकसम्मतिका प्रमितत्व है जैसा कि चित्रकूटमें अयोध्यावासी नरनारियोंके (चौ० ६-७, दो० २७३में) उद्‌गारसे स्फुट होगा जो लोकप्रमाणका परिचायक है। गंगाजीकी अपौरुषेय वाणीसे (दो० १०३में) वेदप्रमाणप्रमितत्व भी है। इस प्रकार लोकसे प्रत्यक्ष-अनुमान तथा वेदसे शब्दप्रमाणको लेकर रामवनवासका प्रमाणत्रयप्रमितत्व सिद्ध होता है। इसीको गुरु वसिष्ठजी दो० २५८में 'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि' कहकर प्रभुके सामने प्रस्तुत करेंगे, प्रभु उसको स्वीकृत करेंगे।

वनवासको देशकालका योग अपेक्षित था, जिसको प्रभुकी इच्छाके अधीन होकर सरस्वतीने अपने योगदानसे कैकेयीजी और भरतजीको घटक बनाकर कार्यान्वित किया। इस प्रकार तीनोंकी निर्दोषता संगत है। पिताश्रीके वचनपालनसे रामवनवास धर्म है, तथा उपरोक्त व्याख्याके अनुसार वह नीतिसम्मत है।[१] ऐसा भरतजीको समझाकर भरद्वाजऋषि भरतजीकी ग्लानिका समाधान कर रहे हैं।

संगति : भरतजीकी शुचिताको मुनि महर्षि समझा रहे हैं।

चौ०—तात ! तुम्हार बिमलजसु गाई। पाइहि लोकउ वेदु बड़ाई ॥२॥

भावार्थ : हे तात ! तुम्हारा निर्मल यशस् गाकर लोक और वेद दोनोंको बड़ाई मिलेगी।

भरतजीको शुचिताका गायन

शा० व्या० : धर्म और नीतिकी प्रतिष्ठामें कृतसंकल्प भरतजी अपने प्रति संभाव्यमान समस्त शंकाओंको जनमानससे उच्छेद्य कराकर सबको रामप्रीतिमें लगा रहे हैं, यह उनका यशस् है। आर्य एवं आर्ष अन्तःकरणवाले भरतजीके यशस्‌की विमलता यही है कि त्रिवेणीकी अपौरुषेय वेदवाणी एवं वर्णाश्रमसमाज वनवासियों (लोक) द्वारा वे मान्य हैं। प्रभु भी भरतजीकी प्रसंशाका गौरव मानते हैं। अतः उनका आचरण प्रमाणरूपमें मान्य व अनुकरणीय है।

संगति चौ० ५ दोहा १७५ में गुरुवसिष्ठजी द्वारा कहे भरतजीकी राज्यप्राप्तिमें

---

१. प्रत्यक्षपरोक्षअनुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूलये सति यथासाध्यं उपार्थसाधनानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिर्नयः। नीतिसार उपाध्यायनिरपक्षा स० १।

'सुनि सुखु लहब राम-बैदेही। अनुचित कहब न पण्डित केही'को विद्वत्-सम्मत बताते हुए प्रथमतः भरद्वाज ऋषि उसका समर्थन कर रहे हैं।

अथवा 'ब्रिधि करतबु पर कछु न बसाई'से मुनि भरद्वाजजीने स्पष्ट कर दिया है कि विधिविधानकी प्रबलतामें श्रीरामजी और भरतजी दोनों प्रवर्त्य हैं। जैसे वनवासमें श्रीरामजीकी प्रवर्तना स्पष्ट हो गयी है। राज्यप्राप्तिकी प्रवर्तनासे भरतजीको धर्मकी दृष्टिमें प्रवृत्त होना चाहिए जिसको मुनि भरद्वाजजी प्रकट कर रहे हैं। भक्तिकी दृष्टिसे तो महर्षिका विचार दो० २०७में प्रकट होगा।

चौ०—लोक-वेदसम्मत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई ॥३॥
राउ सत्यव्रत तुम्हहि बोलाई। देत राजु सुखु धरमु बड़ाई ॥४॥

भावार्थ : पिताश्री जिसको राज्य दें वही राज्य पाता है, इसको सब वर्ग लोकवेद सम्मत कहता है। सत्यसंध राजा भी बुलाकर तुम्हें राज्य देते। इसमें सबको सुख मिलता, धर्म रहता और बड़ाई होती।

राजसम्मतिको नियामक माननेमें विनिगमना

शा० व्या० : अर्थशास्त्रोक्त विधान 'विनीतं आत्मसंपन्नं यौवराज्ये अभिषेचयेत्'के अनुसार श्रीराम और भरतजी आत्मगुणोंसे सम्पन्न होनेसे पिताश्रीके लिए दोनों वरणयोग्य हैं जैसा राजा दशरथकी उक्ति 'मोरे भरतु रामु दुइ आँखी'से स्पष्ट है परन्तु श्रीरामजीका ज्येष्ठत्व कैकेयीजीके द्वारा याचित मनोरथपूर्तिप्रागभावके प्रतिबन्धक रहते राज्याभिषेकमें नियामक नहीं होनेसे श्रीरामजीका 'सब विधि सब लायक' न रहा, न तो भरतजीका कनिष्ठत्व हो सकता था, ऐसी स्थितिमें भरतजीको राज्य देनेके निर्णयमें व्यवहाराध्यायके अनुसार राजशासनको नियामक मानकर भरतराज्यको वे मन्त्रियोंसे सम्मति लेकर घोषित करते जैसे श्रीरामजीको राज्य देनेके निर्णयमें राजशासनकी नियामकतामें राजाने प्रधान मन्त्री एवं गुरु वसिष्ठजीकी सम्मति व 'सेवक सचिव सकल पुरवासी'के मतको जानना चाहा (दो० ३ के अन्तर्गत व्यक्त किया गया है)।

ज्येष्ठके राज्यत्यागकी नियामकता राजनिर्णयका अनुमोदन

अथवा—धर्मशास्त्र राज्य पदके लिए ज्येष्ठत्वको नियामक मानता है जो रघुकुल रीतिसे भी संगत है जिसको कैकेयीने भी स्वीकार किया है (चौ० ३ दो० १५)। जब ज्येष्ठपुत्र राज्यत्याग करे तभी कनिष्ठको राज्याधिकारी बनाया जा सकता है। इसी पक्षको लेकर, कैकेयीजीके वरदानके फलस्वरूप श्रीरामजीके द्वारा राज्यत्यागकी स्थितिमें राजाने चौ० ७-८ दो० ३१में भरतजीको बुलाकर राज्य देनेकी बात कैकेयीजीसे कही थी—इसीको अनुमोदनरूपमें 'राउ सत्यव्रत तुम्हहि बोलाई, देत राजु'से ऋषिने कहा है।

विधिके प्रेरकत्वाप्रेरकत्वका विचार

भक्त्यनुगामिधर्मनीतिके अनुसार ज्ञातव्य है कि 'राउ सत्यव्रत'से मुनि भरद्वाजजीने स्पष्ट किया है कि कैकेयीजीके वरदानमें श्री राजाकी वचनबद्धता आधार है जिसको मानकर श्रीरामजीने राज्यत्याग एवं सावधिक वनवास स्वीकार किया (दो० ४१)। 'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू'से भरतजीकी राज्यप्राप्तिका समर्थन भी किया। तब उपरिनिर्दिष्ट युक्तिके अनुसार पिताश्री द्वाराकी कनिष्ठपुत्र भरतजीमें राज्यप्रतिपत्ति अनौचित्यावह नहीं सिद्ध होती। साथ-ही-साथ यह भी ज्ञातव्य है कि कैकेयीजीके विधिमें इतनी बलवत्ता नहीं कही जा सकती कि भरतजीके लिए उस विधिप्रवर्तनासे राज्य लेना अपरिहार्य हो। दो० ३२ की व्याख्याके अनुसार राजा जीवित रहते तो उनके 'भरत राज-अभिषेकु'की उपपन्नतामें 'देखौं नयन भरि'से व्यक्त 'सुखु धरमु बड़ाई' मिलती। अथवा उपर्युक्त विधिकी प्रवर्तनाके विचारमें यह भी कहना है कि राज्याभिषेकको स्वीकार करनेमें श्रीरामजीको जैसी स्वतन्त्रता है, वैसी भरतजीको भी है। परन्तु सरस्वतीद्वारा प्रेरिता कैकेयोके वरदानसे सम्बद्ध विध्यर्थ प्रवर्तनासे श्रीरामजीके लिए वनवास अपरिहार्य है, भरतजीके लिए राज्यस्वीकृति करानेमें वह भरतजीके लिए प्रवर्तक नहीं है किन्तु भरतजीकी स्वतन्त्रतापर निर्भर है।

दायाधिकार

अथवा—दायभागदृष्टिसे कहा जा सकता है कि कैकेयीकी मनोरथपूर्ति नैमित्तिक विधिके रूपमें है। नैमित्तिक विधिने रामराज्याभिषेकात्मकनित्यविधिको तत्कालमें बाधित किया है, इससे नैमित्तिकविधिकी बलवत्ता स्पष्ट है। एवंच नैमित्तिक विधिके अनुसरणमें भरतजी यदि राज्य स्वीकार करते हैं तो उनमें लोभ और अनुरागाभावकी निर्णीति हो जाती है तथा रामवनवासमें भी नीतित्व निर्विवाद है। अतः राम-वनवास व भरतराज्यारोहणमें दायभागका भी कोई विरोध नहीं है।

संगति : प्रश्न है कि भरतजी निर्दोष हैं तो वे चित्रकूटमें क्यों जा रहे हैं?

समाधानमें कहना यह होगा कि भरतजी वहाँ नहीं जाते तो माता कैकेयीजीकी कृतिमें उत्सवभंग-अनर्थ-मूलत्व सदाके लिए सिद्ध होता। उसी अनर्थको आगे समझा रहे हैं।

चौ०—रामुगवनु बनु अनरथमूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥५॥
सो भावीबस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी ॥६॥

भावार्थ : श्रीरामका वनगमन (अभी) सबको अनर्थका मूल प्रतीत हुआ जिसको सुनकर सम्पूर्ण संसारको पीड़ा हुई है। भविष्यत्के वश हो कैकेयीजीने अज्ञानितामें जो कुटिल करनी की, उसके हेतु अन्तमें उस माताजीने पश्चात्ताप किया।

अनर्थकी निर्दुष्टता

शा० व्या० : 'अनरथु अवध अरम्भेउ जवते। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तबते'से

मन्थराके षड्यन्त्रसे आरम्भ होनेवाला जो (रामवनगमन) अनर्थ प्रसिद्ध है, उसीको यहाँ 'अनरथमूला' कहा है, उसीके परिणाममें राजाकी मृत्यु, रानियोंका वैधव्य, राज्यकी अ'ाजकस्थिति, जनताका शोक आदि अनर्थ हैं।

ध्यातव्य है कि ये सभी अनर्थ इष्टोत्पत्तिनान्तरीय (कीर्ति व राज्यारोहण-मध्यवर्ती) दुःख तब होंगे जब अयोध्यामें आकर प्रभु राज्य लेंगे। अन्यथा उक्त अनर्थ आजीवन दुःखसाधन ही रहेंगे जो 'अनरथमूला'से समझाया है अभी वह दोष नहीं है। निष्कर्ष यह कि प्रभुके शरणमें भरतजीके पहुँचनेसे उक्त अनर्थ भक्तिरसमें निर्दुष्ट होंगे।

विश्वका शूलवत्त्व

चौ० १ दो० ९२ में गुहकी उक्ति 'कुमति कीन्ह सब विस्व दुखारी'की व्याख्यामें 'विस्व दुखारी'के विषयमें कहा गया है। (चौ० ४ दो० ८१) 'कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष-विषादबिबस सुरलोकू'में भी 'सकल विस्व भइ सूला'का संकेत है। अथवा विश्वसे चतुवर्णाश्रम लोक माना जाय तो उनकी वेदनाका कारण गृहस्था-श्रमोचित धर्मपालनकी अवस्थामें गुणवान् धर्मविजयी शूरवीर पुत्रका राज्यसे निष्कासित होकर वनमें जाना है जिसके सम्बन्धमें पार्वतीजीने भी 'राज तजा सो दूषन काहीं' प्रश्न किया है। जैसा (चौ० ६ दो० ४१ अरण्यकाण्ड)में 'सहत राम नाना दुख भारा'को देखकर विश्वका प्रतिनिधित्व करनेवाले नारदजीके मनसमें भी सोच हुआ।

भावविवशता

'भावी बस'से स्पष्ट किया है कि 'बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू'से प्रभुने जिस विधिको अपनाया है, उसी विधिकी अधीनतामें सरस्वतीने कैकेयीजीकी मतिको फेर दिया। 'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी' 'रानि अयानी करि कुचाल'से स्पष्ट किया है कि अज्ञानिताके आवरणमें कैकेयीजीने कुटिलताका कार्य किया है जैसा नारदमोहके प्रसंगमें शिवजीने कहा है, 'ग्यानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ'। शिवजीने जिसे 'सो' कहा है, उसीका प्रयोग भरद्वाज ऋषि कैकेयीजीके लिए 'सो रानि' कहकर कर रहे हैं।

रानीकी कुचाल

भरतजीसे कहे गुरु वसिष्ठजीके वचन 'कैकइ कुटिल कीन्ह जस करनी'के एकवाक्यतामें मुनि भरद्वाजजी 'करि कुचाल' कह रहे हैं। शास्त्रविरोधी कार्य ही कुचाल है, अर्थात् राज्याधिकारी ज्येष्ठपुत्रको राज्यच्युत करके विना अपराध वनमें भेजना कैकेयीजीकी उक्तिमें 'तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बन्धु सुखदाता'से श्रीरामजीका यथार्थ गुणको प्रकट कर रहा है, पर अज्ञानितामें कैकेयीजी श्रीरामजीकी निरपराधताका उपयोग अपने स्वार्थमें कुटिलमतिसे कर रही है अर्थात् 'जननी सुखदाता'से अपने मनोरथपूर्तिका सुख, 'जनकसुखदाता'से चौ० ५-६ दो० ४३में

कहे पिताश्रीके वचन-पालनसे उनकी सत्यसन्धता (वरदानके लिए वचनबद्धता)के रक्षणका सुख तथा 'बन्धु सुखदाता'से भाई भरतजीका राज्यसुख चाहती है—यही 'रानि अयानी'के कुचालका स्वरूप है।

कैकेयीजीकी पश्चात्तापसे शुद्धि

चौ० ८ दो० ३६में राजाके वचन 'फिरि पछितैहसि अन्त अभागी'की सत्यताको 'अन्तहु पछितानी'से ऋषिने पुष्ट किया है। भरतजीकी भर्त्सनाके अन्तमें तत्प्रयुक्त मौन व पश्चात्ताप कैकेयीजीको है, वही उसकी शुद्धि है जिसको कविने चित्रकूटमें जनकजीके आगमनके अवसरपर 'गरइ गलानि कुटिल कैकेई' (चौ० १ दो० २७३)में खोला है। 'करि कुचाल अन्तहु पछितानी'का भाव विचारप्रणाली द्वारा इस प्रकार कहा जायगा, 'कैकेयी दोषाभाववती अतिप्रीतिमन्तं पतिं रामञ्च प्रति दोषारोपणप्रयुक्त-ग्लानिमत्वात्'। दो० १३१में गुरु वसिष्ठजीके कहे भावी प्रबलका समर्थन 'भावी बस'से करते हुए भरद्वाज ऋषि विधानकी बलवत्तामें कैकेयीजी और भरतजीकी निर्दोषताको स्पष्ट कर रहे हैं, भरतजीकी शुचिताको भी व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—तहँउ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू ॥७॥

भावार्थ : उसमें भी तुम्हारा किंचित् अपराध हो, ऐसा जो कहता है वह पापी, मूर्ख और दुष्ट कहा जायगा।

कौसल्याजीके निर्णयपर मुनिकी सहमति व अयान आदिका अर्थ

शा० व्या० : भरतजीको किसी भी रूपमें दोषी कहनेवाला 'अधम अयान असाधू' है जैसा कौसल्याजीने 'सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं' कहा है। 'अधम'का अर्थ तमःप्रकृति, 'अयान'का तर्कहीन अज्ञानी एवं 'असाधू'का रागद्वेषसे युक्त हो निरपराधीके प्रति दोष निकालनेवाला है।

संगति : राजाकी वचनबद्धताकी विवशतामें माताजीके याचित वरके फलस्वरूप राज्यप्राप्तिसे चौ० २-३ दो० १३९में भरतजीने जो दोष कहा है, उसका समाधान वसिष्ठजी द्वारा दो० १३५के अन्तर्गत प्रस्तावित 'राज करहु'से हुआ है उसके समर्थनमें ऋषि पुष्टि कर रहे हैं।

चौ०—करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू ॥८॥

भावार्थ : यदि तुम राज्य स्वीकार भी कर लेते तो भी तुमको कोई दोष न लगता, अपितु तुम्हें राजा सुनकर श्रीरामजीको संतोष ही होता।

श्रीरामजीके सन्तोषका मण्डन

शा० व्या० : भरतजीकी राज्यप्राप्तिमें श्रीरामकी प्रसन्नताके विषयमें चौ० ५ दो० १७५में 'सुनि सुखु लहब राम वैदेही'की व्याख्या द्रष्टव्य है। त्रयीकी दृष्टिसे भरतजीके राजा होनेमें राज्यप्राप्तिप्रतिबन्धकदोषके अभावको गुरु वसिष्ठजीने दो० १७४-१७५के

अन्तर्गत स्पष्ट कर दिया है। नीतिदृष्टिसे मुनि भरद्वाजजीके कहे 'रामहि संतोषू'के विषयमें कहना है कि राज्याधिकारी ज्येष्ठ पुत्रके राज्यत्यागके विकल्पमें सर्वथा योग्य कनिष्ठ भाईकी राज्यप्राप्तिसे ज्येष्ठ भाईको सन्तोष होना है।

सगति : यद्यपि गुरुजीके वचनसे त्रयीके आधारपर भरतजीने राज्य लेना है, परन्तु जनानुरागकी संदिग्धतामें 'पालहु प्रजा'की संभाव्यता न समझकर नीतिबद्ध भक्तिपंथका आश्रय लेना भरतजीकी भक्ति एवं नीतिमत्ताका परिचायक है क्योंकि राजनीतिके अंगित्वमें त्रयीकी प्रतिष्ठा प्रभुके सन्देश 'नीति न तजिअ राजपद पाए'में ध्वनित है भरद्वाज ऋषि 'अति भल, उचित मत'से उसीकी पुष्टिकर रहे हैं।

दो०–अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल - सुमंगल - मूल जग रघुबरचरनसनेहु ॥२०७॥

भावार्थ : हे भरतजी ! अभी तुमने अत्यन्त भलाईका कार्य किया है। यही तुम्हारा मत उचित भी है। रघुनाथजीके चरणोंकी प्रीति ही संसारके सब मंगलोंका मूल है। अर्थात् गुरुके भले वचनका अतिक्रमण करना ही यहाँ अतिभल है।

नीतिसंगठनमें भक्तिकी स्थापना

शा० व्या० : कैकेयीजीकी निर्दोषता सहज हो गयी, भरतजीकी निर्दोषता सहज नहीं थी, वह तो राज्यको त्यागनेमें ही होनेवाली थी। उसीको भरतजीने सिद्ध किया जो कि 'अति भल'से समझाया है। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके वधके प्रसंगमें धर्म एवं नीति-वचनको उपस्थापित करके उसकी मीमांसा अर्जुनके विवेकपर छोड़ दी, उसी प्रकार उपधाशुद्धिकी परीक्षामें भरतजीकी शुचितासम्पन्न मतिको प्रकट करानेके लिए 'सोचनीय सबहि बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई'का संकेत करके अपने 'नीति धरममय' वचनका निष्कर्ष 'सौंपेहु राजु रामके आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ' (चौ० ८ दो० १७५)में गुरु वसिष्ठजीने भरतजीके सामने रखा है। इसको 'मोर मल होई' समझते हुए भी भरतजीको रामसेवाप्रधान भलाई न दिखाई पड़नेसे असंतोष है यही नीतिसंघटित भक्तिकी स्थापना है।

सन्तोष, उचित, मतका भाव

संतोषकी व्याख्या इस प्रकार है—राजनीतिके विद्वानोंके मतसे जिस समय जो उपलब्ध है तावन्मात्रविषयक स्पृहा एवं उसीमें सुख मानना संतोष है। जिस कार्यसे गुरु, राजा एवं देवोंकी प्रसन्नता हो उसको 'उचित' कहा गया है। 'एहु'से भरतजीके पंचांग निर्णयको 'उचित मत' कहकर उसपर बल दिखाया है।

विद्याओंके बलाबलका समुचित विचार करते हुए राजनीतिको भक्तिमें अंगभूत बनाकर भरतजीने अपने भक्तिपूर्ण चरित्रसे जो औचित्य दिखाया है वही 'अतिभल उचित मत' है जो 'जगमंगल मूल' है। एवं च सब शास्त्रोंके विधानका उद्देश्य भक्तिका

पोषण करना ही है। मानसकारने 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्'की एक झलक भरतजीके 'उचित मत'में दिखायी है।

संगति : भरतजीके चरित्रकी बलवत्ता व मतिको दृढ़ करनेमें मुनि उनकी प्रशंसा कर रहे हैं।

चौ०–सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना ? ॥१

भावार्थ : 'रघुबर चरन सनेहु' तुम्हारा धन, जीवन और प्राण है। तुम्हारे समान बड़भागी और कौन है ?।

भरतजीका सर्वस्व

शा० व्या० : 'संपति सब रघुपति कै आही'से सांसारिक वैभव एवं राज्यसुखको त्यागकर रामप्रीतिको ही अपना सर्वस्व मानना भरतजीका धन है। गुरुजनों विद्वानोंके द्वारा आदृत विद्याओंके द्वारा प्रतिष्ठापित आदर्शचरित्रका विनियोग प्रभुभक्तिमें करना भरतजीका जीवन कहा है जिसमें आत्मा, देह और मनस्का संयोग है। मनःसह चरित वायु प्राण है। भावप्रकाशनमें प्राणकी उपयोगिता कही गयी है। 'प्रान'से कहनेका भाव है कि प्राणायामसे अपने मनस्को स्वाधीन रखते सदा प्रभुके चिन्तनमें लगे रहना है। जीवन, धन और प्राणको रामभक्तिमें लगा देना पुण्यपुंजकी सार्थकता है जिसको 'भूरिभाग' कहा है।

संगति : भरतजीके भूरिभागित्वमें शिक्षाके अतिरिक्त कुलीनता भी सहायक है जैसा आगे कह रहे हैं।

चौ०–यह तुम्हार आचरजु न ताता ! । दसरथसुअन रामप्रिय भ्राता ॥२॥

भावार्थ : हे तात ! तुम सत्यसंध पिता दशरथके पुत्र और श्रीरामके प्रिय भाई हो, तुम्हारे लिए ऐसा भूरिभाग होना आश्चर्य नहीं है।

कुलीनताकी उपयोगिता

शा० व्या० : राज्यप्राप्तिरूपअर्थके लोभमें पिताश्रीसे प्राप्त पुत्रत्व एवं भाईकी प्रीतिको उपेक्षित न करना कुलीनताका परिचायक है। चौ० २ दो० १८१में भरतजीकी उक्तिसे संगत दशरथतनयत्व एवं रामभ्रातृत्वसे सम्बन्धित भरतजीके 'भूरिभाग'की योग्यताको ऋषिने दर्शाया है।

संगति : अब भरतजीके प्रति श्रीरामकी प्रीतिकी यथार्थताका दृष्ट प्रमाण भरद्वाजजी प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका उद्देश्य ऐकान्तिक प्रीतिके अनुभवमें भरतजीके उद्गार (दो० २०५के अन्तर्गत)का समाधान करना है।

चौ०–सुनहु भरत ! रघुबरमनमाहीं। पेमपात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥३॥

भावार्थ : हे भरतजी सुनो ! रघुनाथजीके मनस्में तुम्हारे समान प्रेमपात्र दूसरा कोई नहीं है।

श्रीरामकी भाईपर प्रीति

शा० व्या० : साहित्यसिद्धान्तके अनुसार शृङ्गाररसके वर्णनमें प्रेमीमें जायाकी प्रीति पहले दिखाकर फिर प्रेमास्पदकी प्रीति दिखायी जाती है। भरद्वाजजी द्वारा श्रीराम और भरतजीकी पारस्परिक प्रीतिके वर्णनमें उक्त क्रम रसिकोंके लिए आस्वाद्य है। चौ० १-२में भरतजीकी प्रीतिकी यथार्थताको प्रकट करके अब श्रीरामके प्रेमका प्रकाशन कर रहे हैं। दो प्रेमियोंकी बीच समशील रतिभावमें एक प्रकारसे शृङ्गार रसकी पूर्णता मानी जाती है, स्मरणीय है कि जैसा साहित्यशास्त्री सेव्यसेवक भाव-प्रयुक्तभक्तिको एकालंबनके रतिभाव होनेसे रस नहीं मानते, भाव ही मानते हैं, वैसा दोष यहाँ नहीं है।

संगति : 'रामहि बंधुसोच दिन राती। अंडन्हि कमठहृदउ जेहि भाँति'में श्रीरामजीके सतत स्मरणमें भरतजीके गुणोंको मानसकारने चौ० ४ दो० १४१में 'भरत-सनेहु सील सेवकाई'से ध्वनित किया था। उसका प्रकाशन भरद्वाज ऋषि द्वारा भरतजीके प्रेमपात्रताकी वास्तविकताको प्रत्यक्ष प्रमाणसे कवि सिद्ध करा रहे हैं।

चौ०—लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती ॥४॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ॥५॥

भावार्थ : श्रीराम, सीताजी एवं लक्ष्मणजीने अत्यन्त प्रेमसे तुम्हारी सराहना करते हुए पूरी रात बिता दी प्रयागसंगममें नहानेके लिए जाते हुए और लौटते हुए मैंने उनको तुम्हारे प्रेममें मग्न होते देखकर उनकी प्रीतिका मर्म समझा है।

रामप्रीतिका साक्षित्व

शा० व्या० : मुँहपर की जानेवाली प्रशंसाका मूल्य नहीं माना जाता, इसलिए मुनि भरद्वाजजी भरतजीके परोक्षमें तीनों मूर्तियोंके द्वारा की जानेवाली भरतजीके प्रीतिकी सराहनाको बताकर भरतजीको रामप्रीतिकी विश्वास्यतामें संतोष दे रहे हैं। 'अतिप्रीति, निसि बीती'का भाव है कि भरतजीका गुणगान करते रात्रि व्यतीत होनेपर उनके गुणोंके वर्णनसे तीनोंकी तृप्ति नहीं हुई, इससे स्पष्ट होता है कि रात्रिमें जबतक मुनि भरद्वाजजी प्रभुके साथ रहे तबतक भरतजीके सम्बन्धमें प्रीतिचर्चा चल रही थी। मध्यरात्रि व्यतीत होनेपर जब ऋषि रात्रिशेषमें अकेले स्नानके लिए जा रहे थे तब भी रहस्यमें वही चर्चा हो रही थी। दो० १०८ से स्पष्ट है कि प्रातःकाल होनेपर तीनोंने स्नान किया और मुनि भरद्वाजजीसे बिदा लेकर चले।

शब्द व प्रत्यक्षकी समान प्रमेयता

त्रिवेणीके शब्दप्रमाण ('तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं')की पुष्टि भरद्वाज ऋषिने प्रत्यक्षप्रमाणसे करके उसको नीतिके अन्तर्गत मान्य बताया है। छन्द २०१में 'तेहि राति पुनि-पुनि करहिं प्रभु सादर सराहना रावरी'से गुहने भरतजीके सामने रामप्रीतिका प्रकाशन किया था। पर रघुवंशके साथ गुहका मैत्रीसम्बन्ध होनेसे उसके

कथनसे भी अधिक मूल्य तटस्थ ऋषिके वचनका है जिसमें किसी शंकाको स्थान नहीं है, किंबहुना गुहने केवल प्रभुकी सराहनाका उल्लेख किया था, ऋषि श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी तीनोंकी प्रीतिकी चर्चाको प्रकाशित कर रहे हैं जो भरतजीको आश्वस्त करनेके लिए यथेष्ट प्रमाण पर्याप्त है।

'जाना मरमु'का भाव

मर्मका अर्थ छिपा भाव या रहस्य है। प्रभुके सम्बन्धसे 'नहात प्रयागा' कहनेका भाव है कि त्रिवेणीमें नहाते हुए प्रभु भरतजीकी प्रीतिमें मग्न हो रहे थे उस मर्मको त्रिवेणीने जान लिया था जिसका प्राकट्य जलवाणी द्वारा 'तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं'से भरतजीके सामने किया, उसीको ऋषिने 'जाना मरमु' कहा है। अथवा भरतजीके चरित्रात्मक त्रिवेणी जिसमें 'शील सनेह सेवकाई'का संगम है, उसमें अवगाहना करते हुए प्रभु प्रीतिमान् हो रहे थे प्रभुकी आन्तरिक प्रीतिके इस मर्मको ऋषिने उक्त प्रमाणोंसे जाना है।

संगति : रघुवरकी प्रीतिको उपमान प्रमाणसे प्रमित कर रहे हैं।

चौ०–तुमपर अस सनेहु रघुबरकें। सुखजीवन जग जस जड़-नरकें ॥६॥

भावार्थ : तुम्हारे ऊपर श्रीरघुपतिका ऐसा प्रेम है जैसा संसारमें जड़ मनुष्य अपने सुखमय जीवनपर रखता है।

प्रभुप्रीतिकी उपमेयता

शा० व्या० : उपनिषद्के अनुसार जीवकी जड़ता यही है कि वह अन्नमय शरीरको आत्मा मानकर शारीरिक सुखमें जीवन होना सौभाग्य मानता है। अनन्य सेवकके प्रति प्रभुका प्रेम ऐसा ही है। अन्तर इतना ही है कि जीव जड़तामें सुखमय जीवनके प्रति आसक्त रहता है, प्रभु सर्वज्ञतामें सेवकके गुणमय जीवनमें सुखानुभूति रखते हुए एकमात्र प्रभुविषयक चिन्तनकी एकाग्रतामें स्थित सेवकके अन्य शारीरिक व्यापारको अपने स्मरण (संकल्प)से गतिशील रखते हैं जैसा चौ० ४-५ दो० १४१में 'सुमिरि भरत-सनेहु सीलु सेवकाई। धीरजु धरहिं' आदिसे सिद्ध है कि प्रभुने किया स्मरण ही भरतजीकी रक्षामें समर्थ है। इसलिए प्रभुपोषित सेवकके सुखमें बाधा पहुँचानेका सामर्थ्य देवताओं, इन्द्र, सरस्वतीजी आदि किसीको नहीं है जैसा बृहस्पतिजीने इन्द्रजीको समझाते हुए चौ० ५ दो० २१८में कहा है 'जो अपराधु भगतकर करई। रामरोष पावक सो जरई।' प्रभुसेवाके प्रति की प्रीतिको ग्रन्थकारने लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें कही उक्ति 'सेवहिं लखनु सिय रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि' (चौ० २ दो० १४२)से व्यक्त किया है। सेवक और प्रभु तथा जड़ता और नरके उपमान-उपमेयभावको ग्रन्थकारने ग्रन्थकी समाप्तिमें 'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम'से दर्शाया है।

संगति : रघुवीरकी अधिकता गुणान्तरसे समझा रहे हैं।

चौ०—यह न अधिक रघुबीरबड़ाई । प्रनतकुटुंबपाल रघुराई ॥७॥

भावार्थ : रघुबीर श्रीरामजीकी बड़ाई सेवकके रक्षण करनेमें है अधिक बड़ाई शरणागत सेवकके कुटुंबका भी पालन करना है।

शरणागतोंको विश्वस्त होनेकी युक्ति

शा० व्या० : भरतजीके उदाहरणसे 'प्रनत कुटुंबपाल'को बताकर उसकी सामान्यव्याप्ति समस्तभक्तसमुदायके लिए विवक्षित समझनी चाहिये क्योंकि प्रभुके उपासक वैष्णवजन प्रभुके परिवार एवं परिपाल्य हैं। इस प्रकार भक्त भरतजीके निमित्तसे समस्त समाजके रक्षणकी ओर प्रभुका ध्यान है, जिसको अवगत कराकर भरतजीको प्रभुकृपामें आश्वस्त कराते मुनि समाजसहित सबको प्रभुके पास निर्विघ्न पहुँचनेका विश्वास करा रहे हैं।

भक्तिकी विशेषता

'कार्यं प्रति अदृष्टं कारणं'से बताये सामान्य कार्यकारणसिद्धान्तानुसार कर्मसे संगत धार्मिकोंका पालन अदृष्टसापेक्ष है। भक्तिशास्त्रकी यह विशेषता है कि उक्त साधारण कार्यकारण भाव रहते हुए भी सेवकको कर्मफलकी अनुभूति न कराकर किन्तु प्रत्येक स्थिति (विपत्ति या संपत्ति)में स्वानुकूलताका भान कराते हुए वह प्रभुसापेक्षतामें उसको सदा यशस्वी बनाता है। प्रणत कुटुंबके प्रति प्रभुकी कृपासे होनेवाला यही पालनकार्य मननीय है।

संगति : पाल्यान्तर का वैधर्म्य समझा रहे है।

चौ०—तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु रामसनेहू ॥८॥

भावार्थ : हे भरतजी ! मेरा तो यही मत है कि तुम तो साक्षात् मूर्तिमान् रामप्रेम ही हो।

रामस्नेहधारीके द्वारा शिक्षण

शा० व्या० : भरतजीने अपने चरित्रसे स्फुट किया है कि सेवकोंको 'सीलु सनेहु सेवकाई'से संपन्न होकर ही प्रभुका स्मृतिविषय बनकर प्रणत रहना चाहिए। 'धरे देह जनु रामसनेहू'का भाव है कि अपनेको रामभक्तिमय बनानेमें भरतजीने विद्याओंके बलाबलका यथोचित विचार किया है, पुरुषार्थमें धर्मार्थकामकी सिद्धिको रामप्रीतिसे समन्वित किया है, प्रभुके आदेशको निर्भयतासे आचरित किया है। 'तुम्ह तौ'से मुनि भरद्वाजजीने भरतजीकी विशेषता'को स्पष्ट किया है कि दो० १३८में कहे कलंक या दोषको रामप्रेमपात्रताके साधनमें लगाया है। भरद्वाज ऋषि 'मोर मत एहू'से अपना निर्णय दे रहे हैं कि रामप्रेम भरतजीके शरीररूपमें मूर्तिमान् हो रामभक्तिकी शिक्षाको देकर प्रभुके उपासकोंका भरण-पोषण कर रहा है जैसा कृष्ण-प्रेममयी गोपियोंको देखकर परम विद्वान् उद्धवजीके साक्षित्वमें शुकदेवजीने 'निरस्यते येन दिशाममंगलम्' कहा।

भक्तिकी यथार्थता

विद्याओंको भक्तिके पोषणमें अंगभूत बनाकर नीतिसे विचलित न होना ही उच्चतम भक्ति है, जिसमें किसी प्रकारकी हानि या दण्ड प्रेरक नहीं है, केवल प्रीति ही प्रेरक है, जो विद्वानोंके लिए भी विचारणीय है।

संगति : 'एहू' से अपने उक्त निर्णयपर बल देते हुए ऋषी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भरतजीके विद्यासमन्वित भक्तियोगके प्रयोगात्मक विज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है, अपितु सिद्धान्तरूपमें सर्वथा मान्य है जो विद्वानोंके लिए भी इदंप्रथमतया मार्गदर्शक हो रहा है।

दो०–तुम्ह कहँ भरत ! कलंक यह हम सब कहँ उपदेस।
रामभगतिरस सिद्धिहित भा यह समउ गनेस ॥२०८॥

भावार्थ : दो० १३८में कहे कलंकको लेकर हे भरतजी ! आपने जो आचरित करके दिखाया है वह हम सबके लिए उपदेश है। रामभक्तिके रससद्धिको प्रकट कर दिखानेके लिए आजका समय सबके लिए शुभारम्भका अवसर हो गया।

भक्तिरसप्रवाह

शा० व्या० : दो० १७८में भरतजीने स्पष्ट किया है कि कैकेयीप्रसूत्वसे समन्वित दोषोंकी प्रसक्तिमें ('मोहिसे अधमके राज') कलंकभागी होना पड़ा है जैसा दो० १७९के अन्तर्गत कहा है। उस कलंकका उपयोग भरतजीने रामभक्तिके अंगत्वमें समन्वित करके उपासकों एवं विद्वानोंको उपदेशरूपमें रामभक्तिरसको प्रकट करनेका शुभ अवसर-प्रदान किया है। शुद्धात्मा होते हुए भी प्रभुके सेवक जगदुपकारार्थ कलंकको स्वीकार करते हैं और औचित्यपूर्ण चरित्रसे भक्तिके स्वरूपको लोकशिक्षार्थं अनुष्ठेय बनाते है।[1] धर्मनीतिकी प्रतिष्ठा एवं समस्त विद्याओंका आदर रखते हुए भक्तिके अनुष्ठान व पोषणमें जो औचित्य है उसीको 'भगतिरस' कहा है।

भक्तिका श्रीगणेश

गुरु वसिष्ठजीके कथनानुसार पिताश्रीके वचनको प्रमाण बनानेके लिए श्रीरामने राज्यत्याग कर वनवास स्वीकार किया। अपने वचनके पालनमें राजाश्रीने शरीर-त्याग दिया,उस वचनप्रमाणके आधारपर 'अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन'से 'अवधि नरेसबचन फुर करहू'पर बल दिया, रघुवंशमें इदंप्रथमतया उसी वचन-प्रमाणकी अवहेलना की भरतजीने। उसीको त्रिवेणीके सामने अपनी ग्लानि ('जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही')से व्यक्त किया। उसीको आज भरद्वाज मुनि 'तुम्ह कहँ भरत कलंक यह' कह रहे हैं। यह कलंक 'रामभक्ति-

१. कैकेयीके कलंकका योग भरतजीके भक्तिरसमें साधक होनेसे कैकेयीकी निर्दोषता भी प्रकट करा रहा है।

सुरसरि धारा में प्रवाहित होकर कर्म-ज्ञान-उपासनारूप त्रिवेणीकी अपौरुषेय वाणीसे अनुमत होनेसे भरद्वाज ऋषिका ('हम सब कहँ उपदेसु से) तात्पर्य यह है कि जहाँ धर्म व विद्याओंके अनुष्ठानमें भक्तिका ऋषिसम्मत विरोध हो वहाँ विद्वानोंकी अवहेलनाका कलंक भी सब ज्ञानियों, उपासकों, कर्मकाण्डियोंके लिए उपदेशरूपमें ग्राह्य है। इसप्रकारसे इदंप्रथमतया भक्तिका श्रीगणेश इस वंशमें भरतजीने किया है।

अथवा—बालकाण्डमें शिवचरित्रमें भक्ति-विवेक धर्मके आधारपर वक्ता या उपदेष्टामें हितकारित्वका विचार करके शिवजी द्वारा भक्तिपंथकी स्थापना दिखायी गयी है। प्रभुरूपमें शिवजीके चरित्रसे भक्तिका वह स्वरूप उनके परिकरमें सीमित हो सिद्धान्ततः स्थापित हुआ। शिवजी द्वारा प्रवर्तित भक्तिपंथको भरतजीने अपने चरित्रसे लोकमें प्रकाशित करके भक्तिमार्गका प्रवर्तन किया है जिसको भरद्वाज मुनि भक्तिका श्रीगणेश कह रहे हैं। कहनेका आशय है कि शिवजीके चरित्रमें धर्म-विवेक-भक्तिका समन्वय अस्फुट था, अभूतपूर्व कलंकको स्वीकार करते हुए उसी समन्वयको भरत चरित्रसे प्रकाशित कराकर विद्वत्सम्मतिसे लोकमें अनुकरणीय बनाना ग्रन्थकारका उद्देश्य है। जैसा कि पिताश्रीके वचनप्रमाणकी रक्षामें, माता कौसल्याजी व गुरुजीके वचनोंका खण्डन न करते हुए त्रयीके प्रति आदर रखना भरतजीका धर्म है। विद्याओंके बलाबलका विचार करके कलंकको अपनाकर प्रस्तुत समस्याओंका समाधान कर त्रयीकी स्थापना करना भरतजीका विवेक है। उस समाधानका विनियोग भक्ति महारानीके पोषणमें करना भक्ति है। इस प्रकार विद्याओंसे समन्वित भक्ति संसारके समक्ष उद्बुद्ध कराकर भरतजीने अयोध्यावासी, वनवासी, विद्वान्, ऋषि, देवगण, जनकादिसमेत समस्त लोकके लिए आस्वाद्य बनाया है।

संगति : दो० २०८में कहा कलंक भरतजीको गौरवान्वित बनानेमें कैसा सुशोभित हो रहा है, इसको भरद्वाजजी चन्द्रमा चकोर-कुमुदके दृष्टान्तसे बता रहे हैं।

चौ०—नवबिधुबिमल तात ! जसु तोरा। रघुबरकिंकर कुमुद चकोरा ॥१॥

भावार्थ : हे तात ! तुम्हारा निर्मल यशस् कलंकरहित द्वितीयाके चन्द्रमाके समान सुशोभित हुआ है जिसको देखकर रघुपतिसेवक कुमुद व चकोरके समान आह्लादित हैं।

कीर्ति व यशस्में अन्तर और कुमुदिनी चकोरका भाव

शा० व्या० : यशस् और कीर्तिमें यह अन्तर है कि परंपरागत कृतियोंका रक्षण करना कीर्ति है, औचित्यपूर्ण नवीन कृतिका अर्जन यशस् है। उदाहरणार्थ रघुवंशमें दिलीप, भगीरथ, रघु आदिकी कृति कीर्ति कही जायगी इदंप्रथमतया नूतनकृतिको अपनाकर आन्वीक्षिकी त्रयी, राजनीति आदि विद्याओंसे समन्वित भक्तिमार्गका प्रकाशन करना भरतजीका वैयक्तिक यशस् है। द्वितीयामें चन्द्रमाका उदय कलंकरहित है, उसका दर्शन विशेष शुभ माना जाता है। उसी प्रकार भरतजीका यशस् निर्दुष्ट एवं शुचिरूपमें प्रकाशित हुआ है, यह उसकी विमलता है। चन्द्रमाके उदयसे कुमुदिनीका खिलना

और चकोरका रसपान सर्वविदित है। 'कुमुद'से समस्त प्रजा व वनवासी जन एवं चकोरसे ऋषि, मुनि, ब्रह्मज्ञानी, सिद्ध आदि समझना चाहिए। 'रघुबर किंकर'से समस्त प्रभु-उपासक, भक्त, सेवक विवक्षित हैं।

संगति : भरतजीकी उक्त ('बिधु बिमल') यशोविशेषताको आगे चौ० १ दो० २१० तक गा रहे हैं।

चौ०—उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जगनभ दिन दिन दूना ॥२॥

भावार्थ : भरतजीका यशश्चन्द्र सदा उदित रहेगा, कभी अस्त नहीं होगा, कभी घटेगा नहीं, किंबहुना संसाररूप आकाशमें दिन-दूना बढ़ता रहेगा।

भरतजीका यशश्चन्द्र

शा० व्या० : आकाशस्थ चन्द्रमाका उदय अस्त होता है, वह दिन प्रतिदिन घटता बढ़ता रहता है। किन्तु भरतजीके यशश्चन्द्रकी विशेषता है कि वह सदा उदीयमान (प्रकाशित) रहेगा, घटनेकी कौन कहे, संसारमें सदा दिन दूना बढ़ता रहेगा। भरतजीके यशस्का मूल है—'सीतारामचरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे'में व्यक्त भरतजीकी वासना।

संगति : भरतजीका यशश्चन्द्र कभी सूर्यसे अभिभूत नहीं होगा, ऐसा कह रहे हैं।

चौ०—कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रतापरबि-छबिहि न हरिही ॥३॥

भावार्थ : भरतजीके यशस्को त्रैलोक्यवासी अत्यन्त प्रेमसे अपनावेंगे। उनके यशश्चन्द्रको प्रभुप्रतापरूपी सूर्य कभी छिपा नहीं सकेगा।

त्रैलोक्यवासी व चकोरपदार्थ

शा० व्या० : 'त्रिलोक'से तीनों लोकके वर्णाश्रमोके अतिरिक्त विषयी, साधक (मुमुक्षु) और सिद्ध (मुक्त) भी परिगणित हैं। जैसे चकवा-चकईको चन्द्रोदय देखकर प्रसन्नता होती है वैसे ही नर-नारियोंको भरतयशोगानमें प्रीति हो रही है। चकवा-चकईके मिलनसे भरतजीके यशोगानसे होनेवाला नीतिसंगत संघटन भी स्पष्ट किया है।

प्रभुप्रताप-सूर्य व भक्तका यशश्चन्द्र

'प्रभुप्रतापरबि-छबिहि न हरिही'से स्पष्ट किया है कि रामयशस्के गानमें भरतजीके यशस्को कोई भूल नहीं सकता। चित्रकूटमें चौ० ४-५ दो० २९६में कहे अनुसार स्पष्ट हो जायेगा कि रामप्रतापमें अन्य सबके तेजस्की छबि अभिभूत होनेपर भी भरतजीके यशस्की छबि बनी रहेगी। जो प्रभुके वचन 'सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात! तरनिकुलपालक होहू'से व्यक्त होगा। कहनेका भाव है कि सन्तोंका परिपालन प्रभुप्रतापका ध्येय है, उसको अपनानेवाले भरतजी हैं, उनके चरित्रका यशस् रखनेमें ही प्रभुप्रतापकी प्रतिष्ठा है। जैसे सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमा प्रकाशित है वैसे

ही रामप्रतापसे भरतजीका यशश्चन्द्र सुप्रकाशित है, जैसा भरद्वाजमुनिने 'देह धरे जनु रामसनेहू'से व्यक्त किया है।

संगति : भरतजीके यशश्चन्द्रमें आकाशस्थ चन्द्रका अनेक प्रकारसे वैधर्म्य समझा रहे हैं।

चौ०—निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइकरतब-राहू ॥४॥

भावार्थ : भरतजीका यशश्चन्द्र दिन और रात दोनोंमें सबको सदा सुखदायी है। कैकेयीकी कुटिलकरनीरूप राहु उसको नहीं ग्रास सकता।

यशश्चन्द्रकी विशेषता

शा० व्या० : सूर्यके तापके आगे चन्द्रमा दिनमें छबिहीन हो जाता है। भरतजीके यशश्चन्द्रकी विशेषता है कि वह दिन और रात दोनोंमें एकसमान प्रकाशित रहेगा जैसा पूर्वमें कहा गया है। आकाशस्थ चन्द्रमा कुमुद व चकोरको रात्रिमें ही सुख देता है, यह यशश्चन्द्र 'सुखद सदा सब काहू' है। 'निसि'से अज्ञानान्धकार और दिनसे ज्ञानप्रकाशका भाव लेकर यह भी तात्पर्य है कि शास्त्रज्ञ एवं अशास्त्रज्ञ दोनोंको भरतजीका यशस् गाकर सुख मिल रहा है। 'सब काहू'का भाव है कि जिसप्रकार अयोध्यावासिनी प्रजा एवं वनवासी भरतजीके यशोगानमें सुखानुभूति कर रहे हैं, उसी प्रका ज्ञानी, सिद्ध मुनि, देवगण आदि भी सुखभागी हो रहे हैं।

ग्रास करनेमें राहुकी असमर्थता

कैकेयीकी कुटिलतारूप राहूके ग्रासकी प्रसक्ति होनेपर भी भरतजीके यशश्चन्द्रका ग्रास करनेमें वह असमर्थ है अर्थात् 'सील सनेहु सेवकाई'से युक्त भरतजीकी शुचिताका बाध कैकेयीजीकी करनीसे नहीं हुआ, अपितु प्रभुप्रताप भरतचरित्रकी सफलतामें संरक्षक रहा है। स्मरण रखना है कि भक्तिकी शुचिता बनाये रखनेमें धर्मनीति, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंके समुचित प्रयोगसे भरतजीने भक्तिपरम्पराको अक्षुण्ण रखा है यही भरतचरित्रका महत्त्व है।

संगति : स्वरूपतः गुर्वपमान कलंक है पर प्रस्तुत अपमानको दोषत्वसे निरस्त समझा रहे हैं।

चौ०—पूरन रामसुप्रेमपियूषा। गुर - अवमानदोष नहि दूषा ॥५॥

भावार्थ : भरतजीका यशश्चन्द्र रामप्रेमामृतका स्राव करनेवाला है। उस पूर्णचन्द्रमें गुरुजनोंके अपमानरूप दोष कलंकत्व दूष्य नहीं हो रहा है।

भरतजीके यशश्चन्द्रके अकलंकत्वकी मीमांसा

शा० व्या० : आकाशस्थ पूर्णचन्द्रमें सकलंकता प्रसिद्ध है जो पूर्णिमामें उदय होनेवाले पूर्ण चन्द्रमामें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। राज्यकी अस्वीकृतिमें आप्तजनों-गुरुवसिष्ठजी कौसल्याजी आदिके वचनोंका अनादर कलंक दोषरूपतया भरतजीके

यशश्चन्द्रमें नहीं है। गुरुजीने मुनि परशुरामजी और ययाति राजाके इतिहासके आधारपर पापपुण्यके विचारसे जो पूर्वपक्ष उपस्थापित किया था, उसके प्रतिवादमें अनौचित्यको भरतजीने प्रथमतः 'जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोषु न जीके' कहकर प्रकट किया उसके बाद पूर्वपक्षके समाधानमें जो तर्क उपस्थापित किया, उससे भरतजीकी रामप्रीति स्थिर हुई—इसको भरद्वाज ऋषि 'पूरन रामसुप्रेम' कह रहे हैं, जो आन्वीक्षिकीद्वारा विद्या, धर्म, नीतिसे समन्वित भक्तिका स्थापन है। उसको सम्पन्न करनेमें प्रथमतः भरतजी कलंकी होते हुए भी पर्यवसानमें विद्याओंका समुचित समन्वय कर उन्होंने भक्तिकी स्थापना की। अतः भरतजीके यशश्चन्द्रमें कोई कलंक दोष नहीं है। 'पियूषा'का भाव है भरतजीकी भक्ति सर्वशास्त्रसम्मत होनेसे प्रभुकी प्रसन्नताके साथ सर्वसाधारणजनों, विद्वानों ऋषियों, देवों आदिको सन्तुष्ट करनेवाली है अर्थात् सबके लिए अमृतपानके समान आस्वाद्य एवं पुष्टिकारक है।

गुर्वपमानमें दोषत्वाभाव

'गुर्वपमान दोष'के सम्बन्धमें कहना है कि काकभुशुण्डिजीके प्रसंगमें कहा गया गुरुद्रोह जैसा दोष भरतजीके प्रस्तुत कार्यमें नहीं है। गुरुजीके वचनको न मानकर राज्यकी अस्वीकृतिमें भरतजीका औद्धत्य या राग नहीं है। गुरुपत्नी (तारा) गमन दोषसे मुक्त होनेपर भी षोडश कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका कलंक बना रह गया, पर 'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू'के अनुसार राज्य न लेनेके दोषसे मुक्त होनेपर भी राज्य-अस्वीकृतिसे जो दूषित कलंककी सम्भावना थी, उसको भरतजीने 'पूरन रामु सुप्रेम पियूषा'के आलवनमें 'दोष दूषा'से रहित बनाया है।

'पूरन राम सुप्रेम'से स्पष्ट किया है कि 'देह धरे जनु राम सनेहू'के स्वरूपमें रामभक्तिकी पूर्णताको प्रकट करते हुए प्रभुकी प्रसन्नताके लिए अपेक्षित इतिकर्तव्यतामें विद्या धर्म, नीतिसे समन्वित होनेसे भरतजीका चरित्र निर्दोष है। 'दोष'से निर्मल वंशमें इदंप्रथमतया गुरु-वचनके अनादरमें दोषत्व और 'दूषा'से कलंककी दूष्यता नहीं है। रामभक्तिके इस पीयूषत्वको भरतजीने सबको सुलभ कराया है।

संगति : 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' वचन चरितार्थ हो रहा है।

चौ०–रामभगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ ॥६॥

भरतजीने 'राम सुप्रेम पियूषा'को इस पृथ्वीपर उपलब्ध करा दिया है। रामभक्त अब उस अमृतसे तृप्त हो जायँगे।

अमृतप्राप्ति

शा० व्या० : शङ्काओंकी निवृत्ति एवं उनके पूर्ण समाधानमें उपासकोंके हृदयमें जो तृप्ति होती है वह सुधाका काम करती है। आकाशस्थ चन्द्रमाके अमृतके अपेक्षया धरातलपर भरतजीके द्वारा प्रकाशित यशश्चन्द्रकी विशेषता यह है कि भरतजीने विद्याओंसे एवं धर्मनीतिसे पोषित भक्तिका ऐसा सुन्दरतम अभिनय लोकमें

प्रकाशित किया है जिसका अनुकरण करके राम-उपासकोंको अमृतप्राप्तिसे पूर्ण सन्तोष मिलेगा।

संगति : सूर्यवंशके यशस्वी राजाओंकी तुलनामें भरतजीके यशस्‌का गौरव दिखा रहे हैं।

चौ०—भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी ॥७॥
दसरथगुनगन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ॥८॥

भावार्थ : सूर्यवंशमें राजा भगीरथजीका यह यशस् है कि स्मरणसे ही सब मंगलोंको देनेवाली गंगाजीको वह धरातलपर लाये। राजा दशरथजीके गुणगणोंका वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। जिसके समान विश्वमें कोई है ही नहीं, उसके बारेमें अधिक क्या कहा जाय।

राजा भगीरथजी और भरतजीका साफल्य

शा० व्या० : राजा भगीरथजीका यशस् गंगाजीको पृथ्वीपर लानेमें है जिसका माहात्म्य स्मरणसे ही जीवका उद्धार करना है[1] जिसको भरद्वाजजीने सुमंगल कहा है। इसी प्रकार भरतजीने विद्या-कर्म-नीतिसे समन्वित रामभक्तिकी अविच्छिन्न धाराको बहाकर जीवोंका परम कल्याण किया है।

दशरथजीकी कीर्ति

राजा दशरथजीका गुणगण तो प्रसिद्ध ही है। श्रीरामजी और भरतजीको जन्म देकर उन्होंने जो कार्य किया है उसको कवि 'अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं'से अद्वितीय बता रहे हैं।

'दसरथ गुनगन'में गुरु वसिष्ठजी द्वारा वर्णित गुण दो० १७३के अन्तर्गत स्मरणीय है। उक्त 'गुनगन'में मनु व कश्यपजीके जन्मान्तरीय संस्कारकी विशेषता भी ध्यातव्य है।

संगति : राजा दशरथजीके सम्बन्धमें 'जेहि सम जग नाहीं'की उपपत्ति अग्रिम दोहेमें दिखा रहे हैं।

दो०—जासु सनेह-संकोचबस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥२०९॥

भावार्थ : जिसके प्रेम और संकोचके वश होकर प्रभुने स्वयं रामरूपमें जन्म लिया। जिसका दर्शन हृदयमें करनेपर भी शिवजी तृप्त नहीं होते, नेत्रसे देखनेके लिए लालायित रहते हैं।

---

१. गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।

दशरथजीकी अद्वितीयता

शा० व्या० : बालकाण्ड दो० १४९के अन्तर्गत राजा दशरथजीके पूर्वजन्म (मनु रूपमें)के 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत' व 'सुत बिषयक तव पदरति होऊ'के अनुसार राजाका 'सनेह' तथा प्रभुके वचन 'सकुच बिहाइ मागु नृप मोही'से 'संकोच, दिखाया है। स्पष्ट है कि मनुजन्ममें राजाने अपना प्रेम एकमात्र प्रभुमें संकुचित करके प्रभुको पुत्ररूपमें पानेका वर माँगा था। अतः राजाके स्नेहशीलके परवश हो प्रभु स्वयं पुत्र-रूपमें प्रकट हुए जैसा 'भए प्रकट कृपाला'से कहा गया है। 'जेहि सम जग नाहीं'का भाव है कि ऐसा सौभाग्य जगत्में किसीको प्राप्त नहीं है क्योंकि शिवजी भी हृदयमें प्रभुका ध्यान करते हुए नेत्रोंसे उनको देखनेके लिए तरसते हैं। 'संकोच'का यह भी भाव है कि 'मनिबिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना'के अनुसार राजाके जीवनके अन्तका कारण भी प्रभुको बनना पड़ा।

प्रभुत्वका साधन

ज्ञातव्य है कि उपरोक्त दोहेके उत्तरार्धमें ग्रन्थकारने श्रीरामजीके प्रभुत्वका साधक हेतु 'हर निरखे नहीं अघाइ'से स्पष्ट किया है।

चौ०—कीरतिबिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस रामप्रेम मृगरूपा ॥१॥

भावार्थ : तुमने अपना ऐसा अनुपम यशश्चन्द्र स्थापित किया है कि उसमें राम-प्रेम ही मृगरूपमें बस गया है।

कैकेयीप्रसूत्वसे कलंकत्वका अपहरण

शा० व्या० : चन्द्रमामें दिखायी पड़नेवाला कलंक कवियों द्वारा मृगरूपमें वर्णित किया गया है। भरतजीके यशश्चन्द्रकी अलौकिकता या अनुपमता यही है कि उसमें रामप्रेम मूर्तिमान् है जिसका दर्शन सबको हुआ है। भरतजीके विमल यशस्में 'देह धरे जनु राम सनेहू'से कैकेयीप्रसूत्वमें कलंकत्वकी छाया पूर्णरूपमें अदृश्य है।

संगति : भरद्वाजजी कैकेयीपुत्रत्वके कलंकत्वके स्थानमें पारसत्व बताते हुए भरतजीकी ग्लानिको दूर कर रहे हैं।

चौ०—तात ! गलानि करहु जियँ जाएँ। डरहु दरिदहि पारसु पाएँ ॥२॥

भावार्थ : हे तात ! जैसे दरिद्र निर्धनको पारसमणि मिल जानेपर भी अपनी दरिद्रताका डर लगता है वैसे ही तुम अपने मनस्में ग्लानि करते हो। अर्थात् तुम्हारी ग्लानि व्यर्थ है।

ग्लानिके निरसनका क्रम

शा० व्या० : भरतजीकी ग्लानिमें मुख्यतया ये तीन विषय हैं—१. कैकेयी-पुत्रत्वसे आरोपित अपनी कुटिलता २. पिताश्रीका परलोक ३. श्रीरामजी सीताजी और लक्ष्मणजीका वनवास। तीनों कारणोंके मूलमें कैकेयीमाताकी कुटिलता है।[1] उक्त

---

१. प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी (चौ० ५ दो० १९१)

ग्लानिके निरसनका क्रम दिखाते हुए कवि भरतजीको भरद्वाज ऋषिके द्वारा समझा रहे हैं, जैसे चौ० ६ दो० १९१से चौ० २ दो० १९४ तक गुरु वसिष्ठजीके संवादसे पिताश्रीकी मृत्युसम्बन्धी ग्लानिको दूर कराया है। माताजीकी कुटिलता एवं तत्प्रयुक्त (भरतजीके मनस्की) शंकाका समाधान कौसल्याजीके संवाद (चौ० ५ दो० १६५से चौ० ५ दो० १६९)तक दिखाया है जिसको गुहने छन्द २०१में पुष्ट किया है। त्रिवेणीकी वाणी द्वारा भरतजीकी शुचिता वं रामप्रीतिकी अभिवृद्धिका आश्वासन मिला। भरद्वाज ऋषिके वचन 'गलानि करहु जियँ जाए'का प्रभाव भरतजीकी अग्रिम उक्तियोंमें (चौ० ४से चौ० ९ दो० २११) स्पष्ट है। तीसरी ग्लानिको भरतजीने चौ० ८ दो० २११से चौ० ६ दो० २१२ तक व्यक्त किया है जिसका उपशमन मुनिके आशीर्वचन चौ० ८ दो० २१२में (तात ! करहु जनि सोचु विसेषी। सब दुखु मिटिहि राम पग देखी')से होगा। भक्तके स्थायी प्रीतिभावमें व्यभिचारिभावके रूपमें आनेवाली शंकाप्रयुक्त ग्लानि रसिकोंके लिए आस्वाद्य है।

पारसु पाएका भाव

'पारसु पाए'का भाव है कि जैसे पारसका स्पर्श होते ही लोहेका समूल परिवर्तन होकर वह शुद्ध स्वर्णस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार 'जहँ बस रामप्रेम' रूप पारसमणिसे संयुक्त 'देह धरे जनु राम सनेहू'का यशस्स्वरूप भरतजीकी स्नेह-शील-सेवकाईप्रयुक्त शुचिताको प्रकाशित करनेवाला है जिसमें माताजीकी कुटिलता व तत्प्रयुक्त दोषकल्पना पूर्णतया समाप्त है।

संगति : भरतजीकी उक्त शुचिताके प्रमाणमें ऋषि अपने वचनकी यथार्थताको युक्ति द्वारा सिद्ध कर रहे हैं।

चौ०—सुनहु भरत ! हम झूठ न कहहीं। उदासीन-तापस बन रहहीं ॥३॥

भावार्थ : हे भरतजी ! सुनो। हम झूठ नहीं कहते क्योंकि उदासीन हैं, तपस्वी हैं और वनमें एकान्तवास करते हैं (अर्थात् निर्भय हैं)।

भरद्वाजमुनिके वचनकी महत्ता

शा० व्या० : 'सुनहु'से भरतजीको सावधानपूर्वक सुननेको कहते हुए अपने वचनकी महत्ताका संकेत कर रहे हैं। 'झूठ न कहहीं'से स्पष्ट किया है कि जहाँ साध्यको पानेके लिए अधिष्ठाताकी प्रवृत्ति साधनमें करानी हो वहाँ स्तुतिपरक कथन या अर्थवादकी सम्भावना हो सकती है। भरतजी स्वयं रामप्रीतिसाधनमें सफल प्रवृत्त है उसीकी यथार्थताको स्फुट करनेमें अर्थवाद या स्तुतिभाषण नहीं है।

भरद्वाज मुनिका प्रामाण्य

'उदासीन'का अर्थ है—दूसरोंसे अर्थकी अभिलाषा न रखते अपने कार्यसाधनमें तत्पर रहना। 'तापस'का अर्थ है—वैध क्लेशको सहते वस्तुके वास्तविक आलोचनमें

समर्थ होना। 'बन रहहीं'से सत्य, अहिंसादि महाव्रतके पालनसे होनेवाली निर्भयता स्पष्ट की है। कहनेका निष्कर्ष है कि भरद्वाज मुनिने राजा दशरथजी, भरतजी आदिके सम्बन्धमें कुल, नाम, द्रव्य एवं कर्मकी जो गरिमा व्यक्त की है, वह यथार्थ है, वास्तविक गुणोंका प्रकाशन है, निर्भ्रान्त निर्णय है।

प्रसंगवशात् स्मरणीय है कि भरद्वाज ऋषिका प्रामाण्य वेदोंसे समर्थित हैं अतः प्रतापभानुके चरित्रमें कहे तापसकी तरह उनका कथन अप्रमाणिक नहीं है। उनके वचनकी विश्वसनीयता 'सब दुखु मिटिहि रामपग देखी'की फलसिद्धिमें प्रकट है।

श्रीमद्भागवतमें कहे 'तपोऽन्वीक्षे वनौकसां'से भारतीय राजनीतिके अनुसार वानप्रस्थी तपस्वियों द्वारा वनमें रहते राजनीतिके रक्षण-कार्यकी अन्वीक्षामें भरतजीके नीतिपालनमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा करणापाटव आदि दोषोंका अभाव सूचित करना है।

'झूठ न कहहीं'में यह भी भाव है कि ऋषिका भरतजीके प्रति रामप्रीतिके रहस्यका प्रकाशन (दो० २०८ चौ० ५में) 'जाना मरमु'से संगत यथार्थ है, उसमें बनावट या अर्थान्तर नहीं है।

संगति : रामदर्शनकी उत्कट अभिलाषामें भरतजीका आगमन होनेका कारण समझा रहे हैं।

चौ०—सब साधनकर सुफल सुहावा। लखन-राम-सियदरसनु पावा ॥४॥
तेहि फलकर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा ॥५॥

भावार्थ : श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजीका दर्शन पाकर सम्पूर्ण साधनोंका साफल्य पूरा हुआ। उसके फलस्वरूप भरतजीका दर्शन प्राप्त हो रहा है, इसमें प्रयागसहित हमारा सौभाग्य है।

साधना व सिद्धि

शा० व्या० : इन्द्रिय संयमके साथ पंच महाव्रतोंका पालन करना, विद्याध्ययन, योगाभ्यास, तीर्थसेवन, जप, तपस्, त्याग-वैराग्य सब आदि साधनके अन्तर्गत विवक्षित हैं जिनका उल्लेख चौ० ५-६ दो० १०३में करके भरद्वाजजीने उनका पर्यवसान 'करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार'में कहा है। शास्त्र विधानोंका विधेय प्रभुप्रीत्यर्थ (उद्देश्यक) कर्म है जिसको यहाँ 'सुफल सुहावा' कहा है। अरण्यकाण्डमें अत्रि मुनिकी स्तुतिमें भी साधनोंका प्रकार कहा है। 'सब साधनकर सुफल सुहावा'से साधनकी विधेयता और 'लखन राम सिय दरसनु पावा'से उद्देश्यता बतायी है। ध्यातव्य है कि चौ० १ दो० १२४में कही वनवासी प्रभुकी ध्यानविधिको 'लखन राम सिय'के दर्शनमें स्फुट किया है।

रामदर्शन व भरतदर्शनमें कार्यकारणभाव

प्रश्न है कि 'तेहि फलकर फलु दरस तुम्हारा'से रामदर्शन और भरतदर्शनका कार्यकारणभाव कैसे संगत होगा? क्योंकि भरतजीने उन्हींको देखा है जिनको श्रीरामजीने देखा है, ऐसा नियम मानकर भरतदर्शनको कार्य बनाना अनुचित मालूम होता है।

उत्तर—समाधानमें कहना है कि भरतजी रामदर्शनकी उत्कट अभिलाषामें चले। भरतजीकी दृष्टिविषयताने मुनि या मुनीतर पर होनेका कोई कारण नहीं है। फिर भी वे मुनिके पास ले जाये। गये उसका कारण यह है कि भरतजीको अपनेमें कैकेयी-प्रसूत्व निमित्तक रामराज्य-विघ्नकी घटनासे रामप्रभृति तीनों मूर्तियोंकी प्रीतिकी न्यूनता आशंकित हो रही थी, उसका समाधान कर आगे बढ़ना अपेक्षित है। इसका समाधान उन्हींके द्वारा हो सकता है जिनसे प्रभुका मिलन भया है। इस उद्देश्यसे भरद्वाजजीके समीपमें ग्रन्थकार भरतजीको 'रामगुनग्राम सुहाए'के माध्यमसे ले जा रहे हैं। न्यायसम्मत तर्कसे कहा जा सकता है कि यदि भरद्वाज मुनिके साक्ष्यमें भरतजीके प्रति रामप्रीतिका प्राकट्य न होता तो (चौ० ४ दो० २०८) भरतजी मुनिसामीप्यमें उपस्थित न होते। इस भावको 'तेहि फलकर फलु दरस तुम्हारा'से स्फुट किया है।

सुभागका भाव

दोहा २०८में 'हम सब कहँ उपदेसु'से 'सुभाग हमारा' तथा 'भा यह समउ गनेस'से चौ० १ दो० २०६में कहे 'प्रमुदित तीरथराज निवासी। वैखानस बटु गृही उदासी'को परिगृहीत करते हुए 'सहित पयाग सुभाग' कहा है। भरतजी जैसे शुचि साधु भक्तके मिलनमें मुनि अपना और प्रयागवासियोंका सौभाग्य समझा रहे हैं।

सुभाग कहनेमें मुनिका भाव है कि 'रामभगतिरस'का प्राकट्य भरतजीके दर्शनसे हुआ है, जिस प्रकार सांगोपांग कृष्णभक्तिका प्राकट्य गोपियोंमें देखनेवाले उद्धवजीके सम्बन्धमें 'उद्धवः परमप्रीतः ता नमस्यन्निदं जगौ' कहा गया है। अथवा भरद्वाजजीके ज्ञानयोगज संस्कारमें भरतजीके भक्तियोगज संस्कारके पुटसे भरद्वाज-जीको कृतार्थताका अनुभव होना है।

विशेष वक्तव्य

जिस प्रकार चौ० १ दो० १०५में प्रभुके 'विटप तर वासू'का प्रयोजन गुहके द्वारा सुमन्त्रको आश्वस्त कराकर अयोध्या लौटाना है, उसी प्रकार भरद्वाज-आश्रममें प्रभुके रात्रिनिवासका प्रयोजन भरद्वाजजी द्वारा सर्वोपधोत्तीर्ण भरतजीको पूर्वोक्त चौ० २ की संगतिमें कही ग्लानिसे रक्षित कराकर चित्रकूटमें प्रभुके पास पहुँचाना कहा जायगा—इस दृष्टिसे भरद्वाजाश्रम-निवास युक्तिसंगत है। इस प्रयोजनकी सिद्धिमें

'सुनहु भरत हम सब सुधि पाई'से भरतदर्शनकी उत्कंठामें मुनिने भरतजीकी गति-विधिकी सुधिको समझना संगत है। भरतजीके रामदर्शन-संकल्पकी पूर्णताके लिए उनकी शंकाओंके समाधानार्थं जितना प्रयोजन रहा, उतना वर्णन ग्रन्थकारने भरद्वाज-मिलनमें कराकर वाल्मीकि-मिलन आदिका वर्णन शब्दशः ग्रन्थमें अपेक्षित नहीं समझा किन्तु दो० २२१ चौ० ८में व्याप्तिमात्रका प्रदर्शन कराकर वाल्मीकि-मिलन ध्वनित किया इस प्रकार कविने ग्रन्थकी न्यूनता समाप्त की। यह विचार विद्वानोंके लिए चिन्तनीय है।

दो० १०६ चौ० १में निर्दिष्ट 'समउगनेस'के अनुसार मुनि ही भरतजीके भक्तिके उपदेश्य अनुष्ठानता हुए।

संगति : मुनि अपने विषयका उपसंहार करते समाधिस्थ हो रहे हैं।

चौ०–भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेममगन मुनि भयऊ ॥६॥

भावार्थ : हे भरतजी ! तुम धन्य हो। (अपने उत्तम चरित्रके) यशस्से तुमने संसारको जीत लिया है अथवा ऐसा यशस् बनाया है जिससे जगत् आकृष्ट है। ऐसा कहकर भरद्वाज मुनि प्रेममें मग्न हो गये।

भरतजीके यशस्का प्रसरण

शा० व्या० : दो २०८में कहे 'रामभगतिरससिद्धिहित भा यह समउ गनेस'से सबको रामभक्तिका आस्वादन करानेसे भरतजी धन्यताके पात्र हैं। 'हम सब कहँ उपदेश'से भरतजीके जगद्विजयो यशस्का स्वरूप प्रकट है। 'जग जसु जयऊ'का स्वरूप भरतजीके चित्रकूट पहुँचनेमें प्रकृतिकी अनुकूलता, देवोंका पुष्पवर्षण, इन्द्रकी शंकाओंका निरास करते हुए वृहस्पतिजी द्वारा भरतजी के रामसेवकत्वका प्रकाशन, लक्ष्मणजीके भ्रमका निरास आदिसे सुप्रकाशित होगा। प्रेममग्नताकी अवस्थामें स्तब्ध हो भरद्वाज मुनि मौन हो गये, जैसे हनुमानजीकी रामप्रीतिमें शिवजी समाधिस्थ हो गये (सावधान मन करि पुनि संकर। लगे कहन कथा अति सुंदर–(सु० का० चौ० २ दो० ३३)।

संगति : 'जग जस जयऊ'का नैतिक प्रभाव समाजकी निश्शंकता व स्थायी अनुराग बनाने व देवानुकूलतामें सफल हुआ, जैसा आगे बता रहे हैं।

चौ०–सुनि मुनिबचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥७॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा ॥८॥

भावार्थ : भरद्वाज मुनिकी सभामें उपस्थित जन मुनिके वचनको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये। देवगण भी साधुवाद करते हुए पुष्पवर्षा करने लगे। प्रयागसे लेकर आकाशतक 'धन्य-धन्य'की ध्वनि गूँज गयी। इसको सुनकर भरतजी रामप्रेममें मग्न हो गये।

भक्तोंका स्वभाव

शा० व्या० : 'सभासद'से आगे स्पष्ट होगा कि उसमें मुनिमण्डली है। 'भरतु मगन अनुरागा'से स्पष्ट किया है कि भक्त या सेवक अपनी प्रशंसाकी ओर ध्यान न देकर प्रभुके गुणगान व स्मरणमें मस्त रहता है, जैसा चौ० ३ दो० २०६में 'सुनत राम गुन ग्राम सुहाए'की व्याख्यामें कहा गया है। 'सभासद हरषे'से मुनियोंकी प्रसन्नतासे भरतजीके गुणोंकी वास्तविकताका परिचय दिखाया गया है।

संगति : भरतजीके अनुरागकी अवस्थाको प्रकट कर रहे हैं।

दो०–पुलक गात हियँ रामु-सिय सजल सरोरुहनैन।
करि प्रनामु मुनि मण्डलिहि बोले गदगद बैन ॥२१०॥

भावार्थ : भरतजीका शरीर पुलकसे भरा है, हृदयमें सीतारामजीका स्मरण-ध्यान कर रहे हैं, नेत्रकमलोंमें अश्रु भरा है। मुनियोंकी मण्डलीको प्रणाम करके गद्‌गद् वाणीमें भरतजी बोले।

शा० व्या० : अपनी प्रशंसाको सुनकर विनयशील व्यक्तिमें मान, मदादिका लेशमात्र प्रभाव नहीं होता। रामप्रेममें अनुरक्त भरतजीका विनय 'करि प्रनामु'से व्यक्त है।

संगति : सेव्यसेवकभावमें भरतजीका स्वदोषदर्शन एवं स्वामीके गुणोंका अनुकथन मुनियोंके सामने व्यक्त हो भरतजीके स्नेह शील सेवकाईको प्रकाशित कर रहा है।

चौ०–मुनिसमाजु अरु तीरथराजू। सांचिहुँ सपथ अघाई अकाजू ॥१॥
एहि थल जो किछु कहिअ बनाई। एहिसम अधिक न अघ अधमाई ॥२॥

भावार्थ : जहाँ मुनियोंका समाज उपस्थित है, तीर्थराज प्रयाग जैसा शुचिस्थल है, वहाँ सच्ची शपथ लेना भी घोर अकार्य है। इस स्थानपर बनावटी बात कहना नीचता होगी, उससे बढ़कर दूसरा पाप नहीं होगा।

शपथका अनौचित्य

शा० व्या० : 'कहिअ बनाई'से झूठ कहना या विसम्वादिता व्यक्त की गयी है। 'एहि थल'से मुनियों और तीर्थराजके सन्निध्यसे परमपवित्र प्रयागस्थलकी विशेषता बतायी है। तेजस्वी साधुओं, महापुरुषोंके सामने या पवित्रतम तीर्थस्थल या देव-मन्दिरमें अपनी बातका विश्वास दिलानेके लिए शपथका औचित्य नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ शपथ लेनेमें उस स्थलके अनादरमें न्यूनता या अवहेलनाका भाव समझा जाता है। पूर्व व्याख्यामें शपथके प्रयोगके सम्बन्धमें नैतिक सिद्धान्त कहा गया है।

संगति : जिस प्रकार भरद्वाजजीने 'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं' कहा,

उसी प्रकार प्रत्युत्तरमें भरतजी 'कहउँ सतिभाऊ'से अपने वचनकी सत्यताको सिद्ध कर रहे हैं।

चौ०-तुम्ह सर्वज्ञ कहउँ सतिभाऊ। उर अन्तरजामी रघुराऊ॥३॥

भावार्थ : आप तो सर्वज्ञ हैं, मैं सच्चे भावसे जो कहता हूँ उसके साक्षी अन्तर्यामी रघुनाथजी हैं।

शा० व्या० : सुन्दरकाण्डके मंगलाचरणमें ग्रन्थकार जिस प्रकार 'सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा'से प्रभुकी वन्दना करते हैं, उसी प्रकार भरतजी मुनिकी सर्वज्ञता एवं अपने मनोभावकी सत्यतामें रघुनाथजीके अन्तर्यामित्वको साक्षी रखकर बोल रहे हैं जिससे 'जो किछु कहिअ बनाई'की शंकाका पूर्ण निरास हो जाय।